

Published by
Seth Lalchand Hirachand
President
Jain Sanokhi Samrakshak Sangha
Phalan Gate, SHOLAPUR-2.

Veer Nirvat Samrat 2495
1973 A. D.

Printed by
Shri Kumudchandra Fulchand Shah
Mewar Samrat Mandiratalaya,
166, Shikrawar Path, SHOLAPUR-2.

श्रीमंत सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक सिद्धान्त ग्रंथमाला - १.

श्री भगवत् - पुष्पदन्त - भूतबलि - प्रणीत :

षट्स्वपडागमः

श्री वीरसेनाचार्य - विरचित धवला - टीका समन्वित
तस्य

प्रथम-खण्डे जीवरथाने

हन्दीभाषानुवाद - तुलनात्मक टिप्पण प्रस्तावना अनेक - परिशिष्टैः संपादिता

सत्प्ररूपणा - १

संपादक

स्व. डॉ. हीरालाल जैन

एम ए, एलएल बी., डा. लिट

भूतपूर्व प्राध्यापक व अध्यक्ष संस्कृत - पालि - प्राकृत विभाग,
नागपुर विश्वविद्यालय व जबलपुर विश्वविद्यालय
तथा डायरेक्टर प्राकृत - जैन शोधसंस्थान, वैशाली,
बिहार शासन शिक्षा विभाग



सहसंपादक

डॉ. आ. ने. उपाध्ये

एम ए, डी लिट

प्राध्यापक व अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर अध्ययन व शोध विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय
भूतपूर्व प्राध्यापक अर्द्धमागधी, राजाराम कालेज,
महाराष्ट्र शासन शिक्षा विभाग



प्रकाशक

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

सतोष भुवन, फलटण गल्ली, सोलापूर-२
(महाराष्ट्र)

सशोधित संस्करण

वि स २०२९

वीर निर्वाण सवत २४९९

ई सन १९७३

मूल्य १६ - ००]

प्रकाशक
शेठ लालचंद हिराचंद
अध्यक्ष
जैन सस्कृति संरक्षक सघ,
फलटण गल्ली, सोलापूर-२

सन १९७३ वीर निर्वाण सं. २४९९

मुद्रक
श्री. कुमुदचंद्र फुलचंद शाह
मेसर्स सन्मति मुद्रणालय
१६६, शुक्रवार पेठ, सोलापूर-२

जीवराज जैन ग्रंथमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व व्र जीवराज गीतमचद दोशी कई वर्षोंसे ससारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगाते रहे। सन १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तीका उपयोग विगोपरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतीके कार्यमें करे। तदनुसार उन्होंने समस्त भारतका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित समतिया इस बातकी संग्रह की कि कौनसे कार्यमें संपत्तीका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसचय कर लेनेके पश्चात् सन १९४१ के ग्रीष्म कालमें ब्रह्मचारीजीने श्री सिद्धक्षेत्र गजपथ के पवित्र भूमीपर विद्वानोंकी समाज एकत्रित की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत् समेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्य के समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचार के हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक सघ' की स्थापना की और उसके लिए ३०००० तीस हजार रुपयेके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन १९४४ में उन्होंने लगभग २००००० दो लाख की अपनी संपूर्ण संपत्ति सघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की। इसी सघ के अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' का संचलन हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ, श्रीमत् श्रेष्ठ रायसाहेब सितापराय लक्ष्मीचंद जैन साहित्योद्धारक सिद्धांत ग्रंथमालाके द्वारा अधिकार प्राप्त जीवराज जैन ग्रंथमालाका २२ वा पुष्प है।

निवेदक

बालचंद देवचंद शहा

मन्त्री,

जैन संस्कृति संरक्षक सघ, सोलापूर



स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी
सस्थापक,
जैनसंस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापूर.



स्व सेठ हीराचन्द नेमीचन्द



स्व. सेठ माणिकचन्द हीराचन्द जे पी



बंरिस्टर जमनाप्रसादजी



श्रीमत् मेठ लक्ष्मीचन्दजी



सेठ रामलालजी बडजात्या



स्व. सेठ राजजी सखाराम दोशी



सिधई पन्नालालजी

चित्र - परिचय

- १ स्व० सेठ हीराचन्द नेमीचन्द, मोलापुर, जिन्होंने मूडविट्ठीमें सिद्धान्तग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी सर्व प्रथम व्यवस्था की ।
- २ स्व० दानवीर सेठ भाणितचन्द हीराचन्द जौहरी, बम्बई, जिन्होंने सिद्धान्त-ग्रंथोंके उद्धारका सर्व प्रथम प्रयत्न किया ।
- ३ श्रीमन्त सेठ रुद्रमीचन्द्र सिन्हाग्रजजी, भेलसा, सस्थापक जैन साहित्य उद्धारक फड ।
- ४ श्रीयुत बैरिस्टर अमरावतीजी मद्र जज्ज, जिन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्दजीकी प्रोत्साहित करके उद्धारका कार्यकी व्यापना कराई ।
- ५ श्रीयुत सेठ गजाननजी वडजात्या भेलसा, जिन्होंने उद्धारक फडद्वारा सिद्धान्त-ग्रंथोंके प्रकाशनकी प्रेरणा की ।
- ६ स्व० सेठ रावजी सखारामजी दोसी, सोलापुर, जो अभी अभी तक श्री महाधवल सिद्धान्तके उद्धारके लिये प्रयत्नशील थे ।
- ७ श्रीमान् सिधई पन्नालाल बसीलालजी, अमरावती, जिन्होंने धवल-जय-धवलकी प्रतिलिपियां कराकर भेंगाई और सशोधन सम्पादन निमित्त सस्थाके सुपुर्द की ।

विषय सूची



१	आदर्श प्रतियोंके चित्र (मुखपृष्ठके पश्चात्)	
२	ग्रंथोद्धारमे सहायक महानुभावोंके चित्र और चित्र-परिचय ।	
3	Editorial	1-12
४	प्रकाशकीय	१-२
५	संपादकीय	३-१४
६	आवश्यक निवेदन	१५-२०
७	मुखपृष्ठ (आवृत्ति १)	
८	प्राक्कथन	१-७

प्रस्तावना

षट्खंडागम परिचय (अंग्रेजीमें) 1-1V

१	श्री धवलादि सिद्धांतोंके प्रकाशमे आनेका इतिहास	१
२	हमारी आदर्श प्रतियां	५
३	पाठसंशोधनके नियम	८
४	षट्खंडागमके रचयिता	११
५	आचार्य परम्परा	१८
६	वीर-निर्वाण-काल	२८
७	षट्खंडागमकी टीका धवलके रचयिता	३१
८	धवलासे पूर्वके टीकाकार	४०

९	धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य	४७
१०	षट्खंडागमका परिचय	५६
११	सत्प्ररूपणाका विषय	६७
१२	ग्रंथकी भाषा	७०
	उपसंहार	७८
	टिप्पणियोंमे उल्लिखित	
	ग्रंथोंकी संकेत-सूची	८०
	सत्प्ररूपणाकी विषय सूची	८२
	मंगलाचरण	
	सत्प्ररूपणा (मूल, अनुवाद और टिप्पण)	१-४१२

परिशिष्ट

१	सत्-परूवणा-सुत्ताणि	१
२	अवतरण-गाथा-सूची	९
३	ऐतिहासिक नाम-सूची	१४
४	भौगोलिक नाम-सूची	१५
५	ग्रंथ नामोल्लेख	१६
६	वश नामोल्लेख	१६
७	प्रतियोंके पाठ-भेद	१७
	विशेष टिप्पण	२४
	शुद्धिपत्र	२७-२८



EDITORIAL

The Śatkhaṇḍāgama-sūtras of Puspadanta and Bhūtabali and the Dhavalā Commentary thereon by Virasena occupy a unique position in Jaina literature. Their palm-leaf Mss. were preserved only in the Jaina Bhandāras (or Mss.-Collections) at Moodabidri in South Kanara. They were not studied there for centuries together but remained only as objects of reverence and worship. How the transcripts of these great works, looked upon as Paramāgama, came out is a thrilling episode, it has been narrated in the Introduction to the Vol. I of the first edition; and it is reproduced in this revised edition as well.

The late lamented Sheth Shitabrai Laxmichandji of Bhelsa (Vidisha) gave a donation for the publication of these great scriptures, and consequently, when we took up the study and critical editing of them, the society showed a variety of reactions. The sensible scholars of the new generation heartily welcomed it, and even some Panditas and Śāstris of the older generation, such as the late Pt. Devakinandanaji, Pt. Hiralalaji Shastri, Pt. Phoolachandaji Shastri and Pt. Balachandaji Shastri offered active co-operation. But a section of scholars expressed severe opposition. Their contention was that to print the scriptures like the Śatkhaṇḍāgama was a sacrilege, a disrespect of the scriptural knowledge. It was also argued that the house-holder (Grhastha or Śrāvaka) is not entitled even to read the Siddhānta texts, only the monks (who have relinquished the worldly ties) can read them. Some Paṇḍitas even doubted the ability of English-educated Bābus (a term used as against Paṇḍitas, in those days) like us to understand and critically edit difficult Siddhānta texts. Despite all this opposition, we, along with our colleagues, firmly pursued our project, and when, within a year, the first Volume, namely, the Satprarūpanā, was published, it was a surprise to all. The function of the publication of the first Volume was celebrated with great eclat by the Jaina community of Amraoti under the leadership of the late Singhai Pannalalaji. Thereafter, the Paṇḍitas began to take more interest in these texts, and then followed almost waves of competition to publish them. The late Pandit Bansidhar Shastri, Sholapur, started its publication in his own printing Press, but he could not progress beyond two or three fascicules. A little later, the Jaina Śāstrārtha Saṃgha, Mathura, undertook the publication of the Kasāyaprabhṛta (Jayadhavalā-Siddhānta).

and the publication of the Mahābandha (Mahādhavala-Siddhānta) was started by the Bhāratiya Jñānapīṭha. Afterwards Pt. Br. Sumatibai Shaha, Sholapur, brought out an edition containing only the Sūtras and Hindi Translation, and Pt. Hiralalji Shastri edited the Kaśāya-prābhṛta along with Cūṛṇisūtras and Hindi paraphrase. In this way, the famous Siddhānta texts, Dhavala, Jayadhavala and Mahādhavala, which had remained only objects of worship for centuries together, became easily available for study to the entire world of inquisitive scholars. Thus was ushered in what may be called a renaissance in the history of (the study of) Jaina Literature.

On behalf of the Jaina Sahityoddhāraka Fund, established by the late Sheth Laxmichandji, the critical editing-cum-publication of the Śaṅkhaṇḍāgama with its Ṭikā, Hindi translation, etc., was completed in Sixteen Volumes during the period of twenty years, from 1939 to 1959. Even before the last Volume was published, the copies of some of the earlier Volumes were exhausted, and there was a demand from the readers for their republication. But the Board of Editors was determined not to expend their energy and time on reprinting the earlier Volumes unless all the Volumes were out once. There was also the idea that, when the second edition is taken up, every effort should be made to check the printed text in the light of the readings of the palm-leaf Mss preserved at Moodabidri. The text adopted in the first edition was based on the Nāgarī copies of the Kannada transcript (of the palm-leaf Mss) which was secretly smuggled out. Right from the start, we were aware of our limitations, and repeatedly we were urging the Bhaṭṭāraka Mahārāja of Moodabidri to help us in correctly presenting the text, but, to begin with, there was no response. Still, after the publication of the third Volume, there was a significant change in his attitude. He indicated to us that, if we so wished, facilities would be made available for verifying the text in comparison with the palm-leaf Mss. We looked upon this as a great blessing (punyopalabdhī) and a boon. The palm-leaf Mss are written in Old-Kannaḍa script which could be read by few scholars (now-a-days). Luckily we got the co-operation of the late Pandit Lokanath Shastri in this direction, and the variant readings received from him were included in an Appendix of the Third Volume. The readings supplied by him were used while fixing the text itself in subsequent Volumes.

Even before the entire work was published, there shot up another controversy. In the first Volume, in order to interpret Sūtra No. 93 in a consistent manner, it was felt necessary that the word 'saṃjāda' be added on to the available 'saṃjādāsaṃjāda', but the consequent doctrinal implications disturbed the minds of some Paṇḍitas, and they started saying that such an addition was unjustified. There were sessions of oral discussions, followed by a chain of writings covering replies and counter-replies, some of them were published in the form of independent books too. In order to have a conclusive satisfaction, we got carefully scrutinised the readings on the palm-leaves, and it was found that the two different Mss had the word 'saṃjāda' proposed to be added by us. Thus the two points were clear: first, our critical editing was based on (principles of) sound judgment and sensible understanding, and secondly, still there remains the urgency of consulting the palm leaf Mss directly, because the

variant readings received from Moodabidri and included at the end of the third Volume did not present the additional 'samjada'

In the meanwhile, there was a programme of inscribing these works on copper-plates, and, in that connection, there too arose a controversy whether the term 'samjada' be added or not, even though the presence of that term in the palm-leaf Mss was already confirmed. Further, efforts were made to take photographs of all the palm-leaves of these works. This was also successfully done; and all these photographs are now preserved in the Śastra-Bhāṇḍāra at Phaltan (Maharashtra)

When the publication of the Ṣaṭkhandāgama was completed in Sixteen Volumes in 1959, the Editors felt anxious about the arrangements of finally editing the text critically, especially of those Volumes which were no more available, after collating it with the photographs. After much thought and deliberation, it was decided that the responsibility of bringing out the second edition be entrusted to the Jaina Sanskrit Samrakshaka Sangha, Sholapur. This proposal of ours was heartily accepted by Sheth Laxmichandji and other members of the Managing Committee before whom it was put. The details of the agreement reached between the Institutions of Bhelsa (Vidisha) and Sholapur are given in the Prakāśakīya Vaktavya or the Publishers' Note.

Pañca-namokāra-mantra

Lately, the Pannavanā-sutta is nicely edited and published (Jaina Āgama Granthamālā-9, Parts 1-2, Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya, Bombay-26, 1969-1972). It is an important text belonging to the Upāṅga category of the Ardhamāgadhī canon, and it bears a good bit of resemblance with the Ṣaṭkhandāgama-sūtra in contents and style. The detailed Introductions in English and Gujarati by the Editors Muni Śrī Puṇyāvijaya, Pandit Dalsukh Mālvania and Pandit Amritlal M. Bhojaka are quite important. Two topics, which are relevant in the present context, deserve to be noticed here. On page 235 of the Introduction in English, there is a discussion about the Mangalācarana of the Prajñāpana and about the Pañcanamaskāra-mantra, and it purports, in short, to say that, in the earliest Jaina works, the entire Mantra is not mentioned. In later literature it is employed in its entirety, still, nowhere, there is any specific mention of its author. The Ṣaṭkhandāgama-sūtras open with this Pañcanamaskāra-mantra, and it is indicated by Virasena in his Dhavalā Commentary that its first author is Puṣpadanta himself. In the Introduction of the Second Volume and elsewhere, it has been already stated, on the authority of the Commentary on the First Sūtra, that Virasena held the view, without any doubt, that this (Pañcanamokāra) Mantra was an inseparable part of the Ṣaṭkhandāgama-sūtra and its author is Puṣpadanta himself. According to the Commentator (i.e., Virasena), the Mangala is of two types, one *nibaddha* and the other *ambaddha*, and their definitions are thus explained. When the author of the Sūtras composes the Mangalācarana himself, that is called 'nibaddha-mangala'; and

when he adopts the Maṅgala-pāṭha composed by others, it is named as 'anibaddha-maṅgala'. In view of this distinction, the Commentator describes the Pañcanamaskāra-mantra used here as 'nibaddha-maṅgala', and the longish Maṅgala-pāṭha, 'namo Jinānam', etc., given at the beginning of the Fourth Khaṇḍa, Vedanā, as 'anibaddha-maṅgala', because this latter was not composed by the Sūtrakāra himself but was composed by Gautama Ganadhara and has been reproduced here. So there is no scope for doubt so far as the opinion of the author of Dhavala is concerned

In this connection, it would be proper to explain another point as well. In the Namokāra-mantra, the first expression 'namo Arihaṁtānam' has, in some places, also an alternative reading 'Arahaṁtānam'. In view of the nature of the Prākṛit language, there is nothing surprising in this. But, as in the Śaṅkha-dāgama, this very reading Arihaṁtānam is found at the beginning of the Prajñāpanā-sūtra, and the commentators, Haribhadra and Malayagiri, have accepted the same. Vīrasena, the author of the Dhavala and Jinabhadra, the author of the Viśeṣaśākyabhāṣya, have adopted this very reading and explained its etymology in various ways, and finally, they have noted its Sanskrit counterpart Arhat of which too the definition is given. According to the author of Dhavala

अरिहन्ताद् अरिहन्ता, रजोहन्ताद् वा अरिहन्ता रक्ष्याभावाद् वा अरिहन्ता । अतिशय-पूजाह्वाद् वा अरिहन्ता ।

Thus the author of Dhavala does not have before him any reading 'arahamta' even as an option (Śaṅkha, Vol I, p 42 ff). So it stands proved that the long-standing scriptural tradition is in favour of the reading Arihaṁtānam. In the expression Namō Āriyānam of this very Maṅgala, *rya* is substituted by *riya*, and likewise we get the changes *ārya* > *āriya*, *varsa* > *varisa*

Saṅkhandāgama and Prajñāpanā-sūtra

In one of the sections of the Introduction (pp 223 f) of the Pannavanā-sutta, there is a discussion comparing the Prajñāpanā with the Saṅkhandāgama. It is pointed out that both these works have got significant similarities: 1) The subject matter of both of them is a doctrinal discussion about Jīva and Karman. 2) The basic source for both of them is the Śrutāṅga Dṛṣṭivāda. 3) They are compiled in the form of Sūtras. 4) Here and there, in both the works, the Sūtras assume the form of Gāthās. 5) Some Gāthās are common to both, and they are found also in the Niryuktis and Viśeṣaśākyabhāṣya, etc. 6) Both the works are of the nature of compilation and have common words and expressions. 7) The topic Alpa-bhutva is almost identical and it is called Mahādandaka. 8) In the discussion on Gatyāgati, there occur, in both, the discussions on the acquisition of the position of Tīrthakara, Cakravartin, Baladeva and Vāsudeva. 9) The topics or Padas (23-27 and 35) Karma, Karma-bandhaka, Karma-vedaka, Veda-bandhaka, Veda-vedaka and Vedanā of the Prajñāpana remind us of the Six Khandas of the Saṅkhandāgama, namely, Jīva-sthāna, Kṣudraka-bandha, Bandha-svāmitva, Vedanā, Varganā and

Mahābandha These common points between the two works are undisputable, and they indicate a common tradition in view of their meaning and exposition

Despite these common points, both the works possess many a speciality of their own. 1) The Prajñāpanā contains 36 sections called Padas, and according to the subject matter, their sub-sections like Prajñāpanā, Prarūpanā, etc. But in the Ṣatkhandāgama, the same six Khandas are there, and under them, the fourteen Jīva-samāśas (Gunasthānas) and fourteen Mārganā-sthānas are discussed at length, in their order; all this is completely absent in the Prajñāpanāsūtra. 11) The Prajñāpanā has single authorship, while it is accepted that Puṣpadanta and Bhūtabali are the authors of the Ṣatkhandāgama, and it might be inferred that many of its appendices (cūlikās) were added later on, as in the case of some canonical texts like the Daśavaikālika. 111) The discussion of the subject matter in the Ṣatkhandāgama is more detailed and profound, systematic and well-planned as against that in the Prajñāpanā. 1v) The question-and-answer style is employed more in the Prajñāpanā than in the Ṣatkhandāgama. v) The Prajñāpanāsūtra is written in the style of original Sūtra, while the Ṣatkhandāgama presents a commentarial style employing the Anuyogadvāras. Here the Nīksepas like Nāma, Sthāpanā, etc., as in the Niryuktis, Anuyogadvāras like Sat, Saṃkhyā, etc., as in the Tattvārtha-sūtra, and such terms like Prarūpanā, Nirdeśa, Vibhāsā, etc., are used. All these are the characteristics of the Bhāṣya style employed here. Further are employed Gatī-anuvāda, Indriya-anuvāda etc., too. vi) The exposition of Alpa-bahutva, under the title Mahābandaka, in the Ṣatkhandāgama (VII. 79), is more systematic under 78 Padas with such predicates as 'vattaiśśāmo', 'kādavvo', while in the Prajñāpanā such predicates are not used and the exposition is loose presenting 98 Padas, some of which are primary and some secondary divisions. vii) In the Prajñāpanāsūtra, under Śthānapada, the description as to where, in the universe, living beings of various types dwell is loosely discussed at length, but the same in the Ṣatkhandāgama (VII. pp 299, etc.) is present in the order of Mārganā-sthānas, comparatively in short and in a systematic style. viii) In the Prajñāpanā the Alpa-bahutva is described through 26 Dvāras, and therein the topics of Jīva and Ajīva are intermingled in a haphazard manner. In the Ṣatkhandāgama, however, the same are systematically presented under fourteen Mārganās. The names of Mārganās like Gatī, Indriya, etc., are found here and there in the twenty-six Dvāras of the Prajñāpanāsūtra, but a clear-cut specification of 14 Mārganās is absent. The same holds good about the use of Sthiti, Sparśa, Kāla, etc. ix) The Prajñāpanāsūtra has the same three Gāthās (99-101, p 25) which are found also in the Ṣatkhandāgama (XVI, Sūtras 122-24). In the Ṣatkhandāgama these are introduced with the words 'lakṣhaṇaṃ bhaṇidam', which indicate that they are quotations. Some of their readings are correct in the Prajñāpanā, but incorrect in the Ṣatkhandāgama.

Taking into account the above points of agreement and difference, the authors of the Introduction of the Prajñāpanāsūtra have expressed their opinion that on the one hand both the works agree in their inheritance of traditional doctrines and also, to a certain extent, in their method of treatment, but, on the other hand, in view of

the classification of topics, the style, system and method of exposition and the use of technical terms, the Prajñāpanā is prior to and a work earlier than Satkhandāgama. To strengthen this view, they have considered the age of the composition of these works. As to the date of composition of the Śaṭkhandāgama, they have accepted the same as fixed in the Introduction of Volume One, namely 683 after the Nirvāna of Mahāvīra or sometime in the second century of the Vikrama era. But, in fixing the date of Prajñāpanā, they have not found any undisputed historical facts and evidence; so they had to depend on certain indications of doubtful validity noted below.

1) In the Prajñāpanā-sūtra, after the benedictory verses, there are two interpolated Gāthas which, after offering salutation to Ajjasāma (Ārya-Śyāma), mention that he was the 23rd in the Vācaka lineage and he presented this śruta-ratna from the ocean of scriptural knowledge. From this, it is inferred that Ārya Śyāma is the author of the Prajñāpanā-sūtra.

2) According to the Paṭṭāvalis, there flourished three Kālakācāryas, and it is the first Kālaka that was Śyāmācārya.

3) The death of the first Kālaka according to the Dharmasāgarīya Paṭṭāvali, but the birth of him according to the Kharatara-gacchiya Paṭṭāvali, falls in 376 years after the death of Mahāvīra.

Based on these three points, it is concluded that the Prajñāpanā-sūtra was composed by Śyāmācārya in the fourth century of the Viramīrvāna era, i.e., about one hundred years before the Vikrama era, and accordingly some three hundred years earlier than Satkhandāgama.

The above arguments may be scrutinised here.

1) Not even the name of the Pannavanā-sutta occurs in those two interpolated Gāthas. The gift of the Śruta-ratna made by Śyāmācārya can imply some other Grantha-ratna. If Haribhadra comments on them, calling them interpolately, it proves only this much that during his time, in the 8th century A.D., Śyāmācārya was already well-known. What evidence have we to ascertain by whom and at what time these were interpolated? The Gāthās specify that Śyāmācārya was the twentythird in the Vācaka lineage. Where is the discussion as to when this lineage started and what would be the period for the 23rd person in that line? The earlier genuine Gāthā clearly says the Pannavanā was preached by the revered Jina for the spiritual (nivṛtti) benefit of pious saints, while the interpolatory Gāthās speak of the highly gifted (durdhara, dhīra, etc.) monk Śyāmācārya donating some unspecified Śrutaratna to his pupils. Can the authorship specified in the original and interpolatory passages be said to be the same?

2) The tradition of the Paṭṭāvalis is not ancient, the age of their composition and their authority are not beyond doubt, and they are mutually inconsistent as well.

They do not clearly establish with whom of the three Kālakācāryas Śyāmācārya should be identified. Based on these, Dr U. P. Shaha expressed his inconclusive opinion (p. 232) that Śyāmācārya mentioned eleventh in the line and Kālakācārya, destroyer of King Gardabhilla, became identical, if the first two Kālakas were regarded as one identical person. Thus to identify Śyāmācārya with Kālaka and then to fix his date are attended with many hurdles.

3) When were Dharmasāgariya and Kharatara-gaccha Paṭṭavalis composed, what are their sources, what is the reason for their mutual contradictions? Unless these questions are satisfactorily explained, how can the dates given by them be authoritative and how can Kālaka be taken as identical with Śyāmācārya.

As far as the evidence is presented, it is not clear where Kālakācārya is called the author of the Prajñāpanāsūtra? To propose an identity of Śyāma Ārya with Kālaka Ācārya is catching, because 'śyāma' and 'kāla' mean black, but such a procedure is methodologically defective. To reach such a conclusion, we need independent sources to specify Śyāmārya as well as Kālakācārya as the authors of the Prajñāpanā; then alone identity can be proposed, and then the question of the date can be tackled.

Really speaking, it would be a great asset for the history of Jain literature, if the composition of any Jain work could be assigned to the second or first century before the Vikrama era. There is hardly any work in the available Jain Prakrit literature which holds any prospects in this direction, because the linguistic tendencies there do not belong to the first stage of the Middle-Indo-Aryan, but they belong to the second stage which did not come into vogue prior to the second century of the Vikrama era. For instance, we have in the Pannavanā loc (loke), bhayavayā (bhagavatā), sūya (śruta), ditthivāya (drstivāda) thū (sthitī), veyang (vedanā); here intervocalic consonants are being lost replaced by ya-śruti. This tendency is not noticed in the Prakrit languages prior to the second century A.D. The earlier phase of Prakrits is found in the Pāli Tripiṭaka, in the inscriptions of Aśoka, Khāravēla and those of the Śunga and Āndhra dynasties and in the plays of Aśvaghosa, where we do not notice the tendency of dropping the medial consonants. This tendency began after the second century, and this indeed became the distinguishing feature of Māhārāṣṭrī (Prakrit). As it is found in plenty in Jain prakrit literature Pischel and other scholars named the dialect of Jain prakrit works as Jain Māhārāṣṭrī and Jain Śaurasenī. In the light of this linguistic study, the composition of the Pannavanā-sutta can in no way be assigned to the period earlier than the second century.

The claim that the Pannavanā is older than the Satkhandāgama is not indisputable. The points of agreement between these two works conclusively prove that both of them have a common heritage. This is true not only of these two works but also of all the canonical (including procanonical) works of the Digambara and Śvetāmbara traditions and schools. Their soul is the same, but their body and

physical structure are different. In this connection, the observation of Virasenācārya, the author of the Dhavala, deserves our attention (Satkhandāgama, Vol I, p 60). There are two kinds of authors, Artha-kartā and Grantha-kartā. So far as the Saṅkhandāgama is concerned, the Artha-kartā is the revered Mahāvīra, but the Grantha-kartā stands for Gautama and other saints down in succession to Puspādanta and Bhūtabali. The composition of the Satkhandāgama is based on the very preachings of Mahāvīra on which that of the Prajñāpanā-sūtra is based. But it was natural that there arose differences in style and classifications, etc., according to the traditions of (different) schools. In texts of fixed traditions, chronological priority or posteriority can be inferred from the development in style, etc.; but in independent traditional inheritance such an inference proves invalid, and, on this point, the editors of the Prajñāpanā-sūtra have themselves laid sufficient stress. They say (Introduction p 230)

“The style of treatment i.e., its simplicity or otherwise, cannot be a determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajñāpanā and Satkhandāgama if we were guided only by the fact that the treatment of the subject-matter in the Satkhandāgama is more detailed and subtle than that found in Prajñāpanā-sūtra.”

It would not be out of place to clarify another point also. The Śvetāmbara scholiasts primarily confined themselves to the Ardhamāgadhī canon and pursued the resurrection, compilation and expansion in their composition. But the Digambara saints, accepting that the original Āgamas were lost, started composing works in a new style with some independence; in this pursuit learned Ācāryas used their intellectual gifts without any restraint (or inhibition). As a result of this, the authors of the Satkhandāgama acquired the knowledge of the traditional lore (Siddhānta) from Dharasenācārya, and, on the strength of their intellectual gifts, developed the five-fold Mangala from two-fold one, namely, ‘Namo Arahantānam’ and ‘Namo sava siddhānam’ found on the Khāravela inscription. Such efforts must have been made in different regions, in different circles of learned monks and at different ages. When one scrutinises the Cattaridanoaka, it has a four-fold Mangala. The third item mentioning Sāhu could easily get expanded, along with the organisation of ascetic community, to include Ācārya, Upādhyāya and Sarva-sādhu. One of the early Tamila Kāvya, Jivakacintāmanī, adopts the Cattarī-maṅgala in the benedictory verses instead of five-fold Mangala. Likewise possibly, it is these authors that systematised, for the first time, Jiva-saṁsā (Gunasthāna) Mārgaṇasthāna and the various Anuyoga-dvāras and, on their basis, gave a systematic exposition of the entire Siddhānta. May be, to begin with, their systematisation was naturally met with some opposition or neglect, but gradually this very systematisation, on account of its being more methodical, pervaded the entire gamut of Jaina Siddhānta, and proved acceptable to all. The authors of the Saṅkhandāgama have not omitted any item from the Siddhānta inherited by them; and they have

given due place to useful traditional Gāthās in their works. By such introductory words as 'bhanidam', etc., they have indicated that these Gāthās are not composed by them but are traditionally inherited. This gives us an idea about their scholarly honesty and scholastic integrity. If any other author just ignores indicating the fact of inheriting such verses and included them along with other verses, this cannot be taken as a proof of his chronological priority. The name of Ārya Syāma occurs in interpolatory verses. He is not the author (in the strict sense of the term) of the Prajñāpanā but only a compiler, putting together traditional material. Thus when the authors of both the Saṭkhandāgama and Prajñāpanā are recording and arranging only traditional material, the term 'bhanidam' has no chronological value.

The Prajñāpanā has got some traditional Gāthās common with the Uttarādhyayana and Nijjuttī, and these are called Saṃgrahanī Gāthās (See Prajñāpanā and Saṭkhandāgama by D. Malavania, JOR, Vol 19, pp 35 ff. Baroda 1969). These cannot be used as evidence for relative chronology. If it is accepted that the Prajñāpanā is posterior to the Uttarādhyayana, the age of the Prajñāpanā remains still more uncertain. The Uttarādhyayana, as it stands today, cannot be, en bloc, assigned to the 3rd-4th century B. C. Some of its dogmatical chapters, which are clustered together at the end of the work, especially the 28th chapter etc. can be legitimately looked upon as pretty late, and, in the opinion of some, nearer the age of the Tattvārthasūtra. In this context another fact also has to be taken into account: the inheritance of scriptural knowledge was primarily oral, and one should not handle this material as if it is recorded in Mss. and copied by different authors. If any Gāthā is more correct in one text than in the other, it might be the result of the carefulness or otherwise of the copyists, - it would be improper to impute the mistakes to original authors who were learned Ācāryas. If the readings are more correct in the Prajñāpanā but incorrect in the Saṭkhandāgama, one should rather infer from this that the former could not have been the direct source of the latter.

The gist of the above discussion is that, as yet, we have not got any evidence to say that the Prajñāpana-sūtra was composed earlier than the Saṭkhandāgama. The age of Saṭkhandāgama is 683 years after the Nirvāṇa of Mahāvīra, i. e., about 200 years of the Vikrama Era, and it is accepted by all. It also stands proved that the inscription, etc., discovered in the Baba Pyara Caves near Girnar or Junagadh belong to this period, and possibly it is the same Candraguphā in which Dharasenācārya used to dwell, and he might be the same Dharasena whose demise, according to Sallekhanā, is indicated in the record there.

On the other hand, nothing definite can be said about the author of the Prajñāpana-sūtra. The Ācāryas of the Saṭkhandāgama tradition do not seem to be aware even of his name for, if they were, how Virasena, the author of the Dhavala, who has mentioned Twelve Angas and fourteen Anga-bāhya texts like the Daśavaikālikā, Uttarādhyayana, Kalpa, Vyavahāra, Nisītha; etc. (Saṭkhandāgama Vol I, p 96), could fail to take note of such an important text like the Pannavaṇa

In view of its linguistic features the Pannavaṇā cannot be dated earlier than the 2nd or 3rd century of the Vikrama era. Incidentally it may also be noted that the Saṅkhandāgama inclines more towards softening the intervocalic surds (like k and t) than dropping them, according to experts, softening is linguistically an earlier stage than eliding them. This much can be definitely said that the Pannavaṇā is earlier than its first Commentator Haribhadra (9th century of the Vikrama era). And if, on account of its mention in the Nandīśātra, it is to be earlier than the Valabhī redaction, then it may be assigned to a period earlier than Vira Nirvāṇa Saṃvat 993 (Vikrama Saṃvat 523). Another question has to be answered. Why is it that the Prajñāpanā, considered to be so important in view of its contents and assigned to such an early date by the editors, is put under the category of Upāṅga, a division which is quite late and of artificial connection with Aṅgas. The Upāṅga division came into existence perhaps after the Valabhī redaction, and the works under it contained extraneous and residuary traditional matter not included under Aṅgas. This, to a great extent, explains the relatively discursive contents, collected and compiled by Ārya Śyāma i.e., all the material is not thought out by himself (see p 229, Introduction). In fine, the Prajñāpanā, though it contains a good deal of old material not properly preserved, its present form cannot be dated earlier than the Valabhī Council when it was put under the category of Upāṅga and interpolatory verses became a source for the name of its so-called author.

Pandit Phoolchanda Siddhanta Shastri has given details about editing the present Volume in his 'Āvaśyaka Nivedana'. We are very thankful to him for the pains taken by him in this work. From the table of corrected readings given by him it is clear that he has carefully done the work, and it can be said that the palmleaf Mss are no more indispensable. It is a matter for satisfaction, taking into account the material on which the first edition was based, that there are not as many wrong readings as they were feared to have been. It is not a surprise if some significant various readings are detected, but what is remarkable is that the set-up of the interpretation of the earlier edition stands vindicated to be quite systematic. We have every hope that other Volumes are also soon published in this way with their readings duly scrutinised. Our hope has a solid basis that Shri Walchand Deochandaji, the Secretary of the Samskrita Sangha and his other colleagues are taking a keen interest in the matter and are giving maximum co-operation.

The late Shri N. Chadraraj had prepared the collations from the photos of palm leaf-Mss in reading which he was specially trained. In this work he was helped by Prof J. D. Bhomaj who took down the readings as he read them from one of the Mss. Both Prof J. D. Bhomaj and Shri Narendra Bhisikar have given valuable co-operation in seeing the work through the Press and in correcting the proofs. Our thanks are due to all of them.

24-11-1972
Balaghat, M. P.
Mysore

Editors
HIRA LAL JAIN
ADINATH NEMINATH UPADHYE

POSTSCRIPT

The sad demise of Dr Hiralalaji has been a severe blow to the studies of the Siddhānta texts. The publication of the Saṅkhandāgama, along with the Dhavalā commentary, in Sixteen Volumes, was, indeed, a great achievement which bears testimony to his allround scholarship, self-sacrifice, spirit of dedication and unstinted labour. For the last few months, we were exchanging notes on some of the aspects of the Introduction to this revised edition of the First Volume of the Saṅkhandāgama. He sent his Hindi draft to me on 24-11-72 asking me to put it into English and make necessary corrections, etc. I prepared the English draft with my additions here and there. I sent it to him on 21-2-73 requesting him to approve it with necessary corrections. It appears from some of his marks that he had read a few pages of it. His son, Prin. Prafulla Kumar Modi, wrote to me (7-3-73) that Doctors had advised him rest for a few weeks. Lately, he had undergone an operation for cataract of the second eye, and he had heart trouble, in addition to diabetes. As I knew his habits and his remarkable will, I had hoped that he would be allright soon to finalise our Introduction. 'Despite indifferent health and Doctors' advice to take rest, he tried to exact maximum work from himself. He believed that life is worth living only if one uses all one's time purposefully. Such a strain he could not sustain for long; and that quiet end came to this heroic scholar on 13-3-73'. Thus our joint labours, which went on nearly for the last forty years, in many a literary field, came to a stop. It was my great fortune that I had in him a genial colleague and a 'Kalyāṇa-mitra'. I feel I have lost my elder brother in him. The draft of the Introduction was returned to me by his son in the second week of April. To my regret, it could not receive Dr Hiralalaji's final touches. The revision of the subsequent volumes of the Saṅkhandāgama is deprived of his advice and guidance which I got in plenty from him for the First Volume. The Prakāśakiya was duly drafted by him after consulting the documents and sent to the Sholapur office on 6-10-72. The Introduction is signed by both of us, as already approved by Dr Hiralalaji, on 24-11-1972 (Balaghat, M.P.), because it is the result of mutual discussion. It is with a sad heart that I sign this post-script all alone; and I earnestly wish all peace and satisfaction to the departed soul.

प्रकाशकीय

षट्खण्डागम धवल सिद्धान्त का प्रथम बार सम्पादन-प्रकाशन किस प्रकार प्रारम्भ हुआ इसकी पूरी जानकारी ग्रन्थराजके प्रथम सस्करणके प्रथम भागके प्राक् कथनसे प्राप्त हो जाती है और इसी हेतु से उसे इस द्वितीय सस्करणमे भी अविकल रूपसे सम्मिलित किया जा रहा है । इस आगमका प्रथम भाग सन् १९३६ मे प्रकाशित हुआ और अन्तिम सोलहवाँ भाग १९५६ मे । तत्पश्चात् सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फड के ट्रस्ट बोर्ड के सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अब आगे इस योजना की कैसी व्यवस्था की जाय । पूरे प्रकाशनके बीस वर्षमे सम्पादन-प्रकाशनके सूत्रधार एकमात्र स्व. डॉ. हीरालालजी जैन थे । अब उनके सम्मुख ये समस्याये थी कि एक तो ग्रन्थराजके सोलह भागोमे से आदि के कुछ भाग अलभ्य हो गये थे, किन्तु उनकी माग बराबर बनी हुई थी । दूसरे इसी बीच मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रतियोके फोटोग्राफ परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शातिसागर दि जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटन, इस संस्थाद्वारा लिये जा चुके थे और वे फलटन (जिला, सोलापुर) के शास्त्र भण्डारमे विराजमान थे । तथा तीसरे डॉ. हीरालालजी चाहते थे कि इन आगम ग्रन्थोको समुचित रूपसे नयी उपलब्धियोके अनुसार सशोधित करते रहने और उन्हें जिज्ञासुओको सदैव उपलभ्य बनाये रखने का स्थायी उत्तरदायित्व की दृष्टिसे किसी एक व्यक्ति पर आधारित न रखकर किसी ऐसी सस्थाको सोपा जाय जो सुदृढ नीव पर निर्मित हो और अपने उद्देश्योमे व्यावसायिक नही किन्तु धार्मिक सेवा-भावसे प्रेरित और संचालित हो । अतः उन्होने अपने चिर-सहयोगी डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के साथ इस समस्या पर सभी दृष्टियोसे पूर्ण विचार कर यह निश्चय किया कि यह भार ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्द्र दोशी द्वारा स्थापित जैन सस्कृति संरक्षक सघ, सोलापुर को सोपा जाय । तदनुसार उन्होने दोनो ट्रस्ट बोर्डोके अधिकारीयोको अवगत कराया और हर्षका विषय है कि दोनोने ही उनके सत्परामर्शको स्वीकार कर लिया । तथा निम्नलिखित अनुबन्धोके साथ सिद्धान्त ग्रन्थोकी भावी व्यवस्था जै स. संरक्षक सघको सौप दी गयी—

१) सिद्धान्त ग्रन्थोकी मुद्रित प्रतियोका समस्त शेष स्टॉक जै स. स. सघ सोलापुरको सौप दिया जाय ।

२) श्रीमन्त लक्ष्मीचन्द्र जी द्वारा दान की गयी रकम के अतिरिक्त ग्रन्थमाला पर जो कर्ज हो गया है और जो दि ४-७-६० के दिन रु. १३९८० (तेरह हजार नौ सौ अस्सी) है वह जै. सं. स. सघ सोलापुरसे प्राप्त कर चुका दिया जाय ।

३) भविष्यमे प्रकाशित किये जानेवाले सिद्धान्तग्रन्थोंमें ' श्रीमन्त सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक सिद्धान्त ग्रन्थमाला ' और मुख्य सम्पादक डॉ हीरालाल जैन एव सहसम्पादक डॉ आ ने उपाध्ये के नाम मुखपृष्ठ पर अंकित रहेंगे । तथा प्रकाशक जैन सस्कृति संरक्षक सघ, सोलापुर रहेगा ।

४) भविष्यमे इन सिद्धान्त ग्रंथोंके सम्पादन-प्रकाशन एव विक्रयसे जो आय-व्यय होगा उसका उत्तरदायित्व जै स स सघ, सोलापुर पर रहेगा ।

५) इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके जो प्रकाशन भविष्यमे होंगे उनकी दस-दस प्रतिया उक्त ट्रस्ट (श्री. राजेन्द्रकुमार जैन, द्वारा- सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्द्र जैन, सा उ फंड, विदिशा म प्र) को भेट स्वरूप भेजी जाय ।

इन अनुबन्धोंको दोनों पक्षोंके ट्रस्ट बोर्डोंकी शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी और तदनुसार ग्रंथों एव धन-राशि का आदान-प्रदान भी हो गया ।

तभीसे जैन सस्कृति संरक्षक सघ, सोलापुर, डॉ हीरालाल जैन और डॉ आ. ने. उपाध्ये के निर्देशनानुसार सिद्धान्त ग्रन्थका फलटनमे विराजमान ताडपत्रीय प्रतियोंके फोटोसे मिलान करा कर उनके प्रकाशनका प्रयत्न करता रहा है । किन्तु हमे खेद है कि इस कार्यके सम्पन्न करानेमे हमे बारह वर्ष लग गये तब कही यह प्रथम भाग तैयार होकर प्रकाशमें लाया जा रहा है । आशा है कार्यकी गुरुताको देखते हुये पाठक हमे क्षमा करेंगे ।

हम स्व डॉ. हीरालाल जैन और डॉ आ ने उपाध्ये के विशेष अनुगृहीत है कि उन्होंने न केवल सम्पूर्ण ग्रन्थराजके प्रथम संस्करणके संपादन का आदि से अन्त तक नि स्वार्थ भावसे अपना सत्कर्तव्य निभाया, किन्तु वे उतनी ही तत्परता से इस द्वितीय संस्करणका भी उत्तरदायित्व झेलकर अपनी असाधारण दीर्घकालीन साहित्य-सेवा की परम्पराको अक्षुण्ण बनाए हुए है ।

दि ३०-६-७३

निवेदक
श्री. वालचन्द देवचन्द शाह
मन्त्री,
जैन सस्कृति संरक्षक सघ,
सतोप भुवन, फलटन गल्ली,
सोलापुर (महाराष्ट्र)

सम्पादकीय

आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलीकृत षट्खण्डागम सूत्र और उनकी आचार्य वीरसेनकृत धवला टीकाका स्थान जैन साहित्यमे अद्वितीय है। इनकी ताडपत्रीय प्रतियाँ एकमात्र स्थान मूडविद्रीके जैन भण्डारमे सुरक्षित थी और वे शक्तियोंसे अध्ययन नहीं, किन्तु दर्शन-पूजनकी वस्तु बन गयी थी। इस परमागम मानी जानेवाली महाकृतीकी प्रतिलिपियाँ किस प्रकार उक्त भण्डारसे बाहर निकली इसका भी एक रोमाचक इतिहास है जिसका परिचय इसके प्रथम सस्करणके प्रथम भागकी भूमिकामे दिया जा चुका है और वह प्रस्तुत सशोधित सस्करणमे भी अविकल रूपसे सम्मिलित है।

जब हमने सन् १९३८ ई मे भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ सितावराय लक्ष्मीचन्द्रजीके दानके निमित्तसे इस परमागमके अध्ययन व संशोधन कार्यमे हाथ लगाया, तब समाजमे इसकी भिन्न भिन्न प्रतिक्रियाये उत्पन्न हुई। नयी पीढीके समझदार विद्वानोंने इसका हार्दिक स्वागत किया और कुछ पुराने पण्डितों और शास्त्रियों, जैसे स्व. प. देवकीनन्दनजी शास्त्री, प. हीरालालजी शास्त्री, पं. फुलचन्दजी शास्त्री और प. वालचन्दजी शास्त्रीका हमे क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। किन्तु विद्वानोंके एक वर्गने इसका कडा विरोध किया। कुछका अभिमत था कि षट्खण्डागम जैसे परमागमका मुद्रण कराना श्रुतकी अविनय है। यह भी मत व्यक्त किया गया कि ऐसे सिद्धान्त ग्रन्थोंको पढनेका भी अधिकार गृहस्थोंको नहीं है। वह केवल त्यागी मुनियोंके ही अधिकारकी बात है। कुछ विद्वानोंको यह भी सन्देह था कि क्या हमारे जैसे अंग्रेजी पढे-लिखे बाबुओं द्वारा ऐसी गहन सिद्धान्त रचनाका समझदारीसे सशोधन किया जा सकता है? इत्यादि। किन्तु जब इस विरोधके होते हुए भी हम और हमारे सहयोगी ग्रन्थके सशोधनमे दृढतासे प्रवृत्त हो गये और एक वर्षके भीतर ही उसका प्रथम भाग सत्प्ररूपणा प्रकाशित हो गया तब सभीको कुछ आश्चर्य सा हुआ। स्व. सि. पन्नालालजीके नेतृत्वमे अमरावतीकी जैन समाजने बडे समारोह पूर्वक उस प्रथम भागका उद्घाटन कराया। फिर तो इस ओर विद्वानोंकी ऐसी रुचि उत्पन्न हुई कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रकाशनकी होड़ सी मच गयी। शोलापुर निवासी स्व. प. वन्शीधर शास्त्रीने भी अपने निजी मुद्रणालयसे इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। किन्तु वे दो-तीन भागोंके प्रकाशनसे आगे न बढ़ सके। कुछ काल पश्चात् जैन शास्त्रार्थ सघ मथुराकी ओरसे कषाय-प्राभृत (जय धवल सिद्धान्त) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तथा भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे महावध (महाधवल सिद्धान्त) का प्रकाशन होने लगा। पीछे विदुषी सुमतिवाई शाहने सूत्रमात्र और उनके हिन्दी अनुवादका सस्करण प्रकाशित कराया, तथा प. हीरालालजी शास्त्रीने कषाय-प्राभृत के चूर्ण सूत्रोंको सानुवाद प्रकाशित कराया। इस प्रकार जो धवल, जयधवल और महाधवल नामसे प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ शक्तियोंसे पूजाकी

वस्तु बने हुए थे वे समस्त जिज्ञासुओंके स्वाध्याय हेतु सुलभ हो गये । इसे जैन साहित्यके इतिहासमें एक विशेष उत्क्रान्तीकी संज्ञा दी जा सकती है ।

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी द्वारा सस्थापित जैन साहित्योद्धारक फंडसे समस्त पट्खण्डागम और उसकी टीकाका अनुवादादि सहित संशोधन-प्रकाशन १६ भागोंमें १९३६ ई से १९५६ ई तक २० वर्षोंमें पूर्ण हो गया । इसके अंतिम भाग छपनेसे पूर्व ही आदिके कुछ भागोंकी प्रतियाँ समाप्त हो गयी थी और पाठकोसे उन्हें पुनः प्रकाशनकी माँग आने लगी थी । किन्तु सम्पादक मण्डलका यह निश्चय था कि जब तक एक बार पूरा ग्रन्थ प्रकाशित न हो जाये तब तक किसी भागके द्वारा प्रकाशनमें अपना समय व शक्ति न लगाये जाये । यह भी विचार था कि जब द्वितीय संस्करणमें हाथ लगाया जाये तब पाठका प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे मिलान अवश्य करनेका प्रयत्न किया जाय । हमने प्रथम संस्करणमें जो पाठ प्रस्तुत किया वह गुप्त रूपसे ताडपत्रीय प्रतिकी कन्नड लिपीमें की गयी प्रतिलिपिकी नागरी प्रतिलिपिकी गुप्त रूपसे बाहर आयी प्रतिलिपियोंके आधारसे किया था । आदिसे ही हमारा ध्यान इस त्रुटिकी ओर था और हमने मूडविद्रीके भट्टारक महाराजसे बार बार शुद्ध प्रकाशनमें सहायक होनेकी प्रार्थना भी की । किन्तु उनका रुख निषेधात्मक ही रहा । तथापि तृतीय भागके प्रकाशित होनेपर उनके भावोंमें एक विलक्षण परिवर्तन हुआ और उन्होंने हमें सूचित किया कि यदि हम चाहें तो वे ताडपत्रीय प्रतियोंसे पाठ मिलानकी सुविधा प्रदान कर सकते हैं । इसे हमने एक महान् पुण्योपलब्धि और वरदान ही समझा । ताडपत्रीय प्रतियोंकी लिपि हल्लेकन्नड (पुरानी कर्नाटककी लिपि) है, जिसके पढ़नेकी क्षमता इने-गिने विद्वानोंकी थी । सौभाग्यसे हमें इस कार्य हेतु स्व पं लोकनाथ नास्त्रीका सहयोग प्राप्त हो गया और उनके द्वारा हमें वे पाठान्तर प्राप्त हुये जिनका समावेग तृतीय भागके एक परिशिष्टमें किया गया है । आगेके भागोंमें उनके द्वारा भेजे गये पाठान्तरोंका उपयोग मूलमें ही कर लिया गया ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होनेसे पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ । प्रथम भागके सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था उसमें अर्थ-संगति की दृष्टिसे संजदासंजदके आगे सजदपद और जोड़नेकी आवश्यकता प्रतीत हुई । किन्तु इससे फलित होनेवाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओंसे कुछ विद्वानोंके मन आलोडित हुए और वे सजद पदको वहाँ जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे । इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुये और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखोंकी श्रृंखलाये भी चल पड़ी, जिनका संग्रह कुछ स्वतंत्र ग्रन्थोंमें प्रकाशित भी हुआ है । इसके मौलिक समाधान हेतु जब हमने ताडपत्रीय प्रतियोंके पाठकी सूक्ष्मतासे जांच कराई तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियोंमें हमारा सुझाया सजद पद विद्यमान है । इससे दो बातें स्पष्ट हुईं— एक तो यह कि हमने जो पाठ-संशोधन किया है वह गंभीर चिंतन और समझदारी पर आधारित है और दूसरे यह कि मूल प्रतियोंसे पाठ-मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडविद्रीसे प्राप्त हुये थे और तृतीय भागके अंतमें समाविष्ट किये गये थे, उनमें हमें यह संशोधन नहीं मिला ।

इसी बीच वम्बईमे इस ग्रन्थको ताम्रपत्रोपर अंकित करानेका भी आयोजन हुआ और वहा भी उक्त ९३ वे सूत्रमे सजद पद जोडने न जोडनेके विषयपर विवाद उठ खडा हुआ, यद्यपि वहा भी ताडपत्रीय प्रतियोमे उसके होनेकी पुष्टि प्राप्त हो चुकी थी। अब यह प्रयास किया गया कि मूडविद्री भण्डारमे उपलब्ध इन ग्रन्थोकी सभी ताडपत्रीय प्रतियोके फोटो-चित्र लिये जाये। यह कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो गया और वे सब फोटोग्राफ फलटनके शास्त्र भण्डारमे आ गये।

सन् १९५९ मे समस्त षट्खण्डागमका १६ भागोमे प्रकाशन पूरा हो जाने पर सम्पादकोको यह चिन्ता हुई कि अब आदिके जो अनेक भाग अनुपलब्ध हो चुके हैं उनका उक्त फोटो-चित्रोंसे मिलान कर अंतिम रूपसे सशोधित संस्करण तैयार करनेकी क्या व्यवस्था की जाय ? बहुत सोच-विचारके पश्चात् यह निश्चय हुआ कि द्वितीय संस्करणका कार्यभार जैन संस्कृति संरक्षक सघ, शोलापुरके आधीन किया जाय। हमने यह सुझाव श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी व उनकी प्रवच समितिके समक्ष प्रस्तुत किया और उन्होंने हमारे सुझावको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके विषयमे भेलसा और शोलापुर की संस्थाओंके बीच जो समझौता हुआ उसका विवरण प्रकाशकीय वक्तव्यमे दिया गया है।

पंच णमोकार मंत्र

अभी अभी पणवणा-सुत्त का सुन्दर सम्पादन-प्रकाशन हुआ है (जैन आगम ग्रन्थमाला- ६, भाग १-२, श्री महावीर जैन विद्यालय, वम्बई- २६, सन् १९६९ व १९७१)। यह ग्रन्थ अर्द्धमागधी उपागोकी एक महत्वपूर्ण रचना है जो विषय व शैली आदि दृष्टियोंसे षट्खण्डागम सूत्रसे बहुत कुछ समानता रखती है। इसके सम्पादक मुनि पुण्यविजयजी, प दलसुख मालवणिया और प अमृतलाल मोहनलाल भोजक द्वारा लिखित अंग्रेजी व गुजराती की सुविस्तृत प्रस्तावना बहुत महत्वपूर्ण है। इसमे आये दो प्रकरण प्रकृतोपयोगी होनेसे यहाँ उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी प्रस्तावनाके पृष्ठ २३५ आदिमे प्रज्ञापनाके मगलाचरण व पचनमस्कार मंत्रकी विवेचना की गयी है जिसका सारांश यह है कि प्राचीनतम जैन रचनाओमे इस पूरे मंत्रका उल्लेख नहीं पाया जाता। पीछेके साहित्यमे इसका व्यापक प्रयोग पाया जाता है। तथापि उसके कर्तृत्वके विषयमे कहीं कोई स्पष्ट सूचना नहीं पायी जाती। किन्तु षट्खण्डागम सूत्रका प्रारम्भ इसी पचनमस्कार मंत्रसे होता है और उसकी वीरसेन कृत घवला टीकासे यह संकेत मिलता है कि उसके आदि-कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही है। हम प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम सूत्रकी टीकाके आधारसे द्वितीय भागकी प्रस्तावनामे तथा अन्यत्र भी यह प्रतिपादन कर चुके हैं कि आचार्य वीरसेन स्वामीका निस्संदेह अभिप्राय यही है कि यह मंत्र षट्खण्डागम सूत्रका अभिन्न अंग है और उसके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त ही है। टीकाकारने मगलके दो भेद किये हैं- निवद्ध और अनिवद्ध और दोनोंके लक्षण इस प्रकार समझाये हैं कि जहाँ सूत्रकार अपने मगलाचरणकी स्वयं रचना करता है वह निवद्ध मगल कहलाता है और जहाँ अन्य द्वारा विरचित मगलपाठ जोड दिया जाता है वह अनिवद्ध मगल है। इसी भेदके कारण उन्होंने यहा प्रयुक्त पचनमस्कार

मन्त्रको निवद्ध मगल माना है, तथा चतुर्थखण्ड वेदनाके आदिमें जो 'णमो जिणाण' आदि लम्बा मगलपाठ है उसे उन्होंने अनिवद्ध मगल कहा है, क्योंकि, वह स्वयं प्रस्तुत सूत्रकार द्वारा रचित न होकर गौतम गणधर द्वारा विरचित है और उसीकी वहाँ पुनरावृत्ति की गयी है। इस प्रकार धवलाकार के अभिमतमें किसी शक-सन्देह का अवकाश नहीं है।

इस प्रसंग में एक बातका और स्पष्टीकरण उचित होगा। णमोकार मन्त्रमें जो प्रथम पद 'णमो अरिहताण' आया है उसके स्थान पर कहीं 'अरहताण' पाठ भी पाया जाता है। और प्राकृत भाषाकी प्रकृति को ध्यानमें रखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु षट्खण्डागमके समान प्रज्ञापना सूत्रके आदि में भी यही पाठ 'अरिहताण' पाया जाता है, तथा उसके टीकाकार हरिभद्र और मलयगिरीने वही ग्रहण किया है। धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा विज्ञेष्वावश्यक भाष्यकारने यही पाठ लेकर उसकी निरुक्ति अनेक प्रकारसे समझायी है और उसीसे अतः में उन्होंने उसके संस्कृत रूपान्तर अर्हत् की भी व्याख्या की है। धवलाकार के मतसे 'अरि-हननाद् अरिहन्ता' रजोहननाद् वा अरिहन्ता, रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता अतिगय-पूजार्हत्वाद् वा अर्हन्तः। इस प्रकार धवलाकारके सम्मुख ती विकल्पसे भी अरहत् पाठ नहीं है (षट्खण्ड भाग १ पृ ४२ आदि)।

अतः दिगम्बर-श्वेताम्बर दीर्घकालीन सैद्धान्तिक परम्परा अरिहताणं पाठके पक्ष में ही सिद्ध होती है। इसी मगलके 'णमो आइरियाण' में भी 'यं' के स्थान पर रिय आदेश हुआ है और उसी प्रकार 'आर्य' का 'आरिय' तथा 'वर्ष' का 'वरिस' रूपान्तर होता है।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना सूत्र

पणवणासुत्त की प्रस्तावना का दूसरा प्रसंगोपयोगी प्रकरण पृष्ठ २२३ आदि पर प्रज्ञापना और षट्खण्डागम के तुलनात्मक विवेचन विषयक है। इसके अनुसार इन दोनों रचनाओं में बहुतसी महत्वपूर्ण समानताएँ हैं। १) दोनों का विषय जीव और कर्मकी सैद्धान्तिक व्याख्या है। २) उनका मूल स्तोत्र वारहवाँ श्रुताग दृष्टिवाद है। ३) उनकी रचना सूत्र-रूप है। ४) कहीं कहीं दोनों में ये सूत्र गाथात्मक भी हैं। ५) कुछ गाथाएँ दोनों में समान हैं जो निर्युक्तियों और विशेषावश्यक भाष्यादि में भी पायी जाती हैं। ६) दोनों रचनाएँ सग्रहात्मक हैं जिनमें समान शब्दावलि और उक्तियों का भी समावेश हुआ है। ७) दोनों के अल्प-बहुत्व प्रायः समान हैं और उन्हें महादण्डक कहा गया है। ८) गत्यागति प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव पदों की प्राप्ति का उल्लेख है। ९) प्रज्ञापना के कर्म, कर्मवधक, कर्म-वेदक, वेद-वन्धक, वेद-वेदक और वेदना, ये छह पद (२३-२७ और ३५) षट्खण्डागमके छह खण्डों जीव-स्थान, क्षुद्रक-वन्ध, वन्ध-स्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महावन्ध का स्मरण कराते हैं। दोनों रचनाओंकी ये समानताएँ निर्विवाद हैं और वे उनकी अर्थ एवं अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे समान परम्परा की द्योतक हैं।

किन्तु इन समानताओंके होते हुए भी दोनों रचनाओंकी अपनी अपनी विशेषताये भी अनेक है। जैसे १) प्रज्ञापना में ३६ पदसंज्ञक परिच्छेद हैं और उनके अवान्तर प्रज्ञापना, प्ररूपणा आदि विषयानुसार उपभेद किये गये हैं। किन्तु षट्खण्डागमके खण्ड पूर्वोक्त छह ही हैं, और उनके भीतर बहुतायतसे चौदह जीव-समासो (गुणस्थानो) व चौदह मार्गणा-स्थानोके अनुक्रमसे विषय प्ररूपण किया गया है, जिनका प्रज्ञापना सूत्रमें सर्वथा अभाव है। २) प्रज्ञापना की रचना एक कर्ता की है, जबकि षट्खण्डागम की रचनामें पुष्पदन्त और भूतवलिका कर्तृत्व तो स्वीकार ही किया गया है, तथा उसकी अनेक चुलिकाये पीछे जोड़ी गयी अनुमान की जा सकती है, जैसे दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थोंमें पाया जाता है। ३) षट्खण्डागममें प्रतिपाद्य विषयोका विवेचन प्रज्ञापना सूत्रकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और गभीर, सुव्यवस्थित व योजनाबद्ध है। ४) प्रज्ञापना सूत्रमें प्रश्नोत्तर शैलीका उपयोग षट्खण्डागमकी अपेक्षा अधिक है। ५) प्रज्ञापना सूत्रकी रचना शुद्ध सत्रात्मक है, जबकि षट्खण्डागममें बहुधा अनुयोगद्वारोंके निर्देश सहित टीकात्मक शैली भी पायी जाती है। यहाँ निर्युक्तियोंके समान नाम, स्थापना आदि निक्षेपोंके आश्रय से तत्त्वार्थसूत्र के समान सत्, सख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा प्ररूपणा, निर्देश, विभाषा आदि जैसी संज्ञाओंके प्रयोग सहित भाष्य शैली अपनायी गयी है, तथा गति-अनुवादेन, इन्द्रियानुवादेन आदि स्पष्ट निर्देशोंका भी प्रयोग हुआ है। ६) षट्खण्डागम (भाग ७ सूत्र ७९) में महादण्डक नामसे अल्पबहुत्व अधिक व्यवस्थासे ७८ पदोंमें 'वत्तइस्सामो' 'कादव्वो' जैसे शब्दों सहित किया गया है, जबकि प्रज्ञापना सूत्रमें ऐसे शब्दोंके बिना वह ९८ पदोंमें अवान्तर भेदोपभेदों सहित शिथिलतासे हुआ है। ७) प्रज्ञापना सूत्रके स्थान-पद नामक द्वितीय पदमें जो जीवोंके क्षेत्रोंका वर्णन है वह शिथिलताके कारण बहुत लम्बा है, जबकि वही षट्खण्डागम (भाग ७ पृष्ठ २९९ आदि) में मार्गणा-स्थानोंके अनुक्रमसे सुगठित शैलीमें अपेक्षाकृत थोड़ेमें आ गया है। ८) प्रज्ञापना सूत्रमें अल्प-बहुत्व २६ द्वारोंसे प्ररूपित है, तथा उसमें जीव-अजीवका मिश्रण अव्यवस्थासे हुआ है। किन्तु षट्खण्डागममें वही १४ मार्गणाओंके द्वारा सुव्यवस्थित रूपसे आया है। प्रज्ञापना सूत्रके २६ द्वारोंमें गति इन्द्रिय आदि मार्गणाओंके नाम भी यत्र-तत्र आ गये हैं, किन्तु उसमें सुनिश्चित १४ मार्गणाओंका अभाव है। यही-स्थिति स्पर्श, काल आदि प्ररूपणाओंकी है। ९) प्रज्ञापना सूत्रकी तीन गाथाएँ (९९-१०१ पृ. २५) वे ही हैं जो षट्खण्डागम (भाग १४ के सूत्र १२२-१२४) में पायी जाती हैं। किन्तु भेद यह है कि षट्खण्डागममें वे 'लक्खण भणिदं' के साथ प्रस्तुत की गयी हैं जिससे वे अन्यत्रसे उद्धृत सिद्ध होती हैं। इनके कुछ पाठ ऐसे भी हैं जो षट्खण्डागममें अशुद्ध और प्रज्ञापना सूत्रमें शुद्ध रूपमें हैं।

इन समानताओं और विशेषताओं पर विचार करते हुये प्रज्ञापना सूत्रकी प्रस्तावनाके लेखकोंने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि एक ओर तो दोनों ग्रन्थोंकी सैद्धान्तिक परम्परा विषय और कुछ अंशमें रचना की दृष्टिसे अभिन्न है, किन्तु दूसरी ओर विषयके वर्गीकरण प्रतिपादन की शैली तथा व्यवस्था और विधान एवं पारिभाषिक शब्दावलि आदि की दृष्टिसे षट्खण्डागम की अपेक्षा प्रज्ञापना की रचना अधिक प्राचीन और पूर्ववर्ती प्रतीत होती

है। इसकी और भी परिपुष्टि हेतु उन्होंने दोनोंके रचनाकाल पर भी विचार किया है। पट्खण्डागमकी रचना का तो उन्होंने वही काल स्वीकृत कर लिया है जो उसके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें अर्थात् वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् व विक्रम संवत् की द्वितीय शतीके लगभग निश्चित किया गया था। किन्तु प्रज्ञापना सूत्रकी रचना हेतु उन्हें वैसे निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य व प्रमाण नहीं मिले। अतः उसके लिये उन्हें कुछ शंकास्पद सकेतोका आश्रय लेना पड़ा है जो इस प्रकार हैं—

१) प्रज्ञापना सूत्र के मगलाचरण के पश्चात् दो ऐसी प्रक्षिप्त गाथाये पायी जाती हैं जिनमें अज्ज-साम (आर्य श्याम) को नमन करते हुए कहा गया है कि वे वाचक संघ के तेवीसमें पुरुष थे और उन्होंने श्रुतसागरसे निकालकर उत्तम श्रुत-रत्न प्रदान किया। इसपर से अनुमान किया गया है कि आर्य श्याम ही प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता हैं।

२) पट्टावलियों की परम्परानुसार जो तीन कालकाचार्य हुए उनमें प्रथम कालक ही श्यामाचार्य थे।

३) धर्मसागरीय पट्टावलि में प्रथम कालक का मृत्यु तथा खरतर गच्छीय पट्टावलि में उनकी जन्म का समय वीर निर्वाण से ३७६ वर्ष पश्चात् माना गया है।

मुख्यतः इन तीन बातोंपरसे निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना श्यामाचार्य द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शतीमें अर्थात् विक्रम संवत्से लगभग सौ वर्ष पूर्व और तदनुसार पट्खण्डागम से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुई।

उक्त तर्कोंपर यहाँ विचार किया जाय। १) उन दोनों प्रक्षिप्त गाथाओंमें पणवणा सुत्त का नाम भी नहीं आया। जिस श्रुत-रत्नका दान श्यामाचार्यने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थ-रत्नका भी तो अभिप्राय हो सकता है। यदि हरिभद्राचार्यने भी इन गाथाओंको प्रक्षिप्त कहकर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनके समय अर्थात् आठवीं शतीमें श्यामाचार्य की ख्याती हो चुकी थी। किन्तु उससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथाये जोड़ी गयी इसके क्या प्रमाण हैं। उन गाथाओंमें श्यामाचार्यको वाचक वंशके तेइसवाँ पुरुष कहा है। यह वंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेइसवीं पीढ़ी कब पड़ी इसका लेखा-जोखा कहाँ है? उनमें पूर्व ग्रन्थकी अंगभूत गाथामें तो स्पष्ट कहा गया है कि पणवणाका उपदेश भगवान् जिनवरने भव्य जनोकी निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओंमें दुर्धर, धीर व समृद्ध-बुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिर्दिष्ट श्रुत-रत्नका दान अपने शिष्यगण को दिया गया। क्या प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में मूल और प्रक्षेपकी मान्यता एक ही कही जा सकती है?

२) पट्टावलियोंकी परम्परायें बहुत प्राचीन नहीं हैं। उनके रचनाकाल व प्रामाणिकतामें सदेह है। वे परस्पर विरोधी भी पायी जाती हैं। तीन कालकाचार्योंमें से श्यामाचार्यका किससे एकीकरण किया जाय इसकी भी उनमें स्पष्ट स्थापना नहीं पायी जाती। उन्हीं के आधार से तो डॉ. यू. पी. शाहने अपना यह अनिश्चयान्मक मत व्यक्त किया है (पृ. २३२) कि निम्न

पट्टावलि में ग्यारहवे कहा है वे गर्दमिल्लके विनाशकर्ता कालकाचार्यसे अभिन्न हो जाते हैं और तब प्रथम और द्वितीय कालक भी एक हो जाते हैं, इत्यादि। इस प्रकार श्यामाचार्य का कालक से एकीकरण करके उनका काल-निर्णय करना बहुत कुछ अटकलवाजी ही है।

३) धर्मसागरीय और खरतरगच्छ पट्टावलिया कव वनी, किस आधारसे और उनके परस्पर विरोधका क्या कारण है, इन बातों का समुचित समाधान हुए विना उनमें निर्दिष्ट काल को कहाँ तक प्रामाणिक माना जाय और उनमें उल्लिखित कालक को श्यामाचार्यसे अभिन्न कैसे मान लिया जाय।

जहाँ तक आधार प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि कहाँ कालकाचार्य को प्रज्ञापनासूत्र का कर्ता कहा गया है। 'श्याम' और 'काल' दोनों शब्द एकार्थी हैं, इससे श्यामार्य — कालकाचार्य— यह समीकरण तुरत स्फुरित होता है। परंतु अभ्यासपद्धति में यह ठीक नहीं लगता। हमें ऐसे प्रमाणों की जरूरत है जहाँ स्वतंत्र रूपसे श्यामार्य और कालकाचार्य दोनों प्रज्ञापन के कर्ता के रूप में निर्दिष्ट हैं। तदनंतर ही दोनोंका समीकरण होगा। तत्पश्चात् ही काल-निर्णय किया जा सकेगा।

वस्तुतः जैन साहित्यिक इतिहास के लिये यह एक महान् उपलब्धि होगी यदि किसी जैन ग्रन्थकी रचना विक्रम पूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दि की सिद्ध की जा सके। वर्तमान जैन प्राकृतसाहित्यमें ऐसी सिद्धि की क्षमता तो किसी भी रचनामें दिखाई नहीं देती, क्योंकि, उनकी भाषात्मक वृत्ति मध्य-भारतीय-भाषा (Middle Indo-Aryans) के प्रथम स्तर की नहीं पायी जाती, किन्तु द्वितीय स्तर की है जिसका प्रारम्भ विक्रम की द्वितीय शतीसे पूर्व हुआ ही नहीं था। उदाहरणार्थ, पणवणा सुत्त में आये 'लोए' (लोके) 'भयवया' (भगवता) 'सुय' (श्रुत) 'दिट्ठिवाय' (दृष्टिवाद) 'ठिई' (स्थिति) 'वेयणा' (वेदना) आदि जैसे मध्यवर्ती व्यंजनोका लोप और उनके स्थान पर य-श्रुतिके आदेश की प्रवृत्ति द्वितीय शतीसे पूर्व की प्राकृत भाषाओंमें नहीं मिलती। इन पूर्ववर्ती भाषाओंका स्वरूप हमें पालि त्रिपिटक, अशोक, खारवेल तथा सुग और आध्रवशीय शिलालेखों एवं अश्वघोष के नाटकोंमें मिलता है जहाँ मध्यवर्ती व्यंजनोके लोप की प्रवृत्ति का अभाव है। यह व्यंजन-लोप-वृत्ति दूसरी शतीके पश्चात् प्रारम्भ हुई और यही महाराष्ट्री प्राकृतका विशेष लक्षण बन गयी। इसी के जैन प्राकृत साहित्यमें प्रचुरतासे प्रयोगके कारण पिशेल आदि विद्वानोंने जैन प्राकृत रचनाओंकी भाषाओंको जैन महाराष्ट्री व जैन शौरसेनी की सजा दी है। अतः इस भाषाविज्ञान के प्रकाश में पणवणा सुत्त की रचना को द्वितीय शतीसे पूर्व की कदापि स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक पणवणा के षट्खण्डागम से पूर्ववर्ती होने का प्रश्न है वह भी निस्सन्देहात्मक नहीं कहा जा सकता। दोनों रचनाओं में जो समानताये हैं वे निर्विवाद रूप से सिद्ध करती हैं कि दोनों की मौलिक परम्परा एक ही है। यह बात केवल इन्हीं दो रचनाओंसे नहीं, किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों की समस्त सैद्धान्तिक (और उप सैद्धान्तिक) रचनाओं

से सिद्ध होती है। उनका प्राण एक है, किन्तु शरीर व अंग-रचना भिन्न है। इस संबंध में ध्वलाकार वीरसेनाचार्य का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि (षट्खण्डागम भाग १ पृ. ६०) कर्ता दो प्रकार का होता है, अर्थ-कर्ता और ग्रंथ-कर्ता। प्रस्तुत षट्खण्डागम के अर्थ-कर्ता तो भगवान् महावीर ही हैं, किन्तु ग्रंथ-कर्ता गीतमादि मुनियों के अनुक्रम से पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य हैं, भगवान् महावीर के जिस उपदेश के आधारसे षट्खण्डागमकी रचना हुई उसीसे प्रज्ञापना सूत्र की। किन्तु साम्प्रदायिक परम्पराओंके अनुसार उनमें शैली व वर्गीकरणादि में भेद होना स्वाभाविक था। अनुवद्ध परम्परामें तो शैलीके विकासानुसार ग्रन्थोंके पूर्वापरत्व का कुछ अनुमान किया भी जा सकता है, किन्तु स्वतंत्र परम्पराओंमें यह अनुमान अनुपयुक्त पाया जाता है, और इस बातपर प्रज्ञापना सूत्रके सम्पादकोंने स्वयं भी बहुत जोर दिया है। वे कहते हैं (प्रस्ता पृ २३०)

The style of treatment i. e. its simplicity or otherwise, can not be a determining factor in fixing up the chronological order of these works. This is so because the nature of the style was dependent on the objective of the author and on the nature of the subject-matter, simple or subtle. Hence we would be making a great blunder in fixing up the chronological order of Prajnapana and Satkhandagama if we were guided only by the fact that the treatment of the subject-matter in the Satkhandagama is more detailed and subtle than that found in Prajnapana Sutra.

इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिपादन शैलियोंकी सरलता और सूक्ष्मताके आधार मात्रसे किन्हीं रचनाओंके कालानुक्रमका निर्णय करना एक भारी भूल होगी, क्योंकि ये बातें तो ग्रन्थकारोंके अपने अपने लक्ष्य तथा प्रतिपाद्य विषयपर अवलंबित होती हैं, और यही बात प्रज्ञापना और षट्खण्डागमके विषयमें समझना चाहिये। यहां यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि जहाँ श्वेताम्बर मुनि प्रधानतया अर्द्धमागधी आगमसे बंधे रहकर उसीके उद्धार, संग्रह, विस्तार आदि में लगे रहे, वहाँ दिगम्बर मुनियोंने मूल आगमको विलुप्त हुआ स्वीकार कर बहुत कुछ स्वतंत्रतासे नवीन शैलीके ग्रन्थोंका निर्माण किया। इसीके, जिसमें विद्वान् आचार्योंने अपनी प्रतिमाका उन्मुक्त भावसे उपयोग किया। परिणामस्वरूप धरसेनाचार्यसे परम्परागत सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागमके कर्ताओंने अपने बुद्धि-बलसे खारवेल से शिलालेखमें निबद्ध 'नमो अरहंतान' 'नमो सर्व सिद्धान' रूप द्विपदी मंगलको पंचपदी बनाकर प्रकट किया, ऐतिहासिक दृष्टीसे देखा जाय तो, विभिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न विद्वान् मुनियोंके गणोंमें समय समयपर मंगलविस्तारके वारेमें ऐसे प्रयत्न अवश्य किये गये होंगे। जब हम चत्तारिदंडक का अवलोकन करते हैं तो वहाँ का मंगल चतुष्पद है। जब सब व्यवस्था अच्छी बन गयी, तब 'साहु' शब्दकी व्याप्ति में आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु आ गये होंगे। 'जीवर्कचितामणि' नामक प्राचीन तमिल जैन काव्यमें साधारणतया अपेक्षित पचनमस्कारात्मक मंगलकी जगह ग्रंथके आरम्भमें चत्तारि मंगलरूपी नमस्कार है। इसी प्रकार संभवतः उन्होंने ही प्रथम बार जीव-समास (गुणस्थान) मार्गणा-स्थान व विविध अनुयोगद्वारों आदिका आविष्कार कर उनके आधारसे विधिवत् सिद्धान्तका प्रतिपादन किया।

उनकी इन विधाओंका स्वभावतः आदिमें विरोध या उपेक्षा की गयी होगी किन्तु धीरे धीरे वेही विधाये, उनकी अधिक सुव्यवस्थाके कारण समस्त जैन सैद्धान्तिक जगत् पर छा गयी, और सर्वत्र स्वीकृत हो गई है। षट्खण्डागमके कर्ताओंने परम्परागत सिद्धान्तकी कोई भी बात किसी भी साम्प्रदायिक भेदभाव या पक्षपातके कारण छोड़ी नहीं, तथा उन्होंने परम्परागत उपयोगी गाथाओंको भी अपनी रचनामें यथोचित स्थान दिया। 'भणित' आदि शब्दोंके उपयोग द्वारा यदि उन्होंने यह इंगित किया कि वह गाथा उनकी स्वनिर्मित नहीं है, किन्तु परम्परागत है तो यह उनकी साहित्यिक सच्चाई व ईमानदारी की परिचायक है। किन्तु यदि कोई अन्य लेखक इस वास्तविकताके सूचक सकेतोको न देकर उसे अपनी मौलिक रचनाका अंगरूप मान लेता है, तो वह इस प्रमाणसे पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

आर्यश्यामका नाम निर्देश प्रक्षिप्त माथाओंमें उपलब्ध होता हैं। वे प्रज्ञापनाके कर्ता (शब्दके सही अर्थमें) नहीं हैं, किन्तु सग्रहकार हैं जिन्होंने परम्परागत विषयोका सग्रह किया है। जब दोनों ग्रंथकार, षट्खण्डागमके और प्रज्ञापनाके परम्परागत विषयोका ही सग्रह करके निबद्ध कर रहे हैं, तब 'भणित' शब्दका कोई कालनिर्णायक मूल्य नहीं है।

प्रज्ञापनामें कई परम्परागत गाथाएँ हैं जो उत्तराध्ययन और निज्जुत्तियोंमें भी मिलते हैं। इनको सग्रहणी गाथा कहा गया है (देखिए— प मालवेनिया-प्रज्ञापना और षट्खण्डागमा, जे ओ. आर १९, पृ. २६ इ वडोदा ११६९)। पारस्परिक कालनिर्णयमें इनका कोई प्रमाणरूपसे मूल्य नहीं है। यदि प्रज्ञापना उत्तराध्ययनसे उत्तरकालीन है, तो प्रज्ञापनाका समय अनिर्णीत रहता है। जिस रूपमें आज हमें उत्तराध्ययन मिलता है, उस ग्रंथकी रचना संपूर्णरूपसे ईसापूर्व तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई थी, यह हम नहीं कह सकते। जैनतत्त्वविषयक जो अध्याय हैं, जिनको ग्रंथके अंतमें एकत्रित किया गया है, विशेषतया २८ वाँ अध्याय, बहुत कुछ अर्वाचीन हैं और कई विद्वानोंके मतानुसार तत्त्वार्थसूत्रके समीपवर्ती कालके हैं।

(इस सदर्भमें यह भी ध्यानमें लेना चाहिये। आगमज्ञान परंपरा मुख्यतया मौखिकही था। यह परंपरा हस्तलिखितोपर चलता था ऐसा मानकर अनुमान करना ठीक नहीं है।) यदि कोई गाथा एक ग्रंथमें दूसरे की अपेक्षा अधिक शुद्ध प्रतीत होती है तो वह लिपिकारोंकी सावधानी व असावधानीका परिणाम भी हो सकता है। उसे मूल ग्रंथकार महाविद्वान् आचार्योंकी भूल मानना नितान्त अनुचित होगा। यदि प्रज्ञापनामें पाठविशेष शुद्ध है, किन्तु षट्खण्डागममें अशुद्ध है तो इससे अवश्य यह अनुमान होना चाहिए कि प्रज्ञापनासे यह पाठ षट्खण्डागममें नहीं किया गया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि हमें अवतक ऐसा कोई प्रमाण हाथ नहीं लगा जिसके आधारसे यह कहा जा सके कि प्रज्ञापना सूत्रकी रचना षट्खण्डागमसे पूर्वकालीन है। षट्खण्डागम वीर निर्वाणके ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् २०० के लगभगकी सिद्ध है, और वह सर्वसामान्य हो चुकी है। गिरनार व जुनागढके समीप वावा

प्यारा नामक गुफाओमे जो गिलालेखादि मिले उनसे भी यही सिद्ध हुआ है कि वह मामग्री पूर्वोक्त कालकी ही है और सभवत वही वह चन्द्रगुफा है जहाँ धरसेनाचार्य निवास करते थे । तथा जिस मुनिके सल्लेखना पूर्वक मरणका गुफालेखमे संकेत है वे धरसेन ही थे ।

इसके विपरीत प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता और कालके विषयमे अभी भी निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । षट्खण्डागमकी परम्पराके आचार्योंको तो उसके नाम तक की कोई जानकारी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि, यदि होती तो धवलाकार वीरसेनने जहाँ द्वादश अंगो और चौदह अंग बाह्य ग्रन्थो, जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि का उल्लेख किया है (षट्खण्डागम भाग १ पृ ९६) वैसे पणवणा सदृश महत्वपूर्ण रचना को वे कैसे भूल सकते थे ? भाषाशास्त्रके अनुसार वह रचना विक्रमसे पूर्व द्वितीय-तृतीय शती की तो हो ही नहीं सकती, विक्रम सवत् की दूसरी-तीसरी शतीसे पूर्व की भी नहीं मानी जा सकती । यह भी निर्देश किया जाय कि षट्खण्डागममे स्वरमध्य क, त का प्राय ग, द होने की प्रवृत्ति है, न तो लोप होने की । भाषाशास्त्रज्ञोके मतमे यह लोप-प्रवृत्ति का पूर्वस्तर है । निश्चित रूपसे तो केवल इतनाही कहा जा सकता है कि वह उसके सर्व प्रथम टीकाकार हरिभद्र (विक्रम की नवी गती) से पूर्वकालीन है । और यदि उसके नन्दिसूत्रमे उल्लेख होनेके कारण वलभी वाचनासे पूर्वत्व सिद्ध होता हो, तो वह वीर निर्वाण संवत् ६६३ (वि सं. ९९३) से पूर्वकालीन मानी जा सकती है । और एक प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक है । वह यह है कि प्रज्ञापना को, जो सपादकोके अनुसार विषयकी दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है और कालकी दृष्टि से इतना प्राचीन है, उपागोके अतर्गत क्यों विभाजित किया गया है ? उपांग विभाग अर्वाचीन है और अगोसे उसका संबंध कृत्रिम है । उपांग विभाजन सभवत वलभीवाचनानंतर ही अस्तित्वमे आ गया है और जो विषय अगमे ग्रथित नहीं हो सके, ऐसेही विषय उपांगोमे विद्यमान है । आर्य श्यामने जो सग्रह किया गया है, वह सापेक्षत. अव्यवस्थित और कहीं कहीं अपूर्ण सा लगता हैं, इसका कारण बहुत हद तक यही है । मतलब यह है कि सग्रह करते समय सब विषयोका चिंतन अपनीही तरफसे उन्होंने नहीं किया है ।

सक्षेपमे यह ही कहना पडता है कि प्रज्ञापनामे कुछ प्राचीन अंश है, किंतु वे व्यवस्थित रूपमे नहीं रहे हैं । उसका प्रस्तुत स्वरूप वलभी वाचना या सम्मेलनके पूर्वकालीन नहीं है । वलभी सम्मेलनमे उसे 'उपांग' के रूपमे रखा गया और प्रक्षिप्त गाथाओ मे उसके तथाकथित कर्ताका नाम आया है ।

प्रस्तुत भाग के संशोधन का विवरण पं फुलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने अपने 'आवश्यक निवेदन' मे प्रस्तुत किया है । पंडितजी ने इस कार्य मे जो परिश्रम किया है उसके लिये हम बहुत कृतज्ञ हैं । उन्होंने पाठ-संशोधन की जो तालिका दी है उससे स्पष्ट है कि यह संशोधन पूर्ण सावधानीसे किया है जिससे हम कह सकते हैं कि अब उक्त ताडपत्रीय प्रतियोकी वह अनिवार्यता नहीं रही । विशेष संतोष की बात यह है कि जिस साधन-सामग्री परसे प्रथम संस्करण तैयार किया गया था, उसे देखते हुये जितनी जैसी अशुद्धियोकी हमे आगका थी वैसी

नहीं मिली। आश्चर्य यह नहीं है कि कुछ महत्वपूर्ण पाठान्तर मिले, किन्तु आश्चर्य यह है कि उनसे पूर्ण सस्करणमें बैठायी गयी अर्थ-संगति सुव्यवस्थित ही सिद्ध हुई है। हमें आशा है कि अब शीघ्र ही अन्य मार्गोंके भी संशोधित सस्करण क्रमसे तैयार कर प्रकाशित किये जा सकेंगे। इस आशाका बड़ा भारी आधार यह है कि सस्कृति संघके सचिव श्री. वालचन्द देवचन्दजी शाह तथा उनके सहयोगी सदस्य इस विषयमें खूब रुचि रखते हैं और सब प्रकारसे अपना अधिकतम सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

दिवगत श्री एन् चद्रराजने ताडपत्र हस्तलिखित प्रतियोकी फोटोके आधारपर पाठान्तरोंका संग्रह किया था। इस पठन कार्यमें उनको विशेष प्रशिक्षण दिया गया था। इस कार्यमें हस्त प्रतियोमेंसे एक के पाठान्तर लिख लेनेमें प वालचन्द्र शास्त्री व प्रा जे डी भोमाज ने सहायता की है। श्री चद्रराजके मूल फोटो प्रतियोकी पढते समय प्रा भोमाज पाठ लिख लेते थे। इस सपुटके मुद्रण तथा प्रूफ संशोधनके कार्यमें प्रा भोमाज और श्री. नरेद्र भिस्तीकर का अमूल्य सहयोग उपलब्ध हुआ है। उन सब सज्जनोका हम बहुत आभार मानते हैं।

सम्पादक,

वालाघाट (म प्र) }
ता. २४-११-१९७२ }

हीरालाल जैन
आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये



पञ्चलेख

डॉ. हीरालालजी का दुःखद वियोग सिद्धांतग्रन्थोंके अध्ययन के प्रति महान् आघात है। पट्खण्डागमका, धवलो टीकासहित, सोलह खंडोंमें प्रकाशन तो उनकी महान् साधना का एव उनके पांडित्य, स्वार्थत्याग, सेवा मनोधर्म तथा अविरत श्रमका खास द्योतक है। पिछले कुछ महीनोंसे पट्खण्डागम के प्रथम खंड के पुनर्विर्माशित संस्करणके प्रस्तावनाके कुछ पहलुओपर हम टिप्पणियोंका परस्पर विनिमय करते आ रहे थे। उन्होंने २४-११-७२ को मेरे यहाँ अपने हिंदी प्रारूप भेजा और प्रार्थना की कि आवश्यक सुधार के साथ उसका अंग्रेजीमें अनुवाद करा दे। जहाँ तहाँ अपनी ओरसे कुछ जोड़कर मैंने अंग्रेजी प्रारूप तैयार किया। दिनांक २२-२-७३ को मैंने आवश्यक सुधार के साथ अनुमोदन करनेके लिए प्रारूपको उनकी सेवामें भेजा। जहाँ तहाँ पर की गयी सुधारोंसे ऐसा लगता है कि उन्होंने उसके कुछ पृष्ठ अवश्य पढ़े होंगे। उनके पुत्र श्री प्रि. प्रफुल्लकुमार मोदीने मुझे यह लिखा (७-३-७३) कि डॉक्टरोंने कुछ सप्ताह तक पूरी तरह आराम करनेके लिए उनको सूचना दी है। हालहीमें मोर्तिविदु के कारण उनकी दूसरी आँखकी शस्त्रचिकित्सा हुई थी। हृद्रोग से तो वे त्रस्त थे, और साथ साथ मधुमेह भी उनको सता रहा था। उनके प्रवृत्ति पर और उनके असाधारण मनोवैर्यपर मुझे पूरा विश्वास था कि वे बहुत जल्दी ठीक हो जाएंगे और हमारी प्रस्तावना पूरी हो जाएगी। अपने विधड़े हुए स्वास्थ्यकी परवाह किये बिना, डॉक्टरोंकी सलाहोंके बावजूद, उन्होंने लगातार अपने जीभर काम किया है। किसी अच्छे उद्देश की पूर्तिमें जीवन व्यतीत करे तो वही सही जीवन है उनकी तो यही धारणा थी। ऐसे भार को बहुत समयतक उनका गरीर सह नहीं पाया। १३-३-७३ को ऐसे धैर्यगील या लढाऊ विद्वान्का अंत चुपचाप आ टकरा। साहित्य विविध क्षेत्रोंमें गत चालीस वर्षोंसे निरंतर चला आया हमारे सहयोगी परिश्रम का इस तरह अंत हो गया। डॉ. हीरालालजी मेरे अत्यंत सौजन्यशील सहयोगी और कल्याण-मित्र रहे, यही मेरा सौभाग्य है। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने एक बड़े भाई को इस समय खो बैठा हूँ। अप्रैल के दूसरे हफ्तेमें इस प्रस्तावना का प्रारूप उनके पुत्र की ओर से मुझे लौटाया गया। मुझे खेद है कि डॉ. हीरालालजी उसका पूरी तरहसे सुधार न कर पाये। प्रथम खंडके प्रकाशन में उनकी जो सूचनाएँ और मार्गदर्शन मुझे पूरी तरह से मिले, वे सौलभ्य दुरदृष्टवशात् आनेवाले खंडोंको नहीं मिल सकते। प्रलेखोंके आधार पर उन्होंने प्रकाशकीय का प्रारूप तैयार कर दिनांक ६-१०-७२ को गोलपुर कार्यालय भेजा था। प्रस्तावनाके अंतमें हम दोनोंके हस्ताक्षर हैं। इसीलिए कि परस्पर चर्चा के बाद २४-११-७२ को (वालाघाट, मध्यप्रदेश) डॉ. हीरालालजीने उसका अनुमोदन किया था। परंतु मुझे बहुत खेद है कि इस पञ्चलेख पर मुझे अकेले को ही हस्ताक्षर करना पड़ रहा है। बड़ी सद्भावना से मैं यह विश्वास रखता हूँ कि उनकी दिवंगत आत्मा को चिरशान्ति और सुख मिले।

मानमगमोत्री
मई ५७०००६
दिनांक २, मई, १९७३

आ. ने. उपाध्ये

आवश्यक निवेदन

जीवस्थान षट्खण्डागमका प्रथम खण्ड है। उसका प्रथम अनुयोगद्वारा सत्प्ररूपणा है। उसकी प्रथम पुस्तक का अमरावती कारंजा और आरा की हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे सम्पादन होकर इ. स. १९३९ में प्रकाशन हुआ था। उस समय मूडविद्रीके सिद्धांतमदिरमे स्थित ताडपत्रीय प्रतियाँ अनुपलब्ध थी। प्रसन्नता है कि पुनः इसके संशोधनके समय सोलापुर स्थित श्री जीवराज जैन ग्रंथमाला के यशस्वी मंत्री काका श्री वालचंद देवचंदजी शहा इनके सत्प्रयत्नसे उनके फोटों प्रिंट उपलब्ध हो गये हैं। उन्होंने इन्हे एन्लार्ज भी करा लिया है। साथ ही श्री पं. वालचंदजी शास्त्री और श्री प्रो. जिनेन्द्रकुमार भोमाज को नियुक्त कर मुद्रित प्रतियोंको सामने रखकर उनके पाठभेद भी लिखवा लिये हैं।

किन्तु जब जीवराज जैन ग्रंथमालाने षट्खण्डागम धवलाकी अनुपलब्ध प्रथम छह पुस्तकोंको पुनः प्रकाशन का निर्णय कर उक्त पाठभेदोंके आधारसे उनके संशोधनका कार्य मुझे सौंपा तब सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का संशोधन करते समय मुझे यह अनुभव हुआ कि केवल इन पाठभेदोंके आधारसे संशोधन करना इसलिए पर्याप्त न होगा, क्योंकि, मात्र उन पाठभेदोंके आधारसे विचार करते हुए मुद्रित प्रतीमें ऐसे प्रचुर स्थल सन्देहास्पद रह जाते हैं जिनके लिए फोटो प्रिंटसे मिलान करना उपयोगी होगा। जब मैंने अपना यह दृष्टिकोण काका श्री वालचंद देवचंदजी शहाके सामने रखा तब उन्होंने डॉ. ए. एन्. उपाध्येजी से परामर्श कर फोटो प्रिंटोंसे मिलान की सब व्यवस्था करते हुए स्व. श्री प. एन्. चंद्रराजेन्द्र शास्त्री को इस कार्यमें मेरी सहायता करने के लिये नियुक्त कर दिया।

षट्खण्डागम धवला और कपाय प्राभूत जयधवला की ताडपत्रीय सब प्रतियाँ हल्ले कानडी लिपिमें लिपिवद्ध हुई हैं। स्व. श्री पं. एन्. चंद्रराजेन्द्र शास्त्री को इस लिपिके पढ़नेका अच्छा अभ्यास था। वे बड़ी सुगमता से उन्हें पढ़ते थे। अतः उनकी सहायतासे मैंने सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का अच्छी तरह सर्वांग मिलान किया। इससे शकास्पद स्थलोंको ठीक करनेमें बड़ी सहायता मिली। अब स्व. श्री. एन्. चंद्रराजेन्द्र शास्त्री हमारे बीच नहीं हैं। असमयमें उनका वियोग एक अनहोनी घटना है। जब तक यह संशोधन का कार्य चलेगा उनकी याद बराबर आती रहेगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मूडविद्रीमें षट्खण्डागम धवला की ताडपत्रीय तीन प्रतियाँ हैं। उनमेंसे एक प्रति अधूरी प्रतीत होती है। शेष दो प्रतियाँ पूर्ण हैं। इतना अवश्य है कि बीचबीचमें उनके भी अनेक पत्र नष्ट हो गये हैं, और कहीं कहीं एकादा वाक्य वा कुछ अक्षर त्रुटित हो गये हैं। फिर भी उक्त दोनों प्रतियोंके फोटो प्रिंटोंके आधारसे ग्रंथके सन्दर्भ के मिलानमें कठिनाई नहीं जाती। ऐसे कुछ ही स्थल शेष रहते हैं जो त्रुटित रह जाते हैं। मैंने अपना यह अनुभव सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक और द्वितीय पुस्तक के मिलानके आधारसे लिखा है। संभव है कि आगे कुछ ऐसे स्थल भी हों जो सभी प्रतियोंमें न होनेसे उपलब्ध न किये जा सकें।

इन तीन प्रतियोमे से एकका सकेताक्षर 'अ' है। लगता है यह सबसे प्राचीन होनी चाहिये, क्योंकि, अन्य दो प्रतियोमे उद्धृत रूपसे जो कतिपय अधिक गाथाएँ पाई जाती है वे उसमे नहीं हैं। शेष दो प्रतियाँ उसके बाद लिपिवद्ध की गई जान पड़ती हैं। उनमेसे खडित प्रति का सकेत अक्षर 'क' है और तीसरी पूर्ण प्रति का सकेत अक्षर 'व' है।

प्रथम संस्करण से इस संस्करणमे पाठभेदोकी दृष्टि से पर्याप्त संशोधन हुआ है। यद्यपि प्रथम संस्करण से इस संस्करणमे जहाँ जहाँ पाठोका संशोधन किया गया उन संशोधित पाठोको मूलमे स्वीकार कर प्रथम संस्करणके पाठोको 'मु' इस सकेताक्षरके साथ पादटिप्पणोमें दे दिया गया है। तथापि पाठोको संशोधन की विशेषता का ज्ञान करानेके अभिप्रायसे उनमे कई दृष्टियोसे अनेक उपयोगी संशोधित पाठोकी मालिका यहाँ दी जाती है—

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
१	१	अप्पुत्थ	१	१	अप्पत्थ
१३	२	साहुपसाहा	१३	२	साहुपसाहा
१५	५	सुकुक्खि	१५	५	सुकुक्खि
१६	९	णियतवाचय	१६	८-९	णियतव्वाचय
३२	१	किमिति	३३	३	किमर्थमिति
३२	५	दहति	३३	७	घातयति दहति
३६	२	सर्वोद्यम्	३७	१	सर्वाद्धा
३८	२	मङ्गलम् । तन्न	३९	२	मङ्गलत्वम् । न
३९	१०	मङ्गल-फलं-देहितो कय अवभुदयणिस्सेयससुहाइत्तं	४०	१०	मङ्गलफलं अवभुदयणिस्सेयस सुहाइ । तं
४०	३	वि णमो सुत्तं	४१	२	इणमो सुत्त
४१	५	तच्च	४२	५	तं च
४१	६	विवद्ध देवदा	४२	६	कय-देवदा
४१	७	कय-देवदा	४२	७	ण निवद्धो
५२	८	रत्ताभोगस्य	५३	८	रत्तभागस्य
६७	१	घारया	६८	१	घरा य
६७	५	घरसेण	६७	५	घरसेणाइरिय
८१	९-१०	जाणुग	८२	८	जाणय
८१	१०	सरीरं च भवियं	८१	८	सरीरं भविय
८३	११	द्रोप्यत्य	८४	१०-११	द्रवति द्रोप्यत्य
९१	१	एवम्भूते	९२	१	एवम्भेदे
९२	४	जणिदोहवग्गहे	९३	५	जणिदोग्गहे
९६	९	णिसिहियं	९७	९	णिसीदियं

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
१०२	१	धम्मदेसण	१०३	१	धम्मवदेसण
११०	३	वेज्याण वस्सा	१११	४	वेज्यावंसा
११०	१	अवलेव ओ	१११	९	अलेवओ
११२	१	मत्थिणिद्देस्तो	११३	१	मत्थिणिद्देसो
१२२	१	वत्थूह	१२३	१	वत्थूण
१२३	१०	वज्झए	१२४	१०	वुज्झए
१२८	८	मच्छंदत्ता	१२९	८	मच्छडता
१३०	१०	उत्तपयडि	१३१	१०	उत्ता पयडि
१३४	२	परिहृतमिति	१३५	३	परिहृत्य किमिति
१३५	३	सिद्ध	१३६	३	सिद्धि
१३६	५	नीतिनियमिते	१३७	५	'नि' नियमिते
१५७	३	पडिवज्जतिदि	१५८	३	पडिज्जदीदि
१६३	१	जहमसहणं	१६४	१	जमसद्दहण
१७१	१	सिथिल	१७२	१०	सिद्धिल
१७५	२	नान्यतरेण	१७६	४	तान्यन्तरेण
१९४	६	सहाषाव	१९५	६	सहास्याषाव
१९६	७	विच्छेदस्यार्थ	१९७	८	विच्छेद स्यात्, अर्थ
१९७	५	भावेनैकत्वे	१९८	६	भागेनैकत्वे
२०१	३	सिद्धगदी	२०२	५	सिद्धिगदी
२०४	२	"	२०५	२	"
२१३	३	असखेज्जाए गुणसेढीए	२१४	३	मसखेज्जगुणाए सेढीए
२१८	३	कम्माणुसारी	२१९	१	कमाणुसारी
२२०	७	घादत्तवधोसरण	२२१	७	घादतव्वधोसरण
२२१	३	अ छद्दमाणेसु	२२१	८	अच्छंडमाणी सु
२२१	४-५	तदो तव्वयणाण	२२१	११	तदो ण तव्वयणाणं
२२१	५	आइल्लु	२२१	१२	आइल्ल
२२१	६	इदि । आइरिय	२२२	१	इदि । आइल्लाइरिय
२२२	४	णिवट्टत्ति	२२३	१	फिट्टदि त्ति
२३२	१	वृत्ते	२३४	७	वृत्ति.
२४५	७	वण्टम्भाच्चक्षु. । अनेकार्थ	२४७	५	वण्टम्भाच्चण्टेरनेकार्थ
२५१	१	तत्प्रतिघातः	२५३	५	तदप्रतिघात.
२५९	६	सज्जिन इति	२६१	११	सज्जिन, अमनस्का असंज्जिन इति ।

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
२६९	२	स्यासंभव.	२७१	१	त्त्वस्य संभव.
२७९	४	योगनिरोधात्	२८१	५	योगविरोधात्
२९३	१	पूर्वायु	२९५	५	छिन्नपूर्वायुषा
२९४	४	न पुनरस्यार्थ	२९५	५	न पुनरस्यर्षे
२९७	९	ऋद्धेरुपर्यभावात्	२९९	९	ऋद्धेरुपर्यृध्यभावात्
३१२	७	षट् पर्याप्तयो	३१४	७	षडपर्याप्तयो
३१८	८	सजदासजद द्वाणे	३२१	१	सजदासजद-सजद-द्वाणे
३२१	४-५	जादि जादि जादि	३१३	४-५	जति जति जति
"	६	पुनर्मरणं	"	७	पुनरमरण
३३२	८	सजदासजद-द्वाणे	३३४	८	सजदासजद-सजद-द्वाणे
३३७	४	विकलेन्द्रिय	३३९	४	विकलैकेन्द्रिय
३३८	३	शान्ततत्संतानाना	३४०	३	शान्तान्तस्सतानानां
३४०		वेदञ्च स्त्रीवेद ।	३४२	१०	स एषामस्तीति स्त्रीवेदा. ।
३४१		-वदनगुत	३४३	३	वदनवगत
"		जीवस्य कर्तृत्वात्	"	६	जीवस्य तस्य तत्कर्तृत्वात्
"		पुमान्पुसकमुभया०	"	१०	पुमान्पुसक, उभया०
३४२		इष्टावाग	३४४	२	इष्टावाग-
"		तणिष्टावागिग	"	५	तणिष्टावागिग-
३४४		विषयाभिलाषे	३४६	३	विषयाभिलाषा
३४५		स्तेन विकाराभावात्	३४७	२	तेनाधिकाराभावात्
"		कथमवसीयत	"	५	कुतोऽवसीयत
"		वेदादपि	"	७	वेदावपि
"		सन्तापान्यूनतया	"	"	सन्तापात् न्यूनतया
३४६		कषाय	३४८	७	पर्यायत्वात् कषाय०
३४७		तथोक्तं	३४९	१	तथोक्ते ।
"		अत्रतन च शब्द	"	१०	अत्रतन चशब्दो
३४८		भिन्न तन्निर्देशो	३५०	१०	भिन्नस्तन्निर्देशो
३६०		भेय च	३६२	१	भेयगय
३६८		पुन. सयोग	३७०	१	पुन स सयोग
३७०		नयादेशना	३७२	४-५	नयदेशना
"		देशेनानु०	"	६	देशेनानु०
३७४		स्थानानां सख्या	३७६	१	स्थानसख्या
"		पेक्षया न, तत्र	"	६	पेक्षया च तत्र

पृ.	पं.	प्रथम संस्करण	पृ.	पं.	द्वितीय संस्करण
३७५		षटात्सयमो	३७७	७	षटात्स सयमो
३७७		नावेवाभविष्यता	३७९	३	नावभविष्यता
३७९		विधे.	३८१	४	विधि.
"		तद्धि ग्रहण	३८१	५	तद्धिग्रहण
३८१		विशिष्टार्थ	३८३	१	विशिष्टोर्थ
"		साधार्याभावे आधारकस्या	"	४	आवार्याभावे आवारकस्या
३८३		दृष्टान्त	३८५	८	दृष्टार्थ
"		सञ्जननात्	"	९	सञ्जनात्
३९०		पूजणिरदो	३९२	२	पूजण-रदो
३९१		पाठो नास्ति	३९३	६	शुक्ललेख्याध्वानप्रतिपाद नार्थमाह—
३९२		रनन्तस्यापेक्षया तद्विध्यादि	३९४	१०	रनन्तस्यापि क्षय, द्विध्यादि

ये कतिपय महत्त्वके पाठभेद हैं। जिनका यहाँ निर्देश किया है। इनमेसे कतिपय पाठभेदोको ध्यानमे रखकर अर्थमे भी परिवर्तन किया गया है। इससे समग्र ग्रंथ लगभग शुद्ध हो गया है। पचनमस्कारस्वरूप प्रथम मंगलसूत्र प्रातः स्मरणीय भगवान् आचार्य पुष्पदत्त की अमर कृति है। वह सर्वार्थसाधक है। अ और व प्रतिमे वह 'णमो अरहताण' इत्यादि रूपसे लिपिवद्ध हुआ है। तदनुसार सशोधन करते समय मैंने यही पाठ स्वीकार कर लिया था। किन्तु मुद्रणके समय इसे बदल दिया गया है।

इस संस्करणके मुद्रण का पूरा भार श्री पं नरेन्द्रकुमार भिशीकर (न्यायतीर्थ) इनके ऊपर है। प्रूफ रीडिंग आदिका सब कार्य वे और प्रा जिनेंद्रकुमार भोमाज देखते हैं। वे सरल स्वभावी, व्युत्पन्न और तत्त्वनिष्ठ विद्वान् हैं। उन्होंने इस कार्य को अच्छी तरह सम्पन्न किया। इसके लिये मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

श्रीयुत प हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री का षट्खण्डागम ध्वलाके संपादनमे प्रारम्भमे पूरा सहयोग रहा है। उन्होंने कषायप्राभृतचूर्णि और पचसग्रह आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका संपादन किया है। वे अनुभवी विद्वान् हैं। अतएव काका श्री. वालचंदजी देवचंदजी शहा की सम्मतिपूर्वक सशोधित संस्करणका वारीकीसे मिलान करनेके लिये मैंने उन्हें वाराणसी आमंत्रित किया था। मेरे इस आमंत्रणको स्वीकार कर वे वाराणसी आये। ७-८ दिन तक मेरे घर ठहरे रहे। ग्रंथमे कहीं कोई त्रुटि न रह जाय इस दृष्टिसे मैंने उनके साथ समग्र ग्रंथका मय टिप्पण आदिके साथ वाचन कर उसे अंतिमरूप दिया। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

श्रीमान् डाँ हीरालालजी और श्रीमान् डाँ ए एन् उपाध्ये श्री जीवराज जैन ग्रंथमालाके प्रधान सम्पादक है। उन दोनो विद्वानोकी स्वीकृति पूर्वकही मुझे यह कार्य सौपा गया था। इस विषयमे विशेष परामर्श करनेके लिए मैं एक बार श्री माणिकचंदजी भिंसीकर, न्यायतीर्थ, एम् ए (वाहुवली) इनके साथ तथा दूसरी बार श्रीयुत प ब्र माणिकचंदजी चवरे इनके साथ कोल्हापूर गया। दोनो बार श्री डाँ ए एन् उपाध्येजीने अपने बगलेमे मुझे बहुत अच्छी तरह रखा और आवश्यक परामर्श दिया। एतदर्थ मैं उक्त सब विद्वानोका आभारी हूँ।

फोटो प्रिंटोके आधारसे प्रस्तुत सस्करणका मिलान मैंने वाहुवली (कुभोज) के वास्तव्यमे किया है। इसके लिये मुझे वहाँ सब प्रकारकी सुविधा प्रदान की गई। इसके लिये मैं पूरे वाहुवली विद्यापीठ परिवारका आभारी हूँ।

काका श्री बालचंदजी देवचंदजी गहा तो जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापूरके प्राण है। अपनी वृद्धावस्था की चिंता न करते हुए वे निरलस भावसे जीवराज जैन ग्रंथमाला सहित अनेक साहित्यिक तथा शैक्षणिक सस्थाओकी सम्हाल करते रहते हैं। श्रीसिद्धक्षेत्र कुथलगिरीकी सम्हाल भी उन्हे ही करनी पडती है। उनकी ये सेवाएँ स्वर्णाक्षरोमे अंकित करने लायक है। वे दीर्घजीवी होकर इसी प्रकार धर्म और समाजकी सेवा करते रहे यह भावना है। उनका इस कार्यमे मुझे यथासभव पूरा सहाय्य प्राप्त हुआ। इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस सस्करणके मुद्रण का कार्य मेसर्स सन्मति मुद्रणालय, सोलापूरके सचालक तथा कर्मचारी गण इन्होंने अल्पावधिमे सुदर छपाई के साथ संपन्न किया है। इसके लिये मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस सस्करणके सशोधनमे मैंने अपनी पूरी प्रतिभाका उपयोग किया है। फिर भी कहीं कोई त्रुटि रह गई तो विद्वान् पाठक उसे सुधार कर पढे यह नम्र निवेदन है।

विज्ञेपु अलम् ।

श्री सन्मति जैन निकेतन—
नरिया, वाराणसी-५
ता ११-१०-७२

निवेदक
फुलचंद सि. शास्त्री

श्री भगवत् - पुष्पदन्त - भूतबलि - प्रणीतः

पुष्पदन्तगमः

श्रीवीरसेनाचार्य - विरचित - धवला - टीका - समन्वितः ।

तस्य

प्रथम - खंडे जीवस्थाने

हिन्दीभाषानुवाद - तुलनात्मकटिप्पण - प्रस्तावनानेकपरिशिष्टै सम्पादिता

सत्प्ररूपणा १



सम्पादकः

अमरावतीस्थ किंग एडवर्ड कॉलेज संस्कृताध्यापकः एम् ए, एल् एल्. वी इत्युपाधिधारी
हीरालालो जैनः

सहसम्पादकौ

पं. फूलचन्द्रः सिद्धान्तशास्त्री

पं. हीरालालः सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थः

संशोधने सहायकौ

व्या वा, सा सू, पं. देवकीनन्दनः
सिद्धान्तशास्त्री

⊙

डा नेमिनाथ - तनय - आदिनाथः
उपाध्याय. एम्. ए, डी. लिट्.

प्रकाशक

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय
जैन - साहित्योद्धारक - फड - कार्यालय
अमरावती (वरार)



वि स १९९६)

वीर - निर्वाण - संवत् २४६५

(ई स १९३९

मूल्यं रूप्यक - दशकम्

प्रकाशक :

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र शितावराय
जैन-साहित्योद्धारक-फड कार्यालय
अमरावती (वरार)



मुद्रक :

टी. एम्. पाटील

मैनेजर,

सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, अमरावती.

प्राक् कथन

(प्रथम संस्करण)

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

सन् १९२४ मे मैने कारजाके शास्त्र भंडारोका अवलोकन किया और वहाके ग्रंथोकी सूची बनाई । वहा अपभ्रंश भाषाका बहुतसा अश्रुतपूर्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ । उसको प्रकाशमे लानेकी उत्कठा मेरे तथा ससारके अनेक भाषा-कोविदोके हृदयमे उठने लगी । ठीक उसी समय मेरी कारजाके समीप ही अमरावती, किंग एडवर्ड कालेजमे नियुक्ति हो गई और मेरे सदैवके सहयोगी सिद्धांतशास्त्री पं देवकीनन्दनजीके सुप्रयत्नसे व श्रीमान् सेठ गोपाल सावजी चवरे व बलात्कारगण मन्दिरके अधिकारियोंके सदुत्साहसे उन अपभ्रंश ग्रंथोके सम्पादन प्रकाशनका कार्य चल पडा, जिसके फलस्वरूप पांच छह अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्योका अब तक प्रकाशन हो चुका है ।

मूढविद्वीके घबलादि सिद्धान्त ग्रंथोकी कीर्ति में वचनसे ही सुनता आ रहा हू । सन् १९२२ मे मैने जैनसाहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समयके लगभग इन सिद्धान्त ग्रंथोकी हस्तलिखित प्रतियोंके कुछ कुछ प्रचारकी चर्चा सुनाई पडने लगी । किन्तु उनके दर्शनोका सौभाग्य मुझे पहलेपहले तभी प्राप्त हुवा जब हमारे नगरके अत्यन्त धर्मानुरागी, साहित्यप्रेमी श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने घबल और जयधवलकी प्रतिलिपिया कराकर वहाके जैनमन्दिरमे विराजमान कर दी । अब हृदयमे चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथोके प्रकाशमे लानेका अवश्य सुअवसर मिलेगा ।

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमे अखिल भारतवर्षी दिगम्बर जैन परिषद्का वार्षिक अधिवेशन इटारसीमे हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र बैरिस्टर जमनाप्रसादजी सब-जज्ज । पहले दिनके जलसेके पश्चात् रात्रिके समय हम लोग एक कमरेमे बैठे हुए जैन साहित्यके उद्धारके विषयमे चर्चा कर रहे थे । जज्जसाहब दिनभरकी धूमधाम और दौड-धूपसे थककर सुस्तसे लेटे हुए थे । इसी बीच किसीने खबर दी कि भेलसानिवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी भी अधिवेशनमे आये हुए हैं और वे किसी धार्मिक कार्यमे, सम्भवत रथ चलानेमे, कुछ द्रव्य लगाना चाहते हैं । इस खबरसे जज्जसाहबका चेहरा एकदम चमक उठा और उनमे न जाने कहाकी स्फूर्ति आ गई । वे हम लोगोसे बिना कुछ कहे सुने वहासे चल दिये । रातके कोई एक वजे लौटकर उन्होने मुझे जगाया और एक पुर्जा मेरे हाथमे दिया जिसमे सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीने साहित्योद्धारके लिये दस हजारके दानकी प्रतिज्ञा की थी । इस दानके उपलक्ष्यमे दुसरे दिन प्रातः काल उपस्थित समाजने सेठजीको श्रीमंत सेठकी पदवीसे विभूषित किया ।

आगामी गर्मीकी छुट्टियोमे जज्जसाहब मुझे लेकर भेलसा पहुँचे और वहाँ सेठ राजमलजी बडजात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकीलके सहयोगसे सेठजीके उक्त दानका ट्रस्ट रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यसे श्री धवलादि सिद्धान्तोके संशोधन प्रकाशनका कार्य किया जाय ।

गर्मीके पश्चात् अमरावती लौटने पर मुझे श्रीमत सेठजीके दानपत्रकी सद्भावनाको क्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई । पहली चिन्ता धवल जयधवलकी प्रतिलिपि प्राप्त करनेकी हुई । उस समय इन ग्रंथोको प्रकाशित करनेके नामसे ही धार्मिक लोक चौकन्ने हो जाते थे और उस कार्यके लिए कोई प्रतिलिपि देनेके लिए तैयार नहीं थे । ऐसे समयमे श्रीमान् सिधई पन्नालालजीने व अमरावती पचायतने सत्साहस करके अपने यहांकी प्रतियोका सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी ।

इन प्रतियोके सूक्ष्मावलोकनसे मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि ग्रंथोका परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुरूह, भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, और प्राप्य प्रति बहुत अशुद्ध व स्वलन-प्रचुर ज्ञात हुई । हमारे सन्मुख जो धवल और जयधवलकी प्रतिया थी उनमेसे जयधवलकी प्रति सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी अपेक्षा कम अशुद्ध जान पड़ी । अतः मैंने इसके प्रारम्भका कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिंदी भाषान्तर सहित छपाकर चुने हुए विद्वानोके पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधारसे उक्त ग्रंथोके सम्पादन प्रकाशनादिके सम्बन्धमे उचित परामर्श दे सकें । इस प्रकार मुझे जो सम्मतिया प्राप्त हो सकी उनपरसे मैंने सम्पादन कार्यके विषयमे निम्न निर्णय किये—

१ सम्पादन कार्य धवलासे ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना-क्रमकी दृष्टिसे तथा प्रचलित परंपरामे इसीका नाम पहले आता है ।

२ मूलपाठ एक ही प्रतिके भरोसे न रखा जाय । समस्त प्रचलित प्रतिया एक ही आधुनिक प्रतिकी प्रायः एक ही हाथकी नकले होते हुए भी उनमेसे जितनी मिल सके उनका उपयोग किया जाय तथा मूडविद्रीकी ताडपत्रीकी प्रतिसे मिलान करनेका प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावमे सहारनपुरकी प्रतिके मिलानका उद्योग किया जाय ।

३ मूलके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके बिना सभी स्वाध्याय-प्रेमियोको ग्रंथराजसे लाभ उठाना कठिन है । संस्कृत छाया न दी जाय, क्योंकि, एक तो उससे ग्रंथका कलेवर बहुत बढ़ता है, दूसरे उससे प्राकृतके पठन-पाठनका प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर बैठे रहते हैं और प्राकृतकी ओर ध्यान नहीं देते, और तिसरे जिन्हे संस्कृतका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राकृतके समझनेमे भी कोई कठिनाई नहीं होगी ।

४ संस्कृत छाया न देनेसे जो स्थानकी वचत होगी उसमे अन्य प्राचीन जैन ग्रंथोमेसे तुलनात्मक टिप्पण दिये जाय ।

५ ऐसे ग्रंथोका सम्पादन प्रकाशन बारबार नही होता, अतएव इस कार्यमे कोई ऐसी उतावली न की जाय जिससे ग्रंथकी प्रामाणिकता व शुद्धतामे त्रुटि पड़े ।

६ उक्त कार्यमे जितना हो सके उतना अन्य विद्वानोका सहयोग प्राप्त किया जाय ।

इन निर्णयोको सन्मुख रखकर मैने सम्पादन कार्यकी व्यवस्थाका प्रयत्न किया । मेरे पास तो अपने कालेजके दैनिक कर्तव्यसे तथा गृहस्थीकी अनेक चिन्ताओ और विघ्नवाधाओसे बचा हुआ ही समय था,^१ जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे चल सकता था । अतएव एक सहायक स्थायी रूपसे रख लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई । सन १९३५ मे बीना निवासी प वशीधरजी व्याकरणाचार्यको मैने बुला लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करनेके पश्चात् ही कुछ गार्हस्थ्यिक आवश्यकताके कारण उन्हे कार्य छोडकर चले जाना पडा । तत्पश्चात् साढूमल (ज्ञासी) के निवासी प हीरालालजी शास्त्री न्यायतीर्थको बुलानेकी बात हुई । वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैनमे रायवहादुर सेठ लालचन्द्रजीके यहा रहते हुए ही कार्य करते रहे । किन्तु गत जनवरीसे वे यहा बुला लिये गये और तबसे वे इस कार्यमे मेरी सहायता कर रहे हैं । उसी समयसे बीना निवासी प फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी भी नियुक्ति कर ली गई है और वे भी अब इसी कार्यमे मेरे साथ तत्परतासे सलग्न हैं । सशोधन कार्यमे यथावसर अन्य विद्वानोंका भी परामर्श लिया गया है ।

प्राकृतपाठ सशोधनसवन्धी नियम हमने प्रेस कापीके दो सौ पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुरके अर्धमागधीके प्रोफेसर, हमारे सहयोगी और अनेक प्राकृत ग्रंथोका अत्यन्त कुशलतासे सम्पादन करनेवाले डाक्टर ए एन् उपाध्येके साथ पढकर निश्चित किये । तथा अनुवादके सशोधनमे जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान् सि शा प देवकीनन्दनजीका भी समय समयपर साहाय्य लिया गया । इन दोनो सहयोगियोकी इस निर्व्याज सहायताका मुझपर बड़ा अनुग्रह है । शेष समस्त सम्पादन, प्रूफ शोधनादि कार्य मेरे स्थायी सहयोगी पं हीरालालजी शास्त्री और पं फूलचन्द्रजी शास्त्रीके निरन्तर साहाय्यसे हुआ है, जिसके लिये मैं उन सबका बहुत कृतज्ञ हू । यदि इस कृतिमे कुछ अच्छाई और सौन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोगका ही सुफल है ।

अब जिनके पूर्व परिश्रम, सहायता और सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं । कालके दोषसे कहो या समाजके प्रमादसे, इन सिद्धान्त ग्रंथोका पठन-पाठन चिरकालसे विच्छिन्न हो गया था । ऐसी अवस्थामे भी एकमात्र अवशिष्ट प्रतिकी शताब्दियोतक सावधानीसे रक्षा करनेवाले मूडविद्रीके सम्मान्य भट्टारकजी हमारे महान् उपकारी हुए हैं । गत पचास वर्षोंमे इन ग्रंथोको प्रकाशमे लानेका महान् प्रयत्न करनेवाले

१ मेरी गृहिणी सन् १९२७ से हृद्‌रोगसे ग्रसित हो गई थी । अनेक औषधि उपचार करनेपर भी उसका यह रोग हटाया नही जा सका, किन्तु धीरे धीरे बढता ही गया । बहुतवार मरणप्राय अवस्थामे बड़े महंगे इलाजोके निमित्तसे प्राणरक्षा की गई । इसी प्रकार ग्यारह वर्ष तक उसकी जीवनयात्रा चलाई । अन्ततः सन १९३८ के दिसम्बर मासमें उसका चिरवियोग हो गया ।

स्व. सेठ माणिकचन्दजी जवेरी, वम्बई, मूलचन्दजी सोनी, अजमेर और स्व. सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजी सोलापुरके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व सेठ हीराचन्दजीके ही प्रयत्नका सुफल है कि आज हमें इन महान् सिद्धान्तोंके एक अंशको सर्वमुलभ बनानेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। स्व. लाला जम्बूप्रसादजी रईसकी भी लक्ष्मी सफल है जो उन्होंने इन ग्रंथोंकी एक प्रतिलिपिको अपने यहां सुरक्षित रखनेकी उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होनेमें निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवादके पात्र स्व. पं. गजपतिजी उपाध्याय और उनकी स्व. भार्या विदुषी लक्ष्मीबाई तथा प. सीतारामजी शास्त्री हैं जिन्होंने इन ग्रंथोंकी प्रतिलिपियोंके प्रचारका कठिन कार्य किया और उस कारण उन भाइयोंके क्रोध और विद्वेषको सहन किया जो इन ग्रंथोंके प्रकट होनेमें अपने धर्मकी हानि समझते हैं। श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने जिस धार्मिकभाव और उत्साहसे बहुत धन व्यय करके इन ग्रंथोंकी प्रतियां अमरावतीमें मगाई और उन्हें सशोधन और प्रकाशनके लिये हमें प्रदान की उसका ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्यके लिये उनका जितना उपकार माना जावे सब थोड़ा है। प्रिय सुहृत् वैरि जमनाप्रसादजी सब-जज्जका भारी उपकार है जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको इस साहित्योद्धार कार्यके लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्योंमें सदैव कप्तानका कार्य किया करते हैं। श्रीमन्त श्रेष्ठ लक्ष्मीचन्द्रजी तो इस समस्त व्यवस्थाके आधारस्तम्भ ही हैं। आर्थिक सकटमय वर्तमानकालमें उनके हायस्कूल, छात्रवृत्ति, और साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बड़े बड़े दानोंद्वारा धर्म और समाजका जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी आका नहीं जा सकता। वह कार्य कदाचित् हमारी भावी पिढीद्वारा ही सुचारुरूपसे किया जा सकेगा। सेठजीको उनके इन उदार कार्योंमें प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह करानेवाले भेलसा निवासी सेठ राजमलजी बड़जात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकील हैं जिन्होंने इस योजनामें भी बड़ी रुचि दिखाई और हमें हर प्रकारसे सहायता पहुंचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धारकी ट्रस्ट कमेटीमें सि पन्नालालजी, प. देवकीनन्दनजी और सेठ राजमलजीके अतिरिक्त भेलसाके श्रीयुत मिश्रीलालजी व सरसावा निवासी पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्यको सफल बनानेमें सदैव अपना पूरा योग दिया है। प. जुगलकिशोरजी मुख्तारसे हमें संपादन कार्यमें विशेष साहाय्य मिलनेकी आशा थी, किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे इसी बीच उनका स्वास्थ्य विगड़ गया और हम उनके साहाय्यसे विलकुल वंचित रहे। किन्तु आगे सशोधन कार्यमें उनसे सहायता मिलनेकी हमें पूरी आशा है। जबसे इन ग्रंथोंके प्रकाशनका निश्चय हुआ है तबसे शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारी समाजके अद्वितीय कार्यकर्ता श्रीयुत ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने हमें इस कार्यको आगे बढ़ाने और पूरा करनेकी प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावनाके ऐसे कार्योंको सफल देखनेके लिये ब्रह्मचारीजीका हृदय ऐसा तड़पता है जैसे कोई शिशु अपने माताके दूधके लिये तड़पे। उनकी इस निरन्तर प्रेरणाके लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते हैं वे इतने कार्यको सफल देख बहुत ही प्रसन्न होंगे। सम्पादन और प्रकाशनसम्बन्धी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें निरन्तर साहाय्य हमें अपने समाजके महारथी साहित्यिक विद्वान् श्रद्धेय पं. नाथूरामजी प्रेमीसे मिला है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाजमें नवीन युगके साहित्यिकोंके प्रमुख

स्फूर्तिदाता हैं। जिन जिन कार्योंमें जिस जिस प्रकार हमने प्रेमीजीकी सहायता ली है और उन्हें उनकी वृद्धावस्थासे कष्ट पहुँचाया है उसका यहाँ विवरण न देकर इतना ही कहना बश है कि हमारी इस कृतिके फलेवरमें जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजीका अनुभवी और कुशल हाथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे विद्यमान है। विना उनके तात्कालिक सत्परामर्श, सदुपदेश और सत्साहाय्यके न जाने हमारे इस कार्यकी क्या गति होती। जैसा भूमिकासे ज्ञात होगा, प्रस्तुत ग्रंथके संशोधनमें हमें सिद्धान्तभवन, आरा और महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा की प्रतियोंसे बड़ी सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों सस्थाओंके अधिकारियोंके और प्रतिकी प्राप्तिमें सहायक पं. भुजवली शास्त्री और पं. देवकीनन्दनजी शास्त्रीके बहुत कृतज्ञ हैं। जिन्होंने हमारी प्रश्नावलीका उत्तर देकर हमें मूढ़विद्वीसे और तत्पश्चात् सहारनपुरसे प्रतिलिपि बाहर आनेका इतिहास लिखनेमें सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी,* सोलापुर, पं. लोकनाथजी शास्त्री, मूढ़विद्वी और श्रीयुत नेमिचन्द्रजी वकील, उस्मानावादका नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमरावतीके सुप्रसिद्ध, प्रवीण ज्योतिर्विद् श्रीयुत प्रेमशंकरजी दबेकी सहायतासे ही हम धवलकी प्रशस्तिके ज्योतिषसम्बन्धी उल्लेखोंकी छानबीन और संशोधन करनेमें समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। इस ग्रंथका मुद्रण स्थानीय 'सरस्वती प्रेसमें' हुआ है। यह क्वचित् ही होता है कि सम्पादकको प्रेसके कार्य और विशेषतः उसकी मुद्रणकी गति और वेगसे सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेसके मैनेजर मि. टी. एम्. पाटीलको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्यमें कभी असन्तोषका कारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अल्प समयमें ही इस ग्रंथका मुद्रण पूरा करनेमें उन्होंने और उनके कर्मचारियोंने बेहद परिश्रम किया है।

इस वक्तव्यको पूरा करते समय हृदयके पवित्र और दृढताके लिये हमारा ध्यान पुनः हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी घरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि तककी आचार्य-परम्पराकी ओर जाता है जिनके प्रसाद-लवसे हमें यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलज्ञानियोंका जो विश्वव्यापी ज्ञान द्वादशांग साहित्यमें ग्रथित हुआ था, उससे सीधा सम्बन्ध रखनेवाला केवल इतना ही साहित्यांश बचा है जो धवल, जयधवल और महाधवल कहलानेवाले ग्रंथोंमें निबद्ध है, दिगम्बर मान्यतानुसार शेष सब कालके गालमें समा गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय और रचनाकी दृष्टिसे हिमाचल जैसा विशाल और महोदधि जैसा गभीर है। उसके विवेचनकी सूक्ष्मता और प्रतिपादनके विस्तारको देखनेसे हम जैसे अल्प ज्ञानियोंकी बुद्धि चकरा जाती है और अच्छे अच्छे विद्वानोंका भी गर्व खर्च होने लगता है। हम ऐसी उच्च और विपुल साहित्यिक सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं इसका हमें भारी गौरव है।

* इसके छपते छपते हमें समाचार मिला है कि दोशीजीका २० अक्टूबरको स्वर्गवास हो गया, इसका हमें अत्यन्त शोक है। हमारी समाजका एक भारी कर्मठ पुरुषपरलन उठ गया।

इस गौरवकी वस्तुके एक अंशको प्रस्तुत रूपमें पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। किन्तु तैयार करनेमें हमें जो अनुभव मिला है उससे हमारा हृदय भीतर ही भीतर खेद-विषादके आवेगसे रो रहा है। इन सिद्धान्त ग्रंथोंमें जो अपार ज्ञाननिधि भरी हुई है का गत कई शताब्दियोंमें हमारे साहित्यको कोई लाभ नहीं मिला सका, क्योंकि, इनकी मात्र प्रति किसीप्रकार तालोंके भीतर बन्द हो गई और अध्ययनकी वस्तु न रहकर बल्कि वस्तु बन गई। यदि ये ग्रंथ साहित्य-क्षेत्रमें प्रस्तुत रहते तो उनके आधारसे अवतक ज्ञाने कितना किस कोटिका साहित्य निर्माण हो गया होता और हमारे साहित्यको कौनसी गति और गति मिल गई होती। कितनी ही सैद्धान्तिक गुत्थियां, जिनमें विद्वत्समाजके समय-शक्तिका न जाने कितना ह्रास होता रहता है, यहां सुलझी हुई पड़ी है। ऐसी विनाश-शक्ति पाकर भी हम दरिद्री ही बने रहे और इस दरिद्रताका सबसे अधिक सन्ताप और हमें इनके सगोचन करते समय हुआ। जिन प्रतियोंको लेकर हम सगोचन करने बैठे थे वे ग्रंथों और स्खलनोंसे परिपूर्ण हैं। हमें उनके एक एक शब्दके सशोधनार्थ न जाने कितनी मेहनत कसरते करनी पड़ी हैं और कितने दिनोंतक रातके दो दो वजेतक बैठकर अपने-आपको सुखाना पड़ा है। फिरभी हमने जो सगोचन किया उसका सोलहो आने यह भी आश्वास नहीं कि वे ही आचार्य-रचित शब्द हैं। और यह सब करना पड़ा, जब कि मूढविद्वीकी दृष्टि-प्रतियोंके दृष्टिपात मात्रसे संभवतः उन कठिन स्थलोंका निर्विवाद रूपसे निर्णय सकता था। हमें उस मनुष्यके जीवन कैसा अनुभव हुआ जिसके पिताकी अपार कमाईपर ई ताला लगाकर बैठ जाय और वह स्वयं एक एक टुकड़ेके लिये दर दर भीक मांगता फिरे। फिर इससे जो हानि हुई वह किसकी? जितना समय और परिश्रम इनके सगोचनमें खर्च हुआ है उससे मूल प्रतियोंकी उपलब्धिमें न जाने कितनी साहित्यसेवा हो सकती थी और समाजका उपकार किया जा सकता था। ऐसे ही समय और शक्तिके अपव्ययसे समाजकी हानि होती है। इस मंदगतिसे न जाने कितना समय इन ग्रंथोंके उद्धारमें खर्च होगा। यह समय साहित्य, कला और संस्कृतिके लिये बड़े सकटका है। राजनैतिक विप्लवसे हजारों वर्षोंकी सांस्कृतिक सम्पत्ति कदाचित् मिनटोंमें भस्मसात् हो सकती है। दैव रक्षा करे, किन्तु यदि ऐसा सकट यहां आ गया तो ये द्वादशांगवाणीके अवशिष्ट रूप फिर कहा रहेंगे? हब्श, चीन आदि देशोंके उदाहरण हमारे सन्मुख हैं। प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जानेपर नई कभी भी प्रतिष्ठित हो सकती हैं, पुराने मन्दिर जीर्ण होकर गिर जानेपर नये कभी भी निर्माण कराकर ठीक किये जा सकते हैं, वर्मके अनुयायियोंकी संख्या कम होनेपर कदाचित् प्रचारद्वारा बढ़ाई जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्योंके जो शब्द ग्रंथोंमें ग्रथित हैं उनके एकवार नष्ट हो जानेपर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों करोड़ों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुतका उद्धार किया जा सकता है? कभी नहीं। इसी कारण सजीव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्यके एक एक टुकड़ेपर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। हमें ख्याल रहे कि जिन उपायोंसे अभीतक ग्रंथ रक्षा होती रही, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। महारक शक्तिने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य रक्षाका इससे

बढकर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथोंकी हजारों प्रतियाँ छपाकर सर्वत्र फैला दी जाय ताकि किसी भी अवस्थामे कही न कही उनका अस्तित्व बना ही रहेगा । यह हमारी श्रुत-भक्तिका अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञानके इन उत्तम सग्रहोंकी ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाशकी जोखिम लिये चुपचाप बैठे हैं । यह प्रश्न समस्त जैन समाजके लिये विचारणीय है । इसमें उदासीनता घातक है । हृदयके इन उद्गारोंके साथ अब मैं अपने प्राक्कथनको समाप्त करता हूँ और इस ग्रंथको पाठकोंके हाथोंमे सौंपता हूँ ।

किंग एडवर्ड कालेज }
 अमरावती }
 १-११-३९ }

हीरालाल जैन.



प्रस्तावना



INTRODUCTION TO SATKHANDAGAMA



The only surviving pieces of the original Jain Canon of twelve Angas, are, according to Digambara tradition, preserved in what are popularly known as Dhavala, Jaidhavala and Mahadhavala siddhantas. Manuscripts of these were preserved only at the Jain pontifical seat of Mudbidri in South Kanara. It is only during the last twenty years that copies of the first two have become available, while the last still remains inaccessible.

The story of the composition of Satkhandagama is told in the introductory part of the Dhavala which is the commentary. The teachings of Lord Mahavira were arranged into Twelve Angas by his pupil Indrahuti Gautama, and they were handed down from preceptor to pupil by word of mouth till gradually they fell into oblivion. Only fractions of them were known to Dharasena who practised penances in the Chandra Gupha of Girinagara in the country of Saurashtra (modern Kathiawar). He felt the necessity of preserving the knowledge and so he called two sages who afterwards became famous as Puspadanta and Bhutabali, and taught to them portions of the fifth Anga Viahapannatti and of the twelfth Anga Ditthivada. These were subsequently reduced to writing in Sutra form by the two eminent pupils. Puspadanta composed the first 177 Sutras which are all embodied in the present edition of satprarupana, and his colleague Bhutabali wrote the rest, the total being 6000 Sutras.

As regards the time of this composition we are told definitely that Dharasena lived after Loharya the 28th in succession after Mahavira, but how long afterwards is left uncertain. Most of the succession lists available show that the time that elapsed from the Nirvana of Mahavira up to Laharya was 683 years. But the Prakrit Pattavali of Nandi Sangha carries on the list of succession from Loharya to five more Acharyas, the last three of which are Dharasena, Puspadanta and Bhutabali, and makes them all fall within the 683 years after Vira Nirvana. According to this account Dharasena succeeded his predecessor Maghanadi 614 years after Vira Nirvana. Though this account stands by itself in opposition to the unanimous account given in the Dhavala commentary and many other works, it is in a way supported by an old list Brihad-tippanika which attributes a work by name Joni pahuda to Dharasena and assigns it to 600 years after Vira Nirvana. The reliability of this tippana has been unquestioned so far and the statement is corroborated by the fact that in the Dhavala itself is found a reference

to **Jonipahuda** as a work on **Mantra Shastra** and with the knowledge of this subject **Dharasena** has also been associated. There is, thus, a strong case for identifying our **Dharasena** with the author of the **Jonipahuda** and then the combined evidence of the **Brihat tippana** and the **Prakrit Pattavali** would make the composition of **Satkhandagama** fall between 614 and 683 years after **Vira Nirvana** i.e. between the 1st and 2nd centuries of the Christian Era.

This inference about the period of the composition of **Satkhandagama** is corroborated by the account of its commentaries as given by **Indranandi** in his **Srutavatara** which work I have now come to regard as authentically preserving old traditions. According to **Indranandi** six commentaries were written on **Satkhandagama** in succession, the last being the **Dhavalā**. The first of these commentaries was **Parikarma** written by **Kundakunda**. Reference to **Parikarma** are many and various in the **Dhavalā** itself and a careful examination of them has led me to believe that it was really a commentary by **Kundakunda** on this work. The time of **Kundakunda** is approximately the 2nd century A.D. and so the **Satkhandagama** has to be assigned to a period before that. Other commentators mentioned by **Indranandi** are **Shamalunda**, **Tumbulura**, **Samantabhadra** and **Bappadeva**, before we come to **Virasena** the author of **Dhavalā**, and we would not be far wrong in separating them each in succession by about a century, and assign them to 3rd, 4th, 5th and 6th century respectively. None of these commentaries have so far been discovered, but traces of most of them may be found in the existing literature.

As regards the time of the commentary **Dhavalā** there is no uncertainty. Its author **Virasena** has recorded many astronomical details of the time of his composition in the ending verses. But unfortunately the available text of those verses is very corrupt. After a careful scrutiny of the text and its contents, however, I have been able to interpret it correctly, and it yields the result that the **Dhavalā** was completed by **Virasena** on the 13th day of the bright fortnight of **Karttika** in the year 738 of the **Saka** era, when **Ugattunga** (i.e. **Govinda III** of the **Rashtrakuta** dynasty) had abandoned the throne and **Boddana Raya** (probably **Amoghavarsha I**) was ruling. I have worked out the astronomical details and found them correct, and the date corresponds according to **Swami Kannu Pillai's** **Indian Ephemeris**, to the 8th October 816 A.D., Wednesday morning.

In the ending verses of the **Jayadhavalā** we are told that **Virasena's** pupil **Jinaśena** completed that commentary in **Saka 759**. The Volume of 60 thousand slokas, thus, took 21 years to compose, which comes roughly to 3000 verses per year. If we take this as the average speed at which **Virasena** wrote, it gives us the period between 792 and 823 A.D. for the vigorous literary activity of **Virasena** alone, which produced the complete **Dhavalā** equal to 72 thousand slokas, and the first one-third of the **Jayadhavalā** i.e. equal to 20 thousand slokas. This single man, thus, accomplished the stupendous and extraordinary task of writing philosophical prose equal to 92 thousand slokas in the course of 31 years, and he was succeeded by an equally

gigantic writer Jinasena, his pupil, who wrote the 40 thousand slokas of the Jayadhavala, the beautiful little poem Parsvabhyudaya and the magnificent Sanskrit Adipurana, before he died. What a bewildering amount of literary effusion?

The various mentions found in the Dhavala reveal to us that there was a good deal of manuscript material before Virasena, and he utilised it very judiciously and cleverly. He had to deal with various recensions of the Sutras which did not always agree in their statements. Virasena satisfied himself by giving their alternative views, leaving the question of right and wrong between them to those who might know better than himself. He also had to deal with opposite opinions of earlier commentators and teachers, and here he boldly criticizes their views in offering his own explanation. On certain points he mentions two different schools of thought which he calls the Northern and the Southern. At present I am examining these views a bit more closely. They may ultimately turn out to be the Svetambara and Digambara schools. Works mentioned and quoted from are (1) Sankhastakam Pahuda, (2) Kasaya Pahuda, (3) Sammasutta, (4) Tilovipannatti Sutta, (5) Pancatthi Pahuda (6) Tattvarthi Sutra of Griddhepinchhi, (7) Acaranga, (8) Sarasamgraha of Pujapada (9) Tattvarthi Bhasya of Alalanka, (10) Jivasamasa (11) Chhedasutra (12) Kammavade and (13) Dasikaransamgraha, while authors mentioned without the name of their works are Arya-mankshu Nagilasti Prabhachandra and others.

Besides these, there are numerous quotations both prose and verse without the mention of their source. In the Satpranupaniṣad there are 216 such verses of which I have been able to trace many in the Acaranga, Brihatkalpa Sutra, Dasvaikalika Sutra, Sthaviranga tika, Anuvogadvara, and Avastika Nirvukti of the Svetambara canon, besides quite a large number of them in the Digambara literature. These mentions give us an insight into the comparative and critical faculty as well as the coordinating power of Virasena.

The Satkhandagama, was reduced to writing, as told before, just at the time when the whole Jain Canon was on the point of being forgotten. In this connection it is important to note that according to the Digambara tradition all the twelve Angas have been lost except these portions of the last of them i.e. **Dirthivaya** and a bit of the fifth Anga. According to the Svetambaras, on the other hand, the first eleven are preserved though in a mutilated form, while the Dirthivaya is totally lost. Thus, to a certain extent, the two traditions mutually complement each other.

A look at the tables showing the connection of the present work with the original canon will convey some idea of the extraordinary extent of the Purvas in particular and of the whole canon in general. The section dealing with the twenty four subjects Kriti, Vedana and others was called in the canon **Mahakamma-Payadi Pahuda**. The same twenty four subjects have been dealt with in the present work which was called **Santa Kamma-Pahuda**, but which, owing to its six sub-divisions acquired the bandy title of **Shatkhandaagama**. Its six sub-divisions are **Jivatthana Khudda Bandha**, **Bandha-Samitta-Vichaya**, **Vedana**, **Vaggana** and **Mahabandha**.

The whole work deals with the Karma philosophy, the first three divisions from the point of view of the soul which is the agent of the bondage, and the last three from the point of view of the objective karmas, their nature and extent. The portion now published is the first part of the *Jivatthana* and it deals with the quest of the soul qualities and the stages of spiritual advancement through some expressed characteristics such as conditions of existence, senses, bodies, vibratory activities and the like. I propose to deal with the subject in some detail in the next volume when *Satprarupana* will be completed.

The present work consists of the original *Sutras*, the commentary of *Virasena* called *Dhavala* and the various quotations given by the commentator from the writings of his predecessors. The language of the *Sutras* is *Prakrit* and so also of the most of the quoted *Gathas*. The prose of *Virasena* is *Prakrit* alternating with *Sanskrit*. In the present portion *Sanskrit* predominates, being three times as much as *Prakrit*. This condition of the whole text clearly reflects the comparative position of *Prakrit* and *Sanskrit* in the *Digambara* Jain literature of the South. The most ancient literature was all in *Prakrit* as shown by the *Sutras* and their first reputed commentary *Parikarma* as well as all the other works of *Kundakunda*, and also by the preponderance of *Prakrit* verses quoted in the *Dhavala*. But about the time of *Virasena* the tables had turned against *Prakrit* and *Sanskrit* had got the upperhand as revealed by the present portion of *Dhavala* as well as its contemporary literature.

The *Prakrit* of the *Sutras*, the *Gathas* as well as of the commentary, is *Sauraseni* influenced by the older *Ardha Magadhi* on the one hand and the *Maharashtri* on the other, and this is exactly the nature of the language called Jain *Sauraseni* by Dr. *Pischel* and subsequent writers. It is, however, only a very small fraction of the whole text that has now been edited critically so far as was possible with the available material. Final conclusions on this subject as well as on all others pertaining to this work must wait till the whole or at least a good deal of it has been so edited.

I have avoided details in this survey of *Shatkhandagama* because I have discussed all these topics fully in my introduction in *Hindi* to which my learned readers are referred for details. The available manuscripts of the work are all very corrupt and full of lacunae, being very recent copies of a transcript which, so to say, had to be stolen from *Mudbidri*. My great regret is that inspite of all efforts, I could not get at the only old manuscript preserved there. So the text had to be constituted from the available copies as critically as was possible according to the principles which I have explained in full in my *Hindi* introduction. Inspite of all these difficulties, however, I hope my readers will not find the text as unsatisfactory as it might have been expected under the circumstances.



१. श्री धवलादि सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास

सुना जाता है कि श्री धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंको प्रकाशमें लाने और उनका उत्तर भारतमें पठनपाठनद्वारा प्रचार करनेका विचार पंडित टोडरमलजीके समयमें जयपुर और अजमेरकी ओरसे प्रारंभ हुआ था। किंतु कोई भी महान् कार्य सुसंपादित होनेके लिये किसी महान् आत्माकी वाट जोहता रहता है। बम्बईके दानवीर, परमोपकारी स्व सेठ माणिकचंदजी जे पी का नाम किसने न सुना होगा? आजसे छप्पन वर्ष पहिले वि स १९४० (सन् १८८३ ई) की बात है। सेठजी सघ लेकर मूडविंद्रीकी यात्राको गये थे। वहां उन्होंने रत्नमयी प्रतिमाओं और धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतियोंके दर्शन किये। सेठजीका ध्यान जितना उन बहुमूल्य प्रतिमाओंकी ओर गया, उससे कहीं अधिक उन प्रतियोंकी ओर आकर्षित हुआ। उनकी सूक्ष्म धर्मरक्षक दृष्टिसे यह बात छुपी नहीं रही कि उन प्रतियोंके ताडपत्र जीर्ण हो रहे हैं। उन्होंने उस समयके भट्टारकजी तथा वहांके पचोका ध्यान भी उस ओर दिलाया और इस बातकी पूछताछ की कि क्या कोई उन ग्रंथोंको पढ़ समझ भी सकता है या नहीं? पचोने उत्तर दिया ' हम लोग तो इनका दर्शन पूजन करके ही अपने जन्मको सफल मानते हैं। हा, जैनविंद्री (श्रवणवेलगुल) में ब्रह्मसूरि शास्त्री हैं, वे इनको पढ़ना जानते हैं'। यह सुनकर सेठजी गंभीर विचारमें पड़ गये। उस समय इससे अधिक कुछ न कर सके, किंतु उनके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता स्थान कर गई।

यात्रासे लौटकर सेठजीने अपने परम सहयोगी मित्र, शोलापुरनिवासी श्री सेठ हीराचन्द नेमचन्दजी को पत्र लिखा और उसमें श्री धवलादि ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता प्रगट की, तथा स्वयं भी जाकर उक्त ग्रंथोंके दर्शन करने और फिर उद्धारके उपाय सोचनेकी प्रेरणा की। सेठ माणिकचंदजीकी इस इच्छाको मान देकर सेठ हीराचंदजीने दूसरे ही वर्ष, अर्थात् वि स. १९४१ (सन् १८८४) में स्वयं मूडविंद्रीकी यात्रा की। वे अपने साथ श्रवणवेलगुलके पण्डित ब्रह्मसूरि शास्त्रीको भी ले गये। ब्रह्मसूरिजीने उन्हें तथा उपस्थित सज्जनोंको श्री धवलादि सिद्धान्तका मंगलचरण पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर वे सब अतिप्रसन्न हुए। सेठ हीराचंदजीके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी भावना दृढ़ हो गई और उन्होंने ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे प्रतिलिपिका कार्य अपने हाथमें लेनेका आग्रह किया। वहांसे लौटकर सेठ हीराचंदजी बम्बई आये और सेठ माणिकचंदजीसे मिलकर उन्होंने ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेका विचार पक्का किया। किंतु उनके वहांसे लौटनेपर वे तथा सेठ माणिकचंदजी अपने अपने व्यावसायिक कार्योंमें गुथ गये और कोई दश वर्षतक प्रतिलिपि करानेकी बात उनके मनमें ही रह गई।

इसी बीचमें अजमेरनिवासी श्रीयुक्त सेठ मूलचंदजी सोनी, श्रीयुक्त प गोपालदासजी वरैयाके साथ मूडविंद्रीकी यात्राको गये। उस समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रंथोंके दर्शनकर वहांके पचों और ब्रह्मसूरि शास्त्रीके साथ यह बात निश्चित की कि उन ग्रंथोंकी प्रतिलिपिया की जाय।

तदनुसार लेखनकार्य भी प्रारम्भ हो गया । यात्रासे लौटते समय सेठ मूलचदजी सोनी गोलापुर और बम्बई भी गये और उन्होंने सेठ हीराचदजी व माणिकचदजीको भी अपने उक्त कार्यकी सूचना दी, जिसका उन्होंने अनुमोदन किया । श्रीमान् सिधई पन्नालालजी अमरावतीवालोसे जात हुआ है कि जब उनके पिता स्व सिधई बशीलालजी स १९४७ (सन १८९०) के लगभग मूडविद्रीकी यात्राको गये थे तब ब्रह्मसूत्र शास्त्री द्वारा लेखनकार्य प्रारम्भ हो गया था । किन्तु लगभग तीसरो श्लोक प्रमाण प्रतिलिपि होनेके पश्चात् ही वह कार्य बन्द पड़ गया, क्योंकि, सेठजी वह प्रतिलिपि अजमेरके लिये चाहते थे और यह बात मूडविद्रीके भट्टारकजी व पचोको इष्ट नहीं थी ।

इसी विषयको लेकर स १९५२ (सन १८९५) में सेठ माणिकचदजी और सेठ हीराचदजी के बीच पुनः पत्रव्यवहार हुआ, जिसके फलस्वरूप सेठ हीराचदजीने प्रतिलिपि करानेके खर्चके लिये चन्दा एकत्र करनेका बीड़ा उठाया । उन्होंने अपने पत्र जैनबोधकमें सी सो रूप्योते पहायक बननेके लिये अपील निकालना प्रारम्भ कर दिया । फलतः एक वर्षके भीतर चावट हजारे ऊपरके चन्देकी स्वीकारता आगई । तब सेठ हीराचदजीने सेठ माणिकचदजीको गोलापुर बुलाया और उनके समक्ष ब्रह्मसूत्र शास्त्रीमें एकमी पच्चीन (१२५) रुपया मासिक वृत्तिपर प्रतिलिपि करनेकी बात पक्की होगई । उनकी महायताके लिये मिरजनिवासी गजपति शास्त्री भी नियुक्त कर दिये गये । ये दोनों शास्त्री मूडविद्री पहुँचे और उसी वर्षकी फाल्गुन शुद्ध ७ बुधवारको ग्रंथकी प्रतिलिपि करनेका कार्य प्रारम्भ हो गया । उसके एक माह और तीन दिन पश्चात् चत्र शुक्ल १० को ब्रह्मसूत्र शास्त्रीने सेठ हीराचदजीको पत्रद्वारा सूचित किया कि जयधवलके पन्द्रह पत्र अर्थात् लगभग १५०० श्लोकोकी कापी हो चुकी । इसके कुछ ही पश्चात् ब्रह्मसूत्र शास्त्री अस्वस्थ हो गये और अन्ततः स्वर्गवासी हुए ।

ब्रह्मसूत्र शास्त्रीके पश्चात् गजपति शास्त्रीने प्रतिरेखनका कार्य चालू रखा और लगभग सोलह वर्षमें धवल और जयधवलकी प्रतिलिपि नागरी लिपिमें पूरी की । इसी अवसरमें मूडविद्रीके पण्डित देवराज सेठी, शातप्पा उपाध्याय तथा ब्रह्मसूत्र इन्द्रद्वारा उक्त ग्रंथोकी कनाडी लिपिमें भी प्रतिलिपि कर ली गई । उस समय सेठ हीराचदजी पुनः मूडविद्री पहुँचे और उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि तीसरे ग्रंथराज महाधवलकी भी प्रतिलिपि हो जाय और इन ग्रंथोकी सुरक्षा तथा पठनपाठनरूप नहुषयोगके लिये अनेक प्रतिया कराने के लिये भिन्न भिन्न स्थानोंमें रखी जावे । किन्तु इस बातपर भट्टारकजी व पचलोम राजी नहीं हुए । तथापि महाधवलकी कनाडी प्रतिलिपि पंडित नेमिराजजी द्वारा किये जानेकी व्यवस्था करा दी गई । यह कार्य सन १९१८ से पूर्व पूर्ण हो गया । इसके पश्चात् सेठ हीराचदजीके प्रयत्नसे महाधवलकी नागरी प्रतिलिपि प लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा लगभग चार वर्षमें पूरी हुई । इस प्रकार इन ग्रंथोका प्रतिलिपि कार्य सन १८९६ से १९२२ तक अर्थात् २६ वर्ष चला, और इतने समयमें इनकी कनाडी लिपि प देवराज सेठी, प शातप्पा इन्द्र, प ब्रह्मसूत्र इन्द्र तथा प नेमिराज सेठी द्वारा, तथा नागरी लिपि प ब्रह्मसूत्र शास्त्री, प गजपति उपाध्याय और प लोकनाथजी शास्त्री द्वारा की गई । इस कार्यमें लगभग बीस हजार रुपया खर्च हुआ ।

धवल और जयधवलकी प्रतिके बाहर निकलनेका इतिहास

धवल और जयधवलकी नागरी प्रतिलिपि करते समय श्री गजपति उपाध्यायने गुप्तरीतिसे उनकी एक कनाडी प्रतिलिपि भी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया। इस कार्यमे विगेष हाथ उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीवाईका था, जिनकी यह प्रबल इच्छा थी कि इन ग्रंथोके पठनपाठनका प्रचार हो। सन् १९१५ मे उन प्रतिलिपियोको लेकर गजपति उपाध्याय सेठ हीराचदजीके पास गोलापुर पहुँचे और न्योछावर देकर उन्हें अपने पास रखनेके लिये कहा। किंतु सेठजीने उन्हें अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया, तथा अपने घनिष्ठ मित्र सेठ माणिकचदजी को भी लिख दिया कि वे भी उन प्रतियोको अपने पास न रखे। उनके ऐसा करनेका कारण यही जाना जाता है कि वे मूडविट्ठीसे बाहर प्रतियोको न ले जानेके लिये मूडविट्ठीके पचो और भट्टारकजी से वचनबद्ध हो चुके थे। अतएव प्रतियोके प्रचारकी भावना रखते हुए भी उन्होंने प्रतियोको अपने पास रखना नैतिक दृष्टिमे उचित नहीं समझा। तब गजपति उपाध्याय उन प्रतियोको लेकर सहारनपुर पहुँचे, ओर वहाँ श्री लाला जम्बूप्रसादजी रईसने उन्हें यथोचित पुरस्कार देकर उन प्रतियोको अपने मंदिरजीमे विराजमान कर दिया।

गजपति उपाध्यायने लालाजी को यह आश्वासन दिया था कि वे स्वयं उन कनाडी प्रतियोकी नागरी लिपी कर देगे। किंतु पुत्रकी बीमारीके कारण उन्हें गीघ्र घर लौटना पडा। पञ्चात् उनकी पत्नी भी बीमार हुई और उनका देहान्त हो गया। इन सकटोके कारण उपाध्यायजी फिर सहारनपुर न जा सके और सन् १९२३ मे उनका भी गरीरान्त हो गया। लालाजीने उन ग्रंथोकी नागरी प्रतिलिपि पण्डित विजयचन्द्रया और प सीताराम शास्त्रीके द्वारा कराई। यह कार्य सन् १९१६ मे १९२३ तक संपन्न हुआ। सन् १९२४ मे सहारनपुरवालोंने मूडविट्ठीके प लोकेनाथजी शास्त्रीको दुलाकर उनसे कनाडी और नागरी लिपियोका मिलान करा लिया।

सहारनपुरकी कनाडी प्रतिकी नागरी लिपि करते समय प सीताराम शास्त्रीने एक और कापी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया, यह लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनामे यह ज्ञात हुआ है। पर यह भी सुना जाता है कि जिस समय प विजयचन्द्रया और प सीताराम शास्त्री कनाडीकी नागरी प्रतिलिपि करने बैठे उन समय प विजयचन्द्रया पढ़ते जाते थे और प सीताराम शास्त्री नुविधा और जल्दीके लिये कागजके खरोंपर नागरीमे लिखते जाते थे। इन्ही खरोंपरमे उन्होंने पीछे शास्त्राकार प्रति सावधानीमे लिखकर लालाजीको दे दी, किंतु उन खरोंको अपने पास ही रख लिया, ओर उन्ही खरोंपरमे पीछे सीताराम शास्त्रीने अनेक स्थानोपर धवल जयधवल की लिपिया करके दी। वे ही तथा उन परमे की गई प्रतिया अब अमरावती, आरा, कारजा, दिल्ली, बम्बई, गोलापुर, सागर, झालरापाटन, इन्दौर, सिवनी, व्यावर, और अजमेरमे विराजमान है।

प गजपति उपाध्याय तथा प सीताराम शास्त्रीने चाहे जिस भावनासे उक्त कार्य किया हो ओर भले ही नीतिकी कसौटी पर वह कार्य ठीक न उतरता हो, किंतु इन महान्

सिद्धान्त ग्रंथोको सैकड़ों वर्षोंके कैदसे मुक्त करके विद्वत् और जिज्ञासु ससारका महान् उपकार करनेका श्रेय भी उन्हींको है । इस प्रसंगमे मुझे गुमानी कविका निम्न पद्य याद आता है---

पूर्वजबुद्धिमिषाद् भुवि गगा प्रापितवान् स भगीरथभूप ।
वन्धुरभूज्जगत परमोऽसौ सज्जन है सबका उपकारी ॥



सिद्धान्त ग्रंथोकी प्रतियोका इतिहास संग्रह करनेके लिये हमने जो प्रश्नावली प्रकाशित की थी उसका जिन अनेक महानुभावोंने सूचनात्मक उत्तर भेजनेकी कृपा की। हम उन्हीं उत्तरोंके आधारसे पूर्वोक्त इतिहास प्रस्तुत करनेमे समर्थ हुए, इस हेतु हम इन सज्जनोंका आभार मानते हैं ।

धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोकी प्रति-उद्धारसवन्धी प्रश्नावलीका उत्तर भेजनेवाले सज्जनोंकी नामावली—

- १ श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोगी, शोलापुर
- २ श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर
- ३ श्रीमान् प नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई
- ४ श्रीमान् प लोकनाथजी शास्त्री, मंत्री, वीरवाणी सिद्धान्त भवन, मूडविट्टी
- ५ श्रीमान् ब्र शीतलप्रसादजी
- ६ श्रीमान् प. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, कारजा
- ७ श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी वशीलालजी, अमरावती
- ८ श्रीमान् प. मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना
- ९ श्रीमान् प रामप्रसादजी शास्त्री, श्री ऐ पन्नालाल दि जैन सरस्वती भवन, बम्बई
- १० श्रीमान् प के भुजवलीजी शास्त्री, जैन सिद्धान्तभवन, आरा
- ११ श्रीमान् प दयाचन्द्रजी न्यायतीर्थ, सत्तर्कसुधातरंगिणी पाठशाला, सागर
- १२ श्रीमान् सेठ वीरचंद कोदरजी गाधी, फलटन
- १३ श्रीमान् सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जव्हेरी, बम्बई
- १४ श्रीमान् सेठ मूलचन्द किशनदास जी कायडिया, सूरत
- १५ श्रीमान् सेठ राजमल जी वडजात्या, भेलसा
- १६ श्रीमान् गाधी नेमचंद वालचंदजी, वकील, उस्मानाबाद
- १७ श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी, सम्पादक वीर, अलीगज

२. हमारी आदर्श प्रतियाँ

१ धवलादि सिद्धान्तग्रंथोंकी एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देशके मूडविट्टी नगरके गुरुवसदि नामक जैन मंदिरमें वहाँके भट्टारक श्रीचारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पंचोके अधिकारमें है। तीनों ग्रंथोंकी प्रतिया ताडपत्र पर कनाडी लिपिमें हैं। धवलाके ताडपत्रोंकी लम्बाई लगभग २। फुट, चौड़ाई ३ इंच, और कुलसंख्या ५९२ है। यह प्रति कवकी लिखी हुई है इसका ठीक ज्ञान प्राप्त प्रतियों परसे नहीं होता है। किन्तु लिपि प्राचीन कनाडी है जो पांच छैसौ वर्षोंसे कम प्राचीन नहीं अनुमान की जाती। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ पहले जैनविट्टी अर्थात् श्रवणबेलगोल नगर के एक मंदिरजी में विराजमान थे। इसी कारण उस मंदिरकी अभी तक 'सिद्धान्त वस्ती' नामसे प्रसिद्धि है। वहाँ से किसी समय ये ग्रंथ मूडविट्टी पहुँचे। (एपीग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द २, भूमिका पृ २८)

२ इसी प्रतिकी धवलाकी कनाडी प्रतिलिपि प देवराज सेठी, शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्य इन्द्र द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच पूर्ण की गयी थी। यह लगभग १ फुट २ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े काश्मीरी कागज के २८०० पत्रों पर है। यह भी मूडविट्टी के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है।

३ धवलाके ताडपत्रोंकी नागरी प्रतिलिपि प गजपति उपाध्याय द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच की गई थी। यह प्रति १ फुट ३ इंच लम्बे, १० इंच चौड़े काश्मीरी कागज के १३२३ पत्रों पर है। यह भी मूडविट्टी के गुरुवसदि मंदिरमें सुरक्षित है।

४ मूडविट्टीके ताडपत्रों परसे सन् १८९६ और १९१६ के बीच प गजपति उपाध्यायने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीवाई की सहायतासे जो प्रति गुप्त रीतिसे की थी वह आधुनिक कनाडी लिपिमें कागजपर है। यह प्रति अब सहारनपुरमें लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईसके अधिकारमें है।

५ पूर्वोक्त न ४ की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहारनपुर में प विजयचंद्रैया और प. सीतारामशास्त्रीके द्वारा सन् १९१६ और १९२४ के बीच कराई गई थी। यह प्रति १ फुट लम्बे, ८ इंच चौड़े कागजके १६५० पत्रोंपर हुई है। इसका न. ४ की कनाडी प्रतिसे मिलान मूडविट्टी के प लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा सन् १९२४ में किया गया था। यह प्रति भी उक्त लालाजीके ही अधिकारमें है।

६ पूर्वोक्त न ५ की नागरी प्रतिलिपि करते समय प सीताराम शास्त्रीने एक और नागरी प्रतिलिपि करके अपने पास रख ली थी, ऐसा श्रीमान् लाला प्रद्युम्नकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनासे जाना जाता है। यह प्रति अब भी प सीताराम शास्त्रीके अधिकारमें है।

७ पूर्वोक्त न ६ की प्रतिपरसे ही सीताराम शास्त्रीने वे अनेक प्रतिया की हैं जो अब कारजा, आरा, सागर आदि स्थानों में विराजमान हैं। सागर की प्रति १३। इंच लम्बे

७॥। इच चौडे कागज के १५९६ पत्रोपर है। यह प्रति सत्तर्कसुधातरगिणी पाठशाला, सागर, के चैत्यालयमे विराजमान है और श्रीमान प गणेशप्रसादजी वर्णीके अधिकारमे है।

८ न ७ परसे अमरावतीकी घवला प्रति १७ इच लम्बे, ७ इच चौडे कागजके १४६५ पत्रोपर बटुकप्रसादजी कायस्थके हाथसे सवत् १९८५ के माघकृष्णा ८ शनि को लिखी गई है। यह प्रति अब इस साहित्य उद्धारक फडके ट्रस्टी श्रीमान् सि पन्नालाल वशीलालजी के अधिकारमे है और अमरावतीके परवार दि जैन मन्दिरमे विराजमान है। इसके ३७५ पत्रोका सशोधन सहारनपुरवाली न ५ की प्रतिपरसे सन १९३८ मे कर लिया गया था।

प्रस्तुत ग्रंथ की प्रथम प्रेसकापी इसी प्रतिपरसे की गई थी। इसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथकी टिप्पणियो मे 'अ' सकेत द्वारा किया गया है।

९ दूसरी प्रति जिसका हमने पाठ सशोधनमे उपयोग किया है, आराके जैनसिद्धान्त भवन मे विराजमान है, और लाला निर्मलकुमारजी चक्रेश्वरकुमारजीके अधिकारमे है। यह उपर्युक्त प्रति न ६ पर से स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा वि स १९८३ माघ शुक्ला ५ रविवार को लिखकर समाप्त की हुई है। इसके कागज १४॥ इच लम्बे और ६॥ इच चौडे है, तथा पत्रसख्या ११२७ है यह हमारी टिप्पणियो आदि की 'आ' प्रति है।

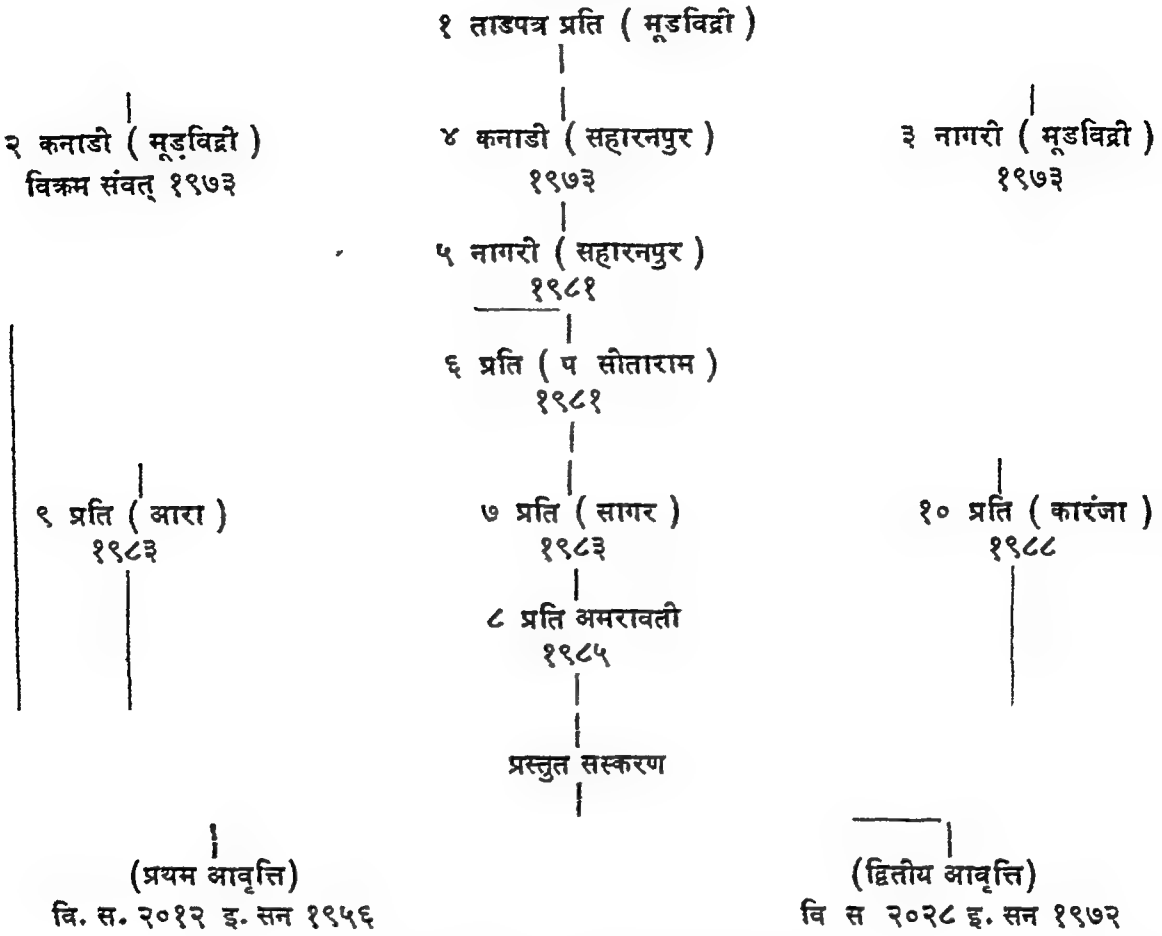
१० हमारेद्वारा उपयोगमे ली गई तीसरी प्रति कारजाके श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमकी है और हमे पं देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीके द्वारा प्राप्त हुई। यह भी उपर्युक्त न ६ परसे स्वयं सीताराम शास्त्री द्वारा १३॥ इच लम्बे ८ इच चौडे कागजके १४१२ पत्रोपर श्रावण शुक्ला १५, स १९८८ मे लिखी गई है। इस प्रतिका उल्लेख टिप्पणियो आदि मे 'क' सकेत द्वारा किया गया है।

सहारनपुर की प्रतिसे लिए गए सशोधनोका सकेत 'स' प्रतिके नामसे किया गया है।

इनके अतिरिक्त, जहातक हमे ज्ञात है, सिद्धान्त ग्रन्थोकी प्रतिया सोलापुर, झालरा-पाटन, व्यावर, बम्बई, इन्दौर, अजमेर, दिल्ली और सिवनीमे भी है। इनमेसे केवल बम्बई दि जैन सरस्वती भवन की प्रति का परिचय हमारी प्रश्नावलीके उत्तरमे वहा के मैनेजर श्रीयुत प रामप्रसादजी शास्त्रीने भेजनेकी कृपा की, जिससे ज्ञात हुआ कि वह प्रति आराकी उपर्युक्त न ९ की प्रति पर से प. रोशनलालद्वारा स १९८९ मे लिखी गई है, और उसी परसे झालरा-पाटन ऐलक पन्नालाल दि जैन सरस्वतीभवन के लिए प्रति कराई गई है। सागरकी सत्तर्कसुधा-तरगिणी पाठशालाकी प्रतिका जो परिचय वहा के प्रधानाध्यापक प दयाचन्दजी शास्त्रीने भेजने की कृपा की है, उससे ज्ञात हुआ है कि सिवनी की प्रति सागरकी प्रतिपरसे ही की गई है। शेष प्रतियोका हमे हमारी प्रश्नावलीके उत्तरमे कोई परिचय भी नहीं मिल सका।

इससे स्पष्ट है कि स्वयं सीताराम शास्त्रीके हाथकी लिखी हुई जो तीन प्रतिया कारजा, आरा और सागरकी है, उनमेसे पूर्व दोका तो हमने सीधा उपयोग किया है और सागरकी प्रतिका उसकी अमरावतीवाली प्रतिलिपि परसे लाभ लिया है।

धवल सिद्धान्तकी प्रतियोंकी पूर्वोक्त परम्पराका निदर्शक वंशवृक्ष



इस विवरण और वंशवृक्ष से स्पष्ट है कि यथार्थमे प्राचीन प्रति एक ही है किंतु खेद है कि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी हमे मूडविद्रीकी प्रतिके मिलानका लाभ नहीं मिल सका। यही नहीं, जिस प्रति परसे हमारी प्रथम प्रेस-कापी तैयार हुई वह उस प्रतिकी छठवी पीढीकी है। उसके सगोघनके लिये हम पूर्णत दो पाचवी पीढीकी प्रतियोंका लाभ पा सके। तीसरी पीढीकी सहारनपुरवाली प्रति अन्तिम सगोघनके समय हमारे सामने नहीं थी। उसके जो पाठ-भेद अमरावतीकी प्रतिपर अंकित कर लिये गये थे उन्हीसे लाभ उठाया गया है। इस परंपरामे भी दो पीढियोंकी प्रतिया गुप्त रीतिसे की गई थी। ऐसी अवस्थामे पाठ-संशोधनका कार्य कितना कठिन हुआ है यह वे पाठक विशेषरूपसे समझ सकेंगे जिन्हें प्राचीन ग्रंथोंके संशोधनका कार्य पड़ा है। भाषाके प्राकृत होने और विषयकी अत्यन्त गहनता और दुरूहताने संशोधन कार्य और भी जटिल बना दिया था।

यह सब होते हुए भी हम प्रस्तुत ग्रंथ पाठकोके हाथमे कुछ दृढता और विश्वासके साथ दे रहे हैं। उपर्युक्त अवस्थामे जो कुछ सामग्री हमे उपलब्ध हो सकी उसका पूरा लाभ लेनेमे

कसर नहीं रखी गई। सभी प्रतियोसे कही कही लिपिकारके प्रमादसे एक शब्दसे लेकर कोई सौ शब्दतक छूट गये हैं। इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रतिसे कर ली गई है। प्रतियोमे वाक्य-समाप्ति-सूचक विराम-चिन्ह नहीं हैं। कारजाकी प्रतिमे लाल स्याहीके दण्डक लगे हुए हैं, जो वाक्यसमाप्तिके समझनेमें सहायक होनेकी अपेक्षा भ्रामक ही अधिक है। ये दण्डक किस प्रकार लगाये गये थे इसका इतिहास श्रीमान् प. देवकीनन्दनजी शास्त्री सुनाते थे। जब प सीतारामजी शास्त्री ग्रंथोको लेकर कारजा पहुँचे तब पण्डितजीने ग्रंथोको देखकर कहा कि उनमें विराम-चिन्होकी कमी है। प सीतारामजी शास्त्रीने इस कमीकी वही पूर्ति कर देनेका वचन दिया और लाल स्याही लेकर कलमसे खटाखट दण्डक लगाना प्रारम्भ कर दिया। जब पण्डितजीने उन दण्डकोको जाकर देखा और उन्हें अनुचित स्थानोपर भी लगा पाया तब उन्होंने कहा यह क्या किया? प सीतारामजीने कहा जहाँ प्रतिमे स्थान मिला, आखिर वही तो दण्डक लगाये जा सकते हैं? पण्डितजी इस अनर्थको देखकर अपनी कृतिपर पछताये। अतएव वाक्यका निर्णय करनेमें ऐसे विराम-चिन्होका ब्याल बिल्कुल ही छोड़कर विषयके तारतम्यद्वारा ही हमें वाक्य-समाप्तिका निर्णय करना पडा है। इस प्रकार तथा अन्यत्र दिये हुए संशोधनके नियमोद्वारा अब जो पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है वह समुचित साधनोकी अप्राप्तिको देखते हुए असतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हमें तो बहुत थोड़े स्थानोपर शुद्ध पाठमें सदेह रहा है। हमें आश्चर्य इस बातका नहीं है कि ये थोड़े स्थल शकास्पद रह गये, किंतु आश्चर्य इस बातका है कि प्रतियोकी पूर्वोक्त अवस्था होते हुए भी उन परसे इतना शुद्ध पाठ प्रस्तुत किया जा सका। इस सबबमें हमसे पुन यह कहें बिना नहीं रहा जाता कि गजपतिजी उपाध्याय और प सीतारामजी शास्त्रीने भले ही किसी प्रयोजनवश नकले की हो किंतु उन्होंने कार्य किया उनकी गक्तिभर ईमानदारीसे और इसके लिये उनके प्रति, और विशेषतः प गजपतिजी उपाध्यायकी धर्मपत्नी लक्ष्मीबाईके प्रति हमारी कृतज्ञता कम नहीं है।



३. पाठ संशोधनके नियम

१ प्रस्तुत ग्रंथके पाठ-संशोधनमें ऊपर बतलाई हुई अमरावती, सहारनपुर, कारजा और आराकी चार हस्तलिखित प्रतियोका उपयोग किया गया है। यद्यपि ये सब प्रतिया एकही प्रतिकी प्रायः एक ही व्यक्तिद्वारा गत पंद्रह वर्षोंके भीतर की हुई नकले हैं, तथापि उनसे पूर्वकी प्रति अलभ्य होनेकी अवस्थामें पाठ संशोधनमें इन चार प्रतियोसे बहुत सहायता मिली है। कमसे कम उनके मिलानद्वारा भिन्न भिन्न प्रतियोमें छूटे हुए भिन्न भिन्न पाठ, जो एक मात्रासे लगा कर लगभग सौ शब्दोतक पाये जाते हैं, उपलब्ध हो गये और इस प्रकार कमसे कम उन सबकी उस एक आदर्श प्रतिका पाठ हमारे सामने आ गया। पाठका विचार करते समय सहारनपुरकी प्रति हमारे सामने नहीं थी, इस कारण उसका जितना उपयोग चाहिये उतना

हम नहीं कर सके । केवल उसके जो पाठ-भेद अमरावतीकी हस्त-प्रति पर अंकित कर लिये गये थे, उन्हींसे लाभ उठाया गया है । जहा पर अन्य सब प्रतियोसे इसका पाठ भिन्न पाया गया वहा इसीको प्रामाण्य दिया गया है । ऐसे स्थल परिशिष्टमे दी हुई प्रति-मिलानकी तालिकाके देखनेसे ज्ञात हो जावेगे । प्रति-प्रामाण्यके बिना पाठ-परिवर्तन केवल ऐसे ही स्थानोपर किया गया है जहा वह विषय और व्याकरणको देखते हुये नितान्त आवश्यक जचा । फिर भी वहा पर कमसे कम परिवर्तनद्वारा काम चलाया गया है ।

२ जहां पर प्रतियोके पाठ-मिलानमात्रसे शुद्ध पाठ नहीं मिल सका वहा पहले यह विचार किया गया है कि क्या कनाडीसे नागरी लिपि करनेमे कोई दृष्टि-दोषजन्य भ्रम वहा संभव है? ऐसे विचारद्वारा हम निम्न प्रकारके संशोधन कर सके—

(अ) प्राचीन कनाडीमें प्राकृत लिखते समय अनुस्वार और वर्ण-द्वित्व-बोधक सकेत एक बिन्दु ही होता है, भेद केवल इतना है कि अनुस्वारका बिन्दु कुछ छोटा (०) और द्वित्वका कुछ बड़ा (O) होता है । फिर अनुस्वार का बिन्दु वर्णसे पश्चात् और द्वित्वका वर्णसे पूर्व रखा जाता है । अतएव लिपिकार द्वित्वको अनुस्वार और अनुस्वारको द्वित्व भी पढ़ सकता है । उदाहरणार्थ, प्रो० पाठकने अपने एक लेखमें* त्रिलोकसारकी कनाडी ताडपत्र प्रति परसे कुछ नागरीमें गाथाए उद्धृत की हैं जिनमेंसे एक यहां देते हैं—

सो उ०म०गाहिमुहो चउ०मुहो सदरि-वास-परमाऊ ।

चालीस र०जओ जिदभूमि पु०छइ स-मति-गण ॥

इसका शुद्धरूप है—

सो उम्मगाहिमुहो चउम्मुहो सदरि-वास-परमाऊ ।

चालीस-रज्जओ जिदभूमि पुच्छइ स-मति-गण ॥

ऐसे भ्रमकी संभवता ध्यानमें रखकर निम्न प्रकारके पाठ सुधार लिये गये हैं—

(१) अनुस्वारके स्थान पर अगले वर्णका द्वित्व—

अगं गिज्झा—अगगिज्झा (पृ ६), लक्खणं खइणो—लक्खणक्खइणो (पृ १६)

सवध—सवद्ध (पृ २६, २९४,) वस—वस्स (पृ १११) आदि ।

(२) द्वित्वके स्थानपर अनुस्वार—

भग्ग—भग (पृ ५०) अक्कुलेसर—अकुलेसर (पृ ७२) कक्खा—कखा (पृ ७४)

समिइवइस्सया दत्त—समिइवइ सया दत्त (पृ ७) सव्वेयणी—सवेयणी (पृ १०५)

ओरालिय त्ति ओरालिय ति (पृ २९३) पावग्गालिय—पाव गालिय (पृ ४९)

पडिमव्वा—पडिम वा (पृ ५९) इत्यादि ।

(आ) कनाडीमे द और ध प्राय एकसे ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरेमे भ्रम हो सकता है ।

द-ध, दरिद-धरिद (पृ ३०) ध-द, द्रुविध-द्रुविद (पृ २१) हरधणु-हरदणु (पृ २७५) इत्यादि ।

(इ) कनाडीमे थ और ध मे अन्तर केवल वर्णके मध्यमे एक बिंदुके रहने न रहनेका है, अतएव इनके लिखने पढ़नेमे भ्रान्ति हो सकती है । अत कथ के स्थानपर कध और इसको तथा पूर्वोक्त अनुस्वार द्वित्व-विभ्रमको ध्यानमे रखकर सबधोवा के स्थान पर सब्वत्थोवा कर दिये गये हैं ।

यद्यपि शौरसेनीके नियमानुसार कथ आदिमे थ के स्थान पर ध ही रक्खा है, किन्तु जहा ध करनेसे किसी अन्य शब्दसे भ्रम होनेकी संभावना हुई वहा थ ही रहने दिया । उदाहरणार्थ— किसी किसी प्रतिमे 'गथो' के स्थान पर 'गधो' भी है किन्तु हमने 'गथो' ही रक्खा है ।

(ई) ऋस्व और दीर्घ स्वरोंमे बहुत व्यत्यय पाया जाता है, विशेषत प्राकृत रूपोंमे । इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाडी लिपिमे ऋस्व और दीर्घका कोई भेद ही नहीं किया जाता । अत सशोधनमे ऋस्वत्व और दीर्घत्व व्याकरणके नियमानुसार रक्खा गया है ।

(उ) प्राचीन कनाडी ग्रथोंमे बहुधा आदि ल के स्थान पर अ लिखा मिलता है जैसा कि प्रो उपाध्येने परमात्मप्रकाशकी भूमिकामे (पृ ८३ पर) कहा है । हमे भी पृ ३२८ की अवतरण गाथा न. १६९ मे 'अहइ' के स्थान पर 'लहइ' करना पडा ।

३ प्रतियोमे न और ण के द्वित्वको छोड़कर शेष पचमाक्षरोंमे हलत रूप नहीं पाये जाते । किन्तु यहा सशोधित सस्कृतमे पचमाक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं ।

४ प और य मे प्राचीन कनाडी तथा वर्तमान नागरी लिपिमे बहुधा भ्रम पाया जाता है । यही बात हमारी प्रतियोमे भी पाई गई । अत सशोधनमे वे दोनों यथास्थान रक्खे गये हैं ।

५ प्रतियोमे व और व का भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र व ही दिखाई देता है । अत सशोधनमे दोनों अक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं । प्राकृतमे व या व सस्कृतके वर्णानुसार रक्खा गया है ।

६. 'अरिहत' सस्कृतमे अकारातके रूपसे प्रतियोमे पाया जाता है । हमने उसके स्थानपर सस्कृत नियमानुसार अरिहता ही रक्खा है । (देखो, भाषा व व्याकरणका प्रकरण)

७ ग्रथमे सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंका खूब उपयोग हुआ है, तथा प्रतियोकी नकल करनेवाले सस्कृतके ही जानकर रहे हैं । अतएव बहुत स्थानोंपर प्राकृतके बीच सस्कृतके और सस्कृतके बीच प्राकृतके रूप आ गये हैं । ऐसे स्थानों पर शुद्ध करके उनके प्राकृत और सस्कृत रूप ही दिये गये हैं । जैसे, इदि-इति, वण-वन, गदि-गति, आदि ।

८. प्रतियोमे अवतरण गाथाए प्राय अनियमितरूपसे उक्त च या उत्तं च कहकर उद्धृत की गई हैं। नियमके लिये हमने सर्वत्र सस्कृत पाठके पश्चात् उक्त च और प्राकृत पाठके पश्चात् उत्त च रक्खा है।

९. प्रतियोमे सधिके संवधमे भी बहुत अनियम पाया जाता है। हमने व्याकरणके सधिसंवधी नियमोको ध्यानमे रखकर यथाशक्ति मूलके अनुसार ही पाठ रखनेका प्रयत्न किया है, किंतु जहा विराम चिन्ह आगया है वहा सधि अवश्य ही तोड़ दी गई है।

१०. प्रतियोमे प्राकृत शब्दोमे लुप्त व्यंजनोके स्थानोमे कही य श्रुति पाई जाती है और कही नहीं। हमने यह नियम पालनेका प्रयत्न किया है कि जहा आदर्श प्रतियोमे अवशिष्ट स्वर ही हो वहा यदि सयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिका उपयोग नहीं करना। प्रतियोमे अधिकांश स्थानोपर इसी नियमका प्रभाव पाया जाता है। पर ओ के साथ भी बहुत स्थानो पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ए के साथ क्वचित् ही, अन्य स्वरोके साथ नहीं।

(१) ओ के साथ य श्रुतिके उदाहरण—

भणियो, जाणयो, विसारयो, पारयो, आदि।

(२) ऊके साथ—वज्जियूण

(३) ए के साथ—परिणयेण (परिणतेन) एक्कारसीये, आदीये, इत्यादि।



४. षट्खंडागमके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथके अनुसार (पृ. ६८) षट्खंडागमके विषयके ज्ञाता घरसेनाचार्य थे, जो सोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रगुफामे ध्यान करते थे। नदिसघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वे आचाराग के पूर्ण ज्ञाता थे किन्तु 'धवला' के शब्दोमे वे अगो और पूर्वोके आचार्य एकदेश ज्ञाता थे। कुछ भी हो वे थे भारी विद्वान् और श्रुत-वत्सल। उन्हे इस घरसेन वातकी चिंता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जायगा, अतः उन्होने महिमा नगरीके मुनिसम्मेलनको पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहासे दो मुनि उनके पास पहुंचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हे सिद्धान्त पढाया। ये दोनो मुनि पुष्पदंत और भूतबलि थे। घरसेनाचार्यने उन्हे सिखाया तो उत्तमतासे किंतु ज्यो ही आपाठ शुक्ला एकादशीको अध्ययन पूरा हुआ त्योही वर्षाकालके बहुत समीप होते हुए भी उन्हे उसी दिन^१ अपने पाससे विदा कर दिया। दोनो शिष्योने गुरुकी वात अनुल्लघनीय मानकर

१ इन्द्रनन्दिके अनुसार घरसेनाचार्यने उन्हे दूसरे दिन विदा किया।

उसका पालन किया और वहासे चलकर अकुलेश्वरमे^१ चातुर्मास किया। धरसेनाचार्याने इन्हे वहासे तत्क्षण क्यों रवाना कर दिया यह प्रस्तुत ग्रंथमे नहीं बतलाया गया है। किंतु इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतार तथा विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारमे लिखा है कि धरसेनाचार्यको ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, अतएव इन्हे उस कारण क्लेश न हो इससे उन्होंने उन मुनियोंको तत्काल अपने पाससे विदा कर दिया^२। संभव है उनके वहा रहनेसे आचार्यके ध्यान और तपमे विघ्न होता, विशेषतः जब कि वे श्रुतज्ञानका रक्षासवन्धी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके थे। वे संभवतः यह भी चाहते होंगे कि उनके वे गिष्य वहासे जल्दी निकल कर उस श्रुतज्ञानका प्रचार करें। जो भी हो, धरसेनाचार्यकी हमे फिर कोई छटा देखनेकी नहीं मिलती, वे सदाके लिये हमारी आंखोंसे ओझल हो गये।

धवलाकारने धरसेनाचार्यके गुरुका नाम नहीं दिया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमे लोहार्य तककी गुरुपरम्पराके पञ्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, गिवदत्त और अर्हदत्त इन चार आचार्योंका उल्लेख किया गया है। वे सब अगो और पूर्वोके एकदेश जाता थे। इनके आचार्य पञ्चात् अर्हद्वलिका उल्लेख आया है। अर्हद्वलि बड़े भारी सघनायक थे। वे अर्हद्वलि पूर्वदेशमे पुडूवर्धनपुरके कहे गये हैं। उन्होंने पंचवर्षीय युग-प्रतिक्रमणके समय और माघनन्दि बड़ा भारी यति-सम्मेलन किया जिसमे सौ योजनके यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं परसे उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपातका जमाना आगया है। अतः उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चद्र आदि नामोंसे भिन्न भिन्न सघ स्थापित किये जिसमे एकत्व और अपनत्वकी भावनासे खूब धर्मवात्सल्य और धर्मप्रभावना बढे।

श्रुतावतारके अनुसार अर्हद्वलिके अनन्तर माघनन्दि हुए जो मुनियोंमे श्रेष्ठ थे। उन्होंने अगो और पूर्वोका एकदेश प्रकाश फैलाया और पञ्चात् समाधिमरण किया। उनके पञ्चात् ही सौराष्ट्र देशके गिरिनगरके समीप ऊर्जयन्त पर्वतकी चन्द्रगुफाके निवासी धरसेनाचार्यका वर्णन आया है।

इन चार आरातीय यतियों (और अर्हद्वलि, माघनन्दि व धरसेन आचार्योंके बीच इन्द्रनन्दिने कोई गुरु-गिष्य-परम्पराका उल्लेख नहीं किया। केवल अर्हद्वलि आदि तीन आचार्योंमे एकके पञ्चात् दूसरेके होनेका स्पष्ट संकेत किया है। पर इन तीनोंके गुरु-गिष्य तारतम्यके सवन्धमे भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। यही नहीं प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वो पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।

न जायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

१ इन्द्रनन्दिने इन पत्तनका नाम कुरीश्वर दिया है। वहा वे नौ दिनकी यात्रा करके पहुँचे।

२ स्वामिन्मृतिं ज्ञात्वा मा भूत्सक्लेशमेतयोरस्मिन् । इति गुरुणा मच्चिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन । इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार आत्मनो निकटमरणं ज्ञात्वा धरसेनन्तयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनिविसर्जनं करिष्यति ।

विबुधश्रीधर, श्रुतावतार मा दि जै अ २१, पृ ३१७

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें मिला और न किसी मुनिने ही बतलाया ।

किंतु नन्दिसधकी प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्वलि, माघनन्दि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त और भूतवलिको एक दूसरेके उत्तराधिकारी बतलाया है जिससे ज्ञात होता है कि धरसेनके दादागुरु अर्हद्वलि और गुरु माघनन्दि थे ।

नन्दिमंथकी संस्कृत गुर्वावलीमें भी माघनन्दिका नाम आया है । इस पट्टावलीके प्रारम्भमें भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी वंदना की गई है, किंतु उनके नामके साथ सध आदिका उल्लेख नहीं किया गया है । उनकी वन्दनाके पश्चात् मूलसधमें नन्दिसध बलात्कारगणके उत्पन्न होनेके साथ ही माघनन्दिका उल्लेख किया गया है । संभव है कि सधभेदके विधाता अर्हद्वलि आचार्यने उन्हें ही नन्दिसधका अग्रणी बनाया हो । उनके नामके साथ 'नन्दि' पद होनेसे भी उनका इस गणके साथ सवन्ध प्रकट होता है । यथा—

श्रीमानगेपनरनायकवन्दिताघ्नि. श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेय ।
यो भद्रबाहुमुनिपुगवपट्टपद्य सूर्य स वो दिगंतु निर्मलसधवृद्धिम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसधेऽजनि नन्दिसध तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्य ।
तन्नामवत्पूर्वपदागवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्य ॥ २ ॥

जै नि भा १, ४, पृ ५१

पट्टावलीमें इनके पट्टवारी जिनचंद्र और उनके पश्चात् पद्मनन्दि कुन्दकुन्दका उल्लेख किया गया है, पर धरसेनका नहीं । अतः संभव हो सकता है कि ये वे ही धरसेनके गुरु हैं या नहीं । किंतु उनके 'पूर्वपदागवेदी' अर्थात् पूर्वोक्त एकदेशकी जाननेवाले, ऐसे विशेषणसे पता चलता है कि ये वे ही हैं । पट्टावलीमें उनके शिष्य धरसेनका उल्लेख न आनेका कारण यह हो सकता है कि धरसेन विद्यानुरागी थे और वे सधसे अलग रहकर शास्त्राभ्यास किया करते थे । अतः उनकी अनुपस्थितिमें सधका नायकत्व माघनन्दिके अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पड़ा हो । उधर धरसेनाचार्यने अपनी विद्याद्वारा शिष्यपरम्परा पुष्पदन्त और भूतवलिद्वारा चलाई ।

माघनन्दिका उल्लेख 'जवूदीवपण्णत्ति' के कर्ता पद्मनन्दिने भी किया है और उन्हें राग, द्वेष और मोह से रहित, श्रुतसागरके पारगामी, मति-प्रगल्भ, तप और सयमसे सम्पन्न तथा विन्यात कहा है । इनके शिष्य सकलचंद्र गुरु थे जिन्होंने सिद्धान्तमहोदधिमें अपने पापरूपी मैल धो डाले थे । उनके शिष्य श्रीनन्दि गुरु हुए जिनके निमित्त जवूदीवपण्णत्ति लिखी गई । यथा—

गय-राय-दोस-मोहो मुद-सायर-पारओ मइ-पगवभो ।
तव-सजम-सपण्णो विक्खाओ माघनन्दि-गुरु ॥ १५४ ॥
तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धंत-महोदहिम्मि धुय-कलुसो ।
णय-णियम-सील-कलिदो गुणउत्तो सयलचंद-गुरु ॥ १५५ ॥
तम्मेव य वर-सिस्सो णिम्मल-वर-णाण-चरण-सजुत्तो ।
सम्मदसण-सुद्धो सिरिण्दि-गुरु त्ति विक्खाओ ॥ १५६ ॥

तस्स णिमित्त लिहिय जवूदीवस्स तह य पण्णत्ती ।

जो पढइ सुणइ एद सो गच्छइ उत्तम ठाणं ॥ १५७ ॥

(जैन साहित्य सशोवक, ख १ जवूदीवपण्णत्ति लेखक प नाथूरामजी प्रेमी)

यथा—जवूदीवपण्णत्तिका रचनाकाल निश्चित नहीं है । किन्तु यहा माघनन्दिको श्रुतसागर पारगामी कहा है जिससे जान पड़ता है कि संभवत यहा हमारे माघनन्दिसे ही तात्पर्य है ।

माघनन्दि सिद्धान्तवेदीके सवन्धका एक कथानक भी प्रचलित है । कहा जाता है कि माघनन्दि मुनि एकवार चर्याके लिये नगरमे गये थे । वहा एक कुम्हारकी कन्याने इनसे प्रेम प्रगट किया और वे उसीके साथ रहने लगे । कालान्तरमे एकवार सघमे किसी सैद्धान्तिक विषयपर मतभेद उपस्थित हुआ और जब किसीसे उसका समाधान नहीं हो सका तब सघनायकने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनन्दिके पास जाकर किया जाय । अतः साधु माघनन्दिके पास पहुँचे और उनसे ज्ञानकी व्यवस्था मागी । माघनन्दिने पूछा, ' क्या सघ मुझे अब भी यह सत्कार देता है ? ' मुनियोने उत्तर दिया ' आपके श्रुतज्ञानका सदैव आदर होगा । ' यह सुनकर माघनन्दीको पुन वैराग्य हो गया और वे अपने सुरक्षित रखे हुए पीछी कमडलु लेकर पुन सघमे आ मिले । जैन सिद्धान्तभास्कर, सन् १९१३, अक ४, पृष्ठ १५१ पर ' एक ऐतिहासिक स्तुति ' शीर्षकसे इसी कथानकका एक भाग छपा है और उसके साथ सोलह श्लोकोकी एक स्तुति छपी है जिसे कहा है कि माघनन्दिने अपने कुम्हार-जीवनके समय कच्चे घडोपर थाप देते समय गाते गाते बनाया था ।

यदि इस कथानकमे कुछ तथ्याश हो भी तो संभवत वह उन माघनन्दि नामके आचार्योंमेसे किसी एकके सवन्धका हो सकता है जिनका उल्लेख श्रवणवेलगोलके अनेक शिलालेखोमे आया है । (देखो जैनशिलालेखसंग्रह) इनमेसे न. ४७१ के शिलालेखमे शुभचन्द्र त्रैविद्यदेवके गुरु माघनन्दि सिद्धान्तदेव कहे गये हैं । शिलालेख न १२९ मे विना किसी गुरु-शिष्य संबन्धके माघनन्दिको जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तवेदी कहा है । यथा—

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने ।

जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्प्रमोदिने ॥ ४ ॥

ये दोनो आचार्य हमारे षट्खण्डागमके सच्चे रचयिता हैं । प्रस्तुत ग्रंथमे इनके प्रारम्भिक नाम, धाम व गुरु-परम्पराका कोई परिचय नहीं पाया जाता । धवलाकारने उनके सवन्धमे केवल इतना ही कहा है कि जब महिमा नगरीमे सम्मिलित यतिसघको आचार्य धरसेनाचार्यका पत्र मिला तब उन्होंने श्रुत-रक्षासवन्धी उनके अभिप्रायको पुष्पदन्त और समझकर अपने सघमेसे दो साधु चुने जो विद्याग्रहण करने और स्मरण रखनेमे भूतबलि समर्थ थे, जो अत्यन्त विनयशील थे, शीलवान् थे, जिनका देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाओमे पारगत थे । उन दोनोको धरसेना-चार्यके पास गिरिनगर (गिरनार) भेज दिया । धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षा की । एकको

अधिकाक्षरी और दूसरेको हीनाक्षरी विद्या बताकर उनसे उन्हें पण्डोपवाससे सिद्ध करनेको कहा । जब विद्याए सिद्ध हुई तो एक बड़े बड़े दातोवाली और दूसरी कानी देवीके रूपमें प्रगट हुई । इन्हें देख कर चतुर साधकोने जान लिया कि उनके मन्त्रोंमें कुछ त्रुटि है । उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरोंकी कमी वेशी करके पुन साधना की, जिससे देविया अपने स्वाभाविक सौम्यरूपमें प्रकट हुई । उनकी इस कुशलतासे गुरुने जान लिया कि ये सिद्धान्त सिखानेके योग्य पात्र हैं । फिर उन्हें क्रमसे सब सिद्धान्त पढा दिया । यह श्रुताभ्यास आषाढ शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ और उसी समय भूतोंने पुष्पोपहारोद्वारा गन्ध, तूर्य और वादित्रोंकी ध्वनिके साथ एककी बड़ी पूजा की । इसीसे आचार्यश्रीने उनका नाम भूतवल्लि रक्खा । दूसरेकी दंतपक्ति अस्त-व्यस्त थी, उसे भूतोंने ठीक कर दी, इससे उनका नाम पुष्पदन्त रक्खा गया । ये ही दो आचार्य पुष्पदन्त और भूतवल्लि पट्खण्डागमके रचयिता हुए ।

इन दोनोंने घरसेनाचार्यसे सिद्धान्त सीखकर ग्रन्थ-रचना की, अतः घरसेनाचार्य उनके गिद्गागुरु थे । पर उनके दीक्षागुरु कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थमें नहीं मिलता । ब्रह्म नेमिदत्तने अपने आराधना-कथाकोषमें भी घरसेनाचार्यकी कथा दी है । उसमें कहा है कि घरसेनाचार्यने जिस मुनिसाधको पत्र भेजा था उसके सघाधिपति महासेनाचार्य थे और उन्हींने अपने संघमेंसे पुष्पदन्त और भूतवल्लिको उनके पास भेजा । यह कहना कठिन है कि ब्रह्म नेमिदत्तने सघाधिपतिका नाम कथानकके लिये कल्पित कर लिया है या वे किसी आचार परसे उसे लिख रहे हैं ।

विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें भविष्यवाणी के रूपमें एक भिन्न ही कथानक दिया है जो इस प्रकार है—

इसी भरतक्षेत्रके वामिदेश (ब्रह्मदेश?) में वसुधरा नामकी नगरी होगी । वहाके राजा नरवाहन और रानी सुरूपाको पुत्र न होनेसे राजा खेदखिन्न होगा । तब सुबुद्धि नामके सेठ उन्हें पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देगे । राजाके तदनुसार देवीकी पूजा करनेपर पुत्रप्राप्ति होगी और वे उस पुत्रका नाम पद्म रखेगे । फिर राजा सहस्रकूट चैत्यालय वनवावेगे और प्रतिवर्ष यात्रा करेगे । सेठजी भी राजप्रासादसे पद पदपर पृथ्वीको जिनमदिरोसे मडित करेगे । इसी समय वसंत ऋतुमें समस्त सध वहा एकत्र होगा और राजा सेठजीके साथ जिनपूजा करके रथ चलावेगे । उसी समय राजा अपने मित्र मगधस्वामीको मुनीन्द्र हुआ देख सुबुद्धि सेठके साथ वैराग्यसे जैनी दीक्षा धारण करेगे । इसी समय एक लेखवाहक वहा आवेगा । वह जिन देवोंको नमस्कार करके व मुनियोंकी तथा (परोक्षमें) घरसेन गुरुकी वन्दना करके लेख समर्पित करेगा । वे मुनि उसे वाचेगे कि गिरिनगरके समीप गुफावासी घरसेन मुनीश्वर आग्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तुके चौथे प्राभूतगास्त्रका व्याख्यान प्रारम्भ करनेवाले है । घरसेन भट्टारक कुछ दिनोंमें नरवाहन और सुबुद्धि नामके मुनियों की पठन, श्रवण और चिन्तनक्रिया कराकर आषाढ शुक्ला एकादशीको गास्त्र समाप्त करेगे । उनमेंसे एककी भूत रात्रिकी वल्लिविधि करेगे और दूसरेके चार दातोंको सुन्दर बना देगे । अतएव भूत-वल्लिके प्रभावसे नरवाहन मुनिका नाम

भूतवलि और चार दात समान हो जानेसे सुबुद्धि मुनिका नाम पुष्पदन्त होगा^१। इसके लेखकका समय आदि अज्ञात है और यह कथानक कल्पित जान पड़ता है। अतएव उसमें कही गई बातोंपर कोई जोर नहीं दिया जा सकता।

श्रवणवेलगोलके एक शिलालेख (न १०५) में पुष्पदन्त और भूतवलिको स्पष्ट रूपसे सघभेद-कर्ता अर्हद्वलिके शिष्य कहा है। यथा—

य पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।

फलप्रदानाय जगज्जनाना प्राप्तोऽङ्कुराम्यामिव कल्पभूज ॥ २५ ॥

अर्हद्वलिस्सघचतुर्विध स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसघम् ।

कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥ २६ ॥

यद्यपि यह लेख बहुत पीछे अर्थात् शक स १३२० का है, तथापि संभवतः लेखकने किसी आधार पर से ही इन्हे अर्हद्वलिके शिष्य कहा होगा। यदि ऐसा हो तो यह भी संभव है कि ये इन दोनोंके दीक्षा-गुरु हों और धरसेनाचार्यने जिस मुनि-सम्मेलनको पत्र भेजा था वह अर्हद्वलिका युग-प्रतिक्रमणके समय एकत्र किया हुआ समाज ही हो, और वहीसे उन्होंने अपने अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि शिष्य पुष्पदन्त और भूतवलिको धरसेनाचार्यके पास भेजा हो। पट्टावलीके अनुसार अर्हद्वलिके अन्तिम समय और पुष्पदन्तके प्रारम्भ समयमें २१+१९=४० वर्षका अन्तर पड़ता है जिससे उनका समसामयिक होना असंभव नहीं है। केवल इतना ही है कि इस अवस्थामें, लेख लिखते समय धरसेनाचार्यकी आयु अपेक्षाकृत कम ही मानना पड़ेगी।

प्रस्तुत ग्रन्थमें पुष्पदन्तका सम्पर्क एक ओर व्यक्तिसे बतलाया गया है। अकुलेश्वरमें चातुर्मास समाप्त करके जब वे निकले तब उन्हें जिनपालित मिल गये और उनके साथ वे वनवास देशको चले गये^२। ('जिनपालित ददूण पुष्पयताइरियो वणवास-

पुष्पदन्त विसय गदो' पृष्ठ ७१।) ददूण का साधारणतः दृष्ट्वा अर्थात् देखकर अर्थ

और होता है। पर यहाँ पर यदि ददूण का देखकर यही अर्थ ले लिया जाता है

जिनपालित तो यह नहीं मालूम होता कि वहाँ जिनपालित कहासे आ गये? ददूणका

अर्थ द्रष्टु अर्थात् देखनेके लिये भी हो सकता है,^३ जिसका तात्पर्य यह होगा

कि पुष्पदन्त अकुलेश्वरसे निकलकर जिनपालितको देखनेके लिये वनवास चले गये। सगतिकी दृष्टिसे यह अर्थ ठीक बैठता है। इन्द्रनन्दिने जिनपालितको पुष्पदन्तका भागिनेय अर्थात् भनेज कहा, है। पर इस रिश्तेके कारण वे उन्हें देखनेके लिये गये यह कदाचित् साधुके आचारकी दृष्टिसे ठीक न समझा जाय इसलिये वैसा अर्थ नहीं किया। वनवास देशमें ही वे गिरिनगर

१ विबुधश्रीधर-श्रुतावतार (मा जै ग्र २१ मिद्धान्तसारादिसग्रह, पृ ३१६)

२ विबुध श्रीधरकृत श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्त और भूतवलिनने अकुलेश्वरमें ही पडग आगमकी रचना की। (तन्मुनिद्वय अकुलेश्वरपुरे गत्वा मत्वा पडगरचना कृत्वा शास्त्रेषु लिखाप्य ।)

३ जैसे, रामो तिसमुह-मेहलं पुहड पालेऊण ममत्थो । पउम च ३१, ४० ममार-गमण-भीओ इच्छड पेत्तुण पव्वज्ज । पउम च ३१, ४८

गये थे और वहासे फिर वनवास देशको ही लौट गये । इससे यही ग्रान्त पुष्पदन्ताचार्यकी जन्मभूमि जात होती है । वहा पहुचकर उन्होने जिनपालितको दीक्षा दी और ' वीसदि सूत्रों ' की रचना करके उन्हे पढाया, और फिर उन्हे भूतवलिके पास भेज दिया । भूतवलिनने उन्हे अल्पायु जान, महाकर्मप्रकृति पाहुडके विच्छेद-भयसे द्रव्यप्रमाणसे लगाकर आगेकी ग्रन्थ-रचना की । इस प्रकार पुष्पदन्त और भूतवलि दोनो इस सिद्धान्त ग्रंथके रचयिता हैं और जिनपालित उन रचनाके निमित्त कारण हुए ।

पुष्पदन्त और भूतवलिके बीच आयुमे पुष्पदन्त ही जेठे प्रतीत होते हैं । धवलाकारने अपनी टीकाके मगलाचरणमे उन्हे ही पहले नमस्कार किया है और उन्हे ' इसि-समिइ-वइ '

(ऋषिसमिति-पति) अर्थात् ऋषियो और मुनियोकी सभाके नायक कहा है ।

पुष्पदन्त उनकी ग्रन्थ-रचना भी आदिमे हुई और भूतवलिनने अपनी रचना अन्तत उन्हीके भूतवलीसे पास भेजी जिसे देख वे प्रसन्न हुए । इन बातोसे उनका ज्येष्ठत्व पाया जाता है । जेठे थे नन्दिसधकी प्राकृत पट्टावलीमे वे स्पष्टत भूतवलिसे पूर्व पट्टाधिकारी हुए वतलाये गये हैं ।

वर्तमान ग्रन्थमे पुष्पदन्तकी रचना कितनी है और भूतवलिकी कितनी, इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है । पुष्पदन्तने आदिके प्रथम ' वीसदि सूत्र ' रचे । पर इन वीस सूत्रोसे पुष्पदन्त और धवलाकारका समस्त सत्प्ररूपणाके वीस अधिकारोसे तात्पर्य है, न कि आदिके भूतवलिके २० नम्बर तकके सूत्रोसे, क्योंकि, उन्होने स्पष्ट कहा है कि भूतवलिनने बीच किसने द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर रचना की (पृ ७१) । जहासे द्रव्यप्रमाणानुगम अर्थात् कितना ग्रन्थ रचा सख्याप्ररूपणा प्रारंभ होती है वहापर भी कहा गया है कि—

सपहि चौदसण्ह जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाण सिस्साण तेसि चेव परिमाण पडिवोहण्ठ भूदवलियाइरियो मुत्तमाह ।

अर्थात्—' अव चौदह जीवसमासोके अस्तित्व को जान लेनेवाले गिण्योकी उन्ही जीवसमामोके परिमाण वतलानेके लिये भूतवलि आचार्य सूत्र कहते हैं ' ।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा अधिकारके कर्ता पुष्पदन्त और शेष समस्त ग्रन्थके कर्ता भूतवलि ठहरते हैं ।

धवलामे इस ग्रन्थकी रचनाका इतना ही इतिहास पाया जाता है । इससे आगेका वृत्तान्त इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमे मिलता है । उसके अनुसार भूतवलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना पुस्तकारूढ करके ज्येष्ठ शुक्ला ५ को चतुर्विध सधके साथ उन श्रुतपंचमीका पुस्तकोको उपकरण मान श्रुतज्ञानकी पूजा की जिससे श्रुतपंचमी तिथिकी प्रचार प्रख्याति जैनियोमे आजतक चली आती है और उस तिथिको वे श्रुतकी पूजा करते हैं' । फिर भूतवलिनने उन षट्खण्डागम पुस्तकोको जिनपालितके हाथ

१ ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्या चातुर्वर्ण्यनवममवेन । तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधान् कियापूर्वक पूजाम् ॥१४३॥

श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्याति तिथिरिय परामाप । अद्यापि येन तस्या श्रुतपूजा कुर्वते जैना ॥१४४॥

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार

पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा । पुष्पदन्त उन्हें देखकर और अपने चिन्तित कार्यको सफल जान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी चातुर्वर्ण सधसहित सिद्धान्तकी पूजा की ।

५ आचार्य-परम्परा

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धरसेनाचार्य और उनसे सिद्धान्त सीखकर ग्रंथरचना करनेवाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य कब हुए ? प्रस्तुत ग्रंथ में धरसेनाचार्य से इस सम्बन्ध की कुछ सूचना महावीर स्वामीसे लगाकर लोहाचार्य तक की पूर्वकी परम्परासे मिलती है । वह परम्परा इस प्रकार है, महावीर भगवान्‌के गुरु-परम्परा पञ्चात् क्रमशः गौतम, लोहार्य और जम्बूस्वामी समस्त श्रुत के जायक और अन्तमे केवलज्ञानी हुए । उनके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु, ये पांच श्रुतकेवली हुए । उनके पश्चात् विगाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गगदेव और धर्मसेन, ये ग्यारह एकादश अंग और दशपूर्वके पारगामी हुए । तत्पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस, ये पांच एकादश अंगोके धारक हुए, और इनके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य, ये चार आचार्य एक आचार्य के धारक और षोडश श्रुतके एकदेश जाता हुए । इसके पश्चात् समस्त अंगो और पूर्वोका एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परासे आकर धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ (६५-६६) । यह परम्परा इस प्रकार है—

महावीर की शिष्य-परम्परा

१ गौतम	३ केवली	१५ धृतिसेन	५ एकादशांगधारी
२ लोहार्य		१६ विजय	
३ जम्बू		१७ बुद्धिल	
४ विष्णु	५ श्रुतकेवली	१८ गगदेव	
५ नन्दिमित्र		१९ धर्मसेन	
६ अपराजित		२० नक्षत्र	४ आचारांगधारी
७ गोवर्धन		२१ जयपाल	
८ भद्रबाहु	११ दशपूर्वी	२२ पाण्डु	
९ विशाखाचार्य		२३ ध्रुवसेन	
१० प्रोष्ठिल		२४ कंस	
११ क्षत्रिय		२५ सुभद्र	
१२ जय		२६ यशोभद्र	
१३ नाग		२७ यशोबाहु	
१४ सिद्धार्थ		२८ लोहार्य	

ठीक यही परम्परा घवलामे आगे पुन वेदनाखडके आदिमे मिलती है। इन दोनों स्थानोंपर तथा बेलगोलके शिलालेख नं. १ मे न. २ के आचार्य का नाम लोहार्य ही पाया जाता है, किन्तु हरिवंशपुराण, श्रुतावतार व ब्रम्ह हेमकृत श्रुतस्कध व आचार्य-परम्परा शिलालेख नं १०५ (२५४) मे उस स्थान पर सुधर्मका नाम मिलता है। मे नाम भेद यही नहीं, स्वयं घवलाकारद्वारा ही रची हुई 'जयघवला' मे भी उस स्थानपर लोहार्य नहीं सुधर्मका नाम है। इस उलझनको सुलझानेवाला उल्लेख 'जंबूदीवपण्णत्ति' में पाया जाता है। वहा यह स्पष्ट कहा गया है कि लोहार्यका ही दूसरा नाम सुधर्म था। यथा—

‘तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण ।

गणघर-सुधम्मणा खलु जंबूणामस्स णिदिट्ठ ॥ १० ॥

(जै सा स. १ पृ १४९)

न ४ पर विष्णुके स्थानमे भी नामभेद पाया जाता है। जंबूदीवपण्णत्ति, आदिपुराण व श्रुतस्कधमे उस स्थानपर 'नन्दी' या नन्दीमुनि नाम मिलता है। यह भी लोहार्य और सुधर्मके समान एक ही आचार्यके दो नाम प्रतीत होते है। इस भेदका कारण यह प्रतीत होता है कि इन आचार्यका पूरा नाम विष्णुनन्दि होगा और वे ही एक स्थानपर सक्षेपसे विष्णु और दूसरे स्थानपर नन्दि नामसे निर्दिष्ट किये गये हैं। यही बात आगे न १८ के गगदेवके विषयमे पाई जाती है।

न ५ और ६ के आचार्योंका शिलालेख न १०५ मे विपरीत क्रमसे उल्लेख किया गया है, अर्थात् वहा अपराजितका नाम पहिले और नदिमित्र का पञ्चात् किया गया है। संभवत यह छद-निर्वाहमात्रके लिये है, कोई भिन्न मान्यताका द्योतक नाही।

आगेके अनेक आचार्योंके नाम भी शिलालेख न १०५ मे भिन्न क्रमसे दिये गये हैं जिसका कारण भी छदरचना प्रतीत होता है और इसी कारण संभवत धर्मसेनका नाम यहा भिन्न क्रमसे सुधर्म दिया गया है।

उसी प्रकार न ११ और १२ का उल्लेख श्रुतस्कधमे विपरीत है, अर्थात् जयका नाम पहले और क्षत्रियका नाम पञ्चात् दिया गया है। क्षत्रियके स्थानमे शिलालेख न १ मे कृत्तिकार्य नाम है जो अनुमानत प्राकृत पाठ 'क्वत्तिकारिय' का भ्रान्त संस्कृत रूप प्रतीत होता है। नदिसधकी प्राकृत पट्टावलीमे न १७ के बुद्धिलके स्थानपर बुद्धिलिंग व न. १८ के गगदेवके स्थानपर केवल 'देव' नाम है।

न २१ के जयपालके स्थानपर जयघवलामे 'जसफल' तथा हरिवंशपुराणमे यश.पाल नाम दिये हैं।

नं २३ के ध्रुवसेनके स्थान पर श्रुतावतार व शिलालेख न १०५ मे द्रुमसेन तथा श्रुतस्कधमे 'धुतसेन' नाम है।

न २६ के यशोभद्रके स्थान पर श्रुतावतारमे 'अभयभद्र' नाम है।

न २७ के यशोबाहुके स्थानपर जयधवलामे जहवाहु, श्रुतावतारमे जयबाहु व नदिसघ प्राकृत पट्टावलीमे व आदिपुराणमे भद्रबाहु नाम है। संभवत ये ही नंदिसघकी संस्कृत पट्टावलीके भद्रबाहु द्वितीय हैं।

इन सब नाम-भेदोका मूल कारण प्राकृत नामों परसे भ्रमवश संस्कृत रूप बनाना प्रतीत होता है। कही कही लिपिमे भ्रम होनेसे भी पाठ-भेद पड जाना संभव है।

उक्त आचार्य-परंपराका प्रस्तुत खण्डमे समय नहीं दिया गया है। किंतु धवलामे वेदनाखण्डके आदिमे, जयधवलामे व इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमे गीतम स्वामीसे लगाकर लोहार्य तकका समय मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाणके धरसेनाचार्य के पञ्चात् क्रमश ६२ वर्षमे तीन केवली, १०० वर्षमे पांच श्रुतकेवली, समयका विचार १८३ वर्षमे ग्यारह दशपूर्वी, २२० वर्षमे पांच एकादशागधारी और ११८ वर्षमे चार एकागधारी आचार्य हुए। इस प्रकार महावीर निर्वाणसे लोहाचार्य (द्वि) तक $६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३$ वर्ष व्यतीत हुए और इसके पश्चात् किसी समय धरसेनाचार्य हुए।

अब प्रश्न यह है कि लोहाचार्यसे कितने समय पश्चात् धरसेनाचार्य हुए। प्रस्तुत ग्रन्थमे तो इसके सवन्धमे इतना ही कहा गया है कि इसके पश्चात् की आचार्य परम्परामे धरसेनाचार्य हुए (पृष्ठ ६७)। अन्यत्र जहां यह आचार्य परम्परा पाई जाती है वहां सर्वत्र वह परम्परा लोहाचार्य पर ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे प्रस्तुत ग्रन्थोके निर्माणका वृत्तान्त विस्तारसे दिया है। किंतु लोहार्यके पञ्चात् आचार्योंका क्रम स्पष्टतः सूचित नहीं किया। प्रस्तुत, जैसा ऊपर बताया आये है, उन्होंने कहा है कि इन आचार्योंकी गुरु-परंपराका कोई निश्चय नहीं, क्योंकि, उसके कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। उन्होंने लोहार्यके पञ्चात् चार और आचार्योंका नाम गिनाये हैं, विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त और उन्हें आरातीय तथा अगो और पूर्वोके एकदेश ज्ञाता कहा है।

लोहार्यके पश्चात् चार आरातीय यतियोका जिस प्रकार इन्द्रनन्दिने एकसाथ उल्लेख किया है उससे ज्ञान पडता है कि संभवत वे सब एक ही कालमे हुये थे। इसीसे श्रीयुक्त प जुगलकिशोरजी मुख्तारने उन चारोका एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है। उनके पश्चात् के अर्हद्वलि आदि आचार्योंका समय मुख्तारजी क्रमश १० वर्ष अनुमान करते हैं। (समन्तभद्र पृ १६१) इसके अनुसार धरसेनाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे $६८३ + २० + १० + १० = ७२३$ वर्ष पश्चात् आता है।

किंतु नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावली इसका समर्थन नहीं करती। यथार्थतः यह पट्टावली अन्य सब परम्पराओं और पट्टावलियोंसे इतनी विलक्षण है और उन विलक्षणताओका प्रस्तुत आचार्योंके काल-निर्णयसे इतना घनिष्ठ सवन्ध है कि उसका पूरा परिचय यहां देना आवश्यक

प्रतीत होता है और चूँकि यह पट्टावली, जहाँ तक हमें ज्ञात है, केवल जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १, किरण ४, सन् १९१३ में छपी थी जो अब अप्राप्य है, अतः उसे हम यहाँ पूरी बिना संशोधनका प्रयत्न किये उद्धृत करते हैं—

नन्दि-आम्नायकी पट्टावली

श्रीत्रैलोक्याधिप नत्वा स्मृत्वा सद्गुरुभारतीम् ।
वक्ष्ये पट्टावली रम्या मूलसधगणाधिपाम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसधप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे ।
बलात्कारगणोत्तसे गच्छे सारस्वतीयके ॥ २ ॥
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्पन्न श्रीगणाधिपम् ।
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि श्रूयता सज्जना जना ॥ ३ ॥

पट्टावली

अतीम-जिण-णिग्वाणे केवलणाणी य गोयम-मुणिंदो ।
वारह-वासे य गये सुधम्म-सामी य सजादो ॥ १ ॥
तह वारह-वासे पुण सजादो जम्बु-सामि मुणिणाहो ।
अठतीस-वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥ २ ॥
वासठिठ-केवल-वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जबू य ।
वारह वारह दो जण तिय दुगहीण च चालीस ॥ ३ ॥
सुयकेवलि पच जणा वासठिठ-वासे गये सुसजादा ।
पढम चउदह-वास विण्हुकुमार मुणेयव्व ॥ ४ ॥
नंदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास वावीस ।
इग-हीण-वीस वास गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीस ॥ ५ ॥
सद सुयकेवलणाणी पच जणा विण्हु नंदिमित्तो य ।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य सजादा ॥ ६ ॥
सद-वासठिठ सुवासे गए सु-उप्पण्ण दह सुपुव्वहरा ।
सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥
आयरिय विसाख पोठुल खत्तिय जयसेण नागसेण मुणी ।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुहिंलिंग देव धमसेणं ॥ ८ ॥
दह उगणीस य सत्तर इक्कीस अट्टारह सत्तर ॥
अट्टारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेय ॥ ९ ॥
अतिम जिण-णिग्वाणे तियसय-पण-चालवास-जादेसु ।
एगादहगधारिय पच जणा मुणिवरा जादा ॥ १० ॥
नक्खत्तो जयपालग पंडव धुवसेन कंस आयरिया ।
अठारह वीस-वास गुणचाल चोद वत्तीस ॥ ११ ॥

सढ तेवीस वामे एगादह अगधरा जादा ।
 वास सत्ताणवदिय दसग नव अंग अट्ठवरा ॥ १२ ॥
 सुमहं च जसोभदं भद्दवाहु कमेण च ।
 लोहाञ्ज्य मुणीस च कहिय च जिणागमे ॥ १३ ॥
 छह अट्ठारह वासे तेवीस वावण (पणास) वास मुणिणाह ।
 दस णव अट्ठगधरा वास दुसदवीस सघेसु ॥ १४ ॥
 पचसये पणसठे अतिम-जिण-समय-जादेसु ।
 उप्पणा पच जणा इयगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥
 अहिवल्लि माघनदि य धरसेणं पुप्फयत भूदवली ।
 अडवीस इगवीस उगणीस तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥
 इगसय-अठार-वासे इयगधारी य मुणिवरा जादा ।
 छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अगद्वित्ति कहिय जिणे ॥ १७ ॥
 सत्तरि-चउ-नढ-युतो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।
 अठ-वरम वाललीला सोडस-वासेहि भम्मिए देसे ॥ १८ ॥
 पणरस-वासे रज्ज कुणति मिच्छोवदेससयुत्तो ।
 चालीस-वरस जिणवर-वम्मं पालीय सुरपय लहिय ॥ १९ ॥

प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् की कालगणना इसप्रकार आती है—

वीर निर्वाणके पश्चात्

१ गौतम	केवली	१२	९ विशाखाचार्य	दशपूर्वधारी	१०
२ सुघर्म	"	१२	१० प्रोष्ठिल	"	१९
३ जम्बूस्वामी	"	३८	११ क्षत्रिय	"	१७
		<hr/> ६२	१२ जयसेन	"	२१
			१३ नागसेन	"	१८
४ विष्णु	श्रुतकेवली	१४	१४ सिद्धार्थ	"	१७
५ नन्दिमित्र	"	१६	१५ धृतिषेण	"	१८
६ अपराजित	"	२२	१६ विजय	"	१३
७ गोवर्धन	"	१९	१७ बुद्धिलिंग	"	२०
८ भद्रवाहु	"	२९	१८ देव	"	१४
		<hr/> १००	१९ धर्मसेन	"	१४(१६)
					<hr/> १८१(१८३)

२० नक्षत्र	ग्यारह	१८	२८ लोहाचार्य	"	५२(५०)
	अंगधारी				<u>९९(९७)</u>
२१ जयपाल	"	२०			
२२ पांडव	"	३९	२९ अर्हद्वलि	एक अंगधारी	२८
२३ ध्रुवसेन	"	१४	३० माघनन्दि	"	२१
२४ कंस	"	३२	३१ धरसेन	"	१९
		<u>१२३</u>	३२ पुष्पदन्त	"	३०
			३३ भूतवलि	"	२०
२५ सुभद्र	दश नव	६			
	व आठ				<u>११८</u>
२६ यशोभद्र	अंगधारी	१८		कुलजोड	६८३
२७ भद्रबाहु	"	२३			

इस पट्टावलीमें प्रत्येक आचार्यका समय अलग अलग निर्दिष्ट किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता, और समष्टिरूपसे भी वर्ष सख्याये दी गई है। प्रथम तीन केवलियो, पाच श्रुतकेवलियो और ग्यारह दशपूर्वियोका समय क्रमश वही ६२, १००, और नन्दि-आम्नायकी १८३ वर्ष वतलाया गया है और इसका योग ३४५ वर्ष कहा है। किन्तु पट्टावलीकी दशपूर्वधारी एक एक आचार्यका जो काल दिया है उसका योग १८१ वर्ष विशेषताए आता है। अतएव स्पष्टतः कही दो वर्ष की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि, नहीं तो यहा तकका योग ३४५ वर्ष नहीं आसकता। इसके आगे जिन पाच एकादशागधारियोका समय अन्यत्र २२० वर्ष वतलाया गया है उनका समय यहा १२३ वर्ष दिया है। इनके पश्चात् आगेके जिन चार आचार्योंको अन्यत्र एकागधारी कह कर श्रुतज्ञानकी परपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहा क्रमश दश, नव और आठ अगके धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौन कितने अगोका ज्ञाता था। इससे दश अगोका अचानक लोप नहीं पाया जाता, जैसा कि अन्यत्र। इनका समय ११८ वर्ष के स्थानपर ९७ वर्ष वतलाया गया है। पर आचार्योंका समय जोडनेसे ९९ आता है अत दो वर्ष की यहा भी भूल है। तथा उनसे आगे पाच और आचार्योंके नाम गिनाये गये हैं जो एकागधारी कहे गये हैं। उनके नाम अहिवल्लि (अर्हद्वलि) माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि हैं। इनका समय क्रमश २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया गया है जिसका योग ११८ वर्ष होता है। इससे पूर्व श्रुतावतारमें विनयधर आदि जिन चार आचार्योंके नाम दिये गये हैं वे यहा नहीं पाये जाते। इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार भी अग-परपराका कुल काल ६२+१००+१८३+१२३+९७+११८=६८३ वर्ष ही आता है जितना कि अन्यत्र वतलाया गया है। परन्तु भेद यह है कि अन्यत्र यह काल लोहाचार्य तक ही पूरा कर दिया गया है और यहापर उसके अन्तर्गत वे पाच आचार्य भी हो जाते हैं जिनके भीतर हमारे ग्रथकर्ता धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि भी सम्मिलित हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जो एकादशागधारियों और उनके पञ्चात्के आचार्योंके समयोमे अन्तर पडता है वह क्यों और किसप्रकार ?

कालसन्ध्वी अकोपर विचार करनेसे ही स्पष्ट हो जाता है कि जहां पर अन्यत्र पांच एकादशागधारियों और चार एकागधारियोंका समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया गया है वहां इस पट्टावलीमे उनका समय क्रमश १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है अर्थात् २२० वर्षके भीतर नही आचार्य आ जाते हैं और आगे ११८ वर्षमे अन्य पांच आचार्य गिनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि भी हैं ।

जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियोंका समय समष्टिरूपसे दिया जाता है वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है । किन्तु जहां एक एक व्यक्तिका काल निर्दिष्ट किया जाता है वहां ऐसी भूलकी सम्भावना बहुत कम हो जाती है । हिन्दु पुराणोमे अनेक स्थानोपर दो राजवंशोंका काल एक ही वंशके साथ दे दिया गया है । स्वयं महावीर तीर्थंकरके निर्वाणसे पञ्चात्के राजवंशोंका जो समय जैन ग्रंथोमे पाया जाता है उसमे भी इसप्रकारकी एक भूल हुई है, जिसके कारण वीरनिर्वाणके समयके सन्ध्वमे दो मान्यताये हो गई हैं जिनमे परस्पर ६० वर्षका अन्तर पड गया है । (देखो आगे वीरनिर्वाण सवत्) । प्रस्तुत परंपरामे इन २२० वर्षोंके कालमे भी ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है ।

यह भी प्रश्न उठता है कि यदि अर्हद्वलि आदि आचार्य अगज्ञाताओंकी परंपरामे थे तो उनके नाम सर्वत्र परंपराओंमे क्यों नहीं रहे, इसका कारण अर्हद्वलिके द्वारा स्थापित किया गया सघभेद प्रतीत होता है । उनके पञ्चात् प्रत्येक सघ अपनी अपनी परंपरा अलग रखने लगा, जिसमे स्वभावतः सघभेदके पञ्चात्के केवल उन्ही आचार्योंके नाम रखे जा सकते थे जो उसी सघके हो या जो सघभेदसे पूर्वके हो । अतः केवल लोहार्य तककी ही परंपरा सर्वमान्य रही । सम्भव है कि इसी कारण काल-गणनामे भी वह गड़बड़ी आ गई हो, क्योंकि अगज्ञाताओंकी परंपराको संघ-पक्षपातसे बचानेके लिये लेखकोंका यह प्रयत्न हो सकता है कि अंग-परंपराका काल ६८३ वर्ष ही बना रहे और उसमे अर्हद्वलि आदि संघ-भेदसे सन्ध्व रखनेवाले आचार्य भी न दिखाये जावे ।

प्रश्न यह है कि क्या हम इस पट्टावलीको प्रमाण मान सकते हैं, विशेषतः जब कि उसकी वार्ता प्रस्तुत ग्रन्थो व श्रुतावतारादि अन्य प्रमाणोंके विरुद्ध जाती है? इस पट्टावलीकी जांच करनेके लिये हमने सिद्धान्तभवन आराको उसकी मूल हस्तलिखित प्रति भेजनेके लिये लिखा, किन्तु वहांसे प. भुजवलिजी शास्त्री सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर भी उस पट्टावलीकी मूल प्रति मिल नहीं रही है । ऐसी अवस्थामे हमे उसकी जांच मुद्रित पाठ परसे ही करनी पड़ती है । यह पट्टावली प्राकृतमे है और सम्भवतः एक प्रतिपरसे बिना कुछ संशोधनके छपाई गई होनेसे उसमे अनेक भाषादि-दोष हैं । इसलिये उस परसे उसकी रचनाके समयके सन्ध्वमे कुछ कहना अशक्य है । पट्टावलीके ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक हैं उनकी रचना बहुत शिथिल है । तीसरा श्लोक सदोष है । पर उन पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता

स्वयं पट्टावलीकी रचना नहीं कर रहा, किंतु वह अपनी उस प्रस्तावनाके साथ एक प्राचीन पट्टावलीको प्रस्तुत कर रहा है। पट्टावलीको नन्दि आम्नाय, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ और कुन्दकुन्दान्वयकी कहनेका यह तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता कि उसमें उल्लिखित आचार्य उस अन्वयमें कुन्दकुन्दके पञ्चात् हुए है, किंतु उसका अभिप्राय यही है कि लेखक, उक्त अन्वयका था और ये सब आचार्य उक्त अन्वयमें माने जाते थे। इस पट्टावलीमें जो अगविच्छेदका क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है वह अन्यत्रकी मान्यताके विरुद्ध जाती है। किंतु उससे अकस्मात् अंगलोपसवन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पाच आचार्योंका २२० वर्षका काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जचता है उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत-परम्पराके सवन्धमें हरिवंशपुराणके कर्त्तसि लगाकर श्रुतावतारके कर्त्ता इन्द्रनन्दितकके सब आचार्योंने धोखा खाया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावलीके कर्त्ताको थे। समयाभावके कारण इस समय हम इसकी और अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किंतु सावक बाधक प्रमाणोंका संग्रह करके इसका निर्णय किये जानेकी आवश्यकता है।

यदि यह पट्टावली ठीक प्रमाणित हो जाय तो हमारे आचार्योंका समय वीर निर्वाणके पश्चात् ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ और ६८३ वर्षके भीतर पड़ता है।

धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलिके समय पर प्रकाश डालनेवाला एक और प्रमाण है। प्रस्तुत ग्रन्थकी उत्थानिकामें कहा गया है कि जब धरसेनाचार्य के पत्रके उत्तरमें आन्ध्रदेशसे दो सावु, जो पीछे पुष्पदन्त और भूतवलि कहलाये, उनके पास पहुँचे तब धरसेनकृत धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षाके लिये उन्हें कुछ मन्त्रविद्याएँ सिद्ध करनेके लिये जोणिपाहुड दी। इससे धरसेनाचार्यकी मन्त्रविद्यामें कुशलता सिद्ध होती है। अनेकान्त भाग २ के गत १ जुलाई के अंक ९ में श्रीयुत् प जुगलकिशोरजी मुस्तारका लिखा हुआ योनिप्राभृत ग्रन्थका परिचय प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गायत्र्याओमें है, उसका विषय मन्त्र-तन्त्रवाद है, तथा वह १५५६ वि. सवत्में लिखी गई बृहद्विष्णुपण्डिका नामकी ग्रन्थ-सूचीके आधारपर से धरसेनद्वारा वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् बना हुआ माना गया है^१। इस ग्रन्थकी एक प्रति भाडारकर इस्टीट्यूट पूनामें है, जिसे देखकर प वेचरदासजीने जो नोट्स लिये थे उन्हीं परसे मुस्तारजीने उक्त परिचय लिखा है। इस प्रतिमें ग्रन्थका नाम तो योनिप्राभृत ही है किंतु उसके कर्त्ताका नाम पण्हसवण मुनि पाया जाता है। इन महामुनिने उसे कूष्माण्डिनी महादेवीसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतवलिके लिये लिखा था। इन दो नामोंके कथनसे इस ग्रन्थका धरसेनकृत होना बहुत संभव जचता है। प्रजाश्रमणत्व एक ऋद्धिका नाम है और उसके धारण करनेवाले मुनि

१ योनिप्राभृत वीरगत् ६०० धारमेनम् । (बृहद्विष्णुपण्डिका जै मा म १, २ (परिशिष्ट))

प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे' जोणिपाहुडकी इस प्रतिका लेखन-काल सवत् १५८२ है, अर्थात् वह चारसी वर्षसे भी अधिक प्राचीन है। 'जोणिपाहुड' नामक ग्रन्थका उल्लेख धवलामे भी आया है। जो इस प्रकार है—

‘जोणिपाहुडे भणिद-मत-तत-सत्तीओ पोगलाणुभागो त्ति घेतव्वो’

(धवला अ प्रति पत्र ११९८)

इससे स्पष्ट है कि योनिप्राभृत नामका मन्त्रशास्त्रसम्बन्धी कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ अवश्य है। उपर्युक्त अवस्थामे आचार्य धरसेननिर्मित योनिप्राभृत ग्रन्थके होनेमे अविश्वासका कोई कारण नहीं है। तथा बृहट्टिप्पणिकामे जो उसका रचनाकाल वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् सूचित किया है वह भी गलत सिद्ध नहीं होता। अभी अभी अनेकान्त (वर्ष २, किरण १२, पृ ६६६) में श्रीमान् प नाथूरामजी प्रेमीका 'योनिप्राभृत और प्रयोगमाला' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने प्रमाण देकर बतलाया है कि भंडारकर इस्टीमेटवाला 'योनिप्राभृत' और उसीके साथ गुथा हुआ 'जगत्सुदरी योगमाला' सम्भवतः हरिषेणकृत है, किंतु हरिषेणके समयमें एक और प्राचीन योनिप्राभृत विद्यमान था। बृहट्टिप्पणिकाकी प्रामाणिकताके विषयमें प्रेमजीने कहा है कि 'वह सूची एक ज्वेतावर विद्वान्ने प्रत्येक ग्रन्थ देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत ही प्रामाणिक समझी जाती है'। नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार धरसेनका काल वीर निर्वाणसे ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अतः अपने पट्टकालसे १४ वर्ष पूर्व उन्होंने यह ग्रन्थ रचा होगा। इस समीकरणसे प्राकृत पट्टावली और बृहट्टिप्पणिकाके सकेत, इन दोनोंकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि, ये दोनों एक दूसरेसे स्वतंत्र आधारपर लिखे हुए प्रतीत होते हैं।

१ धवलामे पण्हमणोको नमस्कार किया है और अन्य ऋद्धियोंके साथ प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धिका विवरण दिया है। यथा—

पणो पण्हमणण ॥ १८ ॥ औत्पत्तिकी वैयर्थिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति चतुर्विधा प्रज्ञा । एदेनु पण्हमणेषु केमि गहण । चटुण्ह पि गहण । प्रज्ञा एव श्रवण वेपा ते प्रज्ञाश्रवणा ।

धवला अ प्रति ६८४

जयधवलाकी प्रशस्तिमें कहा गया है कि वीरसेनके ज्ञानके प्रकाशको देखकर विद्वान् उन्हें श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमण कहते थे। यथा—

यमाहु प्रस्फुरद्धोघदीधितिप्रसरोदयम् ।

श्रुतकेवालेन प्राज्ञा प्रज्ञाश्रवणसत्तमम् ॥ २२ ॥

तिलोयपण्णत्ति गाथा ७० में कहा गया है कि प्रज्ञाश्रमणोंमें अन्तिम भुक्ति 'वज्रयश' नामके हुए। यथा—
पण्हमणेषु चरिमो बडरजसो णाम । (अनेकान्त, २, १२ पृ ६६८)

पट्खण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्यके सन्धसे भी पड़ता है । इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमे कहा है कि जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनो पुस्तकारूढ हो चुके

तब कोण्डकुन्दपुरमे पद्मनन्दि मुनिने, जिन्हे सिद्धान्तका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे कुन्दकुन्दकृत मिला था, उन छह खण्डोमेसे प्रथम तीन खण्डोपर परिकर्म नामक बारह हजार परिकर्म श्लोक प्रमाण टीका-ग्रन्थ रचा । पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और

श्रुतावतारमे कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख आनेसे इसमे सदेह नहीं रहता कि यहा उन्हीसे अभिप्राय है । यद्यपि प्रो. उपाध्ये कुन्दकुन्दके ऐसे किसी ग्रन्थकी रचनाकी बातको प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि, उन्हे धवला और जयधवलामे इसका कोई संकेत नहीं मिला । किन्तु कुन्दकुन्दके सिद्धान्त ग्रंथोपर टीका बनानेकी बात सर्वथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि जैसा कि हम अन्यत्र बता रहे हैं, परिकर्म नामक ग्रन्थके उल्लेख धवला और जयधवलामे अनेक जगह पाये जाते हैं ।

प्रो. उपाध्येने कुन्दकुन्दके लिये ईस्वीका प्रारम्भ काल, लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय, अनुमान किया है उससे भी पट्खण्डागमकी रचनाका समय उपरोक्त ठीक जचता है ।

धरसेनाचार्य गिरिनगरकी चन्द्रगुफामे रहते थे । यह स्थान काठियावाडके अन्तर्गत है । यह वार्डसवे तीर्थंकर नेमिनाथकी निर्वाणभूमि होनेसे जैनियोंके लिये बहुत प्राचीन कालसे अवतक महत्वपूर्ण है । मौर्य राजाओके समयसे लगाकर गुप्त काल अर्थात् ४ थी, ५ वी भौगोलिक गताव्दितक इसका भारी महत्व रहा जैसा कि यहापर एक ही चट्टान पर उल्लेख पाये गये अशोक मौर्य, रुद्रदामन और गुप्तवंशी स्कन्धगुप्तके समयके लेखोसे पाया जाता है ।

धरसेनाचार्यने ' महिमा ' मे सम्मिलित मघको पत्र भेजा था जिससे महिमा किसी नगर या स्थान का नाम ज्ञात होता है, जो कि आन्ध्र देशके अन्तर्गत वेणाक नदीके तीरपर था । वेण्या नामकी एक नदी बम्बई प्रान्तके सतारा जिलेमे है और उसी जिलेमे महिमानगढ़ नामका एक गाव भी है, जो हमारी महिमा नगरी हो सकता है । इससे अनुमानत यही सतारा जिलेमे वह जैन मुनियोका सम्मेलन हुआ था । यदि यह अनुमान ठीक हो तो मानना पडेगा कि सतारा जिलेका भाग उस समय आन्ध्र देशके अन्तर्गत था । आन्ध्रोका राज्य पुराणो और शिलादि लेखोपरसे ईस्वी पूर्व २३२ से ई. सन् २२५ तक पाया जाता है । इसके पश्चात् कमसे कम इस भागपर आन्ध्रोंका अधिकार नहीं रहा । अतएव इस देशको आन्ध्र विषयान्तर्गत लेना इसी समयके भीतर माना जा सकता है । गिरिनगरसे लौटते हुए पुष्पदत्त और भूतवल्लिने जिस अंकुलेश्वर स्थानमे वर्षाकाल व्यतीत किया था वह निस्सन्देह गुजरातमे भडोच जिलेका प्रसिद्ध नगर अकलेश्वर ही होना चाहिये । वहामे पुष्पदन्त जिम वनवास देशको गये वह उत्तर कर्नाटकका ही प्राचीन नाम है जो तुगभद्रा और वरदा नदियोंके बीच बसा हुआ है । प्राचीन कालमे यहा कदम्ब वंशका राज्य था । जहा इसकी राजधानी ' वनवासि ' थी वहा अब भी उस

नामका एक ग्राम विद्यमान है। तथा भूतवलि जिस द्रमिल देशको गये वह दक्षिण भारतका वह भाग है जो मद्राससे सेरिंगपट्टम और कामोरिन तक फैला हुआ है और जिसकी प्राचीन राजधानी काचीपुरी थी। प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना-सबन्धी इन भौगोलिक सीमाओंसे स्पष्ट जाना जाता है कि उस प्राचीन कालमें काठियावाड़से लगाकर देशके दक्षिणतम भाग तक जैन मुनियोंका प्रचुरतासे विहार होता था और उनके बीच पारस्परिक धार्मिक और साहित्यिक आदान-प्रदान मुचारूपसे चलता था। यह परिस्थिति विक्रमकी दूसरी शताब्दितक के समयका संकेत करती है।

६. वीर-निर्वाण-काल

पूर्वोक्त प्रकारसे षट्खंडागमकी रचनाका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् सातवीं शताब्दिके अन्तिम या आठवीं शताब्दिके प्रारम्भिक भागमें पड़ता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महावीर भगवानका निर्वाणकाल क्या है।

जैनियोंमें एक वीरनिर्वाण सवत् प्रचलित है जिसका इस समय २४६५ वा वर्ष चालू है। इसे लिखते समय मेरे सन्मुख 'जैनमित्र' का ता १४ सितम्बर १९३९ का अंक प्रस्तुत है जिसपर वीर स २४६५ भादो सुदी १, दिया हुआ है। यह सवत् वीरनिर्वाण दिवस अर्थात् पूर्णिमान्त मास-गणनाके अनुसार कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ के पश्चात् बदलता है। अतः आगामी नवम्बर ११ सन् १९३९ से निर्वाण सवत् २४६६ प्रारम्भ हो जायगा। इस समय विक्रम सवत् १९९६ प्रचलित है और यह चैत्र शुक्ल पक्षसे प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार निर्वाण सवत् और विक्रम सवत् में २४६६-१९९६ = ४७० वर्ष का अन्तर है। दोनों सवत्‌ोंके प्रारम्भ मासमें भेद होनेसे कुछ मासोंमें यह अन्तर ४६९ वर्ष आता है जैसा कि वर्तमान में। अतः इस मान्यताके अनुसार महावीरका निर्वाण विक्रम सवत्‌से कुछ मास कम ४७० वर्ष पूर्व हुआ।

किन्तु विक्रम सवत्‌के प्रारम्भके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण वीरनिर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ गड़बड़ी और मतभेद उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ, जो नन्दिसध की प्राकृत पट्टावली ऊपर उद्धृत की गई है उसमें वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ, ऐसा कहा गया है, और चूँकि ४७० वर्षका ही अन्तर प्रचलित निर्वाण सवत् और विक्रम सवत्‌में पया जाता है, इससे प्रतीत होता है कि विक्रम सवत् विक्रमके जन्मसे ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु मेरुतुगकृत स्थविरावली^१ तथागच्छ

१ विक्रम-रज्जारभा पुराणो सिरि-वीर-णिब्व भणिया । मुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्रम-कालाउ

पट्टावली,^१ जिनप्रभसूरिकृत पावापुरीकल्प,^२ प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित^३ आदि ग्रंथोमे उल्लेख हैं कि विक्रमसंवत् का प्रारम्भ विक्रम राजाके राज्यकालसे या उससे भी कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ ।

श्रीयुत वैरिस्टर काशीप्रसादजी जायसवालने इसी मतको मान देकर निश्चित किया कि चूकि जैन ग्रंथोमे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ कहा गया है और चूकि विक्रमका राज्यारम्भ उनकी १८ वर्षकी आयुमे होना पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका ठीक समय जाननेके लिये ४७० वर्षमे १८ वर्ष और जोड़ना चाहिये अर्थात् प्रचलित विक्रमसंवत्से ४८८ वर्षपूर्व महावीरका निर्वाण हुआ^४ ।

एक और तीसरा मत हेमचन्द्राचार्य के उल्लेखपरसे प्रारम्भ हो गया है । हेमचन्द्रने अपने परिशिष्टपर्वमे कहा है कि महावीरकी मुक्ति से १५५ वर्ष जाने पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ^५ । यहा उनका तात्पर्य स्पष्टतः चन्द्रगुप्त मौर्यसे है । और चूकि चन्द्रगुप्तसे लगाकर विक्रम-तक का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीरनिर्वाणका समय विक्रमसे $२५५ + १५५ = ४१०$ वर्षपूर्व ठहरा । इस मतके अनुसार ४७० मेसे ६० वर्ष घटा देनेसे ठीक विक्रमपूर्व वीरनिर्वाणकाल ठहरता है । पाश्चिमिक विद्वानों, जैसे डॉ याकोबी^६ डॉ. चार्लेटियर^७ आदिने इसी मत का प्रतिपादन किया है और इधर मुनि कल्याणविजयजीने^८ भी इसी मतकी पुष्टि की है ।

किन्तु दिगम्बरसम्प्रदायमे जो उल्लेख मिलते हैं वे इस उलझनको बहुत कुछ सुलझा देते हैं । इन उल्लेखोंके अनुसार शकसंवत्की उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे कुछ मास अधिक ६०५ वर्ष

१ तद्राज्य तु श्रीवीरात् सप्तति-वर्ष-शत-चतुष्टये ४७० सजातम् । (तपागच्छपट्टावली)

२ मह मुक्ख-गमणाओ पालय-नद-चदगुत्ताई-राईमु बोलीणेषु चउसयसत्तरेहि वासेहि विक्कमाइच्चो राया होही । (जिनप्रभसूरि-पावापुरीकल्प)

३ इत श्रीविक्रमादित्य शास्त्यवन्ती नराधिप । अनृणा पृथिवी कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम् ॥
(प्रभाचन्द्रसूरि-प्रभावकचरित)

४ Bihar and Orissa Research Society Journal, 1915.

५ एव च महावीरमुक्तेर्वर्षशते गते । पचपचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृप ॥ (परिशिष्ट-पर्व)

६ Sacred books of the East XXII.

७ Indian Antiquary XLIII.

८ ' वीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना, ' संवत् १९८७

पश्चात् हुई^१ तथा जो विक्रमसंवत् प्रचलित है और जिसका अन्तर वीरनिर्वाण कालसे ४७० वर्ष पड़ता है उसका प्रारम्भ विक्रमके जन्म या राज्यकालसे नहीं किन्तु विक्रमकी मृत्युसे हुआ था^२। ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन भी हैं। उससे पूर्व प्रचलित वीर और बुद्धके निर्वाणसंवत् मृत्युकालसेही सम्बद्ध पाये जाते हैं।

इन उल्लेखोंसे पूर्वोक्त उल्लेखन इस प्रकार सुलझती है। प्रथम शकसंवत् को लीजिये। यह वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष पश्चात् चला। प्रचलित विक्रम संवत् और शक संवत् में १३५ वर्ष का अन्तर पाया जाता है। अतः इस मतके अनुसार विक्रमसंवत् का प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ६०५ - १३५ = ४७० वर्ष पश्चात् हुआ। अब विक्रमसंवत् पर विचार कीजिये जो विक्रमकी मृत्युसे प्रारम्भ हुआ। मेरुतुगाचार्यने विक्रमका राज्यकाल ६० वर्ष कहा है^३, अतएव ४७० वर्षसे ये ६० वर्ष निकाल देनेसे विक्रम के राज्यका प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। इस प्रकार हेमचन्द्रके उल्लेखानुसार जो वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् विक्रमका राज्य प्रारम्भ माना गया है वह ठीक बैठ जाता है, किन्तु उसे विक्रमसंवत्का प्रारम्भ नहीं समझना चाहिये। जिन मतोंमें विक्रमके राज्यसे पूर्व या जन्मसे पूर्व ४७० वर्ष बतलाये गये हैं उनमें विक्रमके जन्म, राज्यकाल व मृत्युके समयसे संवत्-प्रारम्भके सम्बन्धमें लेखकोंकी भ्रान्ति ज्ञात

१ णिव्वाणे वीरजिणे छन्वास-सदेसु पचवरिसेसु । पणमासेसु गदेसु मजादो सगणिओ अहवा ॥
(तिलोयपण्णत्ति)

वर्षाणा पट्शतीं त्यक्त्वा पचाग्रा मामपचकम् । मुक्तिं गते महावीरे शक्रराजस्ततोऽभवत् ॥
(जिनमेन-हरिवंशपुराण)

पणछत्सयवस्म पणमासजुद गमिय वीरणिव्वुद्धो । मगराजो . ॥ ८५० ॥
(नेमिचन्द्र - त्रिलोकसार)

एसो वीरजिणिद-णिव्वाण-गद-दिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदी । तावदिय-कालो कुदो ६०५-५, एदम्मि काले सग-णरिद-कालम्मि पक्खित्ते वद्धमाणजिण-णिव्वुदि-कालागमणादो । वृत्त च—
पच य मासा पच य वासा छन्नेव होति वाससया । सगकालेण य सहिया भावेयव्वो तदो रासी ॥

२ छत्तीसे वरिस-सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो मेवडो सघो ॥ ११ ॥
पच-सए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । दक्खिण-महुरा-जादो दाविडसघो महामोहो ॥ २८ ॥
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । णदियडे वरगामे कट्ठो सघो मुणेयव्वो ॥ ३८ ॥
(देवसेन-दर्शनसार)

सपट्त्रिंशे शतेऽब्दाना मृते विक्रमराजनि । सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूतत्कथ्यते मया ॥
(वामदेव-भावसंग्रह)

समारुहे पूत-त्रिदशवर्षति विक्रमनृपे । सहस्रे वर्षाणा प्रभवति हि पचाशदधिके ।
समाप्त पचम्यामवति घरिणी मुजनुपती । सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥
(अमितगति-सुभाषितरत्नसदोह)

मृते विक्रम-भूपाले सप्तविंशति-सयुते । दशपचशतेऽब्दानामतीते श्रृणुतापरम् ॥ १५७ ॥
(रत्ननन्दि-भद्रबाहुचरित)

३ विक्रमस्य राज्य ६० वर्षाणि । (मेरुतुग-विचारश्रेणी, पृष्ठ ३, जै सा सगोधक २)

होती है। भ्रान्तिका एक दूसरा भी कारण हुआ है। हेमचन्द्रने वीरनिर्वाणसे नन्द राजातक ६० वर्षका अन्तर बतलाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य तक १५५ वर्षका। इस प्रकार नन्दोका राज्यकाल ९५ वर्ष पडता है। किंतु अन्य लेखकोने चन्द्रगुप्तके राज्यकाल तकके १५५ वर्षोंको नन्दवशका ही काल मान लिया है और उससे पूर्व ६० वर्षोंको नन्दकाल तक भी कायम रखा है। इस प्रकार जो ६० वर्ष बढ़ गये उसे उन्होंने अन्तमे विक्रमकालमे घटाकर जन्म या राज्य-कालसेही सवत्का प्रारम्भ मान लिया और इस प्रकार ४७० वर्षकी सख्या कायम रखी। इस मतका प्रतिपादन पं. जुगलकिशोरजी मुस्तारने किया है^१।

इस मतका बुद्धनिर्वाण व आचार्य-परम्पराकी गणना आदिसे कैसा सम्बन्ध बैठता है, यह पुनः विवादास्पद विषय है जिसका स्वतंत्रतासे विचार करना आवश्यक है। यहाँ पर तो प्रस्तुत प्रमाणों पर से यह मान लेनेमे आपत्ति नहीं कि वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमकी मृत्युके साथ प्रचलित विक्रम सवत् प्रारम्भ हुआ। अतः प्रस्तुत षट्खण्डागमका रचना काल विक्रम सवत् ६१४-४७०=१४४, शकसवत् ६१४-६०५=९ तथा ईस्वी सन् ६१४-५२७=८७ के पश्चात् पडता है।

७. षट्खण्डागमकी टीका धवलाके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलाके अन्तमे निम्न नौ गाथाएँ पाई जाती हैं जो इसके रचयिताकी प्रशस्ति हैं—

धवलाकी अन्तिम प्रशस्ति

जस्स सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धतमिद हि अहिलहुदी (अहिलहुद) ।
 महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥ १ ॥
 वदामि उसहसेण तिहुवण-जिय-वधवं सिव सत ।
 णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम-पणासिय दिट्ठ ॥ २ ॥
 अरहतपदो (अरहतो) भगवतो सिद्धा सिद्धा पसिद्ध आइरिया ।
 साहू साहू य महं पसियतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥
 अज्जज्जणदिसिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स चंदसेणस्स ।
 तह णत्तुवेण पच्चत्थुहण्यभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥
 सिद्धत-छद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ-णिवुणेण ।
 भट्टारएण टीका लिहिएसो वीरसेणेण ॥ ५ ॥
 अट्ठतीसमिह सासिय विक्कमरायमिह एसु सगरमो । (?)
 पासे सुतेरसीए भाव-विलग्गे धवल-पक्खे ॥ ६ ॥

जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुभम्हि राहुणा कोणे ।
 सूरे तुलाए सते गुरुम्हि कुलविल्लए होते ॥ ७ ॥
 चावम्हि वरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि णेमिचदम्मि ।
 कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
 वोद्दणराय-णरिदे णरिद-चूडामणिम्हि भुजते ।
 सिद्धतगथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता मा ॥ ९ ॥

दुर्भाग्यत इस प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुद्ध है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियोंके मिलानसे भी अभीतक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सके । तो भी इस प्रशस्तिसे टीकाकारके विषयमे हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं । पहली गाथासे स्पष्ट टीकाकार है कि इस टीकाके रचयिताका नाम वीरसेन है और उनके गुरुका नाम एलाचार्य । वीरसेनाचार्य फिर चौथी गाथामे वीरसेनके गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन कहा गया है । संभवतः एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे । इसी गाथामे उनकी गाथाका नाम भी पञ्चस्तूपान्वय दिया है । पाँचवी गाथामे कहा गया है कि इस टीकाके कर्ता वीरसेन सिद्धात, छद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रोमे निपुण थे और भट्टारकपदसे विभूषित थे । आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वी तककी गाथाओमे इस टीकाका नाम 'धवला' दिया गया है और उसके समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसम्बन्धी योगोके सहित दिया है और जगतुंगदेव के राज्यका भी उल्लेख किया है । अन्तिम अर्थात् ९ वी गाथामे पुन राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमे 'वोद्दणराय' पढ़ा जाता है । वे नरेन्द्रचूडामणि थे । उन्हीके राज्यमे सिद्धान्तग्रन्थके ऊपर गुरुके प्रसादसे लेखकने इस टीकाकी रचना की ।

द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्राभृतकी टीका 'जयधवला' का भी एक भाग इन्ही वीरसेनाचार्यका लिखा हुआ है । शेष भाग उनके शिष्य जिनसेनने पूरा किया था । उसकी प्रशस्तिमे भी वीरसेनके सम्बन्धमे प्रायः ये ही बातें कही गई हैं । चूँकि वह प्रशस्ति^१ उनके

- १ भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् । शासन वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ १७ ॥
 आसीदासीददासभभेव्यसत्त्वकुमुद्वतीम् । मुद्वती कर्तुमीशो य शशाक इव पुष्कल ॥ १८ ॥
 श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ । पारदृश्वधाधिविश्वाना साक्षादिव स केवली ॥ १९ ॥
 प्रीणितप्राणिसपत्तिराकातशिवगोचरा । भारती भारतीवाज्ञा पट्खण्डे यस्य नास्त्वलत् ॥ २० ॥
 यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञा दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् । जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिण ॥ २१ ॥
 य प्राहु प्रस्फुरद्बोधदीवितिप्रसरोदयम् । श्रुतकेवलिन प्राज्ञा प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥ २२ ॥
 प्रमिद्ध-सिद्धसिद्धान्तवाविवाचीतगुद्धधी । साद्धं प्रत्येकबुद्धैर्धैर्यं स्पधंते धीद्वबुद्धिभि ॥ २३ ॥
 पुस्तकाना चिरत्नाना गुरुत्वमिह कुर्वता । येनातिशयिता पूर्वं सर्वे पुस्तकशिष्यका ॥ २४ ॥
 यस्तप्तोद्दीप्तकिरणैर्भव्याभोजानि बोधयन् । व्यद्योतिष्ट मुनीनेन पञ्चस्तूपान्वयावरे ॥ २५ ॥
 प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य य शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् । कुल गण च सन्तान स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥ २६ ॥
 तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनमेनसमिद्धधी । (जयधवला-प्रशस्ति)

शिष्यद्वारा लिखी गई है अतएव उसमें उनकी कीर्ति विशेष रूपसे वर्णित पाई जाती है। वहाँ उन्हें साक्षात् केवलीके समान समस्त विश्वके पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी षट्खण्ड आगममें अस्खलित रूपसे प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मनीषीको शका नहीं रही थी। विद्वान् लोक उनकी ज्ञानरूपी किरणोंके प्रसारको देखकर उन्हें प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुद्धि प्रत्येकबुद्धोंसे भी स्पर्धा करते थे। उनके विषयमें एक मार्मिक बात यह कही गई है कि उन्होंने चिरतन कालकी पुस्तको (अर्थात् पुस्तकारूढ सिद्धान्तों) की खूब पुष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-पाठियोंसे बढ़ गये। इसमें सन्देह नहीं कि वीरसेनकी इस टीकाने इन आगम-सूत्रोंको चमका दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपुराणमें भी गुरु वीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदवीका उल्लेख किया है। उन्हें वादि-वृन्दारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता, कवित्वशक्ति और वाचस्पतिके समान वाग्मिताकी प्रशंसा की है, उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी 'धवला' भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है^१।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें वीरसेनद्वारा धवला और जयधवला टीका लिखे जानेका इस प्रकार वृत्तान्त दिया है। वप्पदेव गुरुद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंकी टीका लिखे जानेके कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्तोंके तत्त्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपुरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरुने समस्त सिद्धान्तका अध्ययन किया और ऊपरके निबन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरुकी अनुज्ञा पाकर वे वाटग्राममें आये और वहाँके आनतेन्द्रद्वारा वनवाये हुए जिनालयमें ठहरे। वहाँ उन्हें व्याख्याप्रज्ञप्ति (वप्पदेव गुरुकी बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छट्वा खण्ड सक्षेपसे तैयार किया और इस प्रकार छह खण्डोंकी ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोंकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरुने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इस प्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार हुई^२।

१ श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथ । म न पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनि ॥ ५५ ॥
लोकवित्त्व कवित्व च स्थित भट्टारके द्वयम् । वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धाना विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् । मन्मन सरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥
धवला भारती तस्य कीर्ति च शुचि-निर्मलाम् । धवलीकृतनि शेषभुवना ता नमाम्यहम् ॥ ५८ ॥
आदिपुराण-उत्थानिका

२ काले गते कियत्यपि तत् पुनश्चित्रकूटपुरवासी । श्रीमानेलाचार्यो वभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञ ॥ १७७ ॥
तस्य समीपे सकल सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरु । उपरितमनिबन्धनाद्यविकारानष्ट च लिलेख ॥ १७८ ॥
आगत्य चित्रकूटात्तत् स भगवान्गुरोरनुज्ञानात् । वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७९ ॥

वीरसेन स्वामीकी अन्य कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनका समस्त सज्ञान अवस्थाका जीवन निश्चयतः इन सिद्धान्त ग्रंथोंके अध्ययन, सकलन और टीका-लेखनमें ही बीता होगा। उनके कृतज्ञ शिष्य जिनसेनाचार्यने उन्हें जिन विघेपणों और पदवियोंसे अलंकृत किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धि, अपार पाण्डित्य, विगाल स्मृति और अनुपम व्यासग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर झलक रहे हैं। उनकी उपलभ्य रचना ७२ + २० = ९२ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोक-प्रमाण होनेसे सप्तराज्य सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्तिकी रचना नहीं है। वीरसेनकी रचना मात्रामें शतसाहस्री महाभारतसे थोड़ी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्तिके परिश्रमका फल है। धन्य है वीरसेन स्वामीकी अपार प्रज्ञा और अनुपम साहित्यिक परिश्रमको। उनके विषयमें भवभूति कविके वे शब्द याद आते हैं

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

वीरसेनाचार्यका समय निश्चित है। उनकी अपूर्णटीका जयधवलाको उनके शिष्य जिनसेनने शक स ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्षका राज्य था^१। मान्यखेटके राष्ट्रकूट नरेण अमोघवर्ष प्रथमके वीरसेनाचार्यका उल्लेख उनके समयके ताम्रपटोमें शक स. ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् रचनाकाल उनके राज्यके ५२ वी वर्ष तकके मिलते हैं^२। अतः जयधवला टीका अमोघवर्षके राज्यके २३ वी वर्ष में समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्टतः इससे कई वर्ष पूर्व धवला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गवासी हो चुके थे।

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वपट्खण्डतस्तस्तस्मिन् । उपरितमवन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पै ॥ १८० ॥

सत्कर्मनामधेय पण्ड खण्ड विवाय सक्षिप्य । इति पण्णा खण्डाना ग्रथसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥

प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रा टीका विलिख्य धवलाख्याम् । जयधवला च कपायप्राभृतके चतसृणा

विभक्तीनाम् ॥ १८२ ॥

विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया सयुता विरच्य दिवम् । यातस्तत पुनस्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन !)
गुरुनामा ॥ १८३ ॥

तच्छेष चत्वारिंशता सहस्रै समापितवान् । जयधवलैव पण्डिसहस्रग्रन्थोऽभवद्वीका ॥ १८४ ॥

१ इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी । वाटग्रामपुरे श्रीमद्गूजराचार्यानुपालिते ॥ ६ ॥

फाल्गुने मामि पूर्वाह्ने दशम्या शुक्लपक्षके । प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥

अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया । निष्ठिता प्रचय यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ ८ ॥

एकोनपण्डिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य । नमतीतेषु समाप्ता जयधवला

प्राभृतव्याख्या ॥ ९ ॥ — जयधवला प्रशस्ति

२. Altekar. The Rashtrakutas and their times, p. 71. Dr. Altekar, on page 87 of his book says 'His (Amoghavarsha's) latest known date is Phalguna S'uddha 10, S'aka 799 (1 e. March 878 A. D), when the Jayadhavala tika of Virasena was finished. This is a gross mistake. He has wrongly taken S'aka 759 to be saka 799.

धवला टीकाके अन्तकी जो प्रगस्ति स्वयं वीरसेनाचार्यकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छठवीं गाथामे उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किंतु दुर्भाग्यवत् हमारी उपलब्ध प्रतियोमे उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किंतु उसमे जगतुगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोमे जगतुग उपाधि अनेक राजाओकी पाई जाती है। इनमेसे प्रथम जगतुग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक सवत् ७१६ से ७३५ तकके मिले हैं^१। इन्हीके पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्यमे जयधवला टीका जिनसेन द्वारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवलाकी प्रगस्तिमे इन्ही गोविन्दराज जगतुगका उल्लेख होना चाहिये।

अब कुछ प्रशस्तिका उन शकास्पद गाथाओपर विचार कीजिये। गाथा न ६ में 'अट्टतीसम्हि' और 'विक्रमरायम्हि' सुस्पष्ट हैं। शताब्दीकी सूचनाके अभावमे अडतीसवा वर्ष हम जगतुगदेवके राज्यका ले सकते थे। किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ सवन्ध बैठता और न जगतुगका राज्य ही ३८ वर्ष रहा। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्ष के लगभग रहा था। अतएव इस ३८ वर्ष का सवन्ध विक्रमसेही होना चाहिये। गाथामे गतसूचक शब्द गडवडीमे है। किंतु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम सवत्के कहनेका है। किंतु विक्रम सवत्के अनुसार जगतुगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अतः उसके अनुसार ३८ के अंककी कुछ सार्थकता नहीं बैठती। यह भी कुछ साधारण नहीं जान पड़ता कि वीरसेनने यहां विक्रम सवत्का उल्लेख किया हो। उन्होंने जहां जहां वीर निर्वाणकी काल-गणना दी है वहां शक-कालका ही उल्लेख किया है। उनके गिप्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्रायः समस्त जैन लेखकोने शककालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामे आश्चर्य नहीं जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो। यदि हम उक्त सख्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दे और ७३८ शक सवत्के ले तो यह काल जगतुगके ज्ञात काल अर्थात् शक सवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब गाथामे विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक सवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं? पर खोज करनेसे जान पड़ता है कि अनेक जैन लेखकोने प्राचीन कालसे शक कालके साथ भी विक्रमका नाम जोड़ रक्खा है। अकलकचरितमे अकलकके बौद्धोके साथ शास्त्रार्थका समय इस प्रकार बतलाया है।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।

कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

यद्यपि इस विषयमे मतभेद है कि यहां लेखकका अभिप्राय विक्रम सवत् से है या शकसे, किंतु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शकका सवन्ध एक ही काल गणनासे जोड़ा गया

है^१। यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार। यह भी बात नहीं है कि अकेला ही इस प्रकारका उदाहरण हो। त्रिलोकसारकी गाथा न. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्य लिखते हैं—

‘श्रीवीरनाथनिवृत्ते सकाशात् पञ्चोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पञ्चमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाकशकराजो जायते। तत उपरि चतुर्णवत्युत्तरत्रिशत (३१४) वर्षाणि सप्तमासाधिकानि गत्वा पश्चात् कल्की जायते’।

यहां विक्रमाक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टतः शकसंवत्के सस्थापकसे है। उक्त अवतरणपर डॉ. पाठकने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटि-पूर्ण है। उन्होंने ऐसा समझकर यह कहा ज्ञात होता है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम संवत्से ही हो सकता है। किंतु ऐसा नहीं है। शक संवत्की सूचनामे ही लेखकने विक्रमका नाम जोड़ा है, और उसे शकराजकी उपाधि कहा है जो सर्वथा सभ्य है। शक और विक्रमके सन्वत्की कालगणनाके विषयमे जैन लेखकोमे कुछ भ्रम रहा है यह तो अवश्य है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमे जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् वतलाई गई है^२ उसमे यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि से ४६१ वा वर्ष विक्रमके राज्यमे पड़ता है और ६०५ वर्षसे शककाल प्रारभ होता है। ऐसी अवस्थामे प्रस्तुत गाथामे यदि ‘विक्रमरायम्हि’ से शकसंवत्की सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गाथाके शुद्ध पाठमे घबलाके समाप्त होनेका समय शक संवत् ७३८ निर्दिष्ट रहा है।

इस निर्णयमे एक कठिनाई उपस्थित होती है। शक संवत् ७३८ मे लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमे जगतुगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किंतु शक संवत् ७८८ के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमे राज्यके ५२ वे वर्षका उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ से प्रारभ हो गया था। तब फिर शक ७३८ मे जगतुगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गाथा न ७ मे ‘जगतुगदेवरज्जे’ के अनन्तर आये हुए ‘रियम्हि’ शब्दपर जाती है जिसका अर्थ होता है ‘ऋते’ या ‘रिक्ते’। सभवतः उसीसे कुछ पूर्व जगतुगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा नं ९ मे जो बोद्धराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। बोद्धराय सभवतः अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या वह बड्डिगकाही रूप हो और बड्डिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम बड्डिग या बड्डिगका तो उल्लेख मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन

1 Inscriptions at Sravana Belgola, Intro p. 84 and न्याय कु च.

भूमिका पृ १०३

२ वीरजिण सिद्धिगदे चउ-सद-इगसट्ठि वास-परिमाणे । कालम्मि अदिवक्कते उप्पण्णो एत्थ

सगराओ ॥८६॥

णिग्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पच-वरिसेसु । पण-मासेसु गदेसु सजादो सगणिओ अहवा ॥८९॥

तिलोयपण्णत्ति

स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक सवत् ७३८ मे समाप्त की जब जगतगुदेवका राज्य पूरा हो चुका था और वोद्दणराय (अमोघवर्ष) राजगद्दीपर बैठ चुके थे । ' जगतगुदेवरज्जे ' और ' वोद्दणरायणरिदे णरिदच्चूडामणिम्हि भुंजते ' पाठोपर ध्यान देनेसे यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है ।

अमोघवर्षके राज्यके प्रारम्भिक इतिहासको देखनेसे जान पड़ता है कि सभवत गोविन्दराजने अपने जीवनकालमे ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्षको राजतिलक कर दिया था और उनके सरक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभारसे मुक्त होकर, आश्चर्य नहीं, धर्मध्यान करने लगे हो । नवसारीके शक ७३८ के ताम्रपटोमे अमोघवर्षके राज्यमे किसी प्रकारकी गडबडीकी सूचना नहीं है, किन्तु सूरतसे मिले हुए शक सवत् ७४३ के ताम्रपटोमे एक विप्लवके समनके पश्चात् अमोघवर्षके पुन राज्यारोहणका उल्लेख है । इस विप्लवका वृत्तान्त वडीदासे मिले हुए शक सवत् ७५७ के ताम्रपटोमेभी पाया जाता है । अनुमान होता है कि गोविन्दराजके जीवनकालमे तो कुछ गडबडी नहीं हुई किन्तु उनकी मृत्युके पश्चात् राज्यसिंहासनके लिये विप्लव मचा जो शक सवत् ७४३ के पूर्व समन हो गया^१ । अतएव शक ७३८ मे जगतगु (गोविन्दराज) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारूढ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पड़ता है ।

यदि यह कालसन्धी निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेनस्वामीके कुल रचनाकाल व धवलाके प्रारम्भकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । धवला टीका ७३८ शकमे समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात् ७५९ शक मे । तात्पर्य यह कि कोई २० वर्ष मे जयधवलाके ६० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्षमे ३ हजार आती है । इस अनुमानसे धवलाके ७२ हजार श्लोक रचनेमे २४ वर्ष लगना चाहिये । अत उसकी रचना ७३८ - २४ = ७१४ शकमे प्रारम्भ हुई होगी, और चूकि जयधवलाके २० हजार श्लोक रचे जानेके पश्चात् वीरसेन स्वामीकी मृत्यु हुई और उतने श्लोकोकी रचनामे लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अत वीरसेनस्वामीके स्वर्गवासका समय ७३८ + ७ = ७४५ शकके लगभग आता है । तथा उनका कुल रचना-काल शक ७१४ से ७४५ अर्थात् ३१ वर्ष पड़ता है^२ ।

१ Altekar . The Rashtrakutas and their times p 71 ft

२ आजसे कोई ३० वर्ष पूर्व विद्वद्भर प नाथरामजी प्रेमीने अपनी विद्वद्भरत्नमाला नामक लेखमालामे वीरसेनके शिष्य जिनसेन स्वामीका पूरा परिचय देते हुए बहुत सयुक्तिक रूपमे जिनसेनका जन्मकाल शक सवत् ६७५ अनुमान किया था और कहा था कि उनके गुरुका जन्म उनमे ' अधिक नहीं तो १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा ' । इससे वीरसेनस्वामीका जीवनकाल शक ६६५ से ७४५ तक अर्थात् ८० वर्ष पड़ता है । ठीक यही अनुमान अन्य प्रकारसे सख्या जोडकर प्रेमीजीने किया था और लिखा था कि ' जिनसेन-स्वामीके गुरु वीरसेनस्वामीकी अवस्था भी ८० वर्षसे कम न हुई होगी ऐसा जान पड़ता है । विद्वद्भरत्नमाला पृ. २५ आदि, व पृ ३६ इन हमारे कविश्रेष्ठोंके पूर्ण परिचयके लिये पाठकोको प्रेमीजीका वह ८९ पृष्ठोंका पूरा लेख पढ़ना चाहिये ।

अब हम प्रगस्तिमे दी हुई ग्रह-स्थितिपर भी विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला रागिमे बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, कार्तिक मासमे सूर्य तुलामे ही रहता है। चन्द्रकी स्थितिका द्योतक पद अगुद्ध है। शुक्लपक्ष होनेसे चन्द्र सूर्यसे सात रागिके भीतर ही होना चाहिये और कार्तिक मासकी त्रयोदशीको चन्द्र मीन या मेष रागिमे ही हो सकता है। अतएव 'जेमिचदम्मि' की जगह शुद्ध पाठ 'मीणे चंदम्मि' प्रतीत होता है जिससे चन्द्रकी स्थिति मीन रागिमे पडती है। लिपिकारके प्रमादसे लेखनमे वर्णव्यत्यय हो गया जान पडता है। शुक्रकी स्थिति सिंह रागिमे बताई है जो तुलाके सूर्यके साथ ठीक बैठती है।

संवत्सरके निर्णयमे नौ ग्रहोमेसे केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति सहायक हो सकती है। इनमेसे शनिका नाम तो प्रगस्तिमे कही दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु और गुरुके नामोल्लेख स्पष्ट है किन्तु पाठ-भ्रमके कारण उनकी स्थितिका निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं होता। अतएव इन ग्रहोकी वर्तमान स्थितिपरसे प्रगस्तिके उल्लेखोका निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक १८६१, आश्विन शुक्ला ५, मंगलवार है, और इस समय गुरु मीनमे, राहु तुलामे तथा शनि मेषमे है। गुरुकी एक परिक्रमा वारह वर्षमे होती है, अतः शक ७३८ मे १८६१ अर्थात् ११२३ वर्षमे उसकी ९३ परिक्रमाएँ पूरी हुई और शेष सात वर्षमे सात रागियाँ आगे बढ़ी। इस प्रकार शक ७३८ में गुरुकी स्थिति कन्या या तुला रागिमे होना चाहिये। अब प्रगस्तिमे गुरुको हम सूर्यके साथ तुला राशिमे ले सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमे पूरी होती है। अतः गत ११२३ वर्षमे उसकी ६२ परिक्रमाएँ पूरी हुई और शेष सात वर्षमे वह लगभग पाँच राशि आगे बढ़ा। राहुकी गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ मे राहुकी स्थिति तुलासे पाँचवी राशि अर्थात् कुम्भमे होना चाहिये। अतएव प्रगस्तिमे हम राहुका सम्बन्ध कुम्भम्हि से लगा सकते हैं। राहु यहा तृतीयान्त पद क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमे पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमे उसकी ३७ परिक्रमाएँ पूरी हुई और शेष १३ वर्षमे वह कोई पाँच राशि आगे बढ़ा। अतः शक ७३८ मे शनि धनु राशिमे होना चाहिये। जब धवलाकारने इतने ग्रहोकी स्थितियाँ दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहको भूल जाय यह संभव न जान हमारी दृष्टि प्रगस्तिके चापम्हि वरणिबुत्ते पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरणिबुत्ते से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर साथ ही यह ध्यानमे आते देर न लगी कि संभवतः शुद्ध पाठ तरणिबुत्ते (तरणिपुत्रे) है। तरणि सूर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रगस्तिमे शनिका भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहोकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए धवलाके समाप्तिकाल शक संवत् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोका इन्ही रागियोमे योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ मेही पाया जाता है, और ये कोईभी संवत् धवलाके रचनाकालके लिये उपयुक्त नहीं हो सकते।

अब ग्रहोमेसे केवल तीन अर्थात् केतु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रगस्तिमे हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। केतुकी स्थिति सदैव राहुसे सप्तम राशिपर रहती है, अतः राहुकी स्थिति बता देने पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशिमे था। प्रगस्तिके गेप गन्दोपर विचार करनेसे हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है। प्रगस्तिमे 'कोणे' शब्द आया है। कोण शब्द कोषके अनुसार मंगलका भी पर्यायवाची है^१। जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, कुडली-चक्रमे मंगलकी स्थिति कोनेमे आती है, इसीसे सभवतः मंगलका यह पर्याय कुशल कविको यहां उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतः मंगलकी स्थिति राहुके साथ कुम्भ राशिमे थी। राहु पदकी तृतीया विभक्ति इसी साथको व्यक्त करनेके लिये रखी गई जान पड़ती है। अब केवल 'भावविलग्ने' और 'कुलविल्लए' शब्द प्रगस्तिमे ऐसे वचन रहै हैं जिनका अभीतक उपयोग नहीं हुआ। कुल का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है,^२ और बुध सूर्यकी आजू बाजूकी राशियोंसे बाहर नहीं जा सकता। जान पड़ता है यहां कुलविल्लए का अर्थ 'कुलविलये' है। अर्थात् बुधकी सूर्यकी ही राशिमे स्थिति होनेसे उसका विलय था। गायामे मात्रापूर्तिके लिये विलए का विल्लए कर दिया प्रतीत होता है।

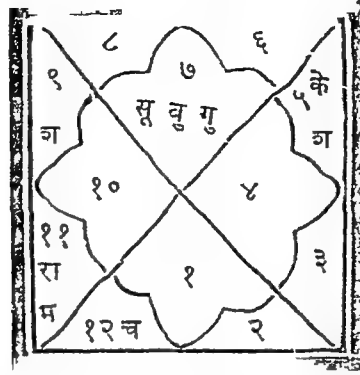
जब तक लग्नका समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुडली पूरी नहीं कही जा सकती। इस कमी की पूर्ति 'भावविलग्ने' पद से होती है। 'भावविलग्ने' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता। पर यदि हम उसकी जगह 'भाणुविलग्ने' पाठ ले ले तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नकी राशिमे था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अन्यत्र तुला वतला दी है, अतः ज्ञात हुआ कि धवला टीका को वीरसेन स्वामीने प्रातःकालके समय पूरी की थी जब तुला राशिके साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे।

इस विवेचनद्वारा उक्त प्रगस्तिके समयसूचक पद्योका पूरा सशोधन हो जाता है, और उससे धवलाकी समाप्तिका काल निर्विवाद रूपसे शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का प्रातःकाल, सिद्ध हो जाता है। उससे वीरसेन स्वामीके सूक्ष्म ज्योतिष-ज्ञानका भी पता चल जाता है।

अब हम उन तीन पद्योको शुद्धतासे इस प्रकार पढ़ सकते हैं—

अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायकिए सु-सगणामे ।
 वासे सुतेरसीए भाणु-विलग्ने धवल-पक्खे ॥ ६ ॥
 जगतुगदेव-रज्जे रियम्हि कुम्भगिह राहुणा कोणे ।
 सूरें तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होते ॥ ७ ॥
 चावम्हि तरणि-वुत्ते सिधे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि ।
 कत्तिय-मासे एसा टीका ह्व समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

इस पर से धवला की जन्मकुडली निम्नप्रकारसे खींची जा सकती है—



वीरसेनस्वामीने अपनी टीकाका नाम धवला क्यों रक्खा यह कही बतलाया गया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धवलका शब्दार्थ शुक्लके अतिरिक्त गुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है।

संभव है अपनी टीकाके इसी प्रसाद गुणको व्यक्त करनेके लिये उन्होंने यह धवला नामकी नाम चुना हो। ऊपर दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात है कि यह टीका कार्तिक मासके सार्थकता धवल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी। अतएव संभव है इसी निमित्तसे रचयिताको यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो। ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका बह्मिग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यके प्रारम्भकालमें समाप्त हुई थी। अमोघवर्षकी अनेक उपाधियोंमें एक उपाधि 'अतिशय-धवल' भी मिलती है^१। उनकी इस उपाधिकी सार्थकता या तो उनके गरीरके अत्यन्त गौरवर्णमें हो या उनकी अत्यन्त गुद्ध सात्त्विक प्रकृतिमें। अमोघवर्ष बड़े धार्मिक बुद्धिवाले थे। उन्होंने अपने वृद्धत्वकालमें राज्यपाट छोड़कर वैराग्य धारण किया था और 'प्रज्ञोत्तररत्नमालिका' नामक सुन्दर काव्य लिखा था। बाल्यकालसे ही उनकी यह धार्मिक बुद्धि प्रकट हुई होगी। अतः संभव है उनकी यह 'अतिशय धवल' उपाधि भी धवलके नामकरणमें एक निमित्तकारण हुआ हो।

८. धवलासे पूर्वके टीकाकार

ऊपर कह आये हैं कि जयधवलाकी प्रशस्तिके अनुसार वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाद्वारा सिद्धान्त ग्रन्थकी बहुत पुष्टि की, जिससे वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तकशिष्यकोसे बढ गये^२। इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वीरसेनसे भी पूर्व इस सिद्धान्त ग्रन्थकी अन्य टीकाएँ लिखी गई थीं? इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंपर लिखी गई अनेक टीकाओंका उल्लेख किया है जिसके आधारसे षट्खण्डागमकी धवलासे पूर्व रची गई टीकाओंका यहाँ परिचय दिया जाता है।

^१ रेऊ भारतके प्राचीन राजवंश, ३, पृ. ४०

^२ पुस्तकाना चिरवाना गुस्त्वमिह कुर्वता। येनातिशयिता पूर्वं सर्वे पुस्तकशिष्यका ॥२४॥

कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तोका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोपर बारह हजार श्लोक प्रमाण एक टीका ग्रन्थ रचा जिसका 'परिकर्म' और नाम परिकर्म था^३ । हम ऊपर बतला आये हैं कि इन्द्रनन्दिका कुन्दकुन्दपुरके उसके रचयिता पद्मनन्दिसे हमारे उन्ही प्रात स्मरणीय कुन्दकुन्दाचार्य का ही अभिप्राय हो सकती कुन्दकुन्द है जो दिगम्बर जैन संप्रदायमे सबसे बड़े आचार्य गिने गये हैं और जिनके प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रंथ जैन सिद्धान्तके सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं । दुर्भाग्यत उनकी बनायी यह टीका प्राप्य नहीं है और न किन्हीं अन्य लेखकोने उसके कोई उल्लेखादि दिये । किंतु स्वयं धवला टीकामे परिकर्म नामके ग्रन्थका अनेकवार उल्लेख आया है । धवलाकारने कही 'परिकर्म' से उद्धृत किया है,^४ कही कहा है कि यह बात 'परिकर्म' के कथनपरसे जानी जाती है^५ और कही अपने कथनका परिकर्मके कथनसे विरोध आनेकी शका उठाकर उसका समाधान किया है^६ । एक स्थानपर उन्होंने परिकर्मके कथनके विरुद्ध अपने कथनकी पुष्टि भी की है और कहा है कि उन्हींके व्याख्यानको ग्रहण करना चाहिए, परिकर्मके व्याख्यानको नहीं, क्योंकि, वह व्याख्यान मूत्रके विरुद्ध जाता है^७ । इससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि 'परिकर्म' इसी षट्खण्डागमकी टीका थी । इसकी पुष्टि एक और उल्लेखसे होती है जहा ऐसा ही विरोध उत्पन्न होनेपर कहा है कि यह कथन उस प्रकार नहीं है, क्योंकि, स्वयं 'परिकर्मकी' प्रवृत्ति इसी मूत्रके बलमे हुई है^८ । इन उल्लेखोंसे इस बातमे कोई सन्देह नहीं रहता कि 'परिकर्म' नामका ग्रंथ था, उसमे इसी आगमका व्याख्यान था और वह ग्रंथ वीरसेनाचार्यके सन्मुख विद्यमान था । एक उल्लेखद्वारा धवलाकारने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'परिकर्म' ग्रंथको सभी आचार्य प्रमाण मानते थे^९ ।

उक्त उल्लेखोंमेसे प्रायः सभीका सम्बन्ध षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंके विषयसे ही है जिससे इन्द्रनन्दिके इस कथनकी पुष्टि होती है कि वह ग्रंथ प्रथम तीन खण्डोपर ही लिखा गया था । उक्त उल्लेखोंपरसे 'परिकर्म' कर्ताके नामादिकका कुछ पता नहीं लगता । किंतु

१ एव द्विविवो द्रव्यभावपुस्तकगत सभागच्छन् । गुरुपरिपाट्या ज्ञात सिद्धान्त कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६०॥

श्रीपद्मनन्दिमुनिना मोऽपि द्वादशमहत्परिमाणे । ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥

इन्द्र श्रुतावतार

३ 'त्ति परियम्मे वुत्त' (धवला अ १४१) ५ 'ण च परियम्मेण सह विरोहो (धवला अ २०३)

'परियम्ममि वुत्त' (" " ६७८) परियम्मवयणेण सह एद सुत्त

४ 'परियम्मवयणादो णव्वदे' (" " १६७) विरुज्झदि त्ति ण (" " ३०४)

'इदि परियम्मवयणादो' (" " २०३)

६ परियम्मेण एद वक्खाण किण्ण विरुज्झदे ? एदेण सह विरुज्झदे, किंतु सुत्तेण सह ण विरुज्झदे ।

तेण एदस्स वक्खाणन्स गहण कायव्व, ण परियम्मस्स तस्म सुत्तविरुज्झत्तादो । (धवला अ २५९)

७ परियम्मादो असखेज्जाओ जोयणकोडीओ मेढीए पमाणमवगदमिदि चे ण, एदस्म मुत्तस्म वलेण

'परियम्मपवुत्तीदो' (धवला अ पृ १८६)

८ 'सयलाडरियसम्मदपरियम्मसिद्धत्तादो' । (धवला अ पृ ५४२)

ऐसी भी कोई बात उनमें नहीं है कि जिससे वह ग्रन्थ कुन्दकुन्दकृत न कहा जा सके । धवलाकाराने कुन्दकुन्दके अन्य सुविख्यात ग्रन्थोंका भी कर्ताका नाम दिये बिना ही उल्लेख किया है । यथा, वृत्त च पचत्थिपाहुडे (धवला अ. पृ २८९)

इन्द्रनन्दिने जो इस टीकाको सर्व प्रथम बतलाया है और धवलाकाराने उसे सर्व-आचार्य-सम्मत कहा है, तथा उसका स्थान स्थानपर उल्लेख किया है, इसमें इस ग्रन्थके कुन्दकुन्दाचार्यकृत माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखती । यद्यपि इन्द्रनन्दिने यह नहीं कहा है कि यह ग्रन्थ किस भाषामें लिखा गया था, किन्तु उसके जो 'अवतरण' धवलामें आये हैं वे सब प्राकृतमें ही हैं, जिससे जान पड़ता है कि वह टीका प्राकृतमें ही लिखी गई होगी । कुन्दकुन्दके अन्य सब ग्रन्थ भी प्राकृतमें ही हैं ।

धवलामें परिकर्मका एक उल्लेख इस प्रकारसे आया है—

“ ‘अपदेस णेव इदि ए गेज्ज’ इदि परमाणूण णिरवयवत्त परियम्मे वुत्तमिदि ” (ध १११०)

इसका कुन्दकुन्दके नियमसारकी इस गाथासे मिलान कीजिये—

अत्तादि अत्तमज्झ अत्तत्त णेव इदि ए गेज्ज ।

अविभागी ज दव्व परमाणू त विआणाहि ॥ २६ ॥

इन दोनों अवतरणोंके मिलानसे स्पष्ट है कि धवलामें आया हुआ उल्लेख नियमसारसे भिन्न है, फिर भी दोनोंकी रचनामें एक ही हाथ सुस्पष्टरूपसे दिखाई देता है । इन सब प्रमाणोंसे कुन्दकुन्दकृत परिकर्म के अस्तित्वमें बहुत कम सन्देह रह जाता है ।

धवलाकाराने एक स्थानपर 'परिकर्म' का सूत्र कह कर उल्लेख किया है । यथा—
'रूवाहियाणि त्ति परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झइ' (धवला अ पृ १४३) । बहुधा वृत्तिरूप जो व्याख्या होती है उसे सूत्र भी कहते हैं । जयधवलामें यतिवृषभाचार्यको 'कषायप्राभृत' का 'वृत्तिसूत्रकर्ता' कहा है । यथा—

‘सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वर देऊ’ (जयध० मंगलाचरण गा ८)

इससे जान पड़ता है कि परिकर्म नामक व्याख्यान वृत्तिरूप था । इन्द्रनन्दिने परिकर्मको ग्रन्थ कहा है । वैजयन्ती कोषके अनुसार ग्रन्थ वृत्तिका एक पर्याय-वाचक नाम है । यथा—
'वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयो' (वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें सूत्रोंका ही विवरण हो, शब्द रचना सक्षिप्त हो और फिर भी सूत्रके समस्त अर्थोंका जिसमें संग्रह हो ।) यथा—

‘सुत्तस्सेव विवरणाए सखित्त-सद्-रयणाए सगहिय-सुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्त-ववएसादो ।
(जयध० अ ५२)

इन्द्रनन्दिने दूसरी जिस टीकाका उल्लेख किया है, वह शामकुंड नामक आचार्य-कृत थी । यह टीका छठवे खण्डको छोड़कर प्रथम पाच खण्डोंपर तथा दूसरे २ शामकुंडकृत पद्धति सिद्धान्तग्रन्थ (कषायप्राभृत) पर भी थी । यह टीका पद्धति रूप थी । (वृत्तिसूत्रके विषय-पदोंका भजन अर्थात् विश्लेषणात्मक विवरणको पद्धति कहते हैं ।) यथा—

वित्तिनुत्त-विसम-ययाभजिए विवरणाए पड्डइ-ववएसादो (जयध पृ ५२)

इससे स्पष्ट है कि गामकुडके सन्मुख कोई वृत्तिसूत्र रहे हैं जिनकी उन्होंने पद्धति लिखी। हम ऊपर कह ही आये हैं कि कुन्दकुन्दकृत परिकर्म सभवतः वृत्तिरूप ग्रन्थ था। अतः गामकुडने उसी वृत्तिपर और उधर कपायप्राभृतकी यतिवृषभाचार्यकृत वृत्तिपर अपनी पद्धति लिखी।

इस समस्त टीकाका परिमाण भी बारह हजार श्लोक था और उसकी भाषा प्राकृत संस्कृत और कनाडी तीनों मिश्रित थी। यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गई थी^१। इस टीकाके कोई उल्लेख आदि धवला व जयधवलामे अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

इन्द्रनन्दिद्वारा उल्लेखित तीसरी सिद्धान्तटीका तुम्बुलूर नामके आचार्यद्वारा लिखी गई। ये आचार्य 'तुम्बुलूर' नामके एक मुन्दर ग्राममें रहते थे, इसीसे वे तुम्बुलूराचार्य कहलाये, जैसे कुण्डकुन्दपुरमें रहनेके कारण पद्मनन्दि आचार्यकी कुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्धि^३ चूडामणिफर्ता हुई। इनका असली नाम क्या था यह ज्ञात नहीं होता। इन्होंने छठवे खण्डको तुम्बुलूराचार्य छोड़ गेप दोनों सिद्धान्तोंपर एक बड़ी भारी व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'चूडामणि' था और परिमाण चौरासी हजार। इस महती व्याख्याकी भाषा कनाडी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने छठवे खण्डपर सात हजार प्रमाण 'पञ्चिका' लिखी। इस प्रकार इनकी कुल रचनाका प्रमाण ९१ हजार श्लोक हो जाता है। इन रचनाओंका भी कोई उल्लेख धवला व जयधवलामे हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु महाधवलका जो परिचय 'धवलादिसिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रगस्तिसंग्रह' में दिया गया है उसमें पञ्चिकारूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है^२। यथा—

वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरण सुमहत्तय ॥ पुणो तेहितो सेसट्टारसणि-
योगद्वाराणि संतकम्मे सत्त्वाणि परुविदाणि । तो वि तस्सइगभिरत्तादो अत्यविसमपदाणमत्थे
थोरुद्वयेण पंचिय-सरूवेण भणिस्सामो ।

जान पडता है यही तुम्बुलूराचार्यकृत पष्ठम खण्डकी वह पञ्चिका है जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि चूडामणि व्याख्याकी भाषा कनाडी थी, किन्तु इस पञ्चिकाको उन्होंने प्राकृतमें रचा था।

भट्टकलंकदेवने अपने कर्णाटक शब्दानुशासनमें कनाडी भाषामें रचित 'चूडामणि' नामक तत्त्वार्थमहागास्त्र व्याख्यानका उल्लेख किया है। यद्यपि वहां इसका प्रमाण ९६ हजार

१ काले तत कियत्यपि गते पुन शमकुण्डमजेन । आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागम कात्स्न्यात् ॥ १६२
द्वादशगुणितसहस्र ग्रन्थ सिद्धान्तयोग्भयो । पठेन विना खण्डेन पृथुमहावन्वमजेन ॥ १६३ ॥

प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धति परा रचिता ॥ इन्द्र श्रुतावतार

२ वीरवाणीविलास जैनसिद्धान्तभवनका प्रथम वार्षिक रिपोर्ट, १९३५

वतलाया है जो इन्द्रनन्दिके कथनसे अधिक है, तथापि उसका तात्पर्य इसी तुम्बुलूराचार्यकृत 'चूडामणि' से है ऐसा जान पड़ता है^१। इनके रचना-कालके विषयमे इन्द्रनन्दिने इतनाही कहा है कि गामकुडसे कितने ही काल पञ्चात् तुम्बुलूराचार्य हुए^२।

तुम्बुलूराचार्यके पञ्चात् कालान्तरमे समन्तभद्र स्वामी हुए, जिन्हे इन्द्रनन्दिने 'तार्किकार्क' कहा है। उन्होने दोनो सिद्धान्तोका अध्ययन करके षट्खण्डागमके पाच खंडोपर ४८ हजार ४ समन्तभद्र- ग्लोकप्रमाण टीका रची। इस टीकाकी भाषा अत्यंत सुंदर और मृदुल स्वामीकृत टीका संस्कृत थी^३।

यहां इन्द्रनन्दिका अभिप्राय निम्नवत् आप्तमीमासादि सुप्रसिद्ध ग्रन्थोके रचयितासे ही है, जिन्हे अष्टसहस्रीके टिप्पणकारने भी 'तार्किकार्क' कहा है। यथा—

तदेवं महाभागैस्तार्किकार्करूपज्ञाता आप्तमीमांसाम् ...
(अष्टस पृ १ टिप्पण)

धवला टीकामे समन्तभद्रस्वामीके नामसहित दो अवतरण हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। इनमेसे प्रथम पत्र ४९४ पर है। यथा—

'तथा समंतभद्रसामिना वि उक्त, विधिर्विषयप्रतिषेधरूप . इत्यादि'
यह ग्लोक बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रका है। दूसरा अवतरण पत्र ७०० पर है। यथा—

'तथा समंतभद्रस्वामिनाप्युक्त, स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यजको नय.।'
यह आप्तमीमासाके ग्लोक १०६ का पूर्वार्ध है। और भी कुछ अवतरण केवल 'उक्त च' रूपसे आये हैं जो बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रादि ग्रन्थोमे मिलते हैं। पर हमें ऐसा कहीं कुछ अभी तक नहीं मिल सका जिससे उक्त टीकाका पता चलता। श्रुतावतारके 'असन्ध्या पलरि' पाठमे संभवतः आचार्यके निवासस्थानका उल्लेख है, किन्तु पाठ अशुद्धसा होनेके कारण ठीक ज्ञात नहीं होता^४।

१ न चैषा (कर्णाटकी) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य पण्णवतिनहन्-
ग्रथसदर्थरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषा च शब्दागम-युक्त्यागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य-
नाटक कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रन्थानामपि भाषाकृतानामुपलब्धमानत्वात्। (समन्तभद्र पृ २१८)

२ तस्मादारात्पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च।

अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे। पण्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोर्भूयो ॥१६५॥
चतुरधिकशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्। कर्णाटभाषयाऽकृतं महती चूडामणि व्याख्याम् ॥१६६॥
सप्तसहस्रग्रन्था पण्ठस्य च पचिका पुनरकार्षीत्। इन्द्र श्रुतावतार

३ कालान्तरे तत पुनरामध्या पलरि (?) तार्किकार्कोभूत् ॥ १६७ ॥

श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यवीत्य त द्विविधम्।

सिद्धान्तमत. षट्खण्डागमगतषडपञ्चकस्य पुन ॥ १६८ ॥

अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम्।

विरचितवानितिमुन्दरमृदुमस्कृतभाषया टीकाम् ॥ १६९ ॥ इन्द्र श्रुतावतार

४ देखो, प जुगलकिशोर मुस्तारकृत समन्तभद्र पृ २१२

जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमे समन्तभद्रनिर्मित 'जीवसिद्धि' का उल्लेख आया है^१, किंतु यह ग्रंथ अभी तक मिला नहीं है। कहीं यह समन्तभद्रकृत 'जीववृण' की टीकाका ही तो उल्लेख न हो? समन्तभद्रकृत गंधहस्तिमहाभाष्यके भी उल्लेख मिलते हैं, जिनमे उसे तत्त्वार्थ या तत्त्वार्थसूत्रका व्याख्यान कहा है^२। इस परसे माना जाता है कि समन्तभद्रने यह भाष्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसुत्रपर लिखा होगा। किंतु यह संभव है कि उन उल्लेखोका अभिप्राय समन्तभद्रकृत इन्हीं सिद्धान्तग्रंथोकी टीकासे हो। इन ग्रंथोकी भी 'तत्त्वार्थमहाशास्त्र' नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बलूराचार्यकृत इन्हीं ग्रंथोकी 'चूडामणि' टीकाको अकलकदेवने तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान कहा है।

इन्द्रनन्दिने कहा है कि समन्तभद्र स्वामी द्वितीय सिद्धान्तकी भी टीका लिखनेवाले थे, किन्तु उनके एक सहधर्मीने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया। उनके ऐसा करनेका कारण द्रव्यादि-शुद्धि-करण-प्रयत्नका अभाव बतलाया गया है^३। संभव है कि यहाँ समन्तभद्रकी उस भस्मक व्याधिकी ओर संकेत हो, जिसके कारण कहा गया है कि उन्हें कुछ काल अपने मुनि आचारका अतिरेक करना पड़ा था। उनके इन्हीं भावों और गरीरकी अवस्थाको उनके सहधर्मीने द्वितीय सिद्धान्त ग्रंथकी टीका लिखनेमें अनुकूल न देख उन्हें रोक दिया हो।

यदि समन्तभद्रकृत टीका संस्कृतमें लिखी गई थी और वीरसेनाचार्यके समय तक, विद्यमान थी तो उसका धवला जयधवलामे उल्लेख न पाया जाना बड़े आश्चर्यकी बात होगी।

सिद्धान्तग्रंथोका व्याख्यानक्रम गुरु-परम्परसे चलता रहा। इसी परम्परामे शुभनन्दि और रविनन्दि नामके दो मुनि हुए, जो अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि थे। उनसे वप्पदेवगुरुने वह समस्त सिद्धान्त विशेषरूपसे सीखा। वह व्याख्यान भीमरथि और कृष्णमेख नदियोंके बीचके प्रदेशमें उत्कलिका ग्रामके समीप मगणवल्ली ग्राममें हुआ था। भीमरथि व्याख्याप्रज्ञप्ति कृष्णा नदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अब वेलगांव और धारवाड कहलाता है। वही यह वप्पदेव गुरुका सिद्धान्त-अध्ययन हुआ होगा। इस अध्ययनके पश्चात् उन्होंने महावन्धको छोड़ शेष पाँच खंडोंपर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नामकी

१ जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् । वच समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृभते ॥

हरिवंशपुराण १ ३०

२ तत्त्वार्थसुत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तक । स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशक ॥

(हस्तिमल्ल विक्रान्तकौरवनाटक, मा ग्र मा)

तत्त्वार्थ-व्याख्यान-पण्णवति-महस्र-गन्धहस्ति-महाभाष्य-विधायक-देवागम-कवीश्वर-स्याद्वाद-विद्याधिपति-समन्तभद्र . । (एक प्राचीन कन्नड ग्रन्थ, देखो समन्तभद्र पृ २२०)

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्रोद्भूतसलिलनिवेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।

प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारै कृत यत् ।

(विद्यानन्द आप्तमीमामा)

३ विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्या सधर्मणा स्वेन ।

द्रव्यादिगुद्धिकरणप्रयत्नविरहात् प्रतिषिद्धम् ॥ १७० ॥

टीका लिखी । तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्डकी सक्षेपमे व्याख्या लिखी । इस प्रकार छहो खंडोके निष्पन्न हो जानेके पश्चात् उन्होंने कषायप्राभृतकी भी टीका रची । उक्त पांच खंडो और कषायप्राभृतकी टीकाका परिमाण साठ हजार, और महावधकी टीकाका 'पांच अधिक आठ हजार' था, और इस सब रचनाकी भाषा प्राकृत थी^१ ।

धवलामे व्याख्याप्रज्ञप्तिके दो उल्लेख हमारी दृष्टिमे आये हैं । एक स्थानपर उसके अवतरण द्वारा टीकाकारने अपने मतकी पुष्टि की है । यथा—

लोगो वादपदिद्विदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो (घ १४३)

दूसरे स्थानपर उससे अपने मतका विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य भेदसे वह भिन्न-मान्यताको लिए हुए है और इसलिये उसका हमारे मतसे ऐक्य नहीं है । यथा—

'एदेण वियाहपण्णत्तिसुत्तेण सह कध ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुधमुदस्स आयरियभेएण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो (घ ८०८)

इस प्रकारके स्पष्ट मतभेदसे तथा उसके सूत्र कहे जानेसे इस व्याख्याप्रज्ञप्तिको इन सिद्धान्त ग्रन्थोकी टीका माननेमे आगका उत्पन्न हो सकती है । किन्तु जयधवलामे एक स्थानपर लेखकने वप्पदेवका नाम लेकर उनके और अपने बीचके मतभेदको बतलाया है । यथा—

चुण्णिसुत्तम्मि वप्पदेवाइरियलिहिदुच्चारणाए अतोमुहुत्तमिदि भणिदो । अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जह० एगसमओ, उक्क० सखेज्जा समया त्ति परुविदो (जयध० १८५)

इन अवतरणोसे वप्पदेव और उनकी टीका 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का अस्तित्व सिद्ध होता है । धवलाकार वीरसेनाचार्यके परिचयमे हम कह ही आये हैं कि इन्द्रनन्दिके अनुसार उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्तिको पाकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था ।

उक्त पांच टीकाए षट्खंडागमके पुस्तकारूढ होनेके काल (विक्रमकी २ री शताब्दि) से धवलाके रचना काल (विक्रमकी ९ वी शताब्दि) तक रची गई जिसके अनुसार स्थूल मानसे कुन्दकुन्द दूसरी शताब्दीमे, शामकुड तीसरीमे, तुम्बुलूर चौथीमे, समन्तभद्र पाचवीमे और वप्पदेव छठवी और आठवी शताब्दीके बीच अनुमान किये जा सकते हैं ।

१ एव व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया । आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिश्चितवुद्धिम्याम् ॥ १७१ ॥

गुभ-रवि-नन्दिमुनिम्या भीमरथि-कृष्णमेखयो सरितो । मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम्

॥ १७२ ॥

विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण । श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेष वप्पदेवगुरु ॥ १७३ ॥

अपनीय महावन्ध षट्खण्डाच्छेषपचखंडे तु । व्याख्याप्रज्ञप्तिं च पण्ड खड च तत सक्षिप्य ॥ १७४ ॥

पण्णा खडानामिति निष्पन्नाना तथा कषायाख्य-प्राभृतकस्य च पण्डिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम् ॥ १७५ ॥

व्यलिखत्प्राकृतभाषारूपा सम्यक्पुरातनव्याख्याम् । अण्डसहस्रत्रया व्याख्या पञ्चाधिका महावधे ॥ १७६ ॥

इन्द्र श्रुतावतार

प्रश्न हो सकता है कि ये सब टीकाएँ कहा गईं और उनका पठन-पाठनरूपसे प्रचार क्यों विच्छिन्न हो गया ? हम धवलाकारके परिचयमें ऊपर कह ही आये हैं कि उन्होंने, उनके शिष्य जिनसेनके शब्दोंमें, चिरकालीन पुस्तकोंका गौरव बढ़ाया और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-शिष्योंसे बढ़ गये । जान पड़ता है कि इसी टीकाके प्रभावमें उक्त सब प्राचीन टीकाओंका प्रचार रुक गया । वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाके विस्तार व विषयके पूर्ण परिचय तथा पूर्वमान्यताओं व मतभेदोंके संग्रह, आलोचन व मथनद्वारा उन पूर्ववर्ती टीकाओंको पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल कर दिया । किन्तु स्वयं यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकारके अन्धकारमें पड़नेसे अपनेको नहीं बचा सकी । नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इसका पूरा सार लेकर सक्षेपमें सरल और सुस्पष्टरूपसे गोम्मटसारकी रचना कर दी, जिससे इस टीकाका भी पठन-पाठन प्रचार रुक गया । यह बात इसीसे सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दीओंमें इसका कोई साहित्यिक उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता और इसकी एकमात्र प्रति पूजाकी वस्तु बनकर तालोंमें बन्द पड़ी रही । किन्तु यह असंभव नहीं है कि पूर्वकी टीकाओंकी प्रतियाँ अभी भी दक्षिणके किसी शास्त्रभण्डारमें पड़ी हुई प्रकाशकी बाट जोह रही हों । दक्षिणमें पुस्तकें ताड़पत्रोंपर लिखी जाती थीं और ताड़पत्र जल्दी क्षीण नहीं होते । साहित्यप्रेमियोंको दक्षिणप्रान्तके भण्डारोंकी इस दृष्टिसे भी खोजबीन करते रहना चाहिए ।

९. धवलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य

धवला और जयधवलाको देखनेसे पता चलता है कि उनके रचयिता वीरसेन आचार्यके सन्मुख बहुत विशाल जैन साहित्य प्रस्तुत था । सत्प्ररूपणाका जो भाग अब प्रकाशित हो रहा है उसमें उन्होंने सत्कर्मप्राप्त व कषायप्राप्तके नामोल्लेख व उनके विविध सत्प्ररूपणामें अधिकारोंके उल्लेख व अवतरण आदि दिये हैं^१ । इनके अतिरिक्त सिद्धसेन उल्लिखित दिवाकरकृत सन्मतितर्कका 'सम्मइसुत्त' (सन्मतिसूत्र) नामसे उल्लेख किया है और एक स्थलपर उसके कथनसे विरोध बताकर उसका समाधान किया है, तथा उसकी सात गाथाओंको उद्धृत किया है^२ । उन्होंने अकलकदेवकृत तत्त्वार्थ-राजवार्तिकका 'तत्त्वार्थभाष्य' नामसे उल्लेख किया है और उसके अनेक अवतरण कही शब्दशः और कही कुछ परिवर्तनके साथ दिये हैं^३ । इनके सिवाय उन्होंने जो २१६ सस्कृत व प्राकृत पद्य बहुधा 'उक्तं च' कहकर और कही कही बिना ऐसी सूचनाके उद्धृत किये हैं उनमेंसे हमें ६ कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय व उसकी जयसेनकृत

१ पृ २०८, २२१, २२६ आदि

२ पृ १५ व गाथा न ५, ६, ७, ८, ९, ६७, ६९

३ पृ १०३, २२६, २३२, २३४, २३९

टीकामे^१, ७ तिलोयपण्णत्तिमे^२, १२ वट्टकेरकृत मूलाचारमे^३, १ अकलकदेवकृत लघीयस्त्रयीमें^४, २ मूलाराधनामे^५, ५ वसुनन्दिश्रावकाचारमे^६, १ प्रभाचन्द्रकृत शाकटायन-न्यासमे^७, १ देवसेन-कृत नयचक्रमे^८, व १ विद्यानन्द आप्तपरीक्षामे^९ मिले हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, व जीवप्रबोधनी टीकामे इसकी ११० गाथाएँ पाई गई हैं जो स्पष्टतः वहापर यहीसे ली गई हैं। कई जगह तिलोयपण्णत्तिकी गाथाओंके विषयका उन्ही गन्दोमे सस्कृत पद्य अथवा गद्यद्वारा वर्णन किया है^{१०} व यतिवृषभाचार्यके मतका भी यहा उल्लेख आया है^{११}। इनके अतिरिक्त इन गाथाओंमेसे अनेक श्वेताम्बर साहित्यमे भी मिली हैं। सन्मतितर्ककी सात गाथाओंका हम ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। उनके सिवाय हमें ५ गाथाएँ आचारांगमे^{१२}, १ बृहत्कल्पसूत्रमे^{१३}, ३ दशवेकालिकसूत्रमे^{१४}, १ स्थानांग टीकामे^{१५}, १ अनुयोगद्वारमे^{१६} व २ आवश्यक-निर्युक्तीमे^{१७} मिली हैं। इसके अतिरिक्त और विशेष खोज करनेसे दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमे प्रायः सभी गाथाओंके पाये जानेकी संभावना है।

किंतु वीरसेनाचार्यके सन्मुख उपस्थित साहित्यकी विशालताको समझनेके लिये उनकी समस्त रचना अर्थात् धवला और जयधवलापर कमसे कम एक विहंगम-दृष्टि डालना आवश्यक है। यह तो कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उनके सन्मुख पुष्पदन्त, भूतबलि सूत्र-पुस्तकोमे व गुणधर आचार्यकृत पूरा सूत्र-साहित्य प्रस्तुत था। पर इसमे भी यह बात पाठभेद व मतभेद उल्लेखनीय है कि इन सूत्र-ग्रन्थोंके अनेक संस्करण छोटे-बड़े पाठ-भेदोंको रखते हुए उनके सन्मुख विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जगह सूत्र-पुस्तकोंके भिन्न भिन्न पाठों और तज्जन्य मतभेदोंका उल्लेख और यथाशक्ति समाधान किया है^{१८}।

कही कही सूत्रोंमे परस्पर विरोध पाया जाता था। ऐसे स्थलोपर टीकाकारने निर्णय करनेमे अपनी असमर्थता प्रगट की है और स्पष्ट कह दिया है कि इनमे कौन सूत्र है और कौन असूत्र है इसका निर्णय आगममे निपुण आचार्य करे। हम इस विषयमे कुछ नहीं कह सकते,

१ गाथा न १, १३, ४६, ७२, ७३, १९८

२ गाथा न २०, ३५, ३७, ५५, ५६, ६०

३ गाथा न १८, ३१, (पाठभेद) ६५ (पाठभेद) ७०, ७१, १३४, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२

४ गाथा न ११ ५ गाथा न १६७, १६८ ६ गाथा न ५८, १६७, १६८, ३०, ७४

७ गाथा न २ ८ गाथा न १० ९ गाथा न २२.

१० देखो पृ १०, २८, २९, ३२, ३३, आदि ११ देखो पृ ३०२

१२ गाथा न १४, १४९, १५०, १५१, १५२ (पाठभेद) १३ गाथा न ६२

१४ गाथा न ३४, ७०, ७१ १५ गाथा न ८८ १६ गाथा न १४ १७ गाथा न ६८, १००

१८ केसु वि सुत्तपोत्यएसु पुरिमवेदस्सतर छम्मासा । धवला अ ३४५

केसु वि सुत्तपोत्यएसु उवलम्भइ, तदो एत्य उवएन लद्बूण वत्तव्व । धवला अ ५९१

केसु वि सुत्तपोत्यएसु विदियमद्धमस्सिद्धूण पत्विद-अप्पावहुअभावादो । धवला अ १२०६

केसु वि सुत्तपोत्यएसु एमो पाठो । धवला अ १२४३

क्योंकि, हमें इसका उपदेश कुछ नहीं मिला^१। कही उन्होंने दोनों विरोधी सूत्रोंका व्याख्यान कर दिया है, यह कह कर कि 'इसका निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी व केवलजानी ही कर सकते हैं, किन्तु वर्तमान कालमें वे हैं नहीं। और अब उनके पाससे मुनकर आये हुए भी कोई नहीं पाये जाते। अतः सूत्रोंकी प्रामाणिकता नष्ट करनेमें डरनेवाले आचार्योंको तो दोनों सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिये'^२। कही कही तो सूत्रोंपर उठाई गई गका पर टीकाकारने यहातक कह दिया है कि 'इस विषयकी पूछताछ गौतममें करना चाहिये, हमने तो यहां उनका अभिप्राय कहा है'^३।

सूत्रविरोधका कही कहीं ऐसा कहकर भी उन्होंने समाधान किया है कि यह विरोध तो सत्य है किन्तु एकान्तग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह विरोध सूत्रोंका नहीं है, किन्तु इन सूत्रोंके उपसंग्रहकर्ता आचार्य मरुल श्रुतके ज्ञाता न होनेने उनके द्वारा विरोध आ जाना संभव है^४। इससे वीरसेन स्वामीका यह मत जाना जाता है कि सूत्रोंमें पाठ-भेदादि परंपरागत आचार्योंद्वारा भी हो चुके थे। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि, उनके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि सूत्रोंका अध्ययन कई प्रकारने चला करता था जिनके अनुसार कोई सूत्राचार्य थे^५, कोई उच्चारणाचार्य^६, कोई निक्षेपाचार्य^७ और कोई व्याख्यानाचार्य^८। इनसे भी ऊपर 'महावाचकोका' पद ज्ञात होता है^९। कपायप्रामृतके प्रकाण्ड ज्ञाता आर्यमंशू और नागहस्तिको

१ तदो त्रेहि मुत्तेहि एदेमि मुनाण विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं उवदेम लद्वण इड सुत्त इड चामुनमिदि आगम-णिउगा भणानु, ण च अन्हे एन्य व्रोत्तु समत्या अल्लोवदेमत्तादो। ववला अ ५६३

२ होडु णाम तुम्हेहि वुत्तत्यन्म नच्चत्त, बहुएनु मुत्तेनु वणप्फदीग उवरि णिगोदपदस्म अणुवल्लादो। X X चोहसपुव्ववरो केवल्लाणी वा, ण च वट्टमाणकाले ते अत्थि। ण च तेसिं पासे सोडूणागदा वि सपहि उवल्लभति। तदो यण काळग वे वि मुत्ताणि मुत्तानायण-भीरुहि आयरिएहि वक्खाणेषव्वाणि। ववला अ. ५६७

३ मुत्ते वणप्फदिमण्णा किण्ण णिदिट्ठि ? गोदमो एत्य पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो वादरणिगोद-पदिट्ठिदाण वणप्फदिसण्ण णेच्छदि त्ति तस्म अभिप्पाओ कहिओ। ववला अ ५६७

४ कमायपाहुडमुत्तेणेदं मुत्त विरुज्झदि त्ति वुत्ते नच्चं विरुज्झइ किन्तु एयंनगगो एत्य ण कायव्वो। X X जय सुत्ताणं विरोहो ? ण, मुनोवमवारागमसयल्लसुद-वारयाइरियपरत्तताण-विरोह-सभव-दसणादो। ववला अ ५८१

५ मुत्ताइरिय-वक्खाण-पसिद्धो उवल्लभदे। तम्हा तेसु मुत्ताइरिय-वक्खाण-पसिद्धेण, व २९४

६ एसो उच्चारणाइरिय-अभिप्पाओ। ववला अ. ७६४ एदेसिनणियोगद्वाराणमुच्चारणाइरियो-वएसवलेण पत्त्वण वत्तडस्सामो। जयव अ ८४२.

७ निक्खेवाइरिय-पलविद-गाहाणमत्थ णिस्सामो। ववला अ ८६३

८ वक्खाणाइरिय-पलविदं वत्तडस्सामो। ववला अ १२३५

वक्खाणाइरियाणनभावादो। ववला अ ३४८.

९ महावाचागमज्जमखुनमगागमुवदेमेण.... महावाचागमज्जणदीण उवदेमेण। ववला अ. १४५७ महावाचाय अज्जिणदिणो सत्तकम्म करेति। द्विदिसत्तकम्म पयासति। ववला अ १४५८ अज्जमखु-गागहत्थि-महावाचय-मुहकमल-विणिग्गएण सम्मत्तस्स। जयव अ. १७३

अनेक जगह महावाचक कहा है। आर्यनन्दिका भी महावाचकरूपसे एक जगह उल्लेख है।
संभवतः ये स्वयं वीरसेनके गुरु थे जिनका उल्लेख धवला की प्रशस्तिमें भी किया गया है।

धवलाकारने कई जगह ऐसे प्रसंग भी उठाये हैं जहां सूत्रोपर इन आचार्योंका कोई
मत उपलब्ध नहीं था। इनका निर्णय उन्होंने अपने गुरुके उपदेशके बल पर^१ व परंपरागत
उपदेशद्वारा^२ तथा सूत्रोंसे अविरुद्ध अन्य आचार्योंके वचनोंद्वारा^३ किया है।

धवला पत्र १०३६ पर तथा जयधवलाके मंगलाचरणमें कहा गया है कि गुणधराचार्य
विरचित कषायप्राभृत आचार्यपरंपरासे आर्यमंक्षु और नागहस्ति^४ आचार्योंको प्राप्त हुआ और
उनमें सीखकर यतिवृषभने उनपर वृत्तिसूत्र रचे। वीरसेन और जिनसेनके सन्मुख, जान पड़ता
है, उन दोनों आचार्योंके अलग अलग व्याख्यान प्रस्तुत थे, क्योंकि, उन्होंने अनेक जगह उन दोनोंके
मतभेदोंका उल्लेख किया है^५ तथा उन्हें महावाचकके अतिरिक्त 'क्षमाश्रमण' भी कहा है।
यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रोंकी पुस्तक भी उनके सामने थी और उसके सूत्र-संख्या-क्रमका भी
वीरसेनने बड़ा ध्यान रखा है^६।

सूत्रों और उनके व्याख्यानोमें विरोधके अतिरिक्त एक ओर विरोधका उल्लेख मिलता
है जिसे धवलाकारने उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति कहा है। ये दो भिन्न मान्यताएँ थीं

जिनमेंसे टीकाकार स्वयं दक्षिण-प्रतिपत्तिको स्वीकार करते थे, क्योंकि, वह
उत्तर और ऋजु अर्थात् सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परंपरागत है, तथा उत्तर-प्रतिपत्ति
दक्षिण प्रतिपत्ति अनृजु है और आचार्य-परंपरागत नहीं है। धवलामें इस प्रकारके तीन मतभेद
हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। प्रथम द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमें उपशमश्रेणीकी संख्या
३०४ बताकर कहा है—

‘ केचि पुवुत्तपमाण पचूण करेति । एद पचूण वक्खाण पवाडज्जमाण दक्खिणमाडरिय-
परंपरागमिदि जं वुत्त होई । पुवुत्त-वक्खाणमपवाडज्ज-माण वाउं आडरियपरंपरा-अणागदमिदि
णायव्व । ’

१ कथमेद णव्वदे ? गुरुवदेसादो । धवला अ ३१२

२ मुत्ताभावे मत्त चेव खडाणि कीरति त्ति कव णव्वदे ? ण, आडरिय-परंपरागदुवदेसादो ।

धवला अ ५९२

३ कुदो णव्वदे ? अविरुद्धाडरियवयणादो सुत्त-समाणादो । धवला अ १२५७ सुत्तेण विणा
कुदो णव्वदे ? सुत्तविरुद्धाडरियवयणादो । धवला अ १३३७

४ कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्वारे हि भण्णमाणे वे उवदेसा होति । जहण्णुक्कस्मट्ठिदीण पमाणपरव्वणा
कम्मट्ठिदिपरव्वणे त्ति णागहत्थि-समाममणा भणति । अज्जमखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरव्वणे त्ति भणति ।
एव दोहि उवदेमेहि कम्मट्ठिदिपरव्वणा कायव्वा । (धवला अ १४४०) एत्थ दुवे उवएसा महावाचयाण-
मज्जमसुखवणाणमुवदेसेण लोग्गूरिदे आउगममाण णामा-गोद-वेदणीयाण ट्ठिदिमत-कम्म ठवेदि । महावाचयाण-
णागहत्थि-सव्वणाणमुवदेसेण लोग्गे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाण ट्ठिदिमतकम्म अतोमुहुत्तपमाण होदि ।

जयध अ १२३९

५ जइवमह-चुण्णिसुत्तम्मि णव-अंकुवलभादो । जइवसहउविद-वारहकादो । जयध अ २४.

अर्थात् कोई कोई पूर्वोक्त प्रमाणमे पाचकी कमी करते हैं। यह पाचकी कमीका व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त है, दक्षिण है और आचार्य-परंपरागत है। पूर्वोक्त व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त नहीं है, वाम है और आचार्यपरंपरासे आया हुआ भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

इसीके आगे क्षपकश्रेणीकी सख्या ६०५ बताकर कहा गया है—

एसा उत्तर-पडिवत्ती । एत्थ दस अवणिदे दक्खिण-पडिवत्ती हवदि ।

अर्थात् यह (६०५ की सख्यासवधी) उत्तर प्रतिपत्ति है। इससे दस दिन निकाल देनेपर दक्षिण-प्रतिपत्ति हो जाती है।

आगे चलकर द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारमे ही सयतोकी सख्या ८९९९९९७ बतलाकर कहा है 'एसा दक्खिण-पडिवत्ती'। इसके अन्तर्गत भी मतभेदादिका निरसन करके, फिर कहा है 'एत्तो उत्तर-पडिवत्ति वत्तइस्सामो' और तत्पश्चात् सयतोकी सख्या ६९९९९९६ बतलाई है। यहा इनकी समीचीनताके विषयमे कुछ नहीं कहा।

दक्षिण-प्रतिपत्तिके अंतर्गत एक और मतभेदका भी उल्लेख किया गया है। कुछ आचार्योंने उक्त संख्याके सवधमे जो गका उठाई है उसका निरसन करके घवलाकार कहते हैं—

'ज दूसण भणिद तण्ण दूसण, बुद्धिविहूणाइरियमुहविणिग्गयत्तादो ।'

अर्थात् 'जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं है, क्योंकि, वह बुद्धिविहीन आचार्योंके मुखसे निकली हुई बात है'। संभव है वीरसेन स्वामीने किसी समसामयिक आचार्यकी शकाको ही दृष्टिमे रखकर यह भर्त्सना की हो।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति भेदका तीसरा उल्लेख अन्तरानुयोगद्वारमे आया है जहा तिर्यंच और मनुष्योंके सम्यक्त्व और सयमादि धारण करनेकी योग्यताके कालका विवेचन करते हुए लिखते हैं—

'एत्थ वे उवदेसा, त जहा—तिरिक्खेसु वेमासमुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत सजमासजम च जीवो पडिवज्जदि । मणुसेसु गव्भादिअट्ठवस्सेसु अतोमुहुत्तव्भहिएसु सम्मत सजम सजमासजम च पडिवज्जदि त्ति । एसा दक्खिणपडिवत्ती । दक्खिण उज्जुव आइरियपरपरागदमिदि एयट्ठो । तिरिक्खेसु तिण्णि पक्ख तिण्णि दिवस अतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत सजमासजम च पडिवज्जदि । मणुसेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत सजम सजमासजम च पडिवज्जदि । एसा उत्तरपडिवत्ती, उत्तरमणुज्जुव आइरियपरपराए णागदमिदि एयट्ठो घवला अ ३३०

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और सयमासयमादि धारण करनेकी योग्यता दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोमे (जन्मसे) २ मास और मुहुर्तपृथक्त्वके पश्चात् होती है, तथा मनुष्योंमे गर्भसे ८ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् होती है। किन्तु उत्तर प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यंचोमे वही योग्यता ३ पक्ष, ३ दिन और अन्तर्मुहूर्तके उपरान्त, तथा मनुष्योंमे ८ वर्षके उपरान्त होती है। घवलाकारने दक्षिण प्रतिपत्तिको यहा भी दक्षिण, ऋजु व आचार्य-परंपरागत कहा है और उत्तर प्रतिपत्तिको उत्तर, अनृजु और आचार्य-परंपरासे अनागत कहा है।

हमने इन उल्लेखोंका दूसरे उल्लेखोंकी अपेक्षा कुछ विस्तारसे परिचय इस कारण दिया है, क्योंकि, यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है। संभव है इनसे धवलाकारका तात्पर्य जैन समाजके भीतरकी किन्हीं विशेष साम्प्रदायिक मान्यताओंसे ही हो ?

धवलामे जिन अन्य आचार्यों व रचनाओंके उल्लेख दृष्टिगोचर हुए हैं वे इस प्रकार हैं। त्रिलोकप्रज्ञप्तिको धवलाकारने सूत्र कहा है और उसका यथास्थान खूब उपयोग किया है^१।

हम उपर कह आये हैं कि सत्प्ररूपणामे तिलोयपण्णत्तिके मुद्रित अशकी सात तिलोयपण्णत्ति गाथाएँ ज्यों पाई जाती हैं और उसके कुछ प्रकरण भाषा-परिवर्तन सूत्र व करके ज्योंके त्यों लिखे गये हैं। इस ग्रंथके कर्ता यतिवृषभाचार्य कहे जाते हैं यतिवृषभाचार्य जो जयधवलाके अन्तर्गत कवायप्राभृतपर चूर्णिसूत्र रचनेवाले यतिवृषभसे अभिन्न प्रतीत होते हैं^२। सत्प्ररूपणामे भी यतिवृषभका उल्लेख आया है^३ व आगे भी उनके मतका उल्लेख किया गया है^४।

कुदकुदके पचास्तिकायका 'पंचत्थिपाहुड' नामसे उल्लेख आया है और उसकी दो गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं^५। सत्प्ररूपणामे उनके ग्रंथोंके जो अवतरण पाये जाते हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। परिकर्म ग्रंथके उल्लेख और उसके साथ कुदकुदाचार्यके सवन्धका विवेचन भी हम ऊपर कह आये हैं^६।

धवलाकारने तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकृत कहा है और उसके कई सूत्र भी उद्धृत किये हैं^७। इससे तत्त्वार्थसूत्रसवन्धी एक श्लोक व श्रवणबेलगोलके कुछ शिलालेखोंके उस कथनकी पुष्टि होती है जिसमे उमास्वातिको 'गृद्धपिच्छोपलंछित' कहा है। सत्प्ररूपणामे भी तत्त्वार्थसूत्रके अनेक उल्लेख आये हैं।

१ तिरियिलोगो ति तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला अ १४३

चदाडच्चविबपमाणपरुवयतिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला अ १४३

तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि। धवला अ २५९

२ Catalogue of Sans. & Prak. Mss in C. P. & Berar, Intro p. X V.

३ यतिवृषभोपदेशात् सर्वधातिकर्मणा इत्यादि। धवला अ ३०२

४ एसो दसनमोहणीय-उवसामओ ति जइवसहेण भणिद। धवला अ ४२५

५ धवला अ २८९ 'वुत्त' च 'पंचत्थिपाहुडे' कहकर चार गाथाएँ उद्धृत की गई हैं जिनमेंसे दो पचास्तिकायमें क्रमशः १०८, १०७ नंबर पर मिलती हैं। अन्य दो 'ण य परिणमइ सय सो' आदि व 'लोयायासपदेसे' आदि गाथाएँ हमारे सन्मुख वर्तमान पचास्तिकायमे दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु वे दोनों गो जीवमें क्रमशः न ५७० और ५८९ पर पाई जाती हैं। धवलाके उसी पत्रपर आगे पुन वही 'वुत्त च पंचत्थिपाहुडे' कहकर तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं जो पचास्तिकायमें क्रमशः २३, २५ और २६ नंबर पर मिलती हैं। (पचास्तिकायसार, आरा, १९२०)

६ देखो ऊपर पृ ४६ आदि

७ देखो पृ. १५१, २३२, २३६, २३९, २४०

आचारांग घवलामे एक गाथा इस प्रकारसे उद्धृत मिलती है—

पंचतिकाया य छज्जीवणिकायकालदव्वमण्णे य ।

आणागेज्जे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥

घवला अ २८९

यह गाथा बट्टकेरकृत मूलाचारमे निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

पंचतिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।

आणागेज्जे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥ ३९९ ॥

यदि उक्त गाथा यहीसे घवलामे उद्धृत की गई हो तो कहा जा सकता है कि उस समय मूलाचारकी प्रख्याति आचारागके नामसे थी ।

स्वामी समन्तभद्रके जो उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं उनका परिचय हम षट्खंडागमकी अन्य टीकाओंके प्रकरणमे करा ही आये हैं ।

पूज्यपादकृत घवलाकारने नयका निरूपण करते हुए एक जगह पूज्यपादद्वारा सारसग्रहमे दिया हुआ नयका लक्षण उद्धृत किया है । यथा—
सारसंग्रह

सारसंग्रहेऽप्युक्त पूज्यपादैः— अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति ।
घवला अ ७०० वेदनाखंड

पहले अनुमान होता है कि संभव है पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिको ही यहा सारसग्रह कहा गया हो । किन्तु उपलब्ध सर्वार्थसिद्धिमे नयका लक्षण इस प्रकारसे नहीं पाया जाता । इससे पता चलता है कि पूज्यपादकृत सारसग्रह नामका कोई और ग्रन्थ घवलाकारके सन्मुख था । ग्रन्थके नामपरसे जान पड़ता है कि उसमे सिद्धान्तोका मथितार्थ संग्रह किया गया होगा । संभव है ऐसे ही मुन्दर लक्षणोको दृष्टिमे रखकर घनञ्जयने अपने नाममालाकोषकी प्रशस्तिमे पूज्यपादके 'लक्षण' को अपञ्चिम अर्थात् वेजोड कहा है । यथा—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।

द्विसंधानकवेः काव्य रत्नत्रयमपञ्चिमम् ॥ २०३ ॥

पूज्यपाद भट्टारक अकलंक अकलकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिकका घवलाकारने खूब उपयोग किया है और, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, कही शब्दशः और कही कुछ हेरफेरके साथ उसके अनेक अवतरण दिये हैं । किन्तु न तो उनके साथ कही अकलकका नाम आया और न 'राजवार्तिकका' । उन अवतरणोको प्राय 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' या 'तत्त्वार्थभाष्यगत' प्रकट किया गया है । घवलामे एक स्थान (प ७००) पर कहा गया है—

पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाषि— सामान्य-नय-लक्षणमिदमेव । तद्यथा, प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नयः इति ।

इसके आगे 'प्रकर्षेण मान प्रमाणम्' आदि उक्त लक्षणकी व्याख्या भी दी गई है। यही लक्षण व व्याख्या तत्त्वार्थराजवार्तिक, १, ३३, १ में आई है। जयववला (पत्र २६) में भी यह व्याख्या दी गई है और वहा उसे 'तत्त्वार्थभाष्यगत' कहा है। 'अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थ-भाष्यगतः'। इससे सिद्ध होता है कि राजवार्तिकका असली प्राचीन नाम 'तत्त्वार्थभाष्य' है और उसके कर्ता अकलकका सन्मानसूचक उपनाम 'पूज्यपाद भट्टारक' भी था। उनका नाम भट्टाकलकदेव तो मिलता ही है।

धवलाके वेदनाखडान्तर्गत नयके निरूपणमें (प. ७००) प्रभाचन्द्र भट्टारकद्वारा प्रभाचन्द्र भट्टारक कहा गया नयका लक्षण उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है—

'प्रभाचन्द्र भट्टारकैरप्यभाणि— प्रमाण-व्यपाश्रय-परिणाम-विकल्प-वशीकृतार्थ-विशेष-प्ररूपण-प्रवण प्रणिर्वियं. स नय इति ।'

ठीक यही लक्षण 'प्रमाणव्यपाश्रय' आदि जयववला (प २६) में भी आया है और उसके पञ्चात् लिखा है 'अयं नास्य नय प्रभाचन्द्रो य'। यह हमारी प्रतिकी अशुद्धि ज्ञात होती है और इसका ठीक रूप 'अयं वाक्यनय प्रभाचन्द्रीय' ऐसा प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्रकृत दो प्रौढ न्याय-ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं, एक प्रमेयकमलमार्तण्ड और दूसरा न्यायकुमुदचन्द्रोदय। इस दूसरे ग्रंथका अभी एक ही खड प्रकाशित हुआ है। उन दोनों ग्रंथोंमें उक्त लक्षणका पता लगानेका हमने प्रयत्न किया किन्तु वह उनमें नहीं मिला। तब हमने न्या. कु. च. के सुयोग्य सम्पादक प. महेन्द्रकुमारजीसे भी इसकी खोज करनेकी प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने भी परिश्रम करनेके पञ्चात् हमें सूचित किया कि बहुत खोज करनेपर भी उस लक्षणका पता नहीं लग रहा। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्रकृत कोई और भी ग्रंथ रहा है जो अभी तक प्रसिद्धिमें नहीं आया और उसीके अन्तर्गत वह लक्षण हो, या इसके कर्ता कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हुए हो ?

धवलामें 'इति' के अनेक अर्थ बतलानेके लिये 'एतथ उवज्जंतओ सिलोगो' अर्थात् धनञ्जयकृत इस विषय का एक उपयोगी श्लोक कहकर निम्न श्लोक उद्धृत किया है—
 हेतावेव प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्ययः ।
 अनेकार्थं प्रादुर्भावे समाप्तं च इति शब्द विदुर्बुधा ॥ धवला अ. ३८७
 नाममाला

यह श्लोक धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममालाका है और वहा वह अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार पाया जाता है—

हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये ।
 प्रादुर्भावे समाप्ती च इति शब्द प्रकीर्तित ॥ ३९ ॥

इन्ही धनञ्जयका बनाया हुआ नाममाला कोष भी है जिसमें उन्होंने अपने द्विसंघान काव्यको तथा अकलकके प्रमाण और पूज्यपादके लक्षणको अपञ्चिम कहा है अर्थात् उनके

समान फिर कोई नहीं लिख सका^१ ।

इससे यह तो स्पष्ट था कि उक्त कोषकार घनञ्जय, पूज्यपाद और अकलकके पश्चात् हुए । किन्तु कितने पश्चात् इसका अभीतक निर्णय नहीं होता था । घवलाके उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि घनञ्जयका समय घवलाकी समाप्तिसे अर्थात् शक ७३८ से पूर्व है ।

घवलामे कुछ ऐसे ग्रंथोंके उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनके सवधमे अभीतक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वे कहाके और किसके बनाये हुए हैं । इस प्रकारका एक उल्लेख जीवसमासका है । यथा, (घवला प २८९) जीवसमासाए वि उत्तं—

छप्पचणव-विहाण अत्थाण जिणवरोवड्डाण ।

आणाए अहिग्गेण य सद्दहण होइ सम्मत्त ॥

यह गाथा 'उक्त च' रूपसे सत्प्ररूपणामे भी दो बार आई है और गोम्मटसार जीवकाण्डमे भी है ।

एक जगह घवलाकारने छेदसूत्र का उल्लेख किया है । यथा—

ण च दव्वित्थिणवुसयवेदाण चेलादिचाओ अत्थि छेदसुत्तेण सह विरोहादो ।

घवला. अ ९०७

एक उल्लेख कर्मप्रवादका भी है । यथा—

'सा कम्मपवादे सवित्थरेण परूविदा' (घवला अ. १३७१)

जयघवलामे एक स्थानपर दशकरणीसंग्रहका उल्लेख आया है । यथा—

. शुष्ककुड्यपतितसिकतामुष्टिवदनन्तरसमये निर्वर्तते कर्मर्यापथ वीतरागानामिति ।
दशकरणीसंगहे पुण पुयडिवंधसभवमेत्तमवेक्खिय वेदणीयस्स वीयरायगुणट्ठाणेषु वि बंधणाकरण-
मोवट्टणाकरणं च दो वि भणिदाणि त्ति । जयघ० अ १०४२

इस अवतरणपरसे इस ग्रंथमें कर्मोंकी वन्ध, उदय, सक्रमण आदि दश अवस्थाओंका वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है ।

ये थोड़ेसे ऐसे उल्लेख हैं जो घवला और जयघवलापर एक स्थूल दृष्टि डालनेसे प्राप्त हुए हैं । हमे विश्वास है कि इन ग्रंथोंके सूक्ष्म अवलोकनसे जैन धार्मिक और साहित्यिक इतिहासके सम्बन्धमे बहुतसी नई बातें ज्ञात होगी जिनसे अनेक साहित्यिक ग्रंथियां सुलझ सकेंगी ।

१०. षट्खंडागमका परिचय

पुष्पदन्त और भूतबलिद्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था ? स्वयं सूत्रोमे तो ग्रंथका कोई नाम हमारे देखनेमें नहीं आया, किंतु धवलाकारने ग्रंथकी उत्थानिकामें ग्रंथके मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह ज्ञातव्य बातोंका ग्रंथ नाम परिचय कराया है। वहां इसे 'खंडसिद्धान्त' कहा है और इसके खंडोंकी संख्या छह बतलाई है^१। इस प्रकार धवलाकारने इस ग्रंथका नाम 'षट्खंड सिद्धान्त' प्रगट किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धान्त और आगम एकार्थवाची है^२। धवलाकारके पश्चात् इन ग्रंथोंकी प्रसिद्धि आगम परमागम व षट्खंडागम नामसे ही विशेषतः हुई। अपभ्रंश महापुराणके कर्ता पुष्पदन्तने धवल और जयधवलको आगम सिद्धान्त^३, गोम्मटसारके टीकाकारने परमागम^४ तथा श्रुतावतारके कर्ता इन्द्रनन्दिने षट्खंडागम^५ कहा है, और इन ग्रंथोंको आगम कहनेकी बड़ी भारी सार्थकता भी है। सिद्धान्त और आगम यद्यपि साधारणतः पर्यायवाची गिने जाते हैं, किंतु निरुक्ति और सूक्ष्मार्थकी दृष्टिसे उनमें भेद है। कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किंतु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है जो आप्तवाक्य है और पूर्व-परम्परासे आया है^६। इस प्रकार सभी आगमको सिद्धान्त कह सकते हैं किंतु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते। सिद्धान्त सामान्य संज्ञा है और आगम विशेष।

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे आगम सिद्धान्त ही है। घरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलिको वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हें उनसे पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीरस्वामीतक पहुँचती है। पुष्पदन्त और भूतबलिने भी उन्हीं आगम सिद्धान्तोंको पुस्तकारूढ किया और टीकाकारने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और

१ तदो एय खंडसिद्धतं षडुच्च भूदवलि-पुष्पयताश्चरिया वि कत्तारो उच्चति । (पृ ७१)

इद पुण जीवट्ठाणं खडसिद्धतं षडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए द्विदं छण्ह खड्ढाणं पढमखड जीवट्ठाणमिदि ।
(पृ ७४)

२ आगमो सिद्धतो पवयणमिदि एयट्ठो । (पृ. २०) आगम सिद्धान्त । (पृ २९)

कृतान्तागम-सिद्धान्त-ग्रंथा शास्त्रमत परम् ॥ (धनजय-नाममाला ४)

३ ण उ बुज्झिउ आयमु सद्धामु । सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥ (महापु १, ९, ८)

४ एव विशतिसंख्या गुणस्यानादय प्ररूपणा भगवदहर्द्दगणधरशिष्य-प्रशिष्यादिगुरुपर्वगितया परिपाट्या अनुक्रमेण भणिता परमागमे पूर्वाचार्ये प्रतिपादिता (गो जी टी २१) परमागमे निगोद-जीवाना द्वैविध्यस्य सुप्रसिद्धत्वात् । (गो जी टी ४४२)

५ षट्खंडागमरचनाभिप्राय पुष्पदन्तगुरो ॥१३७॥ षट्खंडागमरचना प्रविधाय भूतबल्यार्य ॥१३८॥ षट्खंडागमपुस्तकमहो मया चितित कार्यम् ॥ १४६ ॥ एव षट्खंडागमसूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना ॥ १४९ ॥ षट्खंडागमगत-खंड-पंचकस्य पुन ॥ १६८ ॥ इन्द्र श्रुतावतार

६ राद्ध-सिद्ध-कृतेभ्योऽन्त आप्तोक्ति समयागमौ (हैम २, १५६) पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसहते । द्योतक सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागम । (धवला अ ७१६)

पूर्व आचार्योंके उपदेशोंके अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीकामे स्थान स्थानपर प्रकट है^१। आगमकी यह भी विशेषता है कि उसमे हेतुवाद नहीं चलता^२, क्योंकि, आगम अनुमान आदिकी अपेक्षा नहीं रखता किन्तु स्वयं प्रत्यक्षके बराबरका प्रमाण माना जाता है^३।

पुष्पदन्त व भूतबलिकी रचना तथा उस पर वीरसेनकी टीका इसी पूर्व परम्पराकी मर्यादाको लिये हुए है इसीलिये इन्द्रनन्दिने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकताको मान देकर इन्द्रनन्दिद्वारा निर्दिष्ट नाम षट्खंडागम स्वीकार किया है।

षट्खंडोमे प्रथम खंडका नाम 'जीवट्ठाण' है। उसके अन्तर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वार, तथा १ प्रकृति समुत्कीर्तना, २ स्थानसमुत्कीर्तना, ३-५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, जीवट्ठाण ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएँ हैं। इस खंडका परिमाण बबलाकारने अठारह हजार पद कहा है (पृ. ६०)। पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाओंमें गुणस्थान और मार्गणाओंका आश्रय लेकर यहाँ विस्तारसे वर्णन किया गया है।

दूसरा खंड खुद्दाबंध (क्षुल्लकबंध) है। इसके ग्यारह अधिकार हैं, १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भंगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्श-नानुगम, ८ नाना-जीव-काल, ९ नाना-जीव-अन्तर, १० भागाभागांनुगम और ११ अल्पबहुत्वानुगम। इस खंडमे इन ग्यारह प्ररूपणाओंद्वारा कर्मवन्व करनेवाले जीवका कर्मवन्वके भेदोसहित वर्णन किया गया है।

यह खंड अ. प्रतिके ४७५ पत्रसे प्रारम्भ होकर ५७६ पत्रपर समाप्त हुआ है।

तीसरे खंडका नाम बंधस्वामित्वविचय है। कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमे व्युच्छिति होती है, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियां कितनी हैं और परोदय बंधरूप कितनी हैं, इत्यादि कर्मवचसंबन्धी विषयोका बंधक जीवकी अपेक्षासे इस खंडमे वर्णन है।

१ 'भूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा तदवगते' (१९७) 'किमित्यागमे तत्र तस्य मत्त्व नोक्तमिति चेन्न, आगममन्यनर्कगोचरत्वात्' (२०६) 'जिणा ण अण्णहावाइणो' (२२१) 'आइरियपरपराए गिरतरमागगाग आइरिएहि णेत्येनु चडावियाग अनुत्तत्तणविरोहादो' (२२१) 'प्रतिपादकापौपलमान्' (२२९) 'आर्षात्तदगवनेः' (२५८) 'प्रवाहल्लेगापोत्पेयत्वतन्नीर्यकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तार' (३४९)

२ 'किमित्यागमे तत्र तस्य तत्त्व नोक्तमिति चेन्न, आगमत्यातर्कगोचरत्वात्' (२०६)

३ नुदकेवल च पापं दोषिण वि सरिमाणि होति बोहादो। नुदणाण तु परोक्व पचक्व केवल पाण ॥

गो जी ३६९.

यह खंड अ प्रतिके ५७६ वे पत्रसे प्रारम्भ होकर ६६७ वे पत्र पर समाप्त हुआ है । चौथे खंडका नाम वेदना है । इसके आदिमे पुन मगलाचरण किया गया है । इसी खंडके अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोगद्वारा है । किंतु वेदनाके कथनकी प्रधानता ४ वेदना और अधिक विस्तारके कारण इस खंडका नाम वेदना रक्खा गया है^१ ।

कृतिमे औदारिकादि पाच शरीरोकी सघातन और परिघातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम और अप्रथम समयमे स्थित जीवोके कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप सख्याओका वर्णन है । १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रंथ, ६ कारण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार है, जिनमेसे प्रकृतमे गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है ।

वेदनामे १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय, ९ स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३ सन्निकर्ष, १४ परिमाण, १५ भागा-भागानुगम और १६ अल्पबहुत्वानुगम, इन सोलह अधिकारोके द्वारा वेदनाका वर्णन है ।

इस खंडका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया गया है । यह समस्त खंड अ प्रतिके ६६७ वे पत्रसे प्रारम्भ होकर ११०६ वे पत्रपर समाप्त हुआ है, जहा कहा गया है—

एव वेयण-अप्पावहुणाणिओगद्वारे समत्ते वेयणाखंडं समत्ता (खंडो समत्तो) ।

पाचवे खंडका नाम वर्गणा है । इसी खंडमे बघनीयके अन्तर्गत वर्गणा अधिकारके अतिरिक्त स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनका पहला भेद बघ, इन अनुयोगद्वारोंका ५ वर्गणा भी अन्तर्भाव कर लिया गया है ।

स्पर्शमे निक्षेप, नय आदि सोलह अधिकारोद्वारा तेरह प्रकारके स्पर्शोंका वर्णन करके प्रकृतमे कर्म-स्पर्शसे प्रयोजन बतलाया है ।

कर्ममे पूर्वोक्त सोलह अधिकारोद्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग, ५ समवधान, ६ अध, ७ ईर्यापथ, ८ तप, ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकारके कर्मोंका वर्णन है ।

प्रकृतिमे गील और स्वभावको प्रकृतिके पर्यायवाची बतकर उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार भेदोमेसे कर्म-द्रव्य-प्रकृतिका पूर्वोक्त १६ अधिकारोद्वारा विस्तारसे वर्णन किया गया है ।

इस खंडका प्रधान अधिकार बघनीय है, जिसमे २३ प्रकारकी वर्गणाओका वर्णन और उनमेसे कर्मबन्धके योग्य वर्गणाओका विस्तारसे कथन किया है ।

यह खंड अ प्रतिके ११०६ वे पत्रसे प्रारम्भ होकर १३३२ वे पत्रपर समाप्त हुआ है और वहा कहा है—

एव विस्ससोवचय-परुवणाए समत्ताए बाहिरिय-वग्गणा समत्ता होदि ।

१ कदि-पान-कम्म-पयडि-अणियोगद्वाराणि वि एत्थ परुविदाणि, तेनि खडगथसण्णमकाऊण तिण्णि-चेव खडाणि ति किमट्ठ उच्चदे ? ण, तेसि पहाणत्ताभावादो । त पि कुदो णव्वदे ? सखेवेण परुवणादो ।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमे कहा है कि भूतवलिने पाच खडोके पुष्पदन्त विरचित ६ महाबंध सूत्रोसहित छह हजार सूत्र रचनेके पश्चात् महाबंध नामके छठवे खडकी तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की^१ ।

घवलामे जहा वर्गणाखड समाप्त हुआ है वहा सूचना की गई है कि—

‘जं त वधविहाण त चउव्विह, पयडिवधो द्विदिवधो अनुभागवधो पदेसवधो चेदि । एदेसिं चटुण्ह वधाण विहाण भूदवलि-भडारएण महाबंधे सप्पवचेण लिहिद ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिद । तदो सयले महावधे एत्थ परुविदे वधविहाण सम्पपदि’ । (घवला क १२५९-१२६०)

अर्थात् वधविधान चार प्रकारका है—प्रकृतिवध, स्थितिबध, अनुभागवध और प्रदेशवध । इन चारों प्रकारके वधोका विधान भूतवलि भट्टारकने महावधमे सविस्तररूपसे लिखा है, इस कारण हमने (वीरसेनाचार्यने) उसे यहा नहीं लिखा । इस प्रकारसे समस्त महाबंधके यहां प्ररूपण हो जानेपर वधविधान समाप्त होता है ।

ऐसा ही एक उल्लेख जयघवलामे भी पाया जाता है जहा कहा गया है कि, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वधका वर्णन विस्तारसे महाबंधमे प्ररूपित है और उसे वहासे देख लेना चाहिये, क्योंकि, जो बात प्रकाशित हो चुकी है उसे पुन प्रकाशित करनेमे कोई फल नहीं । यथा—

सो पुण पयडिद्विदअणुभागपदेसवधो बहुसो परुविदो (चूर्णिसूत्र) । सो उण गाहाए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-द्विदि-अणुभाग-पदेस-विसओ वधो बहुसो गथतरेसु परुविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठवो, ण एत्थ पुणे परुविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलभादो । तदो महाबंधा-णुसारेणेत्य पयडि-द्विदि-अणुभाग-पदेसवधेसु विहासियसमत्तेसु तदो वधो समत्तो होई । जयघ अ ५४८

इससे इन्द्रनन्दिके कथन की पुष्टि होती है कि छठवा खड स्वयं भूतवलि आचार्यद्वारा रचित सविस्तर पुस्तकारूढ है ।

किंतु इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमे आगे चलकर कहा है कि वीरसेनाचार्यने एलाचार्यसे सिद्धान्त सीखनेके अनन्तर निवन्वनादि अठारह अधिकारोद्वारा सत्कर्म नामक छठवे खडका सक्षेपसे विधान किया और इस प्रकार छहो खडोकी वृत्तर हजार त्रयप्रमाण घवला टीका रची गई । (देखो ऊपर पृ ३८)

घवलामे वर्गणाखडकी समाप्ति तथा उपर्युक्त भूतवलिकृत महावधकी सूचनाके पश्चात् निवधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, सक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम सातासात, दीर्घ-

१ तेन तत परिपठिता भूतवलि. सत्प्ररूपणा श्रुत्वा । पट्खडागमरचनाभिप्राय पुष्पदन्तगुरो ॥१३७ विज्ञायात्पायुष्यान्तर्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य तत । द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकार खंडपचकस्यान्वक् ॥१३८ सूत्राणि षट्सहस्रग्रथान्यथ पूर्वसूत्रमहितानि । प्रविरच्य महाबंधाद्वय तत पष्ठकं खडम् ॥१३९ त्रिंशत्सहस्रसूत्रत्रय व्यरचयदसौ महात्मा ।

ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निघत्त-अनिघत्त निकाचित-अनिकाचित कर्मस्थिति, पश्चिमस्कध और अल्पबहुत्व, इन अठारह अनुयोगद्वारोका कथन किया गया है और इस समस्त भागको चूलिका कहा है। यथा—

एतो उवरिम-गथो चूलिया णाम ।

इन्द्रनन्दिके उपर्युक्त कथनानुसार यही चूलिका संक्षेपसे छठवा खंड ठहरता है, और इसका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धवला षट्खंडागम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है। विबुध श्रीधरके मतानुसार वीरसेनकृत ७२ हजार प्रमाण समस्त धवला टीकाका ही नाम सत्कर्म है। यथा—

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपाश्वर्षे सिन्ध्यातद्वय वीरसेननामा मुनि पठित्वाऽपराण्यपि अष्टादशाधिकाराणि प्राप्य पंच-खंडे षट्-खंडे सकल्प्य सस्कृतप्राकृतभाषया सत्कर्मनामटीका द्वासप्ततिसहस्रप्रमिता धवलनामाकिता लिखाप्य विशतिसहस्रकर्मप्राभृत विचार्य वीरसेनो मुनि. स्वर्ग यास्यति । (विबुध श्रीधर श्रुतावतार मा. ग्र मा २१, पृ ३१८)

दुर्भाग्यत महावध (महाधवल) हमे उपलब्ध नहीं है, इस कारण महावध और सत्कर्म नामोकी इस उलझनको सुलझाना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु मूडविद्रीमे सुरक्षित महाधवलका जो थोडासा परिचय उपलब्ध हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ भी सत्कर्म नामसे है और उसपर एक पचिकारूप विवरण है जिसके आदिमे ही कहा गया है—

‘वोच्छामि संतकम्मे पचियरूवेण विवरण सुमहत्थ । . चोव्वीसमणियोगद्वारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्वाराणि वेदणाखंडम्हि पुणो फास (कम्म-पयडि-वधणाणि) चत्तारि अणियोगद्वारेसु तत्थ वध-वधणिज्जणामणियोगेहि सह वर्गणाखडम्हि, पुणो वध-विधानणामाणियोगो^१ खुद्दावधम्हि सप्पवचेण परूविदाणि । तो वि तस्सइगभीरत्तादो अत्थ-विसम पदाणमत्थे थोरुद्वयेण (?) पचियसरूवेण भणिस्सामो । (वीरवाणी सि भ रिपोर्ट, १९३५)

इसका भावार्थ यह है कि महाकर्मप्रकृति पाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोमेसे कृति और वेदनाका वेदना खडमे, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और वधनके बंध और वधनीयका वर्गणाखडमे और वधविधान^१ नामक अणुयोगद्वारका खुद्दाबंधमे विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है। इनसे गेव अठारह अनुयोगद्वार सब सत्कर्ममे प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अतिगभीर होनेसे उसके विषय पदोका अर्थ संक्षेपमे पचिकारूपसे यहा कहा जाता है।

इससे जान पडा कि महाधवलका मूलग्रंथ सतकम्म (सत्कर्म) नामका है और उसमे महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोमेसे वेदना और वर्गणाखडमे वर्णित प्रथम छहको छोडकर शेष निवधनादि अठारह अनुयोगद्वारोका प्ररूपण है।

१ यहा पाठमे कुछ त्रुटि जान पडती है, क्योंकि, धवलाके अनुसार खुद्दावधसे वधकका वर्णन है और वधविधान महावधका विषय है।

महाधवल या सत्कर्मकी उक्त पचिका कवकी और किसकी है ? सभवत यह वही पचिका है जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बूलूराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित कहा है । (देखो ऊपर पृ ४९)

किंतु जयधवलामे एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकारमे कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध है और उनमे उदय नामक अर्थाधिकार प्रकृति सहित स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोके अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य उदयके प्ररूपणमे व्यापार करता है । यथा—

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्वारेसु पडिबद्धेसु उदओ णाम अत्थाहियारो द्विदि-अणुभाग-पदेसाण पयडिसमणियाणमुक्कस्साणुक्कस्स-जहण्णाजहण्णुदयपरुवणे य वावारो । जयध अ ५१२

इससे जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारोका ही समष्टिरूपसे सत्कर्म महाधिकार नाम है और चूकि ये चौबीस अधिकार तीसरे अर्थात् बधस्वामित्वविचयके पश्चात् क्रमसे वर्णन किये गये है, अतः उस समस्त विभाग अर्थात् अन्तिम तीन खंडोका नाम सतकम्म या सत्कर्मपाहुड महाधिकार है ।

किन्तु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, इन्ही चौबीस अनुयोगद्वारोसे जीवट्टाणके थोडेसे भागको छोडकर शेष समस्त षट्खडागमकी उत्पत्ति हुई है । अतः जयधवलाके उल्लेखपरसे इस समस्त ग्रंथका नाम भी सत्कर्म महाधिकार सिद्ध होता है । इस अनुमानकी पुष्टि प्रस्तुत ग्रंथके दो उल्लेखोसे अच्छी तरह हो जाती है । पृ २१७ पर कषायपाहुड और सत्कर्मपाहुडके उपदेशमे मतभेदका उल्लेख किया गया है । यथा—

‘एसो सतकम्म-पाहुड-उवएसो । कसायपाहुड-उवएसो पुण . ..’

आगे चलकर पृष्ठ २२१ पर शका की गई कि इनमेसे एक वचन सूत्र और दूसरा असूत्र होना चाहिये और यह सभव भी है, क्योंकि, ये जिनेन्द्र वचन नहीं हैं किन्तु आचार्योंके वचन हैं । इसका समाधान किया गया है कि नहीं, सत्कर्म और कषायपाहुड दोनों ही सूत्र हैं, क्योंकि, उनमे तीर्थकरद्वारा कथित, गणधरद्वारा रचित तथा आचार्यपरंपरासे आगत अर्थका ही ग्रंथन किया गया है । यथा—

‘आइरियकहियाण सतकम्म-कसाय-पाहुडाण कथ सुत्तत्तणमिदि चे ण (पृ २२१)

यहां स्पष्टतः कषाय पाहुड के साथ सत्कर्मपाहुडसे प्रस्तुत समस्त षट्खडागमसे ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है, क्योंकि, पूर्वोक्ती रचनामे उक्त चौबीस अनुयोग-

द्वारोका नाम महाकर्मप्रकृतिपाहुड है। उसीका घरसेन गुरुने पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा उद्धार कराया है, जैसा कि जीवट्टाणके अन्त व खुद्दावधके आदिकी एक गाथासे प्रकट होता है—

जयउ घरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो ।

वुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फुयतस्स ॥ (धवला अ ४७५)

महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म सज्ञाए एक ही अर्थकी द्योतक है। अतः सिद्ध होता है कि इस समस्त षट्खडागमका नाम सत्कर्मप्राभूत है। और चूँकि इसका बहुभाग धवला टीकामे ग्रथित है, अतः समस्त धवलाको भी सत्कर्मप्राभूत कहना अनुचित नहीं। उसी प्रकार महावध या निवधनादि अठारह अधिकार भी इसीके एक खड होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते हैं। और जिस प्रकार खड विभागकी दृष्टिसे कृतिका वेदनाखडमे स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा वधनके प्रथम भेद वधका वर्गणाखडमे अन्तर्भाव कर लिया गया है, उसी प्रकार निवन्धनादि अठारह अधिकारोका महावध नामक खडमे अन्तर्भाव अनुमान किया जा सकता है जिसमे महावधवलान्तर्गत उक्त पचिकाके कथनकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, सत्कर्मका एक विभाग होनेसे वह भी सत्कर्म कहा जा सकता है।

सत्कर्मप्राभूत षट्खडागम तथा उसकी टीका धवलाकी इस रचनाको देखनेसे ज्ञात होता है कि उसके मुख्यतः दो विभाग हैं। प्रथम विभागके अन्तर्गत जीवट्टाण, खुद्दावध व वध-स्वामित्वविचय हैं। इनका मगलाचरण, श्रुतावतार आदि एक ही वार जीवट्टाणके आदिमे किया गया है और उन सबका विषय भी जीव या वधककी मुख्यतासे है। जीवट्टाणमे गुणस्थान और मार्गणाओकी अपेक्षा सत्, सख्या आदि रूपसे जीवतत्वका विचार किया गया है। खुद्दावधमे सामान्यकी अपेक्षा वधक, और वधस्वामित्वविचयमे विशेषकी अपेक्षा वधकका विवरण है।

दूसरे विभागके आदिमे पुनः मगलाचरण व श्रुतावतार दिया गया है, और उसमे यथार्थतः कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारोका क्रमशः वर्णन किया गया है और इस समस्त विभागमे प्रधानतासे कर्मोकी समस्त दशाओका विवरण होनेसे उसकी विशेष सज्ञा सत्कर्मप्राभूत है। इन चौबीसोमेसे द्वितीय अधिकार वेदनाका विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नामसे चौथा खड खडा हो गया। वधनके तीसरे भेद वधनीयमे वर्गणाओका विस्तारसे वर्णन आया और उसके महत्वके कारण वर्गणा नामका पाचवा खड हो गया। इसी वधनके चौथे भेद वधविधानके खूब विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसका महावध नामक छठवा खड बन गया और शेष अठारह अधिकार उन्हींके आजूबाजूकी वस्तु रह गये।

धवलाकी रचनाके पश्चात् उसके सबसे बड़े पारगामी विद्वान् नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन दो ही विभागोको ध्यानमे रखकर जीवकाण्ड और कर्मकाण्डकी रचना की, ऐसा प्रतीत

होता है। तथा उसके छो़ो खडोका ख्याल करके उन्होने गर्वके साथ कहा है कि ' जिस प्रकार एक चक्रवर्ती अपने चक्रके द्वारा छह खड पृथिवीको निर्विघ्नरूपसे अपने वशमे कर लेता है, उसी प्रकार अपने मतिरूपी चक्रद्वारा मैंने छह खड सिद्धान्तका सम्यक् प्रकारसे साधन कर लिया '—

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहिय अविग्घेण ।

तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहिय सम्म ॥ ३९७ ॥ गो क

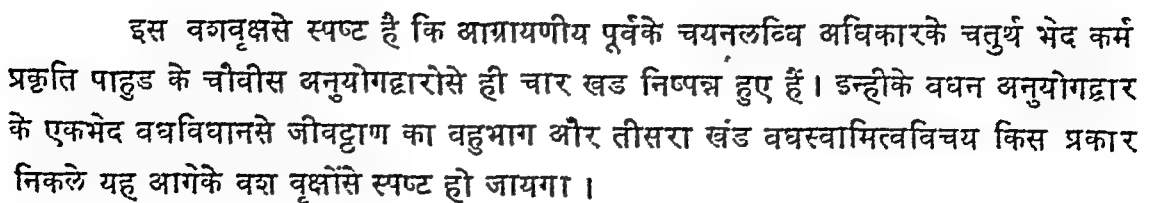
इससे आचार्य नेमिचद्रको सिद्धान्तचक्रवर्तीका पद मिल गया और तभीसे उक्त पूरे सिद्धान्तके ज्ञाताको इस पदवीसे विभूषित करनेकी प्रथा चल पडी। जो इसके केवल प्रथम तीन खडोमे पारंगत होते थे, उन्हें ही जान पडता है, त्रैविद्यदेवका पद दिया जाता था। श्रवणवेलगोलाके शिलालेखोमे अनेक मुनियोके नाम इन पदवियोसे अलंकृत पाये जाते हैं। इन उपाधियोने वीरसेनसे पूर्वकी सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य और महावाचककी पदवियोका सर्वथा स्थान ले लिया। किंतु थोडे ही कालमे गोम्मटसारने इन सिद्धान्तोका भी स्थान ले लिया और उनका पठन-पाठन सर्वथा रुक गया। आज कई शताब्दियोके पश्चात् इनके सुप्रचारका पुन सुअवसर मिल रहा है।

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार षट्खंडागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सीधा सम्बन्ध महावीरस्वामीकी द्वादशाग वाणीसे माना जाता है। शेष सब श्रुतज्ञान इससे पूर्व ही क्रमश लुप्त व छिन्न भिन्न हो गया। द्वादशाग श्रुतका प्रस्तुत षट्खंडागमका ग्रंथमे विस्तारसे परिचय कराया गया है (पृ ९१ से)। इनमेसे बारहवे अगको द्वादशांगसे छोडकर शेष सब ही नामोके अग-ग्रंथ श्वेताम्बर सम्प्रदायमे जब भी पाये जाते सम्बंध है। इन ग्रंथोकी परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारादि दिगम्बर मान्यताके कहातक अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगेके किसी खडमे किया जायगा, यहा केवल यह बात ज्ञान देने योग्य है कि जो ग्यारह अग श्वेताम्बर साहित्यमे हैं वे दिगम्बर साहित्यमे नही हैं और जिस बारहवे अगका श्वेताम्बर साहित्यमे सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद नामक बारहवा अग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रंथोका उद्गमस्थान है।

बारहवे दृष्टिवादके अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाच प्रभेद हैं। इनमेसे पूर्वगतके चौदह भेदोमेके द्वितीय आग्रायणीय पूर्वसे ही जीवट्टाणका बहुभाग और शेष पाच खड सपूर्ण निकले हैं जिनका क्रमभेद नीचेके वंशवृक्षोसे स्पष्ट हो जायगा।

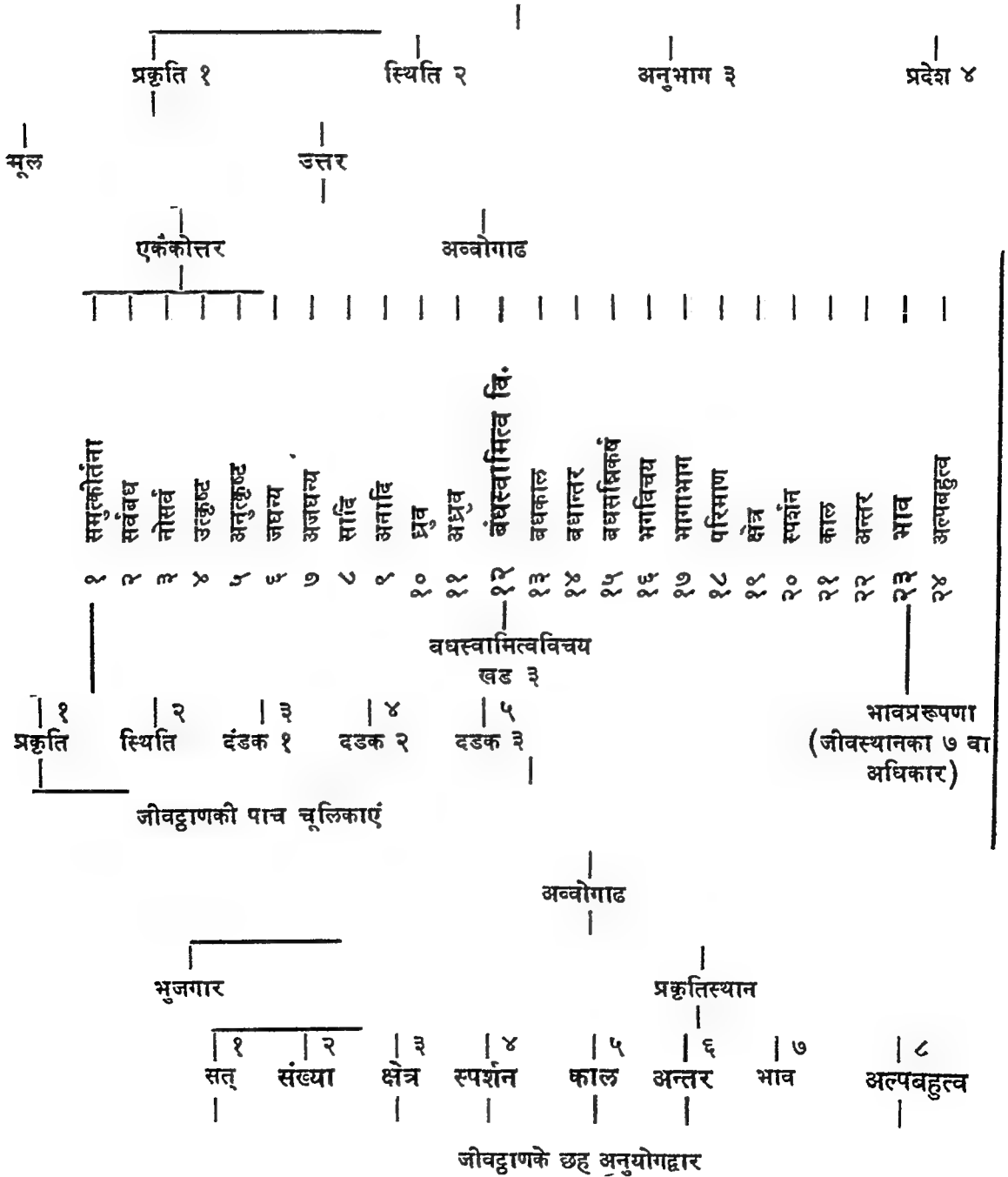
१—	पूर्वन्ति	
२—	अपरात्त	
३—	ध्रुव	
४—	अध्रुव	
५—	चयनलब्धि	
६—	अर्धोपम	
७—	प्रणिधिकल्प	
८—	अर्थ	
९—	भौम	
१०—	व्रतादिक	
११—	सर्वार्थ	
१२—	कल्पनियोग	
१३—	अतीत सिद्ध-वद्	
१४—	अनागत "	

उनमे चतुर्यपाहुड कर्मप्रकृति.

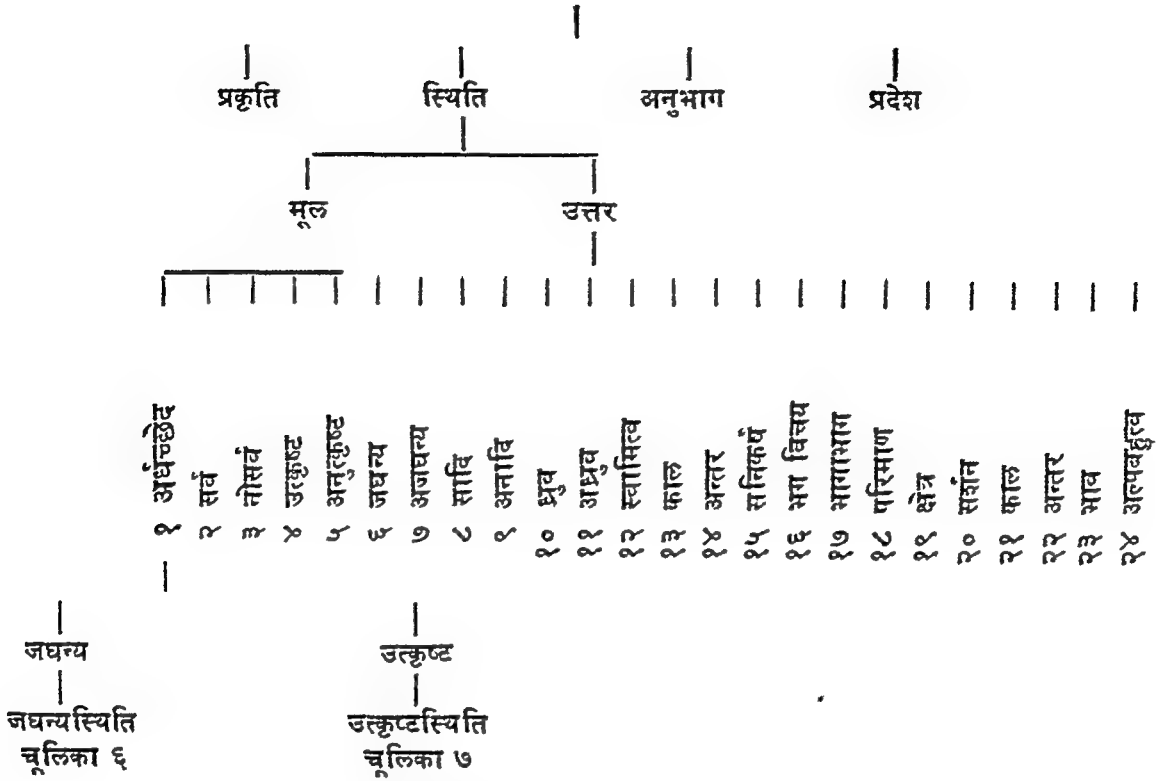


बधके ११ अनुयोगद्वारोमे पाचवा द्रव्यप्रमाणानुगम है। वही जीवद्वानकी सख्या प्ररूपणाका उद्गमस्थान है।

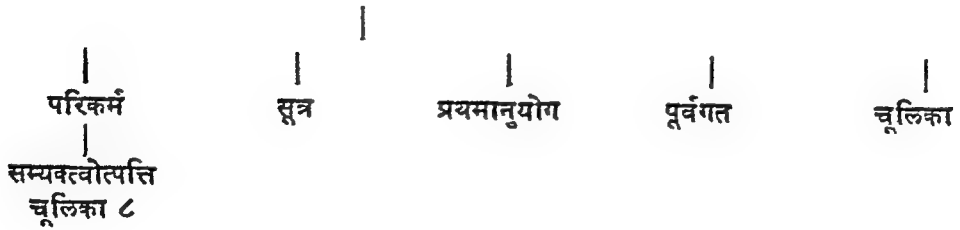
२ बंधविधान



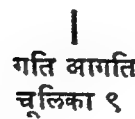
३ बंधविधान



४ दृष्टिवाद (१२ वां अंग)



५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (पांचवां अंग)



इन बंध-वृक्षोंसे षट्खंडागमका द्वादशांगश्रुतसे सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और साथ ही साथ उस द्वादशांग वाणीके साहित्यके विस्तारका भी कुछ अनुमान किया जा सकता है ।

११. सत्प्ररूपणाका विषय

प्रस्तुत ग्रंथमे ही जीवट्टाणकी उत्थानिकामे कहा गया है कि घरसेन गुरुसे सिद्धान्त सीखकर पुष्पदन्ताचार्य वनवास देगको गये और वहा उन्होने 'विंशति' सूत्रोंकी रचना करके और उन्हें जिनपालितको पढाकर भूतवलि आचार्य, जो द्रमिल देशको चले गये थे, के पास भेजा। भूतवलिने उन सूत्रोंको देखा और तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके शेष समस्त पट्खडागमकी सूत्र-रचना की। इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुल सूत्र पुष्पदन्ताचार्यके बनाये हुए हैं। किंतु उन सूत्रोंकी सख्या विंशति अर्थात् बीस नहीं परन्तु एक सौ सत्तत्तर है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि पुष्पदन्तके बनाये हुए बीस सूत्र कहनेसे धवलाकारका तात्पर्य क्या है? धवलाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनन्तर जो ओघालाप प्रकरण लिखा है वह बीस प्ररूपणाओंको ध्यानमे रखकर ही लिखा गया है। और इस सिद्धान्तका जो सार नेमिचंद्र सि च ने गोम्मटसार जीवकाण्डमे सगृहीत किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है। वे बीस प्ररूपणाएँ गोम्मटसारके गन्दोमे इस प्रकार हैं—

गुणजीवा^१ पज्जती^१ पाणा^१ सण्णा^१ य मग्गणाओ^{१४} य ।

उवओगो^१ वि य कमसो बीस तु परूवणा भणिया ॥ २ ॥

अर्थात् गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग ये बीस प्ररूपणाएँ हैं।

अतएव विंशति सूत्रसे इन्ही बीस प्ररूपणाओंका तात्पर्य ज्ञात होता है। इन बीसों प्ररूपणाओंका विषय यहां चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंके भीतर आजाता है।

राग, द्वेष व मिथ्यात्व भावोंको मोह कहते हैं और मन, वचन व कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंके चंचल होनेको योग कहते हैं। इन्ही मोह और योगके निमित्तसे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्मगुणोंकी क्रमविकासरूप अवस्थाओंका गुणस्थान कहते हैं।

ऐसे गुणस्थान चौदह हैं— १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरतसम्यग्दृष्टि, ५ देगविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपगान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली।

१ मिथ्यात्व अवस्थामे जीव अज्ञानके वशीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनीय कर्मका उदय है। सासादन और मिश्र मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टि के बीचकी अवस्थाएँ हैं। चौथे गुणस्थानमे सम्यक्त्व हो जाता है किन्तु चारित्र नहीं सुधरता। देशविरतका चारित्र्य थोडा सुधरता है, प्रमत्तविरतका चारित्र पूर्ण तो होता है, किन्तु परिणामोंकी अपेक्षा अप्रमत्तविरतसे चारित्रकी क्रमसे शुद्धि व वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवे गुणस्थानमे चारित्रमोहनीयका उपशम हो जाता है और बारहवा गुणस्थान चारित्र मोहनीयके क्षयसे उत्पन्न होता है। तेरहवे गुणस्थानमे सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता है किन्तु योगोंका सद्भाव भी है। अन्तिम गुणस्थानमे दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी पूर्णता तथा योगोंका अभाव हो जानेसे मोक्ष हो जाता है।

मार्गणा शब्दका अर्थ खोज करना है। अतएव जिन जिन धर्मविशेषोंसे जीवोंकी खोज या अन्वेषण किया जाय उन धर्मविशेषोंको मार्गणा कहते हैं। ऐसी मार्गणाएँ चौदह हैं—गति, इन्द्रिय काय, योग, वेदकषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सजित्व और आहार।

१ गति चार प्रकारकी है— नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव

२. इन्द्रिया द्रव्य और भावरूप होती है और वे पाच प्रकारकी हैं— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र

३ एकेन्द्रियसे पाच इन्द्रियो तककी शरीररचनाको काय कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्थावर और शेष त्रस कहलाते हैं।

४ आत्मप्रदेशोंकी चंचलताका नाम योग है इसीसे कर्मबध होता है। योग तीन निमित्तोंसे होता है— मन, वचन और काय।

५ पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप भाव व तद्रूप अवयवविशेषको वेद कहते हैं।

६ जो आत्माके निर्मलभाव व चारित्र्यको कपै अर्थात् घात पहुँचावे वह कषाय है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं।

७ मति, श्रुति, अवधि, मन पर्यय, केवल, तथा कुमति, कुश्रुति और कुअवधि रूपसे ज्ञान आठ प्रकारका होता है।

८ मन व इन्द्रियोंकी वृत्तिके निरोधका नाम सयम है और यह सयम हिंसादिक पापोंकी निवृत्तिसे प्रकट होता है। सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, यथाख्यात, सयमासयम और असयम, ये सयमके सात भेद हैं।

९ चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये दर्शनके चार भेद हैं।

१० कषायसे अनुरजित योगोंकी प्रवृत्ति व शरीरके वर्णोंका नाम लेश्या है। इसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापीत, पीत, पद्म और शुक्ल।

११ जिस शक्तिके निमित्तसे आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य गुण प्रगट होते हैं उसे भव्यत्व कहते हैं। तदनुसार जीव भव्य व अभव्य होते हैं।

१२ तत्त्वार्थके श्रद्धानका नाम सम्यक्त्व है, और दर्शनमोहके उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन व मिथ्यात्वरूप भावोंके अनुसार सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हो जाते हैं।

१३ मनके द्वारा शिक्षादिके ग्रहण करनेको सज्ञा कहते हैं और ऐसी सज्ञा जिसमें हो वह संज्ञी कहलाता है। तदनुसार जीव सज्ञी व असज्ञी होते हैं।

१४ औदारिक आदि शरीर और पर्याप्तिके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। तदनुसार जीव आहारक और अनाहारक होते हैं।

इन चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओंका प्ररूपण करनेवाले सत्प्ररूपणोंके अन्तर्गत १७७ सूत्र हैं जिनका विषयक्रम इस प्रकार है। प्रथम सूत्रमें पचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है। आगेके तीन सूत्रोंमें मार्गणाओंका प्रयोजन बतलाया गया है और उनका गति आदि नामनिर्देश किया गया है। ५, ६ और ७ वे सूत्रमें मार्गणाओंके प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोगद्वारोंके जाननेकी आवश्यकता बताई है और उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (सख्या) आदि नामनिर्देश किये हैं। ८ वे सूत्रसे इन अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम सत् प्ररूपणका विवरण प्रारम्भ होता है जिसके आदिमेंही ओघ और आदेश अर्थात् सामान्य और विशेष रूपसे विषयका प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंका निरूपण किया है जो ९ वे सूत्रसे २३ वे सूत्रतक चला है। २४ वे सूत्रसे विशेष अर्थात् गति आदि मार्गणाओंका विवरण प्रारम्भ हुआ है जो अन्त तक अर्थात् १७७ वें सूत्रतक चलता रहा है। गति मार्गणा ३२ वे सूत्रतक है। यहापर नरकादि चारों गतियोंके गुणस्थान बतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकेन्द्रियसे असंज्ञी पचेन्द्रियतक बुद्ध तिर्यंच होते हैं, सज्ञी मिथ्यादृष्टिसे सयतासयत गुणस्थानतक मिश्र तिर्यंच होते हैं, और इसी प्रकार मनुष्य भी। देव और नारकी असयत गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा दूसरी तीन गतियोंके जीवोंके साथ समान होते हैं। प्रमत्तसयतसे आगे बुद्ध मनुष्य होते हैं। ३३ वे सूत्रसे ३८ वे तक इन्द्रिय मार्गणाका कथन है और उससे आगे ४६ वे सूत्र तक कायका और फिर १०० वे सूत्र तक योगका कथन है। इस मार्गणामे योगके साथ पर्याप्ति अपर्याप्तियोंका भी प्ररूपण किया गया है। तत्पश्चात् ११० वे सूत्रतक वेद, ११४ तक कपाय, १२२ तक ज्ञान, १३० तक सयम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लेश्या, १४३ तक भव्य, १७१ तक सम्यक्त्व, १७४ तक सज्ञी और फिर १७७ तक आहार मार्गणाका विवरण है।

प्रतियोगमें सूत्रोंका क्रमांक दो कम पाया जाता है, क्योंकि, वहा प्रथम मगलाचरण व तीसरे सूत्र 'त जहा' की पृथक् गणना नहीं की। किन्तु टीकाकारने स्पष्टतः उनका सूत्ररूपसे व्याख्यान किया है, अतएव हमने उन्हें सूत्र गिना है।

टीकाकारने प्रथम मगलाचरण सूत्रके व्याख्यानमें इस ग्रन्थका मगल, निमित्त, हेतु परिणाम, नाम और कर्ताका विस्तारसे विवेचन करके दूसरे सूत्रके व्याख्यानमें द्वादशागका पूरा परिचय कराया है और उसमें द्वादशाग श्रुतसे जीवद्वाराके भिन्न भिन्न अधिकारोंकी उत्पत्ति बतलाई है। चौथे सूत्रके व्याख्यानमें गति आदि चौदह मार्गणाओंके नामोंकी निश्चित और सार्थकता बतलाते हुए उनका सामान्य परिचय करा दिया गया है। उसके पश्चात् विषयका खूब विस्तार सहित न्यायशैलीसे विवेचन किया है। टीकाकारकी शैली सर्वत्र प्रश्न उठाकर उनका समाधान करनेकी रही है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थमें कोई छह सौ शकाए उठाई गई हैं और उनके समाधान किये गये हैं। उदाहरणों, दृष्टान्तों, युक्तियों और तर्कों द्वारा टीकाकारने विषयको खूब ही छाना है और स्पष्ट किया है, किन्तु ये सब युक्ति और तर्क, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, आगमकी मर्यादाको लिए हुए हैं, और आगम ही यहा सर्वोपरि प्रमाण है। टीकाकारद्वारा व्याख्यात विषयकी गंभीरता, सूक्ष्मता और तुलनात्मक विवेचन हम अगले

खडमे करेगे जिसमे सत्प्ररूपणाका आलाप प्रकरण भी पूरा हो जावेगा । तबतक पाठक स्वयं सूत्रकार और टीकाकारके शब्दोका स्वाध्याय और मनन करनेकी कृपा करे ।

१२. ग्रंथकी भाषा

प्रस्तुत ग्रंथ रचनाकी दृष्टिसे तीन भागोमे बटा हुआ है । प्रथम पुष्पदन्ताचार्यके सूत्र, दूसरे वीरसेनाचार्यकी टीका और तीसरे टीकामे स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन गद्य और पद्य । सूत्रोकी भाषा आदिसे अन्त तक प्राकृत है और इन सूत्रोकी सख्या है १७७ । वीरसेनाचार्यकी टीकाका लगभग तृतीय भाग प्राकृतमे और शेष भाग सस्कृतमे है । उद्धृत पद्योकी सख्या २२१ है जिनमे १७ सस्कृतमे और शेष सब प्राकृतमे है । इससे अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनाचार्यके सन्मुख जो जैन साहित्य उपस्थित था उसका अधिकांश भाग प्राकृतमे ही था । किन्तु उनके समयके लगभग जैन साहित्यमे सस्कृतका प्राधान्य हो गया और उनकी टीकामे जो सस्कृत-प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्रायः उन दोनों भाषाओकी तात्कालिक आपेक्षिक प्रबलताका द्योतक है । इस समयसे प्राकृतका बल घट चला और सस्कृतका बढा, यहातक कि आजकल जैनियोमे प्राकृत भाषाके पठन पाठनकी बहुत ही मन्दता है । दिगम्बर समाजके विद्यालयोमे तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत पढानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं । ऐसी अवस्थामे प्रस्तुत ग्रंथका परिचय कराते समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है । प्राकृत साहित्यमे प्राकृत भाषा मुख्यतः पांच प्रकारकी पाई जाती है— मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश ।

महावीरस्वामीके समयमे अर्थात् आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रातमे प्रचलित थी वह मागधी कहलाती है । इस भाषाका कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं पाया जाता । किन्तु प्राकृत व्याकरणोमे इस भाषाका स्वरूप बतलाया गया है ।
मागधी और कुछ गिलालेखो और नाटकोमे इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषाकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट समझमे आ जाती हैं—

१ र के स्थानमे ल, जैसे राजा—लाजा, नगर—णगल,

२ श, ष और सके स्थानपर ञ । जैसे, शम—शम, दासी—दाशी, मनुष—मनुश ।

३ सज्ञाओके कर्ताकारक एकवचन पुल्लिङ्ग रूपमे ए । जैसे देव—देवे, नर—णले, उदाहरण—

अले कुंभीलआ । कहेहि, कहि तुए एशे मणिवधणुक्किणणामहेए लाअकीलए अगुली-
 अए शमाशादिए । (शकुतला)

‘ अरे कुभीलक ! कह, कहाँ तूने इस मणिवध और उत्कीर्ण नाम राजकीय अगुलीको पाया ’ ।

दूसरे प्रकारकी प्राकृत अर्धमागधी इस कारण कहलाई कि उसमे मागधीके आवे लक्षण पाये जाते हैं, क्योंकि, संभवतः वह आधे मगध देगमे प्रचलित थी। इसी भाषामे प्राचीन जैन सूत्रोंकी रचना हुई थी और इसका रूप अब ज्वेताम्बरीय सूत्र— ग्रंथोंमे पाया अर्धमागधी जाता है, इसीलिये डॉ याकोवीने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमे ष और स के स्थानपर श न होकर सर्वत्र स ही पाया जाता है, र के स्थानपर ल तथा कर्ता कारकमें 'ए' विकल्पसे होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अविकरण कारकका रूप 'ए' व 'म्मि' के अतिरिक्त 'असि' लगाकर भी बनाया जाता है।

उदाहरण—

कोहाइ माणं हणिया य वीरे लोभस्स पासे निरयं महंत ।

तम्हा हि वीरे विरओ वहाओ छिदेज्ज सोय लहुभूयगामी ॥ (आचाराग)

क्रोधादि व मान का हनन करके महावीरने लोभके महान् पाशको तोड़ डाला। इस प्रकार वीर ववसे विरत होकर भूतगामी शोकका छिन्दन करे।

मुसाणसि वा मुन्नागारेंसि वा गिरिगुहसि वा रुक्खमूलम्मि वा । (आचारांग)

ज्मगानमे या नून्यागारमे या गिरिगुफामे व वृक्षके मूलमे (साधु निवास करे)

ये मागधीकी प्रवृत्तिया अर्धमागधीमे भी धीरे धीरे कम होती गई हैं।

प्राचीन गूरसेन अर्थात् मथुराके आसपासके प्रदेशकी भाषाका नाम शौरसेनी है। वैयाकरणोंने इस भाषाका जैसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकोंमे कहीं कहीं मिलता है, पर इसका स्वतंत्र साहित्य दिगम्बर जैन ग्रंथोंमे ही पाया जाता है।

शौरसेनी प्रवचनसारादि कुदकुदाचार्यके ग्रंथ इसी प्राकृतमे हैं। कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर जैनियोंकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा है। किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विगेषताओंको लिये हुए होनेसे उसका वैयाकरणोंकी शौरसेनीसे पृथक् निर्देश करनेके हेतु उसे 'जैन शौरसेनी' कहनेका रिवाज हो गया है। जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रस्तुत ग्रंथकी प्राकृत मुख्यत यही है।

शौरसेनीकी विगेषताए ये हैं कि उसमे र का ल क्वचित् ही होता है, तीनों सकारों के स्थानपर स ही होता है, और कर्ताकारक पुल्लिङ्ग एकवचनमें ओ होता है। इसकी अन्य विशेषताए ये हैं कि गन्धोंके मध्यमे त के स्थानपर द, थ के स्थानपर घ, भ के स्थानपर कहीं कहीं ह और पूर्वकालिक कृदन्तके रूप संस्कृत प्रत्यय, त्वा के स्थानपर ता, इअ या दूण होता है। जैसे—

मुत — मुदो, भवति—भोदि या होई, कथम्—कव कृत्वा—करित्ता, करिअ, करिदूण, आदि

उदाहरण—

रत्तो वधदि कम्म मुच्चदि कम्मेहि राग-रहिदप्पा ।

एसो वधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ प्रवच २, ८७.

णो सदहंति सोक्ख सुहेमु परमं ति विगद-घादीण ।

मुणिदूण ते अबब्बा भब्बा वा त पडिच्छति ॥ प्रवच १, ६२

अर्थात् आत्मा रागयुक्त होकर कर्म बाधता है तथा रागरहित होकर कर्मोंसे मुक्त होता है । यह जीवोंका वधसमास है, ऐसा निश्चय जानो ।

घातिया कर्मोंसे रहित (केवली भगवान्) का सुख ही सुखोमे श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं ।

महाराष्ट्री प्राकृत प्राचीन महाराष्ट्रकी भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती सेतुवध, गउडवह आदि काव्योंमे पाया जाता है । संस्कृत नाटकोंमे जहां प्राकृतका प्रयोग होता है वहां पात्र वातचीत तो शौरसेनीमें करते हैं और गाते महाराष्ट्रीमे हैं ।

महाराष्ट्री ऐसा विद्वानोंका मत है । इसका उपयोग जैनियोंने भी खूब किया है ।

पउमचरिअं, समराइच्चकहा, सुरसुंदरीचरिअं, पासणाहचरिअं आदि काव्य और वेत्तांवर आगम सूत्रोंके भाष्य, चूर्णी, टीका, आदिकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है । पर यहां भी जैनियोंने डधर उधरसे अर्धमागधीकी प्रवृत्तियां लाकर उसपर अपनी छाप लगा दी है और इस कारण इन ग्रंथोंकी भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है । जैन महाराष्ट्रीमे सप्तशती व सेतुवध आदिकी भाषासे विलक्षण आदि व, द्वित्वमे न और लुप्त वर्णके स्थानपर य श्रुतिक उपयोग हुआ है, जैसा जैन शौरसेनीमे भी होता है । महाराष्ट्रीके विशेष लक्षण जो उसे शौरसेनीसे पृथक् करते हैं, ये हैं कि यहां मध्यवर्ती त का लोप होकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किंतु वह ङ मे परिवर्तित नहीं होता । उसी प्रकार थ यहां घ मे परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रियाका पूर्वकालिक रूप ऊण लगाकर बनाया जाता है । जैन महाराष्ट्रीमे ङ न विभेदताओंके अतिरिक्त कही कही र का ल व प्रथमान्त ए आजाता है । जैसे—

जानाति-जाणइ, कयम्-कहं; भूत्वा-होऊण, आदि ।

उदाहरणार्थ—

सव्वायरेण चलणे गुरुस्स नमिऊण दसरही राया ।

पविसरइ नियम-नयारि साएयं जण-धणाइण्णं ॥

(पउम च. ३१, ३८, पृ. १३२)

अर्थात् सब प्रकारसे गुरुके चरणोंको नमस्कार करके दशरथ राजा जन-धन-परिपूर्ण अपनी नगरी साकेतमे प्रवेश करते हैं ।

क्रमविकासकी दृष्टिसे अपभ्रंश भाषा प्राकृतका सबसे अन्तिम रूप है, उससे आगे फिर प्राकृत वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओका रूप धारण कर लेती है। इस भाषापर भी जैनियों का प्रायः एकछत्र अधिकार रहा है। जितना साहित्य इस अपभ्रंश भाषाका अभीतक प्रकाशमें आया है उसमेंका कमसे कम तीन चौथाई हिस्सा दिगम्बर जैन साहित्यका है। कुछ विद्वानोंका ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएँ थीं उन सबका विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना। जैसे, मागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। बौद्ध चर्यापदों व विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है। किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शौरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैयाकरणोंने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय संभवतः वह नागरिक लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी। पुष्पदन्तकृत महापुराण, नायकुमारचरित, जसहरचरित, तथा अन्य कवियोंके करकडचरित, भविसयत्तकहा, सणकुमारचरित, सावयधम्म-दोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषाके काव्य हैं। इस भाषाको अपभ्रंश नाम वैयाकरणोंने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनको विकास न समझकर विकार समझते थे। पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूब फली फूली और उसीकी पुत्रिया आज समस्त उत्तर भारतका काजव्यवहार सम्हाले हुए है।

इस भाषाकी सज्ञा व क्रियाकी रूपरचना अन्य प्राकृतोंसे बहुत कुछ भिन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्-पुत्तु, पुत्रेण-पुत्ते, पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य-पुत्तहु, पुत्रे-पुत्ते, पुत्ति, पुत्तिहि, आदि।

क्रियामे, करोमि-करउ, कुर्वन्ति-करहि, कुरुथ-करहु, आदि।

इसमें नये नये छन्दोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किन्तु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए। अन्त-यमक अर्थात् तुकवदी इन शब्दोंकी एक बड़ी विशेषता है। दोहा, चौपाई आदि छन्द यहांसे ही हिन्दीमें आये।

अपभ्रंशका उदाहरण—

सुहु सारउ मणुयत्तणह त सुहु धम्मायत्तु ।
धम्मु वि रे जिय त करहि ज अरहतइ वुत्तु ॥

सावयधम्मदोहा ॥ ४ ॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्वका सार है और वह सुख धर्मके आधीन है। रे जीव ! वह धर्म कर जो अरहतका कहा हुआ है।

इन विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त स्वर और व्यजनसम्बन्धी कुछ विलक्षणताएँ सभी प्राकृतोंमें समानरूपसे पाई जाती हैं। जैसे, स्वरोमें ऐ और औ, ऋ और लृ का अभाव और उनके स्थान पर क्रमशः अइ, अउ, अथवा ए, ओ, तथा अ या इ का आदेश, मध्यवर्ती

व्यजनोमे अनेक प्रकारके परिवर्तन व उनका लोप, सयुक्त व्यजनोका असयुक्त या द्वित्वरूप परिवर्तन, पचमाक्षर ड, ङ् आदि सबके स्थानपर हलन्त अवस्थामे अनुस्वार व स्वरसहित अवस्थामे ण मे परिवर्तन । ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रामे पाये जाते हैं । अपभ्रंश भाषामे ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापर पहुँच गये और वहासे फिर भाषाके रूपमे परिवर्तन हो चला ।

इन सब प्राकृतोमे प्रस्तुत ग्रंथकी भाषाका ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णत निर्णय करनेका अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त धवल सिद्धान्त अमरावतीकी प्रतिके १४६५ पत्रोमे समाप्त हुआ है । प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम ६५ पत्रोमात्रका संस्करण है, अतएव यह उसका बाईसवा अंश है । तथा धवला और जयधवलाको मिलाकर वीरसेनकी रचनाका यह केवल चालीसवा अंश बैठेगा । सो भी उपलब्ध एकमात्र प्राचीन प्रतिकी अभी अभी की हुई पाचवी छठवी पीढ़ीकी प्रतियोपरसे तैयार किया गया है और मूल प्रतिके मिलानका सुअवसर भी नहीं मिल सका । ऐसी अवस्थामे इस ग्रंथकी प्राकृत भाषा व व्याकरणके विषयमे कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतोका भेद बहुत कुछ वर्णविपर्ययके ऊपर अवलम्बित है । तथापि इस ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनादिकी सुविधाके लिये व इसकी भाषाके महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर विद्वानोका ध्यान आकर्षित करनेके हेतु उसकी भाषाका कुछ स्वरूप बतलाना यहाँ अनुचित न होगा ।

१ प्रस्तुत ग्रंथमे त बहुधा द मे परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, सुत्रोमे—गदि—गति, चदु—चतु, वीदराग—वीतराग, मदि—मति, आदि । गाथाओमे—पव्वद—पर्वत, अदीद—अतीत, तदिय—तृतीय, आदि । टीकामे—अवदारो—अवतार, एदे—एते, पदिद—पतित, चितिद—चितितम्, सठिद—सस्थितम्, गोदम—गौतम, आदि ।

किन्तु अनेक स्थानोपर त का लोप भी पाया जाता है, यथा—सूत्रोमे—गड—गति, चउ—चतु, वीयराय—वीतराग, जोइसिय—ज्योतिष्क, आदि । गाथाओमे—हेऊ—हेतु, पयई—प्रकृति, आदि । टीकामे—सम्मइ—सम्मति, चउव्विह—चतुर्विध, सव्वघाइ—सर्वघाति, आदि ।

क्रियाके रूपोमे भी अधिकतः ति या ते के स्थानपर दि या दे पाये जाते हैं । जैसे, (सूत्रोमे अत्थि के सिवाय दूसरी कोई क्रिया नहीं है) गाथाओमे—णयदि—नयति, छिज्जदे—छिद्यते, जाणदि—जानाति, लिपदि—लिम्पति, रोचेदि—रोचते, सद्दहदि—श्रद्धाति, कुणदि—करोति, आदि । टीकामे—कीरदे, कीरदि—क्रियते, खिवदि—क्षिपति, उच्चदि—उच्यते, जाणदि—जानाति, परुवेदि—परुपयति, वददि—वदति, विरुज्जदे—विरुध्यते, आदि ।

किन्तु त का लोप होकर सयोगी स्वरमात्र शेष रहनेके भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा—गाथाओमे—होइ, हवइ—भवति, कहेइ—कथयति, वक्खाणइ—व्याख्याति, भमइ—भ्रमति, भण्णइ—भण्यते, आदि । टीकामे—कुणड—करोति, वण्णइ—वर्णयति, आदि ।

२ क्रियाओके पूर्वकालिक रूपोके उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं—इय—छडिय—त्यक्त्वा । त्तु—कटटु—कृत्वा । अ—अहिगम्म—अधिगम्य । दूण—अस्सिदूण—आश्रित्य । ऊण—अस्सिऊण,

दटूण, मोत्तूण, दाऊण, चित्तिऊण, आदि ।

३ मध्यवर्ती क के स्थानमें ग आदेशके उदाहरण मिलते हैं । यथा—सूत्रोंमें—वेदग-वेदक । गायामे—एगदेस-एकदेग, टीकामें—एगत्त-एकत्व, वधग-वन्धक, अप्पावहुग-अल्पवहुत्व ; आगास-आकास, जाणुग-जायक ; आदि ।

किन्तु बहुधा मध्यवर्ती क का लोप पाया जाता है । यथा—सूत्रोंमें—सापराइय-साम्परायिक, एइदिय-एकेन्द्रिय ; सामाइय-सामायिक ; काइय-कायिक । गथाओमें—तित्ययर-तीर्यकर ; वायरणी-व्याकरण, पयई-प्रकृति, पंचएण-पंचकेन, समाइण-समाकीर्ण, अहियार-अविकार । टीकामें—एय-एकः परियम्म-परिकर्म, किदियम्म-कृतिकर्म, वायरण-व्याकरण ; भडारएण-भट्टारकेण, आदि ।

४ मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द और प के लोपके तो उदाहरण सर्वत्र पाये ही जाने हैं, किन्तु इनमेंसे कुछके लोप न होनेके भी उदाहरण मिलते हैं । यथा—ग—सजोग-सयोग, संजोग-नंयोग ; चाग-त्याग, जुग-युग, आदि । त—वितीद-व्यतीत । द—छडुमत्य-छद्मस्थ वादर-वादर, जुगादि-युगादि ; अणुवाद-अनुवाद, वेद, उदार, आदि ।

५. य और घ के स्थानमें प्रायः ह पाया जाता है, किन्तु कहीं कहीं य के स्थानमें घ और घ के स्थानमें घ ही पाया जाता है । यथा—पुघ-पृथक् कघ-कयम् ओघि-अवघि ; (सू. १३१) मोघम्म-सौघर्म (सू. १६९), सावारण (नू. ४१), कदिविघो-कतिविघ, (गा. १८) आचार (टी. १९)

६ संज्ञाओंके पंचमी-एकवचनके रूपमें सूत्रोंमें व गायामें आ तथा टीकामें बहुता-यतसे दो पाया जाता है । यथा—सूत्रोंमें—णियमा-नियमात् । गायामें—मोहा-मोहात् । तम्हा-तस्मात् । टीकामें—णाणादो, पढमादो, केवलादो, विद्विद्यादो, खेत्तदो, कालदो, आदि ।

संज्ञाओंके सप्तमी-एकवचनके रूपमें म्मि और म्हि दोनों पाये जाते हैं । यथा—सूत्रोंमें—एकम्मि (३६, ४३, १२९, १४८, १४९) आदि । एकम्मिह (६३, १२७) । गायामें—एकम्मि, लोयम्मि, पक्खम्मि, मदम्मि, आदि । टीकामें—वत्युम्मि, चइदम्मि, जम्मि, आदि ।

दो गायामें कर्ताकारक एकवचनकी विभक्ति उ भी पाई जाती है । जैसे थावर (१३५) एक्कु (१४६) यह स्पष्टतः अपभ्रंश भाषाकी ओर प्रवृत्ति है और उस लक्षणका शक ७३८ से पूर्वके साहित्यमें पाया जाना महत्वपूर्ण है ।

७ जहा मध्यवर्ती व्यजनका लोप हुवा है वहा यदि सयोगी गेप स्वर अ अथवा आ हो तो बहुधा य श्रुति पायी जाती है । जैसे—तित्ययर-तीर्यकर, पयत्य-पदार्थ, वेयणा-वेदना, गय-गत, गज ; विमग्गया-विमार्गगा, आहारया-आहारका, आदि ।

अ के अतिरिक्त 'ओ' के साथ भी और क्वचित् ऊ व ए के साथ भी हस्तलिखित प्रतियोंमें य श्रुति पाई गई है । किन्तु हेमचन्द्रके नियमका तथा जैन गौरसेनीके अन्यत्र प्रयोगोंका ?

विचार करके नियमके लिये इन स्वरोके साथ य श्रुति नहीं रखनेका प्रस्तुत ग्रथमे प्रयत्न किया गया है। तथापि इसके प्रयोगकी ओर आगे हमारी सूक्ष्मदृष्टि रहेगी। (देखो ऊपर पाठसंशोधनके नियम पृ १३)

उ के पश्चात् लुप्तवर्णके स्थानमे बहुधा व श्रुति पाई जाती है। जैसे—वालुवा-वालुका, बहुव-बहुक, विहुव-विधूत, आदि। किन्तु 'पज्जव' मे विना उ के सामीप्यके भी नियमसे व श्रुति पाई जाती है।

८ वर्ण विकारके कुछ विशेष उदाहरण इस प्रकार पाये जाते हैं—सूत्रोमे—
अड्डाइज्ज-अर्धतृतीय (१६३), अणियोग-अनुयोग (५), आउ-अप् (३९) इड्डि-ऋद्धि (५९) ओधि, ओहि-अवधि (११५, १३१), ओरालिय-औदारिक (५६), छदुमत्थ-छद्मस्थ (१३२), तेउ-तेजस (३९), पज्जव-पर्याय (११५), मोस-मृषा (४९), वेतर-व्यन्तर (९६), णेरडय-नारक, नारकी (२५), गाथाओमे— इक्खय-इक्ष्वाकु (५०), उराल-उदार (१६०), इगाल-अगार (१५१), खेत्तणू-क्षेत्रज्ञ (५२), चाग-त्याग (९२), फदय-स्पर्धक (१२१), सस्सेदिम-सस्वेदज (१३९)।

गाथाओमे आए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं—कायोली-वीवध (८८), घुम्मत्-भ्रमत् (६३), चोक्खो-शुद्ध (२०७), णिमेण-आधार (७), भेज्ज-भीरु, (२०१), मेर-मात्रा, मर्यादा (९०)

टीकाके कुछ देशी शब्द—अल्लियइ-उपसर्पति (२२०), चडविय-आरूढ (२२१), छड्डिय त्यक्त्वा (२११), णिसुड्डिय-नत (६८), बोलाविय-व्यतीत्य (६८)।

इन थोड़ेसे उदाहरणोपरसे ही हम सूत्रो, गाथाओ व टीकाकी भाषा के विषयमे कुछ निर्णय कर सकते हैं। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि, उसमे न तो अनिवार्य रूपसे, और न विकल्पसे ही र के स्थान पर ल, व स के स्थानपर श पाया जाता, और न कर्ताकारक एकवचन मे कही ए मिलता।

त के स्थानपर द, क्रियाओके एकवचन वर्तमान कालमे दि व दे, पूर्वकालिक क्रियाओके रूपमे तु व दूण, अपादानकारककी विभक्ति दो तथा अधिकरणकारककी विभक्ति मिह, क के स्थानपर ग, तथा थ के स्थानपर घ आदेश, तथा द और ध का लोपाभाव, ये सब शौरसेनीके लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रियाके रूपोमे इ, पूर्व कालिक क्रियाके रूपमे ऊण, ये महाराष्ट्रीके लक्षण हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण सूत्रो, गाथाओ व टीका सभीमे पाये जाते हैं। सूत्रोमे जो वर्णविकारके विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधीकी ओर सकेत करते हैं। अत कहा जा सकता है कि सूत्रो, गाथाओ व टीकाकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है, उसपर अर्धमागधी का प्रभाव है, तथा उसपर महाराष्ट्रीका भी सस्कार पडा है। ऐसी ही भाषाको पिशेल आदि पाञ्चमिक विद्वानोने जैन शौरसेनी नाम दिया है।

१ अवर्णो य श्रुति (८, १, १८०,) टीका—क्वचिद् भवति, पियइ ॥ १८० ॥

२ डॉ उपाध्ये, प्रवचनसारकी भूमिका, पृ ११५

सूत्रोंमें अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है। सूत्रोंमें एक मात्र क्रिया 'अत्थि' आती है और वह एकवचन व बहुवचन दोनोंकी बोधक है। यह भी सूत्रोंके प्राचीन आर्थ प्रयोग का उदाहरण है।

गाथाएं प्राचीन साहित्यके भिन्न भिन्न ग्रंथोंकी भिन्न भिन्न कालकी रची हुई अनुमान की जा सकती हैं। अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रीपनकी मात्रामें भेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन। महाराष्ट्रीका प्रभाव साहित्यमें पीछे पीछे अधिकाधिक पड़ता गया है। उदाहरणके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा न० २०३ लीजिये जो यहाँ इस प्रकार पाई जाती है—

रुसदि णिददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयदि परिभवदि परं पससदि अप्पय बहुसो ॥

इसी गाथाने गोम्मटसार (जीवकाड ५१२) में यह रूप धारण कर लिया है—

रुसइ णिदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पससए अप्पयं बहुसो ॥

यहाँकी गाथाओंका गोम्मटसारमें इस प्रकारका महाराष्ट्री परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहाँ इस ग्रंथमें महाराष्ट्रीपन है वहाँ गोम्मटसारमें शौरसेनीपन स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यहाँ 'खमइ बहुअ हि' है वहाँ गो जी ५१६ में 'खमदि बहुअं पि' पाया जाता है। गाथा २१० में यहाँ 'एय-णिगोद' है, किन्तु गोम्मटसार १९६ में उसी जगह 'एग-णिगोद' है। ऐसे स्थलोंपर गोम्मटसारमें प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंकी सावधानीसे परीक्षा न की जाय और यथेष्ट उदाहरण सन्मुख उपस्थित न हो तबतक इनकी भाषाके विषयमें निश्चयत कुछ कहना अनुचित है।

टीका का प्राकृत गद्य प्रौढ, महावरेदार और विषयके अनुसार सस्कृतकी तर्कशैलीसे प्रभावित है। सन्धि और समासोंका भी यथास्थान बाहुल्य है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथोंको या स्फुट छोटी मोटी खंड-रचनाओंको छोड़कर दिगम्बर साहित्यमें अभीतक यही एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है। अभी इस गद्यका बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होनेवाला है। अतः ज्यों ज्यों वह साहित्य सामने आता जायगा त्यों त्यों इस प्राकृतके स्वरूपपर अधिकाधिक प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जायगा।

इसी कारण ग्रंथकी सस्कृत भाषाके विषयमें भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि ग्रंथकी संस्कृत शैली अत्यन्त प्रौढ, सुपरिमाजित और न्यायशास्त्रके ग्रंथोंके अनुरूप है। हम अपने पाठ-संशोधन के नियमोंमें कह

आये हैं कि प्रस्तुत ग्रथमे अरिहन्त शब्द अनेकबार आया है और उसकी निरुक्ति भी अरिहन्नाद् अरिहन्त आदि की गई है। सस्कृत व्याकरणके नियमानुसार हमे यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। अर्ह धातुसे बना अर्हत् होता है और उसके एकवचन व बहुवचनके रूप क्रमशः अर्हन् और अर्हन्तः होते हैं। यदि अरि+हन् से कर्तावाचक रूप बनाया जाय तो अरिहन्तु होगा जिसके कर्ता एकवचन व बहुवचन रूप अरिहन्ता और अरिहन्तारः होना चाहिये। चूँकि यहाँ व्युत्पत्तिमे अरिहन्नात् कहा गया है अतः अर्हन् व अर्हन्त शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रथमे अरिहन्ता कर दिया है, किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि सस्कृतमे अरिहन्तः जैसा रूप रखना चाहिये या नहीं। यदि हम हन् धातुसे बना हुआ 'अरिहा' शब्द ग्रहण करे और पाणिनि के 'मघवा बहुलम्' सूत्रका इस शब्दपर भी अधिकार चलावे तो बहुवचनमे अरिहन्त हो सकता है। सस्कृतभाषा की प्रगतिके अनुसार यह भी असंभव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द अर्हत् के प्राकृत रूप अरहन्त, अरिहन्त, अरुहन्त परसे ही सस्कृतमे रूढ हो गया हो। विद्वानोका मत है कि गोविन्द शब्द सस्कृतके गोपेन्द्र का प्राकृत रूप है^१। किन्तु पीछे से सस्कृतमे भी वह रूढ हो गया और उसीकी व्युत्पत्ति सस्कृतमे दी जाने लगी। उस अवस्थामे अरिहन्त शब्द अकारान्त जैन सस्कृतमे रूढ माना जा सकता है। वैयाकरणोको इसका विचार करना चाहिये।

उपसंहार.

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीके वचनोकी उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतमने द्वादशांग श्रुतके रूपमे गथ रचना की जिसका ज्ञान आचार्य परम्परासे क्रमशः कम होते हुए धरसेनाचार्यतक आया। उन्होंने बारहवे अंग दृष्टिवादके अन्तर्गत पूर्वोक्त तथा पाचवे अंग व्याख्याप्रज्ञप्तिके कुछ अशोको पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंको पढ़ाया। और उन्होंने वीर निर्वाण के पश्चात् ७ वी शताब्दिके लगभग सत्कर्मपाहुडकी छह हजार सूत्रोमे रचना की। इसीकी प्रसिद्धि षट्खंडागम नामसे हुई। इसकी टीकाए क्रमशः कुन्दकुन्द, शामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेवने बनाई, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाए अब मिलती नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार वीरसेनाचार्य हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका धवलाकी रचना शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है।

षट्खंडागमका छठवा खंड महाबंध है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यने बहुत विस्तारसे की थी। अतएव पचिकादिकको छोड़ उसपर विशेष टीकाए नहीं रची गई। इसी महाबंधकी प्रसिद्धि महाधवलके नामसे है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरसेनाचार्यके समयके लगभग एक और आचार्य गुणधर हुए जिन्हे भी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने कषायप्राभूतकी रचना की। इसका आर्यमंक्षु और नागहस्तिने व्याख्यान किया और यतिदृषभ आचार्यने चूर्णिसूत्र रचे। इसपर भी वीरसेनाचार्यने टीका

लित्ती । किन्तु वे उसे २० हजार प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हुए । तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्यने ४० हजार प्रमाण और लिखकर उसे शक ७५९ में पूरा किया । इस टीकाका नाम जयधवला है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है ।

इन दोनों या तीनों महाग्रंथोंकी केवल एकमात्र प्रति ताड़पत्रपर शेष रही थी जो सैकड़ों वर्षोंसे मूडविद्रीके भंडारमें बन्द थी । गत २०।२५ वर्षोंमें उनमेंसे धवला व जयधवलाकी प्रतिलिपिया किसी प्रकार बाहर निकल पाई हैं । महाधव या महाधवल अब भी दुष्प्राप्य है । उनमेंसे धवलाके प्रथम अंगका अब प्रकाशन हो रहा है । इस अंगमें द्वादशांगवाणी व ग्रंथ रचनाके इतिहासके अतिरिक्त सत्प्ररूपणा अर्थात् जीवसमासों और मार्गणाओं का विशेष विवरण है । सूत्रोंकी भाषा पूर्णतः प्राकृत है । टीकामें जगह जगह उद्धृत पूर्वाचार्योंके पद्य २२१ हैं जिनमें केवल १७ संस्कृतमें और शेष प्राकृतमें हैं, टीकाका कोई तृतीयांश प्राकृतमें और शेष संस्कृतमें है । यह सद्यः प्राकृत प्रायः वही शौरसेनी है जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्योंके ग्रंथ रचे पाये जाते हैं । प्राकृत और संस्कृत दोनोंकी गैली अत्यंत सुन्दर, परिमार्जित और प्रौढ़ है ।



टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रंथोंकी

संकेत-सूची

संकेत	ग्रंथ नाम	संकेत	ग्रंथ नाम
१ अनु सू	अनुयोगद्वारसूत्र	२६ जी सं सू	जीवट्टाण सतपरुवणा
२ अभि रा को	अभिधानराजेन्द्रकोष		सुत्त
३ अल चि	अलङ्कारचिन्तामणि	२७ ज्यो क	ज्योतिष्करण्डक
४ अष्टश	अष्टशती		सटीक
५ अष्टस	अष्टसहस्री	२८ णाया सू	णायाधम्मकहासुत्त
६ आचा नि	आचाराङ्ग-निर्युक्ति	२९ तत्त्वार्थ भा	तत्त्वार्थभाष्य (श्वे)
७ आ नि	आवश्यक-निर्युक्ति	३० त रा वा.	तत्त्वार्थराजवार्तिक
८ आ. पा	आलापपद्धति	३१ त श्लो वा.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
९ आ पु	आदिपुराण	३२ त सू	तत्त्वार्थसूत्र
१० आ मी	आप्तमीमासा	३३ ति प	तिलोयपण्णत्ति
११ इन्द्र श्रुता	इन्द्रनन्दिश्रुतावतार	३४ द भ.	दशभक्ति
१२ उत्त	उत्तराध्ययन	३५ द वै	दशवैकालिक
१३ औप सू	औपपातिकसूत्र	३६ देशीना	देशीनाममाला
१४ क ग्र.	कर्मग्रंथ	३७ द्र स वृ.	द्रव्यसंग्रहवृत्ति
१५ क प्र.	कर्मप्रकृति	३८ घवला.	घवला (लिखित)
१६ क प्र य उ टी	कर्मप्रकृति यशोविजय	३९ न च	नयचक्र
	उपाध्यायकृत वि टी	४० न्या कु च	न्यायकुमुदचन्द्र
१७ कसायपाहुडचुण्णि	(लिखित)	४१ न सू	नन्दिसूत्र
१८ गुण क्र प्र	गुणस्थान-क्रमारोह-	४२ पञ्चस	पञ्चसंग्रह (दि)
	प्रकरण	४३ पञ्चा	पञ्चास्तिकाय
१९ गो क	गोम्मटसार कर्मकांड	४४ पञ्चाध्या	पञ्चाध्यायी
२० गो. जी	,, जीवकांड	४५ पञ्चा. वि	पञ्चाशक सटीक वि.
२१ गो जी जी प्र, टी	गोम्मटसार जीवकांड	४६ प. मु.	परीक्षामुख
	जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका	४७ पा उ.	पाणिनि उणादि
२२ गो जी, म प्र, टी	गो० जी० मदप्रबो-	४८ पात महाभा.	पातञ्जल महाभाष्य
	धिनी टीका	४९ पु सि.	पुरुषार्थसिद्धयुपाय
२३ जयध	जयधवला (लिखित)	५० प. स.	पंचसंग्रह (श्वे)
२४ जी द. सू.	जीवट्टाण दव्वाणि-	५१ प्र. क मा	प्रमेयकमलमार्तंड
	ओगद्वार सुत्त	५२ प्रज्ञा सू.	प्रज्ञापना सूत्र
२५ जी वि प्र	जीवविचारप्रकरण	५३ प्रमाणनयत	प्रमाणनयतत्त्वाल्लोका-
			लकार

संकेत	ग्रंथ नाम	संकेत	ग्रंथ नाम
५४ प्रमाणमी.	प्रमाणमीमासा (श्वे)	६७ ल क्ष.	लव्विसार क्षपणासार
५५ प्रवच	प्रवचनसार	६८ लघीय	लघियस्त्रय
५६ प्र सा पू	प्रवचनसारोद्धार पूर्वार्ध	६९ „ स्वो. वृ. लि	„ स्वोपज्ञवृत्ति लिखित
५७ वा अ	बारस अणुवेक्खा	७० लो प्र.	लोकप्रकाश
५८ वृ क सू.	वृहत्कल्पसूत्र	७१ वि. भा	विशेषावश्यक भाष्य
५९ वृ स्व स्तो	वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	७२ स त	सन्मतितर्क
६० ब्र श्रु	ब्रह्महेमचन्द्र श्रुतस्कध	७३ स त टी	सन्मतितर्क टीका
६१ भग गी	भगवद्गीता	७४ स त सू	सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम- सूत्र
६२ भग सू	भगवती सूत्र	७५ स सि	सर्वार्थसिद्धि
६३ मु	मूलप्रथम आवृत्ति	७६ सम सू	समावायाङ्गसूत्र
६४ मूलाचा	मूलाचार	७७ स्था सू	स्थानाङ्गसूत्र
६५ मूलारा	मूलारावना (भगवती आरावना)	७८ ह पु.	हरिवंशपुराण
६६ रत्नक.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार		



सत्प्ररूपणाकी

विषय-सूची

१	१-७३	३ प्रकारान्तसे निमित्त और हेतुका कथन	६१
मंगलाचरण			
१ मंगलाचरण टीकाकारकृत	१	७ ग्रन्थ-परिमाण	६१
२ सूत्रकारकृत पञ्चपरमेष्ठी नमस्काररूप मंगलाचरण	८	८ ग्रन्थ-नाम	६१
३ मंगल, निमित्त आदि छह अधिकारोकी प्रणिज्ञा	९	९ कर्ता के भेदोका निरूपण	६१
४ मंगलका स्वरूप और विवेचन	१०	१ क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ता	६२
१ नय-निरूपण	११	२ कालकी अपेक्षा अर्थकर्ता	६३
२ नयोमे निक्षेपोंका अन्तर्भाव	१५	३ भावकी अपेक्षा अर्थकर्ता	६४
३ निक्षेप-निरूपण	१८	४ ग्रन्थ-कर्ता	६५
४ मंगलके पर्यायवाची नाम, निरुक्ति व अनुयोगद्वारासे कथन	३३	५ अगवारियोंकी परम्परा	६६
५ छह दंडकोंद्वारा मंगल-निरूपण	४०	६ श्रुतावतार-वर्णन	६८
६ सूत्रके मंगलत्व-अमंगलत्वका विवेचन	४२		
७ अरिहृतका शब्दार्थ और स्वरूप	४३	२	
८ सिद्धका " "	४७	जीवस्थानका अवतार ७३-१३३	
९ अर्हत् और सिद्धमे भेदाभेद विवेचन	४७	१० उपक्रम	७३-८४
१० आचार्यका शब्दार्थ और स्वरूप	४९	१ आनुपूर्वीके तीन भेद	७३
११ उपाध्याय " "	५१	२ नामके दण भेद	७४
१२ साधु " "	५२	३ प्रमाणके पाच भेद	८१
१३ आचार्यादि परमेष्ठियोमे भी देवत्वकी सिद्धि	५३	४ वक्तव्यताके तीन भेद	८३
१४ अरिहतोको प्रथम नमस्कार करनेका प्रयोजन	५४	५ अर्थाधिकारके तीन भेद	८३
५ निमित्त-कथन	५५	११ निक्षेप-कथन	८४
६ हेतु-कथन	५६	१२ नयनिरूपण	८४-९२
१ अभ्युदय मुखमे राजा, महाराजा, मडलीक, महामडलीक, नारायण, चक्रवर्ती और तीर्थंकरका स्वरूप	५८	१ नयके दो भेद	८४
२ नैऋत्यस-सुख-कथन]	५९	२ द्रव्यार्थिक नयका निरूपण	८४
		३ पर्यायार्थिक नयका निरूपण	८६
		१३ अनुगम-निरूपण	९२-१३३
		१ प्रमाणानुगमके भेदोंका निरूपण	९४
		२ श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेदोका स्वरूप	९७
		३ आग्रायणीय पूर्वके १४ अर्थाधिकार और जीवद्वारा खंडके अन्तर्गता-धिकारोकी उत्पत्ति	१२४

३	विषयकी उत्थानिका १३३-१६०	
१४	चौदह मार्गणाओका सामान्य स्वरूप- निरूपण १३३-१५४	
१	गतिमार्गणा	१३५
२	इन्द्रियमार्गणा	१३६
३	कायमार्गणा	१३९
४	योगमार्गणा	१४०
५	वेदमार्गणा	१४१
६	कषायमार्गणा	१४२
७	ज्ञानमार्गणा	१४३
८	सयममार्गणा	१४५
९	दर्शनमार्गणा	१४६
१०	लेश्यामार्गणा	१५०
११	भव्यमार्गणा	१५१
१२	सम्यक्त्वमार्गणा	१५२
१३	संज्ञिमार्गणा	१५३
१४	आहारमार्गणा	१५३
१५	अनुयोगद्वारके आठो भेदोका सोपपत्तिक निरूपण १५४	
४	सत्प्ररूपणा १६०-४१०	
१६	ओघ और आदेशकी प्रतिज्ञा तथा गुणस्थान-निरूपण १६०-२०१	
१	मिथ्यादृष्टिगुणस्थान	१६२
२	सासादनसम्यग्दृष्टि गुण	१६४
३	सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	१६७
४	असयतसम्यग्दृष्टि "	१७१
५	सयतासयत "	१७४
६	प्रमत्तसयत "	१७६
७	अप्रमत्तसयत "	१७९
८	अपूर्वकरण "	१८०
९	अनिवृत्तिकरण "	१८४

१०	सूक्ष्मसापराय गुणस्थान	१८८
११	उपशान्तकषाय "	१८९
१२	क्षीणकषाय "	१९०
१३	सयोगकेवली "	१९१
१४	अयोगकेवली "	१९३
१५	सयोगी और अयोगीके मनका अभाव होनेपर केवलज्ञानकी सयुक्तिक सिद्धि १९३	
१६	सिद्धस्वरूप निरूपण	२०१
१७	मार्गणाओमे गुणस्थान-निरूपण २०२-४१०	
१	गतिभेद-निरूपण	२०२
२	नरकगतिमे गुणस्थान-प्रतिपादन	२०५
३	तिर्यचगतिमे " "	२०८
४	मनुष्यगतिमे " "	२११
५	उपशमविधि-निरूपण	२११
६	क्षपणविधि "	२१६
७	देवगतिमे गुणस्थान-निरूपण	२२६
८	शुद्ध-तिर्यचोका "	२२८
९	मिश्र-तिर्यचोका "	२२९
१०	मिश्र और शुद्ध मनुष्योका निरूपण	२३२
११	इन्द्रियमार्गणाके भेद	२३३
१२	इन्द्रियोके भेद-प्रभेदोका स्वरूप	२३३
१३	एकेन्द्रिय जीवोके भेद	२५१
१४	पर्याप्ति-निरूपण	२५६
१५	पर्याप्ति और प्राणमे भेद	२५८
१६	द्वीन्द्रियादि जीवोके भेद	२६०
१७	अपर्याप्ति अवस्थामे मनका निराकरण २६१	
१८	इन्द्रियमार्गणामे गुणस्थान-सत्त्व- प्रतिपादन २६३	
१९	कायमार्गणाके भेद	२६७
२०	स्थावरकायिक जीवोके भेद	२६९
२१	त्रसकायिक जीवोके भेद	२७४
२२	कायमार्गणामे गुणस्थान-निरूपण	२७६
२३	योगमार्गणाके भेद व स्वरूप	२८०

२४ मनोयोगके भेद और उनमे गुणस्थान-निरूपण	२८२	३८ ज्ञानमार्गणामे गुणस्थान-विचार	३६२
२५ वचनयोगके भेद „	२८८	३९ सयममार्गणामे भेद व स्वरूप	३७०
२६ काययोगके भेद „	२९१	४० सयममार्गणामे गुणस्थान-विचार	३७६
२७ केवलि-समुद्धात-विचार	३०२	४१ दर्शनमार्गणामे भेद व स्वरूप	३८०
२८ त्रिसयोगी योगीके स्वामी	३१०	४२ दर्शनमार्गणामे गुणस्थान-विचार	३८५
२९ द्विसयोगी और एकसयोगी योगीके स्वामी	३११	४३ लेश्यामार्गणामे भेद व स्वरूप	३८८
३० योगीमे पर्याप्त व अपर्याप्त-विचार	३१२	४४ लेश्यामार्गणामे गुणस्थान-विचार	३९२
३१ आदेशकी अपेक्षा गतिमार्गणामे पर्याप्त व अपर्याप्त विचार	३२४	४५ भव्यमार्गणामे भेद व स्वरूप	३९४
३२ वेदमार्गणामे भेद व स्वरूप	३४२	४६ भव्यमार्गणामे गुणस्थान-विचार	३९६
३३ वेदमार्गणामें गुणस्थान-विचार	३४४	४७ सम्यक्त्वमार्गणामे भेद व स्वरूप	३९७
३४ आदेशकी अपेक्षा वेद-सत्त्व- प्रतिपादन	३४७	४८ सम्यक्त्वमार्गणामें गुणस्थान- विचार	३९८
३५ कषायमार्गणामे भेद व स्वरूप	३४९	४९ आदेशकी अपेक्षा सम्यक्त्व-सत्त्व प्रतिपादन	४०१
३६ कषायमार्गणामे गुणस्थान-विचार	३५३	५० सज्ञिमार्गणामे भेद व स्वरूप	४१०
३७ ज्ञानमार्गणामे भेद व स्वरूप	३५५	५१ सज्ञिमार्गणामे गुणस्थान विचार	४१०
		५२ आहारमार्गणामे भेद और उसमे गुणस्थान-विचार	४११



सं त प रू व णा

मंगलाचरणम्

श्रीमत्परम-नाम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिन-शासनम् ॥ १ ॥

सः श्रीमान् धरसेन-नाम-सुगुरुः श्रीजैन-सिद्धान्त-सद्-

वार्द्धिर्धुर्धर-पुष्पदन्त-सुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।

एते सन्मुनयो जगत्त्रय-हिताः स्वर्गमिरैरचिताः

कुर्युर्मै जिनधर्म-कर्मणि मतिं स्वर्गपिवर्गप्रदे ॥ २ ॥

श्रीवीरसेन इत्याप्त-भट्टारक-पृथु-प्रथः ।

स नः पुनातु पूतात्मा वादि-वृन्दारको मुनिः ॥ ३ ॥

धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम् ।

धवलीकृत-निःशेष-भुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।

शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ ५ ॥

सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्त-प्रसिद्ध-वाक् ।

सोऽनाद्यनन्त-सन्तानः सिद्धान्तो नोऽवताच्चिरम् ॥ ६ ॥



सिरि-भगवंत-पुष्पदंत-भूदबलि-पणीदे

छक्खंडागमे

जीवट्ठाणं

तस्स

सिरि-वीरसेणाइरिय-विरइया टीका

धवला

सिद्धमणंतर्माणदियमणुवममप्पत्थ-सोक्खमणवज्जं ।

केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह ॥ १ ॥

जो " सिद्ध " है, " अनन्तस्वरूप " है, अनिन्द्रिय है, अनुपम है, आत्मस्थ सुखको प्राप्त है, अनवद्य अर्थात् निर्दोष है, और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभापुजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार करो । अथवा, जो अनन्त-स्वरूप है, अनिन्द्रिय है, अनुपम है, आत्मस्थ सुखको प्राप्त है, अनवद्य अर्थात् निर्दोष है, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, और जो समस्तकर्म-शत्रुओके जीतनेसे ' जिन ' संज्ञाको प्राप्त है, ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करो ।

विशेषार्थ— ग्रंथ प्रारंभ 'सिद्ध' इस पदसे करनेका प्रयोजन यह सूचित होता है कि प्रारंभमें स-कार का प्रयोग सुखदायक माना जाता है। 'सही सुखदाहदौ' (अलकार चिन्तामणि १।४९) सकार सुखदायक होता है, तथा हकार दुःखदायक होता है।

'सिद्ध' शब्दका अर्थ कृतकृत्य होता है, अर्थात्, जिन्होंने अपने करने योग्य सब कार्योंको कर लिया है, जिन्होंने अनादिकालसे बंधे हुए ज्ञानावरणावि कर्मोंको प्रचण्ड ध्यानरूप अग्निके द्वारा भस्म कर दिया है, ऐसे कर्म-प्रपञ्च-मुक्त जीवोंको सिद्ध कहते हैं। अग्रहंत परमेष्ठी भी चार घातिया कर्मोंका नाश कर चुके हैं, इसलिये वे भी घातिकर्म-क्षय सिद्ध हैं। इस विशेषणमे जो अनादिकालसे ही ईश्वरको कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं, ऐसे सदाशिव और सारथ्य मतका निराकरण हो जाता है।

अथवा 'पिधु' धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिव-लोकमें पहुँच चुके हैं, और वहाँसे लौट कर कभी नहीं आते। इस कथनसे मुक्त जीवोंके पुनरागमनकी मान्यता का निराकारण हो जाता है।

अथवा 'पिधु' धातु 'सराधन' के अर्थमें भी आती है, जिससे यह अर्थ निकलता है, कि जिन्होंने आत्मीय गुणोंको प्राप्त कर लिया है, अर्थात्, जिनकी आत्मामे अपने स्वामाविक अनन्त गुणोंका विकाश हो गया है। इस व्याख्यासे जो मानते हैं कि, 'जिसप्रकार दीपक वृक्ष जाने पर, न वह पृथ्वीकी ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर जाता है, न किसी दिशाकी ओर जाता है और न किसी विदिशाकी ओर जाता है किंतु तेलके क्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है, उसीप्रकार, मुक्तिको प्राप्त होता हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर, न ऊपर नभस्तलकी ओर, न किसी दिशाकी ओर, और न किसी विदिशाकी ओर ही जाता है। किंतु स्नेह अर्थात् रागपारिणतिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है।' उस बौद्धमतका निरसन हो जाता है।

अनन्त— जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। अथवा 'अन्त' शब्द सीमा-वाचक भी है, इसलिए जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त

१ आदी सकार-प्रयोग सुखद । तथा च 'सही सुखदाहदौ' । अल वि १, ४९. 'माङ्गलिक आचार्यों महत शारत्रीषस्य मङ्गलार्थं सिद्ध-शब्द आदित प्रयुङ्क्ते' पात. महाभा पृ. ५७. सित बद्धमष्ट-प्रकार कर्मन्धन ध्मात् दग्ध जाज्वल्यमान-शुक्लध्यानानलेन यैस्ते सिद्धा । अथवा 'पिधु गतो' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्त्या निर्वृतिपुरीमगच्छन् । अथवा, 'पिधु सराद्धी' इति वचनात् सेधन्ति सिद्धयन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म । अथवा, 'पिधून् शाम्ये माङ्गल्ये च' इति वचनात् सेधन्ति स्म शामितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपता चानुभवन्ति स्म इति सिद्धा । अथवा, सिद्धा नित्या अपयंवसान-स्थितिकत्वात् । प्रस्थाता वा भव्यैः फलवद्गुणसदोहत्वात् । आह च, -

ध्मात् सित येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृति-मीध-मूध्नि ।

स्थातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्था य सोऽस्तु सिद्ध कृतमङ्गलो मे ॥ भग सू १, १, १, (टीका) ।

* धवला, अ पृ. ४७४.

२ नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्त निरन्वयविनाशोनाविनश्यमान । नास्यान्त सीमास्त्यनन्त केवलात्मनोऽनन्तत्वात् । अनन्तार्थ-विषयत्वाद्वाऽनन्त अनन्तार्थ-विषय-ज्ञान-स्वरूपत्वात् । अनन्त-कर्माश-जयनादनन्त । अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्त । अभि रा. कोप.

पदार्थोंको जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके अंशोंको जीतनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्तज्ञानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय— जिसके इन्द्रियां न हो, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिया अर्थात् भावेन्द्रियां छद्मस्थ दशमों पाई जाती हैं, परंतु सिद्ध और अरहंत परमात्मा छद्मस्थ दशाको उल्लंघन करके केवलज्ञानसे विभूषित हैं, इसलिये वे अनिन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनों परमात्माओंके भाव-मन भी नहीं पाया जाता है, क्योंकि तेरहवे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव है। अथवा, 'अणिदिय' पद अतीन्द्रिय के अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनों परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिदिय' पदका अर्थ अनिन्दित भी होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि सिद्ध और अरहंत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्दित हैं, निन्दा उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जावे, जिसका आचरण दूसरोंके लिये आहितकर हो। परंतु उक्त दोनों परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण उनके स्वरूपको जाननेवाला कोई भी उनकी निन्दा नहीं कर सकता है, इसलिये वे अनिन्दित हैं।

अनुपम— प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। उनके स्वरूप-निर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर, शब्दोंद्वारा, उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापनेको उपमा कहते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे जो 'मा' माप करे वह उपमा है। उपचारसे मापनेका भाव यह है कि एक वस्तुके गुण-धर्म किसी दूसरी वस्तुमें तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार, दीप्ति, स्वभाव आदि धर्मोंमें थोड़ी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका ठीक कथन तो नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्तद्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रक्रियाको उपमामें लिया जाता है। परंतु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिद्धपरमेष्ठी तो अतीन्द्रिय है। अरहंत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पुनीत आत्माका हम संसारी जन इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। इसलिये उपमाद्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी समुचित उपमा दी जा सकती है, तो उन्हींकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा छद्मस्थ ज्ञानियोंके अप्रत्यक्ष हैं। अतः सिद्ध और अरहंत परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ पास भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ, जिसके लिये उसकी उपमा दी जाती हो, पासका अर्थात् उसका ठीक तरहसे बोध करानेवाला, होना चाहिये। परंतु संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जिसके द्वारा हम सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके स्वरूपको तुलना कर सकें। अतएव वे अनुपम हैं।

१ 'न य विज्जइ तग्गहणे लिग पि अणिदियत्तणओ'। पा स म. कोप अणिदिय।

२ लोके तत्सदृशो ह्यर्थ कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते। उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरूपम स्मृतम्।

जयध. अ पृ १२४९

आत्मस्थसुख - सुख जीवका सहजसिद्ध स्वाभाविक गुण होनेसे आत्मामें सदैव विद्यमान है। कर्मोंके अभावमें वह स्वाभाविक गुण प्रगट होता है। इसलिये भगवान परमात्मा आत्मस्थ सुखस्वरूप है। इन्द्रियजन्य सुख-दुःख आत्माके सुखगुणकी ही विभाव पर्याय है। कर्मोपाधि नष्ट होनेपर वह आत्मस्थ सुखगुण आत्मासेही उत्पन्न (प्रगट) होता है।

जिस आत्मस्थगुणके द्वारा आत्मा, शान्ति संतोष या आनन्दका चिरकालतक अनुभव करे उसे सुख कहते हैं। संसारी जीव कोमल स्पर्शमें, विविध-रस-परिपूर्ण उत्तम सुस्वादु भोजनके स्वादमें, वायुमण्डलको सुरभित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प, इत्र, तैल आदि सुगन्धित पदार्थोंके सूंघनेमें, रमणीय रूपोंके अवलोकनमें, श्रवण-सुख-कर संगीतोंके सुननेमें और चित्तमें प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंके चिन्तनमें आनन्दका अनुभवसा करता है, और उससे अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' नहीं कह सकते हैं। सुख जिसे कहना चाहिये वह तो आकुलताके अभावमें ही उपलब्ध हो सकता है। परंतु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमें आकुलता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय-सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आकुलता होती है। दैववशात् उक्त सामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेके लिये और उसे अपने अनुकूल परिणमानेके लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इतना सब कुछ करने पर भी उस सामग्रीसे उत्पन्न हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि निमित्तोंसे सदा ही सैकड़ों बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिससे वह सुखद सामग्री ही दुःखकर हो जाती है। यदि इतनेसे ही बस होता, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है और उसके ग्राहक अर्थात् उसके अभिलाषी असंख्य हैं। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थतः देखा जाय तो, वह दूसरोंके न्याय-प्राप्त अंशको छीनता है। इसलिये यह सुख पापका बीज है। फिर यह सुख आरम्भआदि निमित्तोंसे अनेकों जीवोंकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता है, अतः कर्मबन्धका कारण भी है। अतः यह इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुःख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति स्वाधीन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा-रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नहीं है, दूसरोंके अधिकार नहीं छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मस्थ, अनन्त सुख सिद्ध और अरहत परमेष्ठीके ही संभव है। अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एव समुचित ही है।

१ असयमाद-ममुत्य विसयातीद अणोवममणत् । अव्वुच्छिण्ण च सुह सुद्धवओगप्पमिद्धाण ॥ प्रवच १, १३.
न-पर वाधा-सहिय विच्छिण्ण वध-कारण विसम । ज इदिएहि लद्ध त सोवख दुक्खमेव तहा ॥ प्रवच १, ७६.
कर्म-पर-वशे सान्ते दु खैरन्तरितोदये । पाप-बीजे सुखेज्जास्या श्रद्धानाकाङ्क्षाणा स्मृता ॥ रत्नक १, १२.

अनवद्य— अवद्य, पाप या दोषको कहते हैं। गुणस्थानक्रमसे आत्माके क्रमिक-विकाशको देखते हुये यह भलीभाति समझमें आ जाता है कि ज्यो ज्यो आत्मा विशुद्धि-मार्गपर अग्रेसर होता जाता है, त्यो त्यो उससे मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार-परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती है। यहा तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारोसे रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मगलकारने अनवद्य या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर— अन्य दृष्टिभेदोकी अपेक्षा-रहित केवल एक दृष्टि-भेदको ही दुर्नय कहते हैं। इसमें पदार्थका बोध तो होता है, परन्तु वह बोध केवल पक्षग्राही रहता है। इससे प्राणीमात्र किसी पदार्थकी समीचीनताका अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसलिये इसके द्वारा पदार्थको जानते हुए भी उसके विषयमें जाननेवाले अन्धे ही बने रहते हैं, क्योंकि इस दृष्टि-भेदसे पदार्थ जितने अंशमें प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नहीं है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अंशसे और भी कुछ है। और वह दृष्टि-भेद पदार्थके उन अंशोकी अपेक्षा ही नहीं करता है, बल्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अंशको ही उस पदार्थकी समग्रता समझ लेता है। अतएव वह दृष्टि-भेद पदार्थका प्रकाशक होते हुए भी अन्धकारके सगान है। मगलकारने इसी दृष्टिको सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदोकी अपेक्षा-रहित एक दृष्टि-भेदको 'दुर्नय-तिमिर' संज्ञा दी है। इसे सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीने अपने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुजसे जीत लिया है। क्योंकि केवलज्ञानरूप सूर्यमें ऐसा एक भी सम्यक् दृष्टि-भेद नहीं है, जिसका समन्वय नहीं होता है, अर्थात्, उसमें 'सभी सम्यक् दृष्टिभेदोका समन्वय हो जाता है। अतएव वह पदार्थका पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने पर जिसप्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रभा-पुंजके सामने वे सर्वथा एकान्त दृष्टियाँ नहीं ठहर सकती हैं। अतएव केवलज्ञान-विभूषित सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीको 'केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर' यह विशेषण देना युक्तियुक्त ही है।

जिन— मोह या मिथ्यात्व आत्माका सबसे अधिक अहित करनेवाला है। इसके वशमें होकर ही यह जीव अनादि-कालसे आत्म-स्वरूपको भूला हुआ संसारमें भटक रहा है। जब इस जीवको उपदेशादिकका निमित्त मिलता है और उससे 'स्व' क्या है, 'पर' क्या है, 'हित' क्या है, 'अहित' क्या है, इसका बोध करके आत्म-कल्याणकी ओर इसकी प्रवृत्ति

१ जह एए तह अन्ने पत्तेय दुण्णया णया मव्वे । स त १, १५ निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् । आ मी १०८ तदनेकान्त-प्रतिपत्ति प्रमाणम् । एक-धर्म-प्रतिपत्तिर्नय । तत्प्रत्यनीक-प्रतिक्षेपो दुर्णय । केवल-विपक्ष-विरोध-दर्शनेन स्व-पक्षाभिनिवेशात् । अष्टश का १०६ अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण तदगधी, नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृति ॥ अष्टस पृ ९०.

२ सकलात्म-प्रदेश-निविड-निबद्ध-घाति-कर्म-मेघ-पटल-विघटन-प्रकटीभूतानन्त-ज्ञानादि-नव-केवल-लब्धित्वात् जिन । गो जी, जी प्र टी, गा १ अनेक-विषम-भव-गहन-दुःख-प्रापण-हेतून् कर्मांरातीन् जयन्ति निर्जरयन्तीति जिना । गो जी, म प्र टी, गा १

वारह-अंगगिज्जा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया ।

विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ॥ २ ॥

सयल-गण-पउम-रविणो विविहिद्धि-विराइया वि णिस्संगा ।

णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ॥ ३ ॥

होने लगती है, परिणामोमें इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है, कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोके न्याय-प्राप्त अधिकारोको छीननेसे रूतानि करने लगता है, उसके पहिले बाधे हुए कर्म हलके होने लगते हैं, तथा नवीन कर्मोंकी स्थिति भी कम पडने लगती है; सासारिक कार्योको करते हुए भी उनमे उसे स्वभावतः अरुचिका अनुभव होने लगता है; तब कही समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनके सन्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये हैं, वे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके समर्थ कारण नहीं हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोहका उपशम करनेमें समर्थ ऐसे अधकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-रूप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके बिना नहीं, क्योंकि इन परिणामोमे ही मिथ्यात्वके नष्ट करनेका सामर्थ्य है। इसतरह जब यह जीव अधकरणरूप परिणामोको उल्लघन करके अपूर्वकरणरूप परिणामोको प्राप्त होता है, तब यह जिनत्वकी पहिली सीढ़ी पर है, ऐसा समझना चाहिये। यही से जो कर्मरूपी शत्रुओको जीते उसे जिन कहते हैं, इस व्याख्याके अनुसार, जिनत्वका प्रारम्भ होता है। इसके आगे जैसे जैसे कर्म-शत्रुओका अभाव होता जाता है वैसे वैसे जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता जाता है, और वारहवे गुणस्थानके अन्तमे जब यह जीव समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुकता है तब पूर्णरूपसे 'जिन' सज्ञाको प्राप्त होता है, सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मोंसे रहित है, इसलिये अरहत और सिद्ध परमेष्ठी कर्मशत्रुओके जीतनेसे साक्षात् जिन हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार शास्त्रारम्भमें अनन्त आदि विशेषणोसे युक्त अरहत और सिद्ध दोनो परमेष्ठियोको नमस्कार किया है ॥ १ ॥

जो श्रुतज्ञानके प्रसिद्ध वारह अंगोसे ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् वारह अंगोका समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकारके मल (अतीचार) और तीन मूढताओसे रहित सग्यग्दर्शन-रूप उन्नत तिलकसे विराजमान है और नाना-प्रकारके निर्मल चारित्र्य ही जिसके आभूषण है, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो ॥ २ ॥

जो सर्व प्रकारके गण, मुनिगण अर्थात् ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन चार प्रकारके सघरूपी कमलोके लिये, अथवा, मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोके लिये सूर्यके समान हैं, जो बल, बुद्धि इत्यादि नाना प्रकारकी ऋद्धियोसे विराजमान होने पर भी अन्तरंग और बहिरंग दोनो प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं और जो धीतरागी होने पर भी समस्त भूमण्डलके हितैषी हैं, ऐसे गणधर देव प्रसन्न होवे ॥ ३ ॥

पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गयाह-दाण-वर-सीहो ।

सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥ ४ ॥

पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रवि ।

भग्ग-सिव-मग्ग-कटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥ ५ ॥

पणमह कय-भूय-वलिं भूयवलिं केस-वास-परिभूय-वलिं ।

विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढादिय-विमल-णाण-वम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ— इस मंगलरूप गायामें ‘विविहिद्धिविराइया वि णिस्संगा’ तथा ‘णीराया वि कुराया’ इन दो पदोंमें विरोधाभास अलंकार है। जो नाना प्रकारकी ऋद्धियोसे विराजमान हैं वे संग अर्थात् परिग्रहरहित कैसा हो सकते हैं। उसी प्रकार जो नीराग अर्थात् वीतराग हैं उनके कुत्तित अर्थात् छोटा राग कैसे हो सकता है? इस विरोधका परिहार इस प्रकार कर लेना चाहिए कि गणधरदेव ‘विविहिद्धिविराइया वि’ अर्थात् बल, बुद्धि आदि नाना प्रकारकी ऋद्धियोसे युक्त होने पर भी ‘णिस्संगा’ अर्थात् सब प्रकारके अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे तथा ऋद्धियोके उपयोगसे रहित होते हैं। उसी प्रकार वे ‘णीराया वि’ अर्थात् वीतराग होने पर भी ‘कुराया’ अर्थात् भूमण्डलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। अथवा, वीतराग होने पर भी अभी पृथ्वीमण्डलपर विराजमान हैं, मोक्षको नहीं गये हैं ॥ ३ ॥

जो परवादीरूपी हाथियोंके मदकी आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ सिंहके समान हैं, अर्थात् जिसप्रकार सिंहके सामने मदोन्मत्त भी हाथी नहीं ठहर सकता है, किंतु वह गलितमद होकर भाग खड़ा होता है, उसीप्रकार जिनके सामने अन्य-मतावलम्बी अपने आप गलितमद हो जाते हैं, और सिद्धान्तरूपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे जिनका मन धुल गया है, अर्थात्, सिद्धान्तके अवगाहनसे जिन्होंने विवेकको प्राप्त कर लिया है, ऐसे श्री धरसेन आचार्य मुझ पर प्रसन्न हो ॥ ४ ॥

जो दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करनेवाले हैं, जो कुनयरूपी अन्धकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके कंटकोंको (मिथ्योपदेशादि प्रतिबन्धक कारणोंको) भग्न अर्थात् नष्ट कर दिया है, जो ऋषियोंकी समिति अर्थात् सभाके अधिपति हैं, और जो निरन्तर पद्मेन्द्रियोंका दमन करनेवाले हैं, ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मैं (वीरसेन) प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रसे पूजे गये हैं, अथवा भूत-नामक व्यन्तर-जातिके देवोंसे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् संयत-सुन्दर बालोंसे बलि अर्थात् जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाली शिथिलताको परिभूत अर्थात् तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होंने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है, और जिन्होंने निर्मल-ज्ञानके द्वारा ब्रह्मचर्यके प्रसारको बढ़ा लिया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो ॥ ६ ॥

मंगल-निमित्त-हेतु परिमाण नाम तह य क्तार ।

वागरिय छ पि पच्छा वक्ताणउ मत्यमाइरिओ ॥ १ ॥

इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुच्चाइरियायाराणुसरणं ति-रयण-
हेउ ति पुष्पदंताइरियो मंगलादीणं छण्हं सकारणाणं परवणदठं सुत्तमाह-

णमो अरिहंताणं. णमो सिद्धाणं. णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं ॥ १ ॥ इदि ।

विशेषार्थ- जिस समय भूतबलि आचार्यने अपने गुरु घरसेन आचार्यसे सिद्धान्त-
ग्रन्थ पढ़कर समाप्त किया था, उस समय भूत-नामक व्यन्तर देवोंने उनकी पूजा की थी । इसका
उल्लेख धवलामें आगे स्वयं किया गया है ।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकारोंका व्याख्यान
करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करे ।

विशेषार्थ- शास्त्रके प्रारम्भमें पहिले मंगलाचरण करना चाहिये । पीछे जिस निमित्तसे
शास्त्रकी रचना हुई हो, उस निमित्तका वर्णन करना चाहिये । इसके बाद शास्त्र-प्रणयनके
प्रत्यक्ष और परम्परा-हेतुका वर्णन करना चाहिये । अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बताना चाहिये ।
फिर ग्रन्थका नाम और आम्नायक्रमसे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परंपरा-कर्ताओंका उल्लेख
करना चाहिये । इसके बाद ग्रन्थका व्याख्यान करना उचित है । ग्रन्थरचनाका यह क्रम आचार्य
परंपरासे चला आ रहा है, और इस ग्रन्थमें भी इसी क्रमसे व्याख्यान किया गया है ॥ १ ॥

आचार्य परंपरासे आये हुए इस न्यायको मनमें धारण करके और पूर्वाचार्योंके
आचार अर्थात् व्यवहार-परंपराका अनुसरण करना रत्नत्रयका कारण है, ऐसा समझकर पुष्पदन्त
आचार्य सकारण मंगलादिक छहों अधिकारोंका व्याख्यान करनेके लिये मंगल-सूत्र कहते हैं -

अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपा-
ध्यायोंको नमस्कार हो, और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ- यह मंगलसूत्र णमोकार मन्त्रके नामसे प्रसिद्ध है । इसके अन्तिम भागमें
जो 'लोए' अर्थात् 'लोकमें' और 'सव्व' अर्थात् 'सर्व' पद आये हैं, उनका संबन्ध 'णमो
अरिहंताणं' आदि प्रत्येक नमस्कार वाक्यके साथ कर लेना चाहिये । इसका खुलासा
आचार्यने स्वयं आगे चलकर किया है ॥

१ मंगल-कारण-हेतु सत्य संप्रमाण-नाम-कर्तार । पठमं चि य कहिदव्वा एसा आइरिय-परिभासा ॥

ति. प १, ७

गाथैपा पञ्चास्तिकाये जयसेनाचार्यकृतव्याख्यया सहोपलभ्यते । अनगारधर्माभूतेऽस्या सत्कृतच्छाया दृश्यते ।

२. मु. छण्णं ३. ल. व भरहताण ॥

कधमिदं सुत्तं मंगल-णिमित्त-हेउ-परिमाण-णाम-कत्ताराणं सकारणणं परुवयं ?
ण, तालपलंब-सुत्तं व देसामासियत्तादो ।

शंका—यह सूत्र सकारण मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका प्ररूपण करता है यह कैसे संभव है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि इस सूत्रमे जब कि केवल मंगल अर्थात् इष्ट-देवताको नमस्कार किया गया है तब उससे निमित्त आदि अन्य पांच अधिकारोका स्पष्टीकरण कैसे संभव है ?

समाधान— उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि यह मंगलसूत्र 'ताल-प्रलम्ब' सूत्रके समान देशामर्शक होनेसे सकारण मंगलादि छोहो अधिकारोका प्ररूपण करता है, ।

विशेषार्थ— जो सूत्र अधिकृत विषयोके एकदेश कथनद्वारा समस्त विषयोकी सूचना करे उसे देशामर्शक सूत्र कहते हैं । इसलिये 'तालप्रलम्बसूत्र' के समान यह मंगलसूत्र भी देशामर्शक है । कल्पसूत्रके कल्याकल्प नामक प्रथम उद्देश्यके प्रथम सूत्रमें 'तालपलम्ब' पद आता है, जिसका भाव यह है कि ताडवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतिकी जातियां हं, उनके अभिन्न (विना तोडे या काटे गये) और अपक्व या कच्चे अर्थात् सचित्त मूल, पत्र फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहीं है । इस सूत्रमें तो केवल 'तालपलम्ब' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलक्षण मानकर समस्त वृक्ष-जाति और उसके पत्र पुष्पादिकोका ग्रहण किया गया है । उसीप्रकार यह नमस्कारात्मक सूत्र भी देशामर्शक होनेसे मंगलके साथ अधिकृत निमित्त, हेतु, परिमाण और कर्ताका भी बोधक है ।

१ देशामर्शकस्य स्पष्टीकरणम्—

'जेणेद मुत्त देसामासिय, तेण उतासेसलक्खणाणि एदेण उताणि' । स प्रती पृ ४८६. 'एद देसामासियसुत्त कुदो ? एगदेसपदुप्पायणेण एत्थतणसयलत्थस्स सूचयत्तादो' । स. प्रती पृ ४६८ 'एद देसामासियसुत्त देसपदुप्पायणमुहेण सूचिदानेयत्थादो' । स प्रती पृ. ५८९ । 'एद देसामासियसुत्त, तेणेदेण अमासियत्थेण अणामासियत्थो उच्चदे' । स. प्रती पृ ५९५. देसामासियसुत्त आचेलक्क त्ति त खु ठिदिक्कपे लुत्तोऽयवादिसदो, जह तालपलवसुत्तम्मि ॥ मूलारा ११२३

'देसामासिय' इत्यादि स्थितिकल्पे वाच्ये तत्प्रथमतयोपदिष्टमाचेलक्यमिति सूत्र देशामर्शकम् । बाह्यपरिग्रहैकदेशस्य चेलस्य परामर्शक बाह्यपरिग्रहाणामुपलक्षणार्थमुपात्तम् । यथा 'तालपलव ण कप्पदि' त्ति सूत्रे तालशदो वनस्पत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्शको वनस्पतीनामुपलक्षणाय गृहीत । तथा चोक्त कल्पे, हरिदनणोसधिगुच्छा गुम्मा वल्ली लदा य रुक्खा य । एव वणप्फदीओ तालादेसेण आदिट्ठा ॥ तालेदि दलेदि त्ति य तलेव जादो त्ति उस्सिदो व त्ति । तालादिणो तरु त्ति य वणप्फदीण हवदि णाम ॥ तालस्य प्रलम्ब तालप्रलम्बम् । प्रलम्ब च द्विविध, मूलप्रलम्ब अग्रप्रलम्ब च । तत्र मूलप्रलम्ब भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलाङ्कुरादिकम्, ततोऽन्यदग्रप्रलम्बम्, अङ्कुरप्रवालपत्रपुष्पफलादिकम् । वनस्पतिकन्दादिकमनुभोक्तु 'निर्ग्रन्थानामार्याणा च न युज्यते इति । यथा "तालपलव ण कप्पदि त्ति" इत्यत्र सूत्रेऽर्थस्तथा सकलोऽपि बाह्य परिग्रहो मुमुक्षूणा ग्रहीतु न युज्यते इत्याचेलक्केति सूत्रेऽर्थ इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम् तद्देशामर्शक सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् । लुत्तोऽयवादिशदोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रवत् ॥ मूलारा टी आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिदियम्मे वदजेट्ठ-पडिक्कमणे मास पञ्जो समणक्कप्पो ॥ मूलारा ४२१ अहवा एगग्गहणे गहण तज्जातियाण सव्वेसि । देणऽग्गपलवेण तु सूइया सेमगपलवा ॥ वृ क. सू ८५५

तत्थ धाउ-णिकखेव-णय-एयत्थ-णिरुत्ति-अणियोग-द्वारेहि मंगलं परूविज्जदि ।
तत्थ धाऊ 'भू सत्तायां इच्चेवमाइओ सयलत्थ-वत्थाणं सद्धानं मूल-कारणभूदो । तत्थ
'मगि' इदि अणेण धाउणा णिप्पणो मंगल-सद्दो । धाउ-परूवणा किमट्ठं कीरदे ? 'ण,
अणवगय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो । उक्तं च—

शब्दात्पदप्रसिद्धिं पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात्तत्त्वज्ञान तत्त्वज्ञानात्पर श्रेय ॥ २ ॥ इति ।

णिच्छथे णिण्णए खिचदि त्ति णिकखेदो^१ । सो वि छव्विहो णाम-ट्ठवणा-

उन उक्त मंगलादि छह अधिकारोमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्य, निरूपित और
अनुयोगके द्वारा 'मंगल' का प्ररूपण किया जाता है । उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है, इसको
आदि लेकर, समस्त पदार्थोंकी अवस्थाके वाचक शब्दोंका जो मूल कारण है उसे धातु कहते हैं ।
उनमेंसे 'मगि' धातुसे मंगल शब्द निष्पन्न हुआ है । अर्थात् 'मगि' धातुमें 'अलच्' प्रत्यय जोड़ देने पर मंगल शब्द बन जाता है ।

शंका— यहा धातुका निरूपण किसलिये किया जा रहा है ? शंकाकारका यह
अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्त-विषयका प्ररूपक है, इसलिये इसमें धातुके कथनकी कोई
आवश्यकता नहीं थी । इसका कथन तो व्याकरण-शास्त्रमें करना चाहिये ।

समाधान— ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य धातुसे अपरिचित
है अर्थात् किस धातुसे कौन शब्द बना है इस बातको नहीं जानता है, उसे धातुके परिज्ञानके
बिना विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है । और अर्थ-बोधके लिये विवक्षित
शब्दके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है । इसलिये यहापर धातुका निरूपण किया गया है ।
कहा भी है —

शब्दसे पदकी प्रसिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-
निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्त्वज्ञानसे परम कल्याण
होता है ॥ २ ॥

१ 'मडेगरलच् पा उ ५, ७०

२ श्लोकोऽयं 'व्याकरणात्पदसिद्धि' इत्येतावन्मानपाठभेदेन सह प्रभाचन्द्रकृत-शाकटायनन्यास-सिद्धि-
हैमादिव्याकरणग्रन्थेषूपलभ्यते ।

३ जुत्तीसु जुत्ता मग्गे ज चउभेएण होइ सल ट्ठवण । कज्जे सदि णामादिमु त णिकखेव ह्वे समए ॥
नयच. २६९ निक्खिप्पइ तेण तहि तओ व निक्खेवण व निक्खेवो । नियओ वा निच्छओ वा सेवो नासो त्ति ज
णणिय ॥ वि भा ९१२ निक्षेपण शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेद्वर्त्यसन व्यवस्थापन निक्षेप । निक्षिप्यते नामादि-
भेद्वर्त्यवस्थाप्यते जेतारमादिति वा निक्षेप । वि. भा ९१२ म टी

द्व-खेत्त-काल-भाव-मंगलमिदि^५

उच्चारियमत्यपदं^३ णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।

अत्य णयंति तच्चतमिदि तदो ते णया भणिया^३ ॥ ३ ॥

इदि वयणादो कय-णिक्खेवे दट्ठूण णयाणमवदारो भवदि । को णयो णाम ?

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करता है, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय कराता है उसे निक्षेप कहते हैं । वह नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका, है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है, । नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल ।

उच्चारण किये गये अर्थ-पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ— आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-निर्णय करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलंबन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये । तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है । पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाकारने अर्थ-पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्त्व-निर्णयका उपदेश दिया है । गायामें ‘अत्यपद’ इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है । जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको ‘अर्थ-पद’ कहते हैं । ‘णिक्खेवं’ इस पदसे निक्षेप-विधिकी, और ‘अत्यं णयंति तच्चत्तं’ इत्यादि पदोंसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है ।

शंका— नय किसे कहते हैं ?

१ णामणिट्ठावणादो द्वन्व्वेत्ताणि कालमावा य । इय छम्मेय भणिय मंगलमाणदसजणणं ॥

ति. प. १, ८.

२ जनिएहि अक्खरेहि अत्योवल्लद्धी होदि तेमिमक्खराण कलानो अत्यपद णाम । जयध. अ. पृ. १२.

३ गाथेयं पाठमेदेन जयधवल्लायामप्युपलभ्यते । तद्यथा, उच्चारियम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण । अत्य णयंति ते तच्चदो वि तम्हा णया भणिया । जयध. अ.पृ. ३० सुत्त पयं पयत्यो पय-निक्खेवो य निन्नय-प्रसिद्धी ।

वृ. क. सू. ३०९

णयदि त्ति णयो भणिओ वहुहि गुण-पज्जएहि ज दव्व^१ ।
 परिमाण-खेत्त-कालतरेमु अविणट्ठ-सवभाव ॥ ४ ॥
 तित्थयर-वयण, संगह-विसेस-पत्थार-मूल वायरणी ।
 दव्वट्ठिओ य पज्जय-णयो य सेसा विवप्पा सि^३ ॥ ५ ॥
 दव्वट्ठिय-णय-पयई मुद्धा संगह-परुवणा-विसयो ।
 पडिखुव पुण वयणत्थ-णिच्छयो तस्स ववहरो ॥ ६ ॥

अनेक गुण और उनके अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनकेद्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी-स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ— आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जाय उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यके इन दोनों लक्षणोंपर दृष्टि रखी गई प्रतीत होती है। नय किसी विवक्षित धर्मद्वारा ही द्रव्यका बोध कराता है। नयके इस लक्षणका संकेत भी 'गुणपज्जएहि' पदद्वारा हो जाता है। यह पद तृतीया विवक्षित सहित होनेसे उसे द्रव्यके लक्षणमें तथा निरुक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ले सकते हैं ॥ ४ ॥

तीर्थकरोके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनोंके विशेष-प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ— जिनेन्द्रदेवने दिव्यध्वनिके द्वारा जितना भी उपदेश दिया है, उसका, अभेद अर्थात् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और भेद अर्थात् पर्यायकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शास्त्रोंके आधारभूत हैं, इसलिये उन्हे यहां मूल व्याख्याता कहा है। शेष सप्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवान्तर भेद हैं ॥ ५ ॥

संग्रह नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रवृत्ति है, और वस्तुके

१ "अनन्त-पर्यायात्मकस्य वस्तुन अन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्ययुक्त्यपेक्षा निरवद्य-प्रयोगो नय इति अयं वाक्य-नय नत्वार्य-भाष्य-गतः ।" जयव अ पृ २६ स्याद्वाद-प्रविभक्त्यर्थ-विशेष-व्यञ्जको नय । आ मा १०६ वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वपणात्माध्य-विशेषस्य याथात्म्य-प्रापण-प्रवण-प्रयोगो नय । स मि १, ३३ प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नय । त रा वा. १, ३३. प्रमाणेन वस्तु-मगृहीतार्थ-वाशो नयः । श्रुत-विकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायी वा नय । नानास्वभावैर्म्यो व्यावृत्त एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोति वा नय । आ प १२१ जीवादीन् पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति माधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भामयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नया । म त सू १, ३५ ज णाणीण विवप्प मुअ-मेय वत्थु-अम-मगहण । त इह णय पउत्त णाणी पुण तेहि णाणेहि ॥ न च १७४.

२ दव्व मल्लकण्ठणिय उप्पाद-व्यय-ध्रुवत्त-मज्जु । गुण-पज्जयामय वा ज त भणति सव्वण्हू ॥ पञ्चा १० अपरिचत्त-सहवैगुप्पाद-व्ययध्रुवत्तमज्जु । गुणव च मपज्जाय ज त दव्व ति वुच्चति ॥ प्रवव २, ३.

३ एनामारभ्य चतस्रो गाथा सिद्धमेन-दिवाकर-प्रणीत-पन्मतित्तके प्रथमे काण्डे गाथाङ्क ३, ४, ५, ११ इति ऋणोपलभ्यन्ते ।

मूल-णिमेण^१ पज्जव-णयस्स उज्जुमुद-वयण-विच्छेदो^२ ।

तस्स दु सद्दादीया साहुपसाहा^३ सुहुमभेया ॥ ७ ॥

प्रत्येक भेदके प्रति शङ्कार्थका निश्चय करना उसका व्यवहार है । अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृति है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ— वस्तु सामान्य-विशेष-धर्मात्मक है । उनमेंसे सामान्य-धर्मको विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष-धर्मको (पर्यायिको) विषय करना पर्यायार्थिक नय है । उनमेंसे संग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिक नय दो प्रकारका है । जो अभेदको विषय करता है उसे संग्रह नय कहते हैं । और जो भेदको विषय करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं । ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नयकी क्रमशः शुद्ध और अशुद्ध प्रकृति है । जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्स्वरूप है इसप्रकार द्रव्यको अभेदरूपसे ग्रहण करता है तब तक वह उसकी शुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये । इसे ही संग्रह नय कहते हैं । तथा सत्स्वरूप जो द्रव्य है, उसके जीव और अजीव ये दो भेद हैं । जीवके संसारी और मुक्त इसतरह दो भेद हैं । अजीव भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इसतरह पांच भेदरूप है । इस-प्रकार उत्तरोत्तर प्रभेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्श करता हुआ भी जब वह भेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करता है, तब वह उसकी अशुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये । इसीको व्यवहार नय कहते हैं । यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जावे, परंतु वे काल निमित्तक नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें काल निमित्तक भेदकी प्रधानतासे ही पर्यायार्थिक नयका अवतार होता है । द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा सत्ताभेद ही इष्ट है, कालनिमित्तक भेद इष्ट नहीं है ॥ ६ ॥

ऋजुसूत्र वर्चनका विच्छेदरूप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और गट्टादिकनय शाखा-उपशाखारूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ— वर्तमान समयवर्ती पर्यायिको विषय करना ऋजुसूत्र नय है । इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तब तक व्यवहार नय चलता है, और जब कालनिमित्तक भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है । शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है । परंतु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यतासे अर्थभेद इष्ट है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर

१ ' णिमेणमवि ठाणे ' देशी ना ४, ३७.

२ ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो यपा नयाना ते पर्यायार्थिका । विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेद । ऋजुसूत्रवचन नाम वर्तमानवचन, तस्य विच्छेद ऋजुसूत्रवचनविच्छेद । स कालो मूल आधारो येषा नयाना ते पर्यायार्थिका । घ पु १, पृ ८४

३ मु साहुपसाहा ।

उप्पज्जति वियति य भावा णियमेण पज्जव-णयस्स ।

दव्वट्ठियस्स सव्व सदा अणुप्पण्णमविणट्ठ ॥ ८ ॥

और सूक्ष्मतम माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिंग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समभिरूढ नय, और पर्याय-शब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला एवंभूत नय समझना चाहिये। इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा है, यह सिद्ध हो जाता है। अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नयका मूल आधार माना गया है ॥ ७॥

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती हैं और पूर्व-पूर्व पर्यायोंका नाश होता है। किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, वे सदाकाल स्थितिस्वभाव रहते हैं ॥ ८ ॥

विशेषार्थ— उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी। एक स्वनिमित्त और दूसरा परनिमित्त। इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अगुणलघुगुणके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं। जो षड्गुणहानि और षड्गुणवृद्धिरूपसे निरंतर प्रवर्तमान रहते हैं। इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद और व्यय हुआ करता है। इसीको स्वनिमित्तोत्पाद-व्यय कहते हैं। उसीप्रकार पर निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है। जैसे, स्वर्णकारने कड़ेसे कुण्डल बनाया। यहां पर स्वर्णकारके निमित्तसे कड़ेरूप सोनेकी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरूप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इसे पर-निमित्त उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्योंमें भी स्वपर-निमित्त उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अवगाहन, गति आदिमें कारण पड़ते हैं। और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है। इसलिये अवगाहन, गति आदिके कारण भी भिन्न होने चाहिये। स्थित वस्तुके अवगाहनमें जो आकाश कारण है उससे भिन्न दूसरा ही आकाश क्रिया-परिणत वस्तुके अवगाहनमें कारण है। इसतरह अवगाह्यमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिद्ध हो जाता है। और इसलिये आकाशमें पर-निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें भी पर-निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। इसप्रकार यह सिद्ध हो गया कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नाशको भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अनन्त-कालसे अनन्त-पर्याय-परिणत होते रहने पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है। और न एक द्रव्यके गुण-धर्म बदलकर कभी दूसरे द्रव्य-रूपही हो जाते हैं। अतएव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ सर्वदा स्थिति-स्वभाव हैं ॥ ८ ॥

तत्थ णेगम-संगह-ववहार-णएसु सव्वे एदे णिक्खेवा' हवन्ति, तव्विसयम्मि तवभव' सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्व-णिक्खेव-संभवादो । कधं दव्वट्ठिय-णये भाव णिक्खे-वस्स संभवो ? ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठियणय वट्टमाण-सवि आरंभप्पहुडि आ उवरमादो । संगहे सुद्ध-दव्वट्ठिए वि भाव-णिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे, सुवकुक्खि^३ -णिक्खित्तासेस-विसेस-सत्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भाववभुवगमादो त्ति ।

उन सात नयोमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीन नयोमें नाम, स्थापना आवि सभी निक्षेप होते हैं, क्योंकि, इन नयोके विषयभूत तद्भव-सामान्य और सादृश्य-सामान्यमें सभी निक्षेप संभव है ।

शंका— द्रव्यार्थिकनयमें भावनिक्षेप कैसे संभव है ? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है, परंतु द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करता है, पर्यायको नहीं । इसलिये द्रव्यार्थिक नयमें जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित नहीं हो सकता है । भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायार्थिक नयमें संभव है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आ ही जाती है। तथा द्रव्य अर्थात् सामान्य, द्रव्यार्थिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायें । अन्तर्निहित हैं, अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है । यहां पर पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये ।

इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव विरोधको प्राप्त नहीं होता है, क्यों कि जो महासत्ता अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट किये हुए है और जो सदाकाल अवस्थित है उसे ही भावरूपसे स्वीकार किया गया है ।

अभेदरूपसे वस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त होगी ही, इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है । और शुद्ध संग्रह नयका महासत्ता विषय है, अतएव संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव हो जाता है । यहां पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये ।

१ णेगम-संगह ववहारा मव्वे इच्छति । कसाय-पाहुड चण्णि (जयघ अ.) पृ ३०

२ सामान्य द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वता भेदात् । सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्ड-मुण्डादिपु गोत्ववत् । परापर-विवर्तव्यापि-द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिपु । प मु ४, ३-५

३ मु, सुकुक्खि ।

णाम ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो ।

भावो दु पज्जवट्ठिय-परूवणा एस परमट्ठो^१ ॥ ९ ॥

अणेण सम्मइ-सुत्तेण सह कधमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे ? इदि । ण, तत्थ पज्जायस्सलक्खण-क्खइणो भावब्भुवगमादो ।

उज्जुसुदे^२ ट्ठवण-णिक्खेवं बज्जिऊण सव्वे णिक्खेवा हवंति, तत्थ सारिच्छ-सामण्णाभावादो ।

कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्व-णिक्खेवो त्ति ? ण, तत्थ वट्ठमाण-समयाणंत-गुण-णिद-एग-दव्व-संभवादो । ण तत्थ णाम-णिक्खेवाभावो वि, सट्ठोवलद्धि-काले णिय-तव्वाचयत्तुवलंभादो^३ । सट्ठ-समभिरुद्ध-एवंभूद-णएसु वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति, तौस चेय तत्थ संभवादो । एत्थ किमट्ठं णय-परूवणमिदि ?

शंका— नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप हैं, और भाव पर्यायार्थिक नयकी प्ररूपणा है । यही परमार्थ सत्य है ॥ ९ ॥

सन्मतिकर्कके इस कथनसे 'भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अथवा संग्रह नयमें भी अन्तर्भाव होता है' यह व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होगा ?

शंकाकारका यह अभिप्राय है, कि सन्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल पर्यायार्थिक नयमें भी अन्तर्भाव किया है । परंतु यहांपर उसका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव किया गया है । इसलिये यह कथन-ती सन्मतिकारके कथनसे विरुद्ध प्रतीत होता है ।

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सन्मतितर्कमें, जो पर्यायरूप स्वलक्षण क्षणिक है इसे स्वरूपसे स्वीकार किया गया है । अर्थात् सन्मतितर्कमें पर्यायकी विवक्षासे कथन किया है, और यहां पर द्रव्यसे अभिन्न वर्तमान पर्यायको द्रव्य मानकर कथन किया है । इसलिये कोई विरोध नहीं आता है ।

ऋजुसूत्र नयमें स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष सभी निक्षेप संभव हैं, क्योंकि ऋजुसूत्र नयमें सादृश्य-सामान्यका ग्रहण नहीं होता है । और स्थापनानिक्षेप सादृश्य-सामान्यकी मुख्यतासे होता है ।

१. स त. १, ६. नामोक्त स्थापनाद्रव्य द्रव्यार्थिकनयार्पणाद् । पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैर्न्यास. सम्य-गोरित ॥ त इलो वा. १, ६ ६९ नामाइतिय दवट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्य । सगह ववहारा पढमगस्स सेमा य इयरस्स ॥ वि. भा. ७५ पर्यायार्थिकेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषा नामस्थापनाद्रव्याणा द्रव्यार्थिक-नयेन सामान्यात्मकत्वात् । स सि. १, ६ वृत्ति.

२ उज्जुसुदो ठवण-वज्जे । कसाय-पाहुड-चुणि (जयघ अ,) पृ ३०.

३. मु णियतवाचयत्तुवलभादो ।

४. सट्ठ-णयस्य णाम-भाव-णिक्खेवा । कसाय-पाहुड-चुणि । (जयघ. अ,) पृ ३१.

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थ नाभिसमीक्षते ।

युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्^१ ॥ १० ॥

ज्ञान प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रह^२ ॥ ११ ॥ इति ।

ततः कर्तव्यं नयनिरूपणम् ।

शंका— ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणान्वित एक द्रव्यही तो विषयरूपसे सभव है ।

विशेषार्थ— पर्याय द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्य है । इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप भी सभव है ।

इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयमें नामनिक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि, जिस समय शब्दका ग्रहण होता है, उसी समय उसकी निज वाचकता पाई जाती है ।

शब्द, समभिरूढ और एवभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि ये दो ही निक्षेप वहाँ पर सभव हैं, अन्य नहीं ।

विशेषार्थ— शब्द, समभिरूढ और एवभूत, ये तीनों ही नय शब्द-प्रधान हैं, और शब्द किसी न किसी सज्ञाके वाचक होते ही हैं । अतः उक्त तीनों नयोंमें नाम-निक्षेप बन जाता है । तथा उक्त तीनों नयवाचक शब्दोंके उच्चारण करते ही वर्तमानकालीन पर्यायको भी विषय करते हैं, अतएव उनमें भाव-निक्षेप भी बन जाता है ।

शंका— यहाँ पर नयका निरूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान— जो पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयोंके द्वारा और नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार नहीं करता है, उसे पदार्थका समीक्षण कभी युक्त (सगत) होते हुए भी अयुक्त (असगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह प्रतीत होता है ॥ १० ॥

१ जो ण पमाण-णएहि णिक्खेवेण णिरिक्खदे अत्थ । तस्माजुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त व पडिहाइ ।

ति प १ ८२.

अत्थ जो न समिक्खइ निक्खेव-णय-प्पमाणओ विहिणा । तस्माजुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त व पडिहाइ ।

वि भा २७६४

२ ज्ञान प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास उच्यते । नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रह ॥ लघीय ६, २
णाण होदि पमाण णओ वि णादुस्स ह्रिय-भावत्थो । णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहण ॥ ति. प १, ८३
वत्थू पमाणविसय णयविसय हवइ वत्थु-एयस । ज दोहि णिणयट्ठ त णिक्खेवे हवे विसय ॥ णाणासहाव-भरिय
वत्थु गहिऊण त पमाणेण । एयतणासणट्ठ पच्छा णय-जुजण कुणह ॥ जम्हा णएण ण विणा होइ णरस्स
सिय-वाय-पडिवत्ती । तम्हा सो णायव्वो एयत हतुकामेण ॥ न च १७२, १७३, १७५

इदंणि णिक्खेवत्थं भणिस्सामो । तत्थ णाम-मंगलं णाम णिमित्तंतर^१-
 णिरवेक्खा मंगल-सण्णा । तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि ।
 तत्थ जाई तव्वभवसारिच्छ-लक्खण-सामण्णं । दव्वं दुविहं संजोय-दव्वं समवाय-दव्वं
 चेदि । तत्थ संजोय-दव्वं णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं । समवाय-
 दव्वं णाम जं दव्वं दव्वम्मि^२ समवेदं । गुणो णाम पज्जायादि-परोप्पर-विरुद्धो-अवि-
 रुद्धो वा । किरिया णाम परिप्फंदणरूवा । तत्थ जाइ-णिमित्तं णाम गो-मणुस्स-घड-
 पड-त्थंभवेत्तादि^३ । संजोग-दव्व-णिमित्तं णाम दंडी छत्ती मउली^४ इच्चेवमादि^५ ।
 समवाय-दव्व-णिमित्तं^६ णाम गल-गंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ । गुण-णिमित्तं णाम
 किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ^७ । किरिया-णिमित्तं णाम गायणो णच्छणो इच्चेवमाइ^८ ।
 ण च एदे चत्तारि णिमित्ते सोत्तूण णाम-पउत्तीए अण्णं^९ णिमित्तंतरप्पत्थि ।

विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, नामादिकके द्वारा वस्तुमे भेद करनेके
 उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं । इसप्रकार युक्तिसे
 अर्थात् प्रमाण, नय, और निक्षेपके द्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये ॥ ११ ॥

अतएव नयका निरूपण करना आवश्यक है ।

अब आगे नामादि निक्षेपोका कथन करते हैं । उनमेसे, अन्य निमित्तोकी अपेक्षा रहित
 किसीकी 'मंगल' ऐसी संज्ञा करनेको नाममंगल कहते हैं । वहाँ निमित्त चार प्रकारका है—
 जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया । उन चार निमित्तोमेसे तद्भव और सादृश्य-लक्षणवाले
 सामान्यको जाति कहते हैं ।

१ नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्त कथित ममम् । तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते ॥

त श्लो वा १ ५

२ मु ज दव्वम्मि ।

३ जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतु स विज्ञेयो गौरव्व इति शब्दवत् ॥

त श्लो वा १, ५, ३.

४ मु मोली ।

५ नयोगि-द्रव्य-शब्द स्यात्कुडलीत्यादिशब्दवत् । समवायि-द्रव्य-गन्धो विषाणीत्यादिरास्थित ॥

त श्लो वा १, ५, ९

६ मु समवायणिमित्त ।

७ गुणप्राधान्यतो वृत्ते द्रव्ये गुणनिमित्तक । शुक्ल पाटल इत्यादि-शब्दवत्सप्रतीयते ॥

त श्लो वा १, ५, ६

८ कर्म-प्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निवृष्यते । चरति प्लवते यद्धत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥

त श्लो वा १, ५, ७

९ मु अण्ण —

वच्चत्थ^१-णिरवेक्खो मंगल-सद्दो णाम-मंगलं । तस्स मंगलस्स आधारो अट्ठ-विहो । तं जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो^२ य अजीवो य,

विशेषार्थ— किसी एक द्रव्यकी त्रिकालगोचर अनेक पर्यायोमे रहनेवाले अन्वयको तद्भवसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे मनुष्यकी बालक, युवा और वृद्ध अवस्थामे मनुष्यत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है । तथा एक ही समयमे नाना व्यक्तिगत सदृश परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य कहते हैं । जैसे, रंग, आकार आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोमे गोत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है ।

द्रव्यके दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय-द्रव्य । उनमें, अलग अलग सत्ता रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं । जो द्रव्य द्रव्यमे समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं । जो पर्याय आदिककी अपेक्षा परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं । परिस्पंद अर्थात् हलन-चलनरूप अवस्थाको क्रिया कहते हैं ।

उन चार प्रकारके निमित्तोमेसे, गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ, वेत इत्यादि जाति-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गौ-मनुष्यादि संज्ञाएं, गौ-मनुष्यादि जातिमें उत्पन्न होनेसे प्रचलित हैं । दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, दंडा, छतरी, मुकुट इत्यादि स्वतंत्र-सत्तावाले पदार्थ हैं, और उनके संयोगसे दंडी छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमे आते हैं । गलगण्ड, काना, कुवड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि, जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्नसत्तावाला नहीं है । इसी प्रकार काना, कुवड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिये । कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमे ये नाम व्यवहारमे आते हैं । गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, गाना, नाचना आदि क्रियाओके निमित्तसे गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं । इसतरह जाति आदि उन चार निमित्तोको छोड़कर संज्ञाकी प्रवृत्तिमें अन्य कोई निमित्त नहीं है ।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मंगल' शब्द नाममंगल है । उस मंगलका आधार आठ प्रकारका है । जैसे, १ एक जीव, २ अनेक जीव, ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, ५ एक जीव और एक अजीव, ६ अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव ।

विशेषार्थ— मंगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये— १ साक्षात् एक जिनेन्द्रदेवके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है

१ अ-व-वच्चत्थ । ' नाम पि होज्ज सन्ना तव्वच्च वा तयत्थपरिमुत्तं ॥ वि भा. ३४००

२ अ - अजीवो च जीवा च, अजीवा च जीवो च, अजीवा च जीवा चेति ।

जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य इदि' ।

तत्थ ठुवण-मंगलं णाम आहिद-णामस्स अण्णस्स सोयमिदि ठुवणं ठुवणा णाम । सा दुविहा सव्भावासव्भाव-ट्ठवणा चेदि । तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सव्भाव-ठुवणा । तत्त्विवरीया असव्भाव-ठुवणा ।

उसे एकजीवाश्रित मंगल कहते हैं । यहा जिनेन्द्रदेवके स्थानपर एक जिन-यति भी लिया जा सकता है । २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं । ३ एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ४ अनेक जिन-प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ५ एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ६ अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ७ एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ८ अनेक यति और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं ।

उन नामादि मंगलोमेसे अब स्थापनामंगलको बतलाते हैं । किसी नामको धारण करनेवाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेकी स्थापना कहते हैं । वह स्थापना दो प्रकारकी है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना । इन दोनोंमेसे, जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारको धारण करनेवाली वस्तुमे सद्भावस्थापना समझना चाहिये तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमे असद्भावस्थापना जानना चाहिये ।

लेखनीसे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छँनी, टाकी आदिके द्वारा, वन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आदिके द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् साचे आदिमे ढलाई आदिके द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमे बुद्धिसे अनेक प्रकारके मंगलरूप अर्थके सूचक गुणसमूहकी कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके रूपको अर्थात् तदाकार आकृतिको सद्भावस्थापना-मंगल कहते हैं ।

१ 'किञ्चिद्वि प्रतीतमेकजीवनाम, यथा डित्थ इति । किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाजीवनाम, यथा घट इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम, यथा प्रासाद इति । किञ्चिदेकजीवकाजीवनाम, यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम, यथा काहार इति । किञ्चिदेकाजीवानेक-जीवनाम, यथा मदुरेति । किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम, यथा नगरमिति । त श्लो वा १, ५ जीवस्स मो जिणस्स व अज्जीवस्स उ जिणिदपडिमाए । जीवाण जईण पि व अज्जीवाण तु पडिमाण ॥ जीवस्साजीवस्स व जइणो विवस्स चेगओ समय । जीवस्साजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्य ॥ जीवाणमजीवस्स य जईण विवस्स चेगओ समय । जीवाणमजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्य ॥ वि भा ३४२४, ३४२५, ३४२६

मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-रुवं लिहण-खणण-बंधण-क्खेवणादिएण ठविदं वुद्धीए आरोविद-गुण-समूहं सवभाव-दूठवणा-मंगलं^१ । वुद्धीए समारोविद-मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-गुण-सरुवक्ख-वराडयादयो असवभाव-दूठणा-मंगलं^२ ।

दव्व-मंगलं णाम अणागय-पज्जाय-विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतव्भावं वा । तं दुविहं, आगम-णो-आगम-दव्वं चेदि । आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि

नमस्कारादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरंजकी गोटीमें वराडक अर्थात् कौड़ियोंमें तथा इसीप्रकारकी अन्य अतदाकार वस्तुओंमें मंगल-पर्यायिसे परिणत जीवके गुण स्वरूपकी वृद्धिसे कल्पना करना असद्भाव स्थापना-मंगल है ।

विशेषार्थ— जैसे शतरंज आदिके खेलमें राजा, मन्त्री आदिकी और खेलनेकी कौड़ी व पानोंमें संख्याकी आरोपणा होती है, उसीप्रकार मंगलपर्यायिपरिणत जीव और उसके गुणोंकी वृद्धिके द्वारा की हुई स्थापनाको असद्भावस्थापनामंगल कहते हैं ।

अब द्रव्यमंगलका ज्ञान करते हैं । आगे होनेवाली मंगल पर्यायिको ग्रहण करनेके सम्मुख हुए द्रव्यको (उस पर्यायिकी अपेक्षा) द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा, वर्तमान पर्यायिकी विवक्षासे रहित द्रव्यको ही द्रव्यमंगल कहते हैं । वह द्रव्यमंगल आगम और नो-आगमके भेदसे दो प्रकारका है ।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं । आगमसे भिन्न पदार्थको नोआगम कहते हैं ।

मंगल-प्राभूत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रकी जाननेवाले, किंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा, मंगल विषयके प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं । अथवा मंगल विषयको प्रतिपादन करनेवाले उस मंगल प्राभूत शास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ— आगे होनेवाली पर्यायिके सम्मुख, अथवा वर्तमान पर्यायिकी विवक्षासे रहित, अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्यायिकी विवक्षासे द्रव्यको द्रव्यमंगल कहा है, और तद्विषयक ज्ञानको आगम कहा है । इससे यह तात्पर्य निकलना है कि जो मंगलविषयक शास्त्रका जानकार वर्तमान उसके उपयोगसे रहित हो वह आगमद्रव्यमंगल है । यहांपर जो मंगलविषयक

१ तत्राध्यारोप्यमानेन भावेन्द्रादिना ममाना प्रतिमा तद्भावस्थापना, मुख्यद्रविण स्वयं तस्यास्त-द्वुद्धिसंभवात् कथंचित्त्वादव्यसद्भावात् । त श्लो वा १, ५

२ मुन्याकारयूच्या वस्तुमात्रा पुनस्तद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र नोप्यमिति नप्रत्ययात् ।

त श्लो वा. १, ५.

एयट्ठो । आगमादो अण्णो णो-आगमो । तत्थ^१ आगमदो दव्व-मंगलं णाम, मंगल-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्द-रयणा-वा, तस्सत्थ^२-ट्ठवणक्खर-रयणा वा । णो-आगमदो दव्व मंगलं तिविहं । जाणुग-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जं तं जाणुग-सरीर^३-णो-आगम-दव्व-मंगलं तं तिविहं, मंगल-पाहुडस्स-केवल-णाणादि-मंगल-पज्जायस्स वा आधारत्तणेण भविय-वट्ठमाणादीद-सरीरमिदि । आहारस्साहेयो-वयारादो भवट्ठु धरिद-मंगल-पज्जाय-परिणद-जीवसरीरस्स मंगल-ववएसो, ण

शास्त्रकी शब्दरचना अथवा मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगमद्रव्य-मंगल कहा है वह उपचारसे ही समझना चाहिये । क्योंकि, मंगलविषयक शास्त्र-ज्ञानमे मंगल-विषयक शास्त्रकी शब्द रचना और मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचना ये मुख्य-रूपसे बाह्य निमित्त पडते हैं । वैसे तो सहकारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं, परंतु वे मुख्य बाह्य निमित्त न होनेसे उनका ग्रहण नो-आगममे किया है । अथवा, मंगलविषयक शास्त्रज्ञानसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा इन दोनों बाह्य निमित्तोंकी विशेषता दिखानेके प्रयोजनसे इन दोनों बाह्य निमित्तोंका आगमद्रव्यमंगलमे ग्रहण कर लिया है ।

नो-आगमद्रव्यमंगल तीन प्रकारका है, ज्ञायकशरीर, भव्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त । उनमें जो ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये । मंगल-विषयक शास्त्रका अथवा केवलज्ञानादिरूप मंगल-पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमान-शरीर और अतीतशरीर, इसप्रकार ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका— आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माका उपचार करके धारण की हुई मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो-आगमज्ञायकशरीरद्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है, परंतु भावी और भूत शरीर को मंगल संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमे मंगलरूप पर्यायके अस्तित्वका अभाव है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि राज-पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिसप्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मंगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमे भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

--

..

१ आगमओऽणुवजुत्तो मंगल-सद्दणुवासिओ वत्ता । तन्नाण-लद्धि-चेहिओ वि नोवजुत्तो त्ति तो दव्व ॥ जद नाणमागमो तो कह दव्व दव्वमागमो कह णु । आगम-कारणमाया देहो सद्दो यतो दव्व ॥ मंगल-पयत्थ जाणय-देहो भवस्स वा सजीवो वि । नो-आगमओ दव्व आगम-रहिओ त्ति ज भणिअ ॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेग-देसाओ । भूयस्स भाविणो वाऽऽगमस्स ज कारण देहो ॥ जाणय-भव्य-सरीराइरित्तमिह दव्व-मंगल होइ । जा मंगल्ला किरिया त कुणमाणो अणुवजुत्तो ॥ वि भा २९, ३०, ४४, ४५, ४६

२ अ-तस्सद्द ।

३ मु सरीर ।

अर्णोसि, तेषु द्विद-मंगल-पञ्जायाभावा ? ण, राय-पञ्जायाहारत्तणेण अणागदादीद-जीवे वि राय-ववहारोवलंभा ।

तत्थ अदीद-सरीरं तिविहं, चुदं चइदं चत्तमिदि । तत्थ चुदं णाम कयली-घादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण ज्जीयमाणायु-क्खय-पदिदं । चइदं णाम कयलीघादेण छिण्णायु-क्खय-पदिद-सरीरं । उत्तं च—

विशेषार्थ— आगमके बाह्य सहकारी कारण होनेसे शरीरको नो-आगम कहा गया है । और उसमें अन्वय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे द्रव्य कहा गया है । ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलपनेका व्यवहार हो सकता है । इसका खुलासा इसप्रकार है—

औद्योगिक, वैक्रियक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्रके परिज्ञानमें बाह्य सहकारी कारण हैं, क्योंकि, इनके बिना कोई शास्त्रका अभ्यास ही नहीं कर सकता है । अब इनमें अन्वय-प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते हैं । जिस शरीरसे मैंने मंगल शास्त्रका अभ्यास किया था वही शरीर उक्त अभ्यासको पूरा करते समय भी विद्यमान है, इस प्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्यय पाया जाता है । मंगल शास्त्रज्ञानसे उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तद्विषयक शास्त्रज्ञानसे रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि होती है । मंगल शास्त्रज्ञानके उपयोगसे रहित मेरा जो शरीर है वही तद्विषयक तत्त्वज्ञानकी उपयोग-दशामें भी होगा, इसप्रकार अनागत ज्ञायकशरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है । इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, च्यावित और त्यक्त ।

कदलीघात-भरणके बिना पके हुए फलके समान कर्मके उदयसे झड़नेवाले आयुर्कर्मके क्षयसे अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ— जैसे पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं गिर पड़ता है । वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पड़ती है । उसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर नस्त्रादिकके बिना छूट जाता है, उसे च्युत शरीर कहते हैं ।

कदलीघातके द्वारा छिन्न आयुके क्षय हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावितशरीर कहते हैं । कहा भी है—

विस^१-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-सकिलेसेहि^२ ।

आहारुस्सासाण^३ णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ १२ ॥ इदि ॥

चत्तसरीरं तिविहं, पायोवगमण-विहाणेण, इंगिणी-विहाणेण, भत्त-पच्चक्खाण-विहाणेण, चत्तमिदि । तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्^४ । आत्मोपकारसव्यपेक्षं

विषके खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय हो जानेसे, तीव्र भयसे, शस्त्राघातसे, संक्लेशकी अधिकतासे तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ— जैसे कदली (केला) के वृक्षका तलवार आदिके प्रहारसे एकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विष-भक्षणादि निमित्तोसे भी जीवकी आयु एकदम उदीर्ण होकर छिन्न हो जाती है । इसे ही अकाल-मरण कहते हैं, और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्यावित शरीर कहते हैं ।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इंगिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया । इसतरह त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाते हैं ।

अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन कहते हैं ।

विशेषार्थ— प्रायोपगमन समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु संस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पांवका हिलाना, एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि क्रियाएँ न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है । जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार वह साधु समाधिमें सर्वथा निश्चल रहता है । शास्त्रोमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं । जैसे, सधको छोड़कर अपने पैरोद्वारा किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, प्राय अर्थात् सन्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, पादप अर्थात् वृक्षकी तरह निष्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी क्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादपोपगमन समाधिमरण कहते हैं । इन सब अर्थोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है ।

१ गो क ५७ २ मु सकिलिस्सेहि । ३ मु आहारो ।

४ पायोवगमणमरण, पादाभ्यामुपगमन ढौकन तेन प्रवर्तित मरण पादोपगमनमरणम् । अथवा 'पाउग्ग-गमणमरण' इति पाठ, भवान्तकरण प्रायोग्य सहनन मस्थान चेह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमन प्राप्ति, तेन कारणभूतेन यस्मिन्मरणं तदुच्यते पाउग्गगमणमरणमिति । मूलारा पृ ११३ 'पाओवगमण' पादपस्येवो-पगमनमरणपदतयाऽवस्थान पादपोपगमनम् । तदुक्त-पाओवगमण भणिय सम-विसमे पायवो जहा पडितो । नवर परप्पओगा कपेज्ज जहा जलतरु व्व ॥ ५४४ अभिरा कोष (पाओवगमण)

परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्^१ । आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति^२ ।
तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात् । जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्^३ ।
उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादशवर्षप्रमाणम्^४ । मध्यममेतयोरन्तरालमिति ।

जिस संन्यासमे, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीसमाधि कहते हैं ।

विशेषार्थ— इंगिनी शब्दका अर्थ इंगित (अभिप्राय) है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणको करनेवाला स्वतः किये हुए उपकारकी अपेक्षा रखता है । इस समाधि-मरणमे साधु संघसे निकलकर किसी योग्य देशमे समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका संस्तर तैयार करके समाधिकी प्रतिज्ञा करता है । इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पैरका पसारना, मल-मूत्रका विसर्जन करना आदि क्रियाएं क्षपक स्वयं करता है । किसी दूसरे साधुकी सहायता नहीं लेता है । इस तरह यावज्जीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणको इंगिनी-संन्यास कहते हैं ।

जिस संन्यासमे अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसंन्यास कहते हैं ।

विशेषार्थ— भक्त नाम भोजनका है, और प्रत्याख्यान त्यागको कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि जिस संन्यासमे क्रम-क्रमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और पराये उपकारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं ।

इन तीनों प्रकारके समाधिमरणोमेसे भक्त-प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है । जघन्य भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्षके भीतर है ।

१ इंगिनीशब्देन, इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते, स्वाभिप्रायेण स्थित्वा प्रवर्त्यमान मरण इंगिनीमरणम् । यत्पुन स्ववैयावृत्तिसापेक्षमेव । मूलारा पृ १२४ अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविरति, परपरिकर्मविवर्जनञ्च भवति । स्वयं पुनरिङ्गितदेशाम्यन्तरे उद्धर्तनादि चेष्टात्मक परिकर्म यथासमाधि विदधाति । अभि रा कोष (इंगिनी)

२ भज्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहार । तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान त्याग । भक्तप्रतिज्ञा स्वपर-वैयावृत्यसापेक्ष मरणम् । मूलारा पृ ११३

३ उक्कस्सएण भत्त-पइण्णा कालो जिणेहि णिड्ढो । काल हि मपहुत्ते वारिस वरिसाणि पुण्णाणि ॥ जोगेहि विचित्तेहि दु खवेदि सबच्छराणि चत्तारि । वियडिणी य जूहिता चत्तारि पुणो वि सोसेड ॥ आयविल-णिव्वियडीहि दोण्णि आयविलेण एक्क च । अद्ध णादि विगट्ठेहि तदो अद्ध विगट्ठेहि ॥ मूलारा २५७-२५९.

संजम-विणास-भएण उस्सास-णिरोहं' काऊण मुद-साहु-सरीरं कत्थ णिवददि ?
ण कत्थ वि, तहा-मुद-देहस्स मंगलत्ताभावादो । मंगल-पाहुड-धारयस्स धरिद-महव्व-
यस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स वा देहो कधममंगलं ? साहूणमजुत्तकारिस्स देहत्तादो
अमंगलमिदि ण वोत्तुं जुत्तं, पुव्वं ति-रयणाहारत्तेण मंगलत्तमवगयस्स पच्छा भूद-
पुव्व-णाएण मंगल-भावं पडि विरोहाभावादो । तदो मंगल-भावेण कत्थ वि
णिवदेयव्वमेदेण सरीरेणेति । ण चइदम्हि पददि, चत्तस्स वि आहार-णिरोहेण
पदिदस्स चइदत्तावत्तीदो । तो क्खहि एदं घेत्तव्वं ? कयली-घादेण मरण-कंखाए
जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा पदिद-सरीरं चइदं । जीवियासाए मरणा-
साए जीविय-मरणासाहि विणा वा कयलीघादेण अचत्त-भावेण पदिद-सरीरं चुदं णाम ।

शंका— संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके
शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

समाधान— ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि
इस प्रकारसे मृत शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता ।

शंका— जो मंगल शास्त्रका धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतको धारण
किया है, चाहे उस साधुने समाधिसे शरीर छोड़ा हो अथवा नहीं छोड़ा हो, परंतु उसके
शरीरको अमंगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अधोग्य कार्य
करनेवाले साधुका शरीर होनेसे वह अमंगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो
शरीर पहले रत्नत्रयका आधार होनेसे मंगलपनेको प्राप्त हो चुका है, उसमें पीछेसे भूतपूर्व
न्यायकी अपेक्षा मंगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये मंगलपनेकी
अपेक्षा संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोड़े हुए साधुके शरीरका त्यक्तके
तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें समावेश होना चाहिये । इस शरीरका च्यावितमें तो अन्तर्भाव
हो नहीं सकता है, क्योंकि, यदि इसका च्यावितमें अन्तर्भाव किया जावे, तो आहारके निरोधसे
छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यावितमें ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा ? तो ऐसे शरीरको किस
भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन
दोनोंकी आशाके बिना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं । जीवनकी आशासे,
मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदली-घात व

१ तो णाउ वित्तिच्छेय ऊमासनिरोहमादिणि कयाड । अणहीयामे तेहि वेयणमाहहि ओमम्मि ॥ पडि-
घातो वा विज्जू गिरिमित्ति कोणयाड वा हज्जा । मवद्धहत्थपायाडओ व्व वातेण होज्जाहि ॥ एएहि कारणेहि
पडियमरण तु काउमममत्थो । ऊमामगिद्धपट्ठं रज्जुग्गहण च कुज्जाहि ॥ व्यव सू ५४६-५४८

जीविद-मरणासाहि विणां सरुवोवलद्धिणिमित्तं चत्त^१-बज्झंतरंग-परिग्गहस्स कयली-घादेणियरेण वा पदिद-सरीरं चत्तदेहमिदि ।

भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राभृतज्ञायको जीवः मङ्गलपर्यायं परिणंस्यतीति वा । तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुद्ध्यादि-षोडशधा-प्रविभक्त-तीर्थकर-नामकर्म-कारणैर्जीव-प्रदेश-निबद्ध-तीर्थकर-नामकर्म माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम् यत्तन्नोकर्ममङ्गलं । तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति ।

समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं । आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अतरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके बिना ही कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्तशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ— पूर्वमे बतलाये गये च्युत, च्यावित और त्यक्तके स्वरूपपर ध्यान देनेसे यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि संयम-विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके छूटे हुए साधुके शरीरका च्यावितमे ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, च्यावित मरणमे कदलीघातकी प्रधानता है । और श्वासोच्छ्वासका स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है । उसमे समाधिका सद्भाव नहीं रह सकता है, इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमे ग्रहण नहीं किया जा सकता है । यद्यपि किसी त्यक्तमरणमे कदलीघात भी निमित्त पड़ता है । परंतु वहापर कदलीघातसे, परकृत उपसर्गादि निमित्तोका ही ग्रहण किया गया है, स्वकृत श्वासोच्छ्वासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विवक्षित नहीं है ।

जो जीव भविष्यकालमे मंगल-शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे परिणत होगा उसे भव्यनोआगमद्रव्यमंगलनिक्षेप कहते हैं ।

विशेषार्थ— ज्ञायकशरीरके तीन भेद किये हैं । उसका एक भेद भावी भी है । परंतु उससे इस भावीको भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, ज्ञायकशरीरके भावी विकल्पमे ज्ञाताके आगे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहांपर भविष्यमे होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका ज्ञाता ग्रहण किया है ।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगलके भेदसे तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । उनमे दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थकर नामकर्मके कारणोंसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए तीर्थकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल कहते हैं, क्योंकि, वह मंगलपनेका सहकारी कारण है ।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । एक लौकिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यमंगल ।

तत्राचित्तमङ्गलम्—

सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वदणमाला य मगल छत्त ।

सेदो वण्णो आदसणो य कण्णा य जच्चस्सो^१ ॥ १३ ॥

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादिः ।

उन दोनोमेसे लौकिकमगल सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । इनमे— 'सिद्धार्थ' अर्थात् श्वेत सरसो, जलसे भरा हुआ कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेत-वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मगल है । और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मगल है ॥ १३ ॥

अलंकारसहित कन्या आदि मिश्र-मगल समझना चाहिये । यहा पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है ।

विशेषार्थ— पंचास्तिकायकी टीकामे भी जयसेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरूप माननेमे भिन्न भिन्न कारण दिये हैं । वे इस प्रकार हैं, जिनेन्द्रदेवने व्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हे सिद्ध यह सज्ञा प्राप्त हुई, इसलिये लोकमे सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसो मंगलरूप माने गये । जिनेन्द्रदेव सपूर्ण मनोरथोसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण हैं, इसलिये पूर्ण-कलश मंगलरूपसे प्रसिद्ध हुआ । बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस ही तीर्थंकर वन्दना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तिने वन्दनमालाकी स्थापना की । अरहंत परमेष्ठी सभी जीवोका कल्याण करनेवाले होनेसे जगके लिये छत्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार है, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है । ध्यान, शुक्ललेश्या इत्यादिको श्वेत-वर्णकी उपमा दी जाती है । इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है । जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानमे जिस प्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार दर्पणमे भी अपना बिम्ब झलकता है; अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है । जिसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोकमें मंगलस्वरूप हैं, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभावसे रहित होनेके कारण लोकमे मंगल मानी गई है । जिसप्रकार जिनेन्द्रदेवने कर्म-शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार उत्तम जातिके घोड़ेसे भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोड़ा मंगलरूप माना गया है ॥ १३ ॥

१ वयणियममजमगुणेहि साहिदो जिणवरेहि परमट्ठो । सिद्धा सण्णा जेसि सिद्धत्था मगल तेण ॥ पुण्णा मणोरहेहि य केवलणाणेण चावि सपुण्णा । अरहता इदि लोए सुमगल पुण्णकुंभो दु ॥ निग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीम पि वदणिज्जा ते । वदणमाले त्ति कया भरहेण य मगल तेण ॥ सब्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहता । छत्तायार सिद्धि त्ति मगल तेण छत्त त ॥ सेदो वण्णो ज्झाण लेस्सा य अघाडसेसकम्म च । अरुहाण इदि लोए मुमगल सेदवण्णो दु ॥ दीसइ लोयालोओ केवलणाणे तहा जिणिदस्स । तह दीसइ मुकुरे विवु मगल तेण त मुणह ॥ जह वीयरायसव्वणू जिणवरो मगल हवइ लोए । हयरायबालकण्णा तह मगलमिदि वियाणाहि ॥ कम्मरि जिणेविणु जिणवरेहि मोक्खु जिणाहि वि जेण । जच्चस्स उ अखिल जिणइ मगलु वुच्चइ तेण ॥ पच्चा टीका

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम् सचित्तमचित्तं मिश्रमिति । सचित्तमर्हदादीनाम-
नाद्यनिधनजीवद्रव्यम् । न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टार्हदादीनाम्, जीवद्रव्यस्यैव
ग्रहणम्, तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिक्षेपान्तर्भावात् न केवल-
ज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणम्, तेषामपि भावरूपत्वात् । अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिम-
चैत्यालयादिः, न तत्स्थप्रतिमाः, तासां' स्थापनान्तर्भावात् । अकृत्रिमाणां कथं
स्थापनाव्यपदेशः ? चेत् इति चेन्न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात् ।
यथा अग्निरिव माणवकोऽग्निः । तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा ।
तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम् ।

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । अरहत
आदिका अनादि और अनन्तस्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल
है । यहांपर केवलज्ञानादि मंगल-पर्याययुक्त अरहंत आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु
उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान-पर्यायसहित द्रव्यको भाव
कहा है । इसलिये उसका भावनिक्षेपमे अन्तर्भाव होता है । इसलिये केवलज्ञानादि वर्तमान
पर्यायकी अपेक्षा अरहंतके आत्माकी भावनिक्षेपमें परिगणना होगी । उसकी द्रव्यनिक्षेपमे गणना
नहीं हो सकती है । उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोका भी इस लोकोत्तर नो-आगमतद्रव्यमंगलमे
ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, वे सब पर्याय भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमे ही
अन्तर्भाव होगा ।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्य-
मंगल हैं । उन चैत्यालयोमे स्थित प्रतिमाओका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि,
उनका स्थापना निक्षेपमे अन्तर्भाव होता है ।

शंका— अकृत्रिम प्रतिमाओमे स्थापनाका व्यवहार कैसे सभव है ?

समाधान— इसप्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओमे
भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व स्नान लेने पर 'ये जिनेन्द्रदेव है' इस प्रकारके मुख्य व्यवहारकी
उपलब्धि होती है । अथवा, अग्नितुल्य बालकको भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार
कृत्रिम प्रतिमाओमे की गई स्थापनाके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अकृत्रिम जिन
प्रतिमाओमे स्थापनाका व्यवहार हो सकता है । उक्त दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त
मंगलोको मिश्र-मंगल कहते हैं ।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र, अर्थात् जहां पर योगासन, वीरासन इत्यादि अनेक आसनोसे
तदनुकूल अनेक प्रकारके योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र,
परिनिष्क्रमणक्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्वाणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

तत्र क्षेत्रमङ्गलं^१ गुण-परिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-क्षेत्रादिः । तस्योदाहरणम्, ऊर्ज्यन्त-चम्पा-पावा-नगरादिः । अर्धाष्टारत्न्यादि^२-पञ्चविंशत्युत्तर-पञ्च-धनुः-शत-प्रमाण-शरीर-स्थित-कैवल्याद्यवष्टब्धाकाश-देशा वा, लोकमात्रात्म-प्रदेशैर्लोक-पूरणापूरित-विश्व-लोक-प्रदेशा वा ।

तत्थ काल-मंगलं णाम^३, जम्हि काले केवल-णाणादि-पज्जएहि परिणदो सो कालो^४ पाव-मल-गालणत्तादो मंगलं । तस्योदाहरणम्, परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणदिवसादयः । जिन-महिमा^५-सम्बद्ध-कालोऽपि मङ्गलम् । यथा नन्दीश्वर-दिवसादिः ।

तत्थ भाव-^६मंगलं णाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः । स द्विविधः

आगे उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है—

ऊर्ज्यन्त (गिरनार-पर्वत) चम्पापुर और पावापुर नगर आदि क्षेत्रमंगल है । अथवा, साढ़े तीन हाथसे लेकर पांचसौ पच्चीस धनुष तकके शरीरमे स्थित और केवलज्ञाना-दिसे व्याप्त आकाश-प्रदेशोको क्षेत्रमंगल कहते हैं । अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंसे लोक-पूरणसमुद्धातदशामे व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

जिस कालमे जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओको प्राप्त होता है उसे पापरूपी मलका गलानेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते हैं । उदाहरणार्थ, दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकी उत्पत्ति और निर्वाण-प्राप्तिके दिवस आदि कालमंगल समझना चाहिये । जिन-महिमासम्बन्धी कालको भी कालमंगल कहते हैं । जैसे, आष्टाह्निक पर्व आदि ।

वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं । वह आगमभावमंगल और नोआगम-भावमंगलके भेदसे दो प्रकारका है । आगम सिद्धान्तको कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमे उसमे उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं । नो-आगम-भावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है । जो आगमके बिना ही मंगलके अर्थमे उपयुक्त है उसे उपयुक्त नो-आगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात्

१ गुणपरिणदासण परिणिक्कमण केवलस्स णाणस्स । उप्पत्ती इय पडुदी बहुमेय खेत्तमगलय ॥ एदस्स उदाहरण पावाणगरुज्जयत्तचपादी । आहुट्ठहत्थपडुदी पणुवीसम्भहियपणसयधणूणि ॥ देहअवट्ठदकेवलणाणा-वट्ठद्वगयणदेसो वा । सेढीधणमेत्तअप्पपदेसगदलोयपूरण पुण्ण ॥ विण्णास लोयाण होदि पदेसा वि मंगल खेत्त ॥

ति प १, २१-२४

२ ' अर्धाष्ट ' इत्यत्र ' अर्धचतुर्थ ' इति पाठेन भाव्यम् ।

३ जस्सि काले केवलणाणादि मंगल परिणमदि ॥ परिणिक्कमण केवलणाणुव्भवणिव्वुदिपवेसादी । पावमलगालणादो पण्णत्त कालमंगल एद ॥ एव अणेयमेय हवेदि तक्कालमंगल पवर । जिणमहिमासवध णदीसरदीवपडुदीओ ॥ ति प १, २४-२६ ४ मु परिणदो कालो । ५ मु महिम-

६ मंगलपज्जाएहि उवलक्खियजीवदव्वमेत्त च । भाव मंगलमेद पठियउ सत्थादिमज्झयतेसु ॥

ति प १, २७

आगम-नोआगमभेदात् । आगमः सिद्धान्तः । आगमदो मंगल-पाहुड-जाणओ उवजुत्तो । णो-आगमदो भाव-मंगलं दुविहं-उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

एदेसु णिक्खेवेसु केण णिक्खेवेण पयोजणं ? णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तत्परिणएण पयोजणं । जदि णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तत्परिणदेण पयोजण-मियरेहि णिक्खेवेहि इह किं पयोजणं ?

जत्थ बहु जाणिज्ज अवरिमिद तत्थ णिक्खेवे णियमा ।

जत्थ बहुव ण जाणदि चउट्ठय णिक्खेवे तत्थ^१ ॥ १४ ॥

इदि वयणादो णिक्खेवो कदो ।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेपः क्रियत इति? उच्यते, त्रिविधाः श्रोतारः, अव्युत्पन्नः

जिनेन्द्रदेव आदिकी वन्दना, भावस्तुति आदिमे परिणत जीवको तत्परिणत नोआगमभावमंगल कहते हैं ।

शंका— इन निक्षेपोमेसे यहां (इस ग्रन्थावताररूप प्रकरणमे) किस निक्षेपसे प्रयोजन है ?

समाधान— यहापर तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है ।

शंका— यदि यहां तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है, तो अन्य निक्षेपोके कथन करनेसे यहा क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रयोजनके बिना उनका यहा कथन नहीं करना चाहिये था ।

समाधान— जहां जीवादि पदार्थोंके विषयमे बहुत जाने, वहांपर नियमसे सभी निक्षेपोके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये । और जहापर बहुत न जाने, तो वहांपर चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये । अर्थात् चार निक्षेपोके द्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य करना चाहिये ॥ १४ ॥

इस वचनके अनुसार यहापर निक्षेपोका कथन किया गया ।

पूर्वोक्त कथनके मान लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोका कथन किया जाता है, इस प्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं, पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा सपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला, और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला । इनमेसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है । दूसरा 'यहा पर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है' इस प्रकार विवक्षित पदके अर्थमे सदेह करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थको

१ जत्थ य ज जाणेज्जा निक्खेव निक्खेवे निरवसेस । जत्थ वि अ न जाणेज्जा चउक्कम निक्खेवे तत्थ ॥ अनु द्वा १, ६

अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति । विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः क्रियते अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय^१ । अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपाः उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः संशयितयोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्तयोः^२ प्रकृतार्थाविधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उत्तं च—

अवगय-णिवारणट्ठ पयदस्स परूवणा-णिमित्तं च ।

ससय-विणासणट्ठ तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥ १५ ॥

छोड़ कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है । दूसरी जातिके श्रोताके समान तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमे या तो सदेह करता है अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है ।

इनमेसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायका अर्थों अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना चाहिये । यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात्, सामान्यरूपसे किसी वस्तुका स्वरूप जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररूपण करनेके लिये संपूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि, व्यतिरेक धर्मके निर्णयके विना विधिका निर्णय नहीं हो सकता है । दूसरी और तीसरी जातिके श्रोताओको यदि सदेह हो, तो उनके सदेहको दूर करनेके लिये संपूर्ण निक्षेपोका कथन किया जाता है । और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तुके निर्णयके लिये संपूर्ण निक्षेपोका कथन किया जाता है । कहा भी है—

अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररूपण करनेके लिये, संशयका विनाश करनेके लिये, और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोका कथन करना चाहिये। १५।

अथवा सम्भव है कि निक्षेपोको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमे ले जावे, इसलिये भी निक्षेपोका कथन करना चाहिये ।

अब मंगलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव,

१ ननु निक्षेपाभावेऽपि प्रमाणनयैरधिगम्यत एव तत्त्वार्थ इति चेन्न, अप्रकृतनिराकरणार्थत्वात्, प्रकृत-प्ररूपणार्थत्वाच्च निक्षेपस्य । न खलु नामादावप्रकृते प्रमाणनयाधिगतो भावो व्यवहारायाल, मुख्योपचार-विभागेनैव तत्सिद्धे । न च तद्विभागे नामादिनिक्षेपविना संभवति, येन तदभावेऽपि तत्त्वार्थाधिगति स्यात् । लघ्वीय पृ ९, ९

२ मु विपर्यस्यतो ।

निक्षेपविसृष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति वा ।

मङ्गलस्यैकार्थं उच्यते, मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मङ्गलपर्यायवचनानि^१ । एकार्थप्ररूपं किमर्थमिति^२ चेत् ? यतो मङ्गलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेष्वनेकाभिधानैर्मङ्गलार्थः^३ प्रयुक्त-
ग्विरन्तनाचार्यैः, सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्येकार्थं उच्यते । ‘यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः’ इति वचनाद्वा ।

मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति^४ हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्^५ । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात्^६ । द्रव्यमलं द्विविधम्—‘बाह्यमभ्यन्तरं’ च । तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यम् । ‘घन-कठिन-जीव-

शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगलके पर्यायवाची नाम हैं ।

गंका— यहाँपर मंगलके एकार्थ-वाचक अनेक नामोका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान—क्योंकि, मंगलरूप अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य है, अर्थात् अनेक पर्यायवाची नामोके द्वारा मंगलरूप अर्थका प्रतिपादन किया जाता है । इसलिये प्राचीन आचार्योंने अनेक शास्त्रोंमें अनेक अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका कथन किया है । उसका मतिभ्रमके बिना शिष्योंको सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे, इसलिये यहाँपर मंगलके एकार्थ-वाची नाम कहे हैं ।

अथवा, ‘यदि शिष्य एक शब्दसे प्रकृत विषयको नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दोंके द्वारा उसे ज्ञान करा देना चाहिये’ इस वचनके अनुसार भी यहाँपर मंगलरूप अर्थके पर्याय-वाची अनेक नाम कहे गये हैं ।

अब मंगलकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ) कहते हैं । जो मलका गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मंगल कहते हैं । द्रव्यमल और भावमलके भेदसे वह मल दो प्रकारका है । द्रव्यमल भी दो प्रकारका है, बाह्य-

१. पुण्यं पूदपविता पसत्यसिवमद्वन्मेकलाणा । नृहमोक्त्वादी सव्वे णिदिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥

ति प १, ८.

२. नु. किमिति । ३. मु. शास्त्रेषु नैकामिधानै मङ्गलार्थः । ४. मु. विनाशयति दहति ।

५. गालयति विनाशयति घातेति दहेति हति सोवयदे । विद्वनेति मलाडं जम्हा तम्हा य मंगल निगिदं ॥ ति. प १, ९

६. दोन्नि वियप्पा होति ह मलस्स डमं दव्वभावमेहि । ति प १, १०

७. दव्वमल दुविहप्प बाहिरमभ्यन्तरं चैय । सेदमलरेणुकट्टनपट्टी बाहिरमल नमुदिट्ठं ।

८. मु. नान्यन्तर ।

ति प १, १०-११.

९. पुणु दिट्ठजीवप्पेसे णिववत्त्वाड पयडिठिदिआई । अणुभागपदेमाड चउहि पत्तेक्कनेज्जमाण तु ॥

प्रदेश-निबद्ध-प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-विभक्त-ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्मभ्यन्तर-द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम्^१ ।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम् । उक्तमर्थमलम् । अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः । तयोस्तपन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम् । अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभावमलभेदात् । अनेकविधं वा^२ । तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्^३ । अथवा मङ्गलं सुखं, तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्^४ । उक्तं च—

मङ्गलशब्दोऽयमुद्दिष्टः^५ पुण्यार्थस्याभिधायकः ।

तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः ॥ १६ ॥

द्रव्यमल और अभ्यन्तर-द्रव्यमल । इनमेसे, पसीना, धूलि और मल आदि बाह्य-द्रव्यमल हैं । सान्द्र और कठिनरूपसे जीवके प्रदेशोसे बंधे हुए, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश इन भेदोंमें विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म अभ्यन्तर द्रव्यमल हैं । अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामोको भावमल कहते हैं ।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका है । अर्थमलको तो अभी पहले कह आये हैं, अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, अभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये । मलके वाचक शब्दोको अभिधान मल कहते हैं । तथा अर्थमल और अभिधानमलमे उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं ।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है । अथवा, इसी प्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका है । उस मलका जो गालन करे, विनाश करे व ध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं ।

अथवा, मंग शब्द सुखवाची है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं । कहा भी है—

यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है । उस पुण्यको जो लाता है उसे मंगलके इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं ॥ १६ ॥

पाणावरणप्पहुदी अट्ठविह कम्ममत्तिलपावरय । अवभंतरदव्वमल जीवपदेसे निबद्धमिदि हेदो ।

ति प १, ११-१२

१ भावमल पादव्व अण्णाणादसणादिपरिणामो ॥ ति प १, १३

२. अह्वा बहुभेयगय पाणावरणादि दव्वभावमलभेदा । ति प. १, १४

३ ताइ गालेदि पुढ जदो तदो मंगल भण्णिद ॥ ति प १, १४

४ अह्वा मंग सोक्ख लादि हु गेण्हेदि मंगल तम्हा । एदाण कज्जसिद्धि मंगलगत्थेदि गयकत्तारो ॥

ति प १, १४, १५

५. पुव्व आइरिण्हि मंगलपुव्व च वाचिद भण्णिद । त लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलप्पवर ॥

ति प १, १६

पाप^१ मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।

तद्धि गालयतीत्युक्त मङ्गल पण्डितैर्जनै ॥ १७ ॥

किं कस्स केण कत्थ व केवचिर कदिविधो य भावो त्ति ।

छहि अणिओग-द्वारेहि सव्व-भावाणुगतव्वा^३ ॥ १८ ॥

अथवा मङ्गलमिति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन् वेति मङ्गलम् । मङ्गल-शब्दस्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता । मङ्गलस्यानुयोग^२ उच्यते—

किं मङ्गलम् ? जीवो मङ्गलम् । न सर्वजीवानां मङ्गलत्वप्राप्तिः^४ द्रव्यार्थिक-नयापेक्षया मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां

उपचारसे पापको भी मल कहा है । इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं । इस तरह मंगल शब्दके अर्थ-विषयक निश्चयके उत्पन्न करनेके लिये मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई है ।

अब मंगलका अनुयोग कहते हैं, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करते हैं ।

विशेषार्थ— जिनेन्द्रकथित आगमका पूर्वापार सदर्थ मिलाते हुए अनुकूल व्याख्यान करनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप विषयके साथ संबन्ध जोड़नेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, एक ही आगम-कथित-सूत्रके अनन्त अर्थ होते हैं, इसलिये सूत्रकी 'अणु' संज्ञा है । उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबन्धके प्रतिपादन करनेको अनुयोग कहते हैं ।

पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकारका है, इस प्रकार इन छह अनुयोग-द्वारासे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनसे अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता है ।

१ पाव मल ति भण्णदि उवचारसरुवण्ण जीवाण । त गालेदि विणास णेदि त्ति भण्णति मगल केई ॥ ति प १, १७

२ अणुओयणमणुओगो सुयस्स नियएण जमभिघेएण । वावारो वा जोगो जो अणुरुवोऽणुकूलो वा ॥ अहवा जमत्थओ थोवपच्छभावेहि सुयमणु तस्स । अभिघेए वावारो जोगो तेण व सवधो ॥

वि मा १३९३, १३९४.

३ मूलाच्चा ७०५ दुविहा पस्वणा, छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो । किं कस्स केण व कहिं केवचिर कडविहो य भवे ॥ आ नि ८६४ तानीमानि पडनुयोगद्वाराणि, निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरण-स्थितिविधानतः । त सू १, ७ तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथन निर्देश । कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्य-कथन स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने कारणनिरूपण साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे आधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने कालप्ररूपण स्थिति । कतिविध इत्यनुयोगे प्रकारकथन विधानम् । लघीय पृ ९५

४ मु मङ्गलप्राप्ति ।

च मङ्गलत्वाभ्युपगमात् ।

कस्य मङ्गलम् ? जीवस्य द्रव्यार्थिकनयार्पणया नित्यतासादधानस्य पर्यायार्थिक-
नयार्पणयोत्पादविगमात्मकस्य । देवदत्तात्कम्बलस्येव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः,
सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदेऽपि षष्ठ्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

केन मङ्गलम् ? औदयिकादिभावैः ।

क्व मङ्गलम् ? जीवे । कुण्डादृदराणामिव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः,
सारे स्तम्भ इत्यत्राभेदेऽपि सप्तम्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

मंगल क्या है ? जीव मंगल है । किन्तु जीव को मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप
नहीं हो जावेगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको और पर्याया-
र्थिक नयकी अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायोको मंगल माना है ।

मंगल किसके होता है ? द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात्
सदाकाल एक-स्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप
जीवके मंगल होता है । यहा पर जिस प्रकार (कम्बल देवदत्तका होते हुए भी) देवदत्तसे
कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवका मंगलरूप पर्यायसे भेद नहीं है । क्योंकि, ' यह अगूठी
स्वर्णकी है ' यहां पर अभेदमे, अर्थात् अंगूठीरूप पर्याय स्वर्णसे अस्मिन्न होने पर भी जिस प्रकार
षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, उसी प्रकार ' जीवस्य मंगलम् ' यहां पर भी अभेदमे षष्ठी विभक्ति
समझना चाहिये । इस तरह सबन्धकारकमे अनेकान्त समझना चाहिये । अर्थात् कहीं पर दो
पदार्थोमे भेद होने पर भी सबन्धकी विवक्षासे षष्ठी कारक होता है और कहीं पर अभेद होने
पर भी षष्ठी कारकका प्रयोग होता है ।

किस कारणसे मंगल उत्पन्न होता है ? जीवके औदयिक, औपशमिक आदि भावोसे
मंगल उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि कर्मोके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति
होती है, इसलिये उनसे मंगलकी उत्पत्ति मानना तो ठीक है । परन्तु औदयिक भावसे मंगलकी
उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहां पर ' औदयिक आदि भावोसे मंगल उत्पन्न होता है '
यह कहना किस प्रकार संभव है ? इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी
औदयिक भाव मंगलकी उत्पत्तिमे कारण नहीं है, फिर भी पूजा-भक्ति तथा अणुव्रत-महाव्रत
आदि प्रशस्त रागरूप औदयिक भाव मंगलका कारण है । इसलिये उसकी अपेक्षासे औदयिक
भावको भी मंगलकी उत्पत्तिके कारणोमे ग्रहण किया है ।

मंगल किसमे उत्पन्न होता है ? जीवमे मंगल उत्पन्न होता है । जिस प्रकार कूंडेसे उसमे
रक्खे हुए बेरोका भेद है, उस प्रकार जीवसे मंगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि,
' सारे स्तम्भः ' अर्थात् वृक्षके सारमे स्तम्भ है । यहा पर जिसतरह अभेदमे भी सप्तमी विभक्तिकी

कियच्चिरं मङ्गलम् ? नानाजीवापेक्षया सर्वाद्वा^१ । एकजीवापेक्षया अनाद्य-
पर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्यपर्यवसितता
मङ्गलस्य ? द्रव्यार्थिकनयार्पणया । तथा च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि मङ्गलत्वं
जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् । न मिथ्याविरतिप्रमादानां मङ्गलत्वं,
तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्यनन्तधर्मात्मकः । नावृता-
वस्थायां मङ्गलीभूतकेवलज्ञानाद्यभावः, आव्रियमाणकेवलाद्यभावे तदावरणानुपपत्तेः,
जीवलक्षणयोजनदर्शनयोरभावे लक्ष्यस्याप्यभावापत्तेश्च । न चैवं तथाऽनुपलम्भात् ।

उपलब्धि होती है, उसी प्रकार 'जीवे मंगलम्' यहां पर भी अभेदमे सप्तमी विभक्ति समझना
चाहिये । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अधिकरण कारकके प्रयोगमे भी अनेकान्त है । अर्थात् कहीं
भेदमे भी अधिकरण कारक होता है और कहीं अभेदमे भी अधिकरण कारक होता है ।

कबतक मंगल रहता है ? नाना जीवकी अपेक्षा सर्वदा मंगल रहता है और एक
जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्त इस प्रकार मंगलके तीन भेद हो
जाते हैं ।

शंका— मंगलमें एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्तपना कैसे बनता है, अर्थात् एक
जीवके अनादि कालसे अनन्तकाल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है ?

समाधान— द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मंगलमे अनादि-अनन्तपना बन जाता है ।
अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे जीव अनाविकालसे अनन्तकाल तक सर्वथा एक स्वभाव
अवस्थित है, अतएव मंगलमें भी अनादि-अनन्तपना बन जाता है ।

शंका— इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामे भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो
जायगी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह इष्ट है । किंतु इससे मिथ्यात्व,
अविरति, प्रमाद आदिको मंगलपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उनमे जीवत्व नहीं पाया
जाता है । मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त-धर्मात्मक है ।

आवृत अवस्थामे अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दशामे मंगलीभूत
केवलज्ञानादिका अभाव है, अर्थात् उस अवस्थामे ये सर्वथा नहीं पाये जाते, यदि
कोई ऐसा प्रश्न करे, तो ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि आव्रियमाण अर्थात् जो कर्मोंके
द्वारा आवृत होते हैं ऐसे केवलज्ञानादिके अभावमे केवलज्ञानादिको आवरण करनेवाले कर्मोंका
सङ्काव सिद्ध नहीं हो सकेगा । दूसरे, जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनके अभाव मानने पर
लक्ष्यरूप जीवके अभावकी भी आपत्ति आ जाती है । लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षादि

न भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारः, तापप्रकाशयोस्तत्राप्युपलम्भात् । पर्यायित्वात्केवलादीनां न स्थितिरिति चेन्न, अत्रुट्यज्ज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात् । न छद्मस्थज्ञानदर्शनयोरल्पत्वादभङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्वावयवानामप्यभङ्गलत्वप्राप्तेः । रजोजुषां ज्ञानदर्शने न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्त्वात् । मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न, तदवस्थानां

प्रमाणोसे जीवका अभाव होता हो ऐसा नहीं देखा जाता । किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे उसकी उपलब्धि होती ही है ।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि ताप और प्रकाशकी वहा पर भी उपलब्धि होती है ।

विशेषार्थ— आवृत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि वे जीवके गुण हैं, यदि इस अवस्थामे उनका अभाव माना जावे तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा । इस अनुमानको ध्यानमे रखकर शंकाकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार हो जावेगा, क्योंकि, भस्माच्छादित अग्निमे अग्निरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता है । इस तरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचारित हो जाता है । इस प्रकार शंकाकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि राखसे ढकी हुई अग्निमे भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोसे बराबर सिद्ध होती है ।

शंका— केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं । इसलिये आवृतअवस्थामे उनका सद्भाव नहीं बन सकता है ?

समाधान— यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कभी भी नही टूटनेवाली ज्ञान-संतानकी अपेक्षा केवलज्ञानके (शक्ति रूपसे) सदा पाये जानेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान और दर्शनके एकदेशमे मंगलपनेका अभाव होने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोको भी अमंगलपना प्राप्त होगा ।

शंका— आवरणसे युक्त जीवोके ज्ञान और दर्शन मगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं ? इनका अभाव कैसे किया जा सकता है ?

समाधान— उस ज्ञान और दर्शनसंबन्धी अवस्थाओकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि नाना संज्ञाएँ हैं । अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी

मत्थादिव्यपदेशात् । तयोः केवलज्ञानदर्शनाडकुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मङ्गलं तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मङ्गलम्, न मिथ्यात्वादीनां मङ्गलत्वम् । न मिथ्यादृष्टयः सुगतिभाजः, सम्यग्दर्शनमन्तरेण तज्ज्ञानस्य सम्यक्त्वाभावात् कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गलत्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टीनामवगताप्तस्वरूपाणां केवलज्ञान-दर्शनावयवत्वेनाध्यवसितरजोऽज्ञानदर्शनानामावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्ति-खचितात्मस्मर्तृणां वा पापक्षयकारित्वतस्तयोस्तदुपपत्तेः । नोआगमभव्यद्रव्यमङ्गलापेक्ष-या वा मङ्गलमनाद्यपर्यवसानमिति । रत्नत्रयमुपादायाविनष्टेनैवाप्तसिद्धस्वरूपापेक्षया

अवस्थाविशेषका नाम चक्षुदर्शनादि है । यथार्थमे इन सब अवस्थाओमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन एक ही हैं ।

शंका— केवलज्ञान और केवलदर्शनके अङ्कुररूप छद्मस्थोके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना प्राप्त होने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमे भी वे अङ्कुर विद्यमान हैं ?

समाधान— यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किंतु इतनेसे ही मिथ्यात्व, अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है ।

शंका— मिथ्यादृष्टि जीव सुगतिको प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विना मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानमे समीचीनता नहीं पाई जाती । तथा समीचीनताके विना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है । फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आप्तके स्वरूपको जाननेवाले, छद्मस्थोके ज्ञान और दर्शनको केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवरूपसे निश्चय करनेवाले और आवरण-रहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमे जिस प्रकार पापका क्षयकारीपना पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमे भी पापका क्षयकारीपना पाया जाता है । इसलिये मिथ्या-दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको भी मंगलपना होनेमें विरोध नहीं है ।

अथवा, नोआगमभावविद्रव्यमंगलकी अपेक्षा मंगल अनादि-अनंत है ।

विशेषार्थ— जो आत्मा वर्तमानमे मंगलपर्यायसे युक्त तो नहीं है, किंतु भविष्यमे मंगलपर्यायसे युक्त होगा । उसके शक्तिकी अपेक्षासे अनादि-अनन्तरूप मंगलपना वन जाता है ।

रत्नत्रयकी धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयके द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्धके स्वरूपकी अपेक्षा नैगमनयसे मंगल सादि-अनंत है ।

विशेषार्थ— रत्नत्रयकी प्राप्तिसे सादिपना और रत्नत्रय प्राप्तिके अनंतर सिद्ध स्वरूपकी

नैगमनयेन साद्यपर्यवसितं मङ्गलम् । सादिसपर्यवसितं सम्यग्दर्शनापेक्षया जघन्येनान्त-
र्मुहूर्तकालमुत्कर्षेण षट्षष्ठिसागरा देशोनाः ।

कतिविधं मङ्गलम्? मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम्, ज्ञान-
दर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्, ' णमो जिणाणं ' इत्यादिनानेकविधं वा ।

अथवा मंगलम्हि छ अहियाराए दंडा वत्तवा भवन्ति । तं जहा, मंगलं मंगल-
कत्ता मंगल-करणीयं मंगलोवायो मंगल-विहाणं मंगल-फलमिदि । एदेसिं छण्हं पि
अत्थो उच्चदे । मंगलत्थो पुव्वुत्तो । मंगल-कत्ता चोद्दस-विज्जा-ट्ठाण-पारओ
आइरियो । मंगल-करणीयं भव्व-जणो । मंगलोवायो ति-रयण-साहणाणि । मंगल-
विहाणं एय-विहादि पुव्वुत्तं । मंगल-फलं अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइ । तं^१ मंगलं
सुत्तस्स आदीए मज्झे अवसाणे च वत्तव्वं । उत्तं च--

जो प्राप्ति हुई है उसका कभी अन्त आनेवाला नहीं है । इसतरह इन दोनों धर्मोंको ही विषय
करनेवाले (न एकं गमः नैगमः) नैगमनयकी अपेक्षा मंगल सादि-अनन्त है ।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिये । उसका जघन्य काल
अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम छायासठ सागर प्रमाण है ।

मंगल कितने प्रकारका है ? मंगल-सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है । मुख्य
और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन
प्रकारका है । धर्म, सिद्ध साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है । ज्ञान, दर्शन और तीन
गुप्तिके भेदसे पांच प्रकारका हैं । अथवा ' जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ' इत्यादि रूपसे
अनेक प्रकारका है ।

अथवा, मंगलके विषयमे छह अधिकारोद्वारा दंडकोका कथन करना चाहिये । वे इस
प्रकार है । १ मंगल, २ मंगलकर्ता, ३ मंगलकरणीय, ४ मंगल-उपाय, ५ मंगल-भेद और
६ मंगल-फल । अब इन छह अधिकारोका अर्थ कहते हैं । मंगलका अर्थ तो पहले कहा जा
चुका है । चौदह विद्यास्थानोके पारगामी आचार्य-परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं । भव्यजन मंगल करने
योग्य है । रत्नत्रयकी साधक सामग्री मंगलका उपाय है । एक प्रकारका मंगल, दो प्रकारका
मंगल इत्यादि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं । अभ्युदय और मोक्ष-सुख मंगलका फल है ।
अर्थात् जितने प्रमाणमें यह जीव मंगलके साधन मिलाता है उतने ही प्रमाणमे उससे जो
यथायोग्य अभ्युदय और निश्चयस सुख मिलता है वही उसके मंगलका फल है । वह मंगल
ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमे कहना चाहिये । कहा भी है--

आदि-अवसाण-मज्जे^१ पणत्तं मंगल जिणिदेहि ।

तो कय-मंगल-विणयो इणमो^२ सुत्तं पवक्खामि ॥ १९ ॥

तिसु द्वाणेषु मंगलं किमट्ठं वुच्चदे ? कय-कोउय^३-मंगल-पायच्छित्ता^४
विणयोवगया सिस्सा अज्झेदारो सोदारो वत्तारो आरोग्गसविग्घेण विज्जं विज्जा-फलं
च पावेतु^५ त्ति । उत्तं च—

आदिमिह भद्द-वयण सिस्सा लहु पारया हवतु त्ति ।

मज्जे अव्वोच्छित्ती विज्जा^६ विज्जा-फल चरिमे^७ ॥ २० ॥

जिनेन्द्रदेवने आदि, अन्त और मध्यमे मंगल करनेका विधान किया है । अतः मंगल-विनयको करके मैं इस सूत्रका वर्णन करता हूँ ॥ १९ ॥

शंका— ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्त, इसप्रकार तीन स्थानोमे मंगल करनेका उपदेश किसलिये दिया गया है ?

समाधान— मंगलसंबन्धी आवश्यक कृतिकर्म करनेवाले तथा मंगलसंबन्धी प्रायश्चित्त करनेवाले अर्थात् मंगलके लिये आगे प्रारंभ किये जानेवाले कार्यमे दुःस्वप्नादिकसे मनमे चंचलता आदि न हो इसलिये प्रायश्चित्तस्वरूप मंगलीक दधि, अक्षत, चंदनादिकको सामने रखनेवाले और विनयको प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता अर्थात् पढ़नेवाले, श्रोता और वक्ता आरोग्य और निर्विघ्नरूपसे विद्या तथा विद्याके फलको प्राप्त हों, इसलिये तीनों जगह मंगल करनेका उपदेश दिया गया है । कहा भी है—

शिष्य सरलतापूर्वक प्रारंभ किये गये ग्रंथाध्ययनादि कार्यके पारंगत हों इसलिये आदिमे भद्रवचन अर्थात् मंगलाचरण करना चाहिये । प्रारम्भ किये गये कार्यकी व्युच्छित्ति न हो इसलिये मध्यमे मंगलाचरण करना चाहिये, और विद्या तथा विद्याके फलकी प्राप्ति हो, इसलिये अन्तमे मंगलाचरण करना चाहिये ॥ २० ॥

१ मु. आदिवमाण मज्जे । २. मु वि णमोसुत्तं ।

३ सीमागयादिनिमित्त यत्तनपनादि क्रियते तत्कौतुकम् । उक्तं च, सोहग्गादिणिमित्तं परेसि णवणादि कोउग भणिय ॥ गाया— १, १४.

४ कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविवातार्यमवश्यकरणायत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये त्वाहु 'पायश्चित्त' त्ति पादेन पादे वा छुप्ताश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ताः । कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मपीतिलकादीनि, मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादि । भग २, ५, १०८ टीका

५ मु विज्जाफल पावेतु ।

६ मु अव्वोच्छित्ति य ।

७ पढमे मंगलवयणे सिस्सा तत्त्यस्त पारया होति । मज्झिम्मे णिव्विग्घ विज्जा विज्जाफल चरिमे ॥

ति प १, २९

विघ्ना प्रणश्यन्ति भय न जातु न दुष्टदेवा परिलङ्घयन्ति ।
अथान्यथेष्टाश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमाना परिकीर्तनेन^१ ॥ २१ ॥
आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गल भाषितं बुधै ।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तं च^२ मंगलं दुविहं, णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय^३-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण ण णिबद्धो^४ देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्ध-मंगलं । इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं, ' एत्तो^५ इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं ' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध- ' णमो अरिहंताणं ' इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो ।

सुत्तं किं मंगलमुद असंगलमिदि^६ ? जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं, पावकारणस्स

जिनेन्द्रदेवके गुणोका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ।

विद्वान् पुरुषोने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है । वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानके गुणोका कीर्तन करना ही है ॥ २२ ॥

वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्ध-मंगल और अनिबद्ध-मंगल । जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् श्लोकादिरूपसे रचा जाता है, उसे निबद्ध-मंगल कहते हैं । और ग्रन्थके आदिमें जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार निबद्ध नहीं किया जाता है उसे अनिबद्ध-मंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ— ग्रन्थकार जो मंगल-पाठ स्वयं रचकर ग्रन्थमें निबद्ध करता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं । जो अन्य-रचित मंगल-पाठ ग्रन्थमें लिखा जाता है, या मौखिक किया जाता है, उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं । इस व्यवस्थाके अनुसार षट्खण्डागमके प्रारम्भमें दिया गया णमोक्कार मंत्र निबद्ध मंगल है । उनमेंसे यह ' जीवस्थान ' नामका प्रथम खण्डागम निबद्ध-मंगल है, क्योंकि, ' एत्तो इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं ' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले ' णमो अरिहंताणं ' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है ।

१ णानदि विग्घ भेददि य्हो वुट्ठा सुरा ण लघनि । इट्ठो जंत्यो लब्भड जिणणाम गहणमेत्तेण ॥
ति प १, ३०

२ मु तच्च ।

३ मु ' णिबद्ध-देवदानमोक्कारो । ४ मु कय-देवदानमोक्कारो तमणिबद्धमंगल ' ।

५ मु यत्तो ।

६ जइ मंगल सय चिय सत्य तो किमिह मंगलगहणं ? सीसमइमंगलपरिगहत्थमेत्त तदभिहाण ॥
इह मंगल पि मंगलवुट्ठीए मंगल जहा साहू । मंगलतियवुट्ठिपरिगहे वि नणु कारण भणिअ ॥ वि भा २०, २१

सुत्त-विरोहादो । अहं मंगलं, किं तत्त्व मंगलेण, एगदो चेय कज्ज-णिप्पत्तीदो इदि ।
 ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि ? तारिस-पइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स ।
 सुत्तस्सादोए मंगलं पढिज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि, दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्जमाण-
 पाव-दंसणादो । पढण-विग्घ-विहावणं मंगलं । सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्ज-गुण-
 सेढीए पावं गालिय पच्छा सव्व-कम्म-वखय-कारणमिदि । देवतानमस्कारोऽपि
 चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न सूत्रविषयपरिज्ञान-
 मन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात् । शुक्लध्यानान्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः
 शुक्लध्यानमिति ।

इदार्णि देवदा-णमोक्कार-सुत्तस्सत्थो उच्चवे ।

‘ णमो अरिहंताणं ’ अरिहननादरिहन्ता । नरकतिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावास-

शंका— सूत्र-ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमे पापका कारण होनेसे उसमें सूत्रपनेका विरोध आता है । और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र-ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है, यदि कहा जाय कि सूत्र मंगल नहीं है, सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती, अतएव परिशेष न्यायसे वह मंगल है । तब फिर इसमे अलगसे मंगल क्यों किया गया ?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रके आदिमे मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है कारण कि सूत्र और मंगल इन दोनोंसे पृथक् पृथक् रूपमे पापका विनाश होता हुआ देखा जाता है ।

निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोको दूर करता है, और सूत्र, प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे पापका नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है ।

शंका— देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामे संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल और सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं । फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके बिना केवल देवता-नमस्कारमे कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है । मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परंतु देवता-नमस्कार शुक्लध्यान नहीं है ।

अब देवता-नमस्कार सूत्रका अर्थ कहते हैं । ‘ णमो अरिहंताणं ’ अरिहतोको नमस्कार हो । अरि अर्थात् शत्रूओके ‘ हननात् ’ अर्थात् नाश करनेसे ‘ अरिहंत ’ हैं ।

गताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिमोहः । तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्ध-लक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्म-गुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्यारेहननादरिहन्ता' ।

रजोहननाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रि-कालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि ।

नरक, तिर्यच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोमे निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्ति का निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है ।

शंका— केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है ।

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं । मोहके बिना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं । जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जाय । इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके आधीन है ।

शंका— मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनका मोहके आधीन होना नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है । तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्म-गुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रुके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है । अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे 'अरिहंत' है । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरंग स्वरूप समस्त त्रिकाल-गोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख

१ रागद्वेसकसाए य इदियाणि य पच य । परीसहे उवसग्गे णासयतो णमोरिहा ॥ मूलाच्चा ५०४
अट्ठविह पि य कम्म अरिभूय होड सव्वजीवाण । त कम्ममरि हता अरिहता तेण वुच्चति ॥ इदियविसयकसाए
परीसहे वेयणा उवस्सग्गे । एए अरिणी हता अरिहता तेण वुच्चति । वि भा. ३५८३, ३५८२

मोहोऽपि रजः, भस्मरजसा पुरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्मभावो-
पलम्भात् किनिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्म-
विनाशाविनाभावित्वात् । तेषां हननादरिहन्ता ।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशा-
विनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अतिशयपूजाहर्त्वाद्वाहन्तः^१ । स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानो-
त्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवामुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशया-
नामहर्त्वाद्योग्यत्वादहन्तः^२ ।

भस्मसे व्याप्त होता है उनसे जिह्मभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसीप्रकार
मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी
स्वानुभूतिमें कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है ।

शंका— यहां पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके
ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन
तीन कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है । अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका
नाश अवश्यभावी है । इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, ' रहस्य ' के अभावसे भी अरिहंत होते हैं । रहस्य अन्तराय कर्मको कहते
हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, और अन्तराय
कर्मके नाश होनेपर अधातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं । ऐसे अन्तराय
कर्मके नाशसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अहन्त होते हैं, क्योंकि, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल
और निर्वाण इन पांचों कल्याणकर्मोंमें देवोंद्वारा की गई पूजायें देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त
पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अहन्त होते हैं ।

१. अरिहति गमोक्कार अरिहा पूजा मुत्तमा लोए । रजहता अरिहति य अरहता तेग उच्चदे ॥
मूलाया ५०५,

अरिहति वदणमसणाड अरिहति पूसक्कार । निद्विगमण च अरिहा अरहता तेग वुच्चति ॥
देवानुरमणुएनु अरिहा पूजा मुत्तमा जम्हा । अरिगो हता रय हता अरिहता तेग वुच्चति ॥ वि भा ३५८४,
३५८५

२ अविद्यमान वा रह एकान्तरूपो देव, अन्तश्च मय्य गिरिगुहादीनां नदवेदितया नमस्तवस्तुतोम-
गतप्रच्छन्नत्वम्याभावेन येषां ते अरहोऽन्तर [अरहता] अथवा अविद्यमानो रय स्यन्दन सकलपरिग्रहोप-
कृताभूत अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरयान्ता [अरहता] अथवा ' अरहताण ' ति

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभो -
गाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्य-
बिम्बवद्देदीप्यमानाः स्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेष-
प्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगताशेषपापाञ्जन-
पुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलातीतत्वतो निष्कलाः, तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः इति यावत् ।

णिद्द्व-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण^१-सायरुत्तिण्णा ।

णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-वाह-विणिग्गया अयला ॥ २३ ॥

दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।

दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २४ ॥

ति-रयण-तिसूलदारियमोहघासुर-कवध-विद-हरा ।

सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहता दुण्णय-कयता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्त्व,
क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अनन्त गुण-
स्वरूप होनेसे जिन्होंने यहीं पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे
निकलते हुए सूर्य-बिम्बके समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर-प्रमाण होने पर भी
जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण
प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय
अर्थात् रोगोसे दूर हो जानेके कारण जो निरामय है, संपूर्ण पापरूपी अंजनके समूहके नष्ट हो
जानेसे जो निरंजन हैं, और दोषोकी कलायें अर्थात् संपूर्ण दोषोसे रहित होनेके कारण जो
निष्कल है, ऐसे उन अरिहंतोको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो
गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओसे रहित
हैं, जो अचल है, जिन्होंने तीनो कालोको विषय करनेरूप तीन नेत्रोसे कामदेवके प्रतापको
दलित कर दिया है, जिन्होंने सकल पदार्थोके सारको देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात्
मोह, राग और द्वेषको अच्छी तरहसे भस्म कर दिया है, जो सुनिव्रती अर्थात् दिग्म्बर अथवा
सुनियोके पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य इन
तीन रत्नरूपी त्रिशूलकेद्वारा मोहरूपी अधिकाररूपअसुरके कवन्धजडको विदारित कर लिया है,

क्वचिदप्यासक्तिमगच्छन्त, क्षीणरागत्वात् । अथवा ' अरहयद्भ्य ' प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषय-
सपर्कोऽपि वीतरागत्वादिक स्व स्वभावमत्यजन्त (अरहता) । अरुहताणमित्यपि पाठान्तरम् । तत्र
' अरोहद्भ्य ' अनुपजायमानेभ्य क्षीणकर्मवीजत्वात् । आह च, दग्धे वीजे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्मवीजे तथा दग्धे न रोहति भवाकुर ॥ नमस्करणीयता चैवा भीमभगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्द-
रूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन परमोपकारित्वादिति । भग १, १, १, टीका

‘णमो सिद्धाणं’ सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः^१ सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्मणिः^२ । सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्मणिः सिद्धाः नष्टघातिकर्मणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः । नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात् । तानि शुक्लव्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्व

जिन्होंने संपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४, २५ ॥

विशेषार्थ— शैवमतमें महादेवको अपने तीन नेत्रोंसे कामदेवका नाश करनेवाला, सकल पदार्थोंके सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वंस करनेवाला मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर, त्रिशूलको धारण करनेवाला और अन्धकानुरके कबन्धवृन्दका हरण करनेवाला माना है । महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर उक्त तीन गाथाओंमेंसे अन्तकी दो गाथाओंकी रचना हुई है । इससे यह प्रगट हो जाता है कि अरिहंत परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं ।

‘णमो सिद्धाणं’ अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो । जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूपमें स्थित हैं, कृतकृत्य हैं जिन्होंने अपने साध्यको सिद्ध कर लिया है, और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ।

शंका— सिद्ध और अरिहंतोंमें क्या भेद है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहंत होते हैं । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका— चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अरिहंतोंके आत्माके समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है क्योंकि, अरिहंतोंके अघातियाकर्मोंका उदय और सत्त्व दोनों पाये जाते हैं । इसलिये इन दोनोंमें भेद है ।

शंका— वे अघातिया कर्म शुक्लव्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ?

समाधान— ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिये अरिहंतोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी सिद्धि हो जाती है । अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जायं, तो शरीरका पतन हो जाना चाहिये । परंतु शरीरका पतन तो होना नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिद्ध है ।

१ सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा न चैनान्यनञ्जलमाप्नोति । भवति तदा कृतकृत्यं सम्यक् पुरुषार्थमिच्छिमापन्नं ॥

पु नि ११

२ दीहकालमयं जन्तु उमिदो अठ्ठकम्मसु । निदे वत्ते गिवत्ते यं सिद्धतमुवगच्छेड । मूलाच्चा ५०७

सिद्धेः । तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसार-
स्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न,
आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।

नोर्ध्वगमनमात्मगुणः, तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुण-
स्ततः एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः, केवलानि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेद-
स्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।

शंका— उन कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनित्प जन्म, जरा और मरणसे
युक्त ससार है । वह, अघातिया कर्मोंके रहने पर भी अरिहत परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है ।
तथा, अघातिया कर्म आत्माके गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी हैं । इसलिये अरिहंत और सिद्ध
परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयु-
कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहंतोंके पाया जाता है ।

शंका— ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसके आत्माका गुण होने पर
उसके अभावमें आत्माका भी अभाव प्राप्त होता है । इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं
है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुःखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा, अर्थात्
वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवान्के केवलीपनाही नहीं बन सकता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो रहो, क्योंकि, वह न्यायसंगत है । फिर भी सलेपत्व
और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है ।

विशेषार्थ— अरिहंत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है ।
फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है । परंतु प्रतिजीवी गुण आत्माके भाव-
स्वरूप धर्म नहीं होनेसे तत्कृत भेदकी कोई मुख्यता नहीं है । इसलिये सलेपत्व और निर्लेपत्वकी
अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये । टीकाकारने जो
ऊर्ध्वगमन और सुख आत्माके गुण नहीं हैं, इसप्रकारका कथन किया है । वहां पर उन दोनों
गुणोंका तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है । ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अव्यावाध गुणका
ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि, आयु और वेदनीयके अभावसे होनेवाले जिन गुणोंको अवगाहन
और अव्यावाध कहा है उन्हें ही यहां पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन किया है ।

तेभ्यः सिद्धेभ्यो नम^१ इति यावत् ।

णिहय-विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा विहुव-दुक्खा ।
 सुह-सायर-मज्झ-गया णिरजणा णिच्च अट्ठ-गुणा ॥ २६ ॥
 अणवज्जा कय-कज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठ-सव्वट्ठा ।
 वज्ज-सिलत्थव्भग्गयपडिम^२ वाभेज्ज-सठाणा ॥ २७ ॥
 माणुस-सठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।
 सव्विदियाण विसय जमेग-देसे वि जाणति ॥ २८ ॥

‘ णमो आइरियाण ’ ^३ पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः^४ “चतुर्दश-
 विद्यास्थानपारगः”^५ एकादशाङ्गधरः^६ आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमय-
 पारगो^७ वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभय-

ऐसे सिद्धोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शेखरस्वरूप है, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमे निमग्न है, निरंजन है, नित्य है, आठ गुणोंसे युक्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष है, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे समस्त पर्यायोंसहित संपूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिलामे उत्कीर्ण प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त है, जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होने पर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि, जो संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको एक देशमे भी जानते हैं वे सिद्ध हैं ।

‘ णमो आइरियाण ’ आचार्य परमेष्ठीको नमस्कार हो । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारोंका स्वयं आचरण करता है और दूसरे साधुओंसे आचरण कराता

१ नमस्करणीयता चैपामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भूयानामतीवोपकारहेतुत्वादिति । भग १, १, १, टीका

२ अ व वज्जसिलत्थ सिग्गयपडिम ।

३ जम्हा पचविहाचार आचरतो पमासदि । आयरियाणि देसतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ मूलाचा ५१०
 आयार पचविह चरदि चरावेदि जो णिरदिचार । उवदिसदि य आयार एसो आयारव णाम ॥

मूलाचा ४१९

४ मु चरन्ति चारयन्तीत्पाचार्या ।

५. चोद्दसदसणवपूव्वी महामदी सायरो व्व गभीरो । कप्पववहारधारी होदि हु आयारव नाम ॥

मूलाचा ४२५

६. मु पारगा ।

७ पचमहव्वयतुगा तक्कालियसपरसमयसुदधारा । णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदतु ॥

ति प १, ३

८ मु घरा ।

९ गभीरो दुद्धरिसो सूरुो धम्मप्पहावणासीलो । खिदिससिसायरसरिसो कमेण त सो दु सपत्तो ॥

मूलाचा १५९.

विप्रमुक्तः^१ आचार्यः ।

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावामो^२ ।
 मेरु व्व णिप्पकपो सूरौ पचाणणो वज्जो ॥ २९ ॥
 देस-कुल-जाड-सुद्धो सोमगो सग-भंग-उम्मुक्को ।
 गयण व्व णिग्गलेवो आडरियो एरिसो होइ ॥ ३० ॥
 सगह-णुग्गह^३-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।
 सारण-वारण-नोहण^४-किरियुज्जुत्तो^५ हु आडरियो^६ ॥ ३१ ॥

एवंविधेभ्य आचार्येभ्यो^६ नम इति यावत् ।

है उसे आचार्य कहते हैं । जो चौदह विद्यास्थानोंका पारंगत है, ग्यारह अंगका धारी है, अथवा आचारागमात्रका धारी है अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमे पारंगत है, मेरुके समान निश्चल है, पृथिवीके समान सहनशील है, जिसने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया है, और जो सात प्रकारके भयसे रहित है, उसे आचार्य कहते हैं ।

प्रवचनरूपी समुद्रके जलके मध्यमे स्नान करनेसे अर्थात् परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरु पर्वतके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर है, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहते रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं । जो संघके सग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करनेमे कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमे विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतोंकी शुद्धि करनेवाली क्रियाओंमे निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ॥ २९, ३०, ३१ ॥

ऐसे आचार्योंको नमस्कार हो यह उक्त फथनका तात्पर्य है ।

१ तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् । चतुर्थी भीतिरत्राण स्यादगुप्तिस्तु पचमी ॥ भीति स्याद्वा तथा मृत्यु भीतिराकस्मिक तत् । क्रमादुद्देशिताच्चेति मर्प्ता भीतय स्मृता ॥ पञ्चाध्या २, ५०४, ५०५

२ 'सुद्धछावासो' ण वसो अवसो, अवसस्म कम्ममावामग इति व्युत्पत्तावपि सामयिकादिप्पेवाय शब्दो वर्तते । व्याधिदौर्वत्यादिना व्याकुलो भण्यते अवश परवश इति यावत् । तेनापि कर्त्तव्य कर्मेति । अथवा 'आवासो' इत्ययमर्थः, आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिक चतुर्विंशतिस्तवो वदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान व्युत्सर्ग इत्यमी इत्यमूनि षडावश्यकानि ॥ मूलारा गा ११६ टीका

३, मु - णिग्गह- । ४ मु - साहण- ।

५ सगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती । किरियाचरणसुजुत्तो गाह्यआदेज्जवयणो य ॥

मूलाचा १५८ समाचार अ

६ आ मयादिया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभि

‘णमो उवज्झायाण’ चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिक-
प्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः ।

चोद्दस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीण ।

सीलधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो ॥ ३२ ॥

एतेभ्य उपाध्यायेभ्यो’ नमः’ ।

‘णमो उवज्झायाण’ उपाध्याय परमेष्ठीको नमस्कार हो । चौदह विद्यास्थानके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं । वे सग्रह, अनुग्रह आदि गुणोको छोड़कर पहले कहे गये आचार्यके समस्त गुणोसे युक्त होते हैं ।

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्रमे प्रवेश करके अर्थात् परमागमका अभ्यास करके मोक्षमार्गमे स्थित हैं, तथा मोक्षके इच्छुक शीलंधरो अर्थात् मुनियोको उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरोको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं ॥ ३२ ॥

ऐसे उपाध्यायोको नमस्कार हो ।

इत्याचार्या । उक्त च, सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य । गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थ वाएइ आयरिओ ॥ अथवा आचारो ज्ञानाचारादि पञ्चवा । आ मर्यादया वा चारो विहार आचारस्तत्र साधव स्वयकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाच्चेत्याचार्या । आह च, पचविह आयार आयरमाणा तहा पयासता । आयार दसता आयरिया तेण वुच्चति ॥ अथवा आ ईपद् अपरिपूर्णा इत्यर्थं चारा हेरिका ये ते आचारा चारकल्पा इत्यर्था । युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया, अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्या । नमस्यता चैपामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात् । भग १, १, १ टीका

१ वारसग जिणक्खाद सज्जाय कथित वुधे । उवदेसइ सज्जाय तेणुवज्झाउ उच्चदि ॥ मूलाचा पटावण्यक १०, आ नि १००० ‘उ’ ति उवओगकरणे ‘ज्झ’ ति य ज्ञाणस्य होइ णिद्देसे । एएण होति उज्झा एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ ‘उ’ ति उवओगकरणे ‘व’ ति अ पावपरिवज्जणे होइ । ‘झ’ ति अ ज्ञाणस्स कए ‘ओ’ ति अ ओक्कस्सणा कम्मे ॥ आ नि ९९८, ९९९ उप समीपमागत्याधीयते ‘इइ अव्ययने’ इति वचनात् पठ्यते ‘इण् गती’ इति वचनाद्वा अधि आधिक्येन गम्यते, ‘इक् स्मरणे’ इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचन येभ्यस्ते उपाध्याया । यदाह, वारसगो जिणक्खाओ सज्जाओ कहिओ वुहे । त उवइसति अम्हा उवज्झाया तेण वुच्चति ॥ अथवा उपधानमुपाधि सनिविस्तेनोपाधिना उपाधौ वा आयो लाभ श्रुतस्य येषा ते । उपधीना वा विशेषणाना प्रक्रमाच्छोभनानामायो लाभो येभ्य । अथवा उपाधिरेव सनिधिरेव आय इष्टफल दैवजनितत्वेन अयाना इष्टफलाना समूहस्तदेकहेतुत्वाद्येषा ते । अथवा आधीना मन पीडानामायो लाभ आव्याय अधिया वा ‘नञ् कुत्पार्यत्वात्’ कुबुद्धीनामायोऽध्याय । ध्यं चिन्ताया इत्यस्य वातो प्रयोगान्नञ् कुत्पार्यत्वादेव च दुर्ध्यानं वाध्याय । उपहत आव्याय अध्यायो वा यस्ते उपाध्याया । नमस्यता चैपा मुसम्प्रदायायातजिनवचनाध्यापनतो विनयनेन भव्यानामुपकारित्वादिति । भग १, १, १ टीका

२ मु नम इति यावत् ।

‘णमो लोए सव्व साहूणं’ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः ।
 ५० चमहाव्रतधरोस्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुण-
 धराश्च साधवः ।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मदरिदु-मणी ।

खिदि-उरगवर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू ॥ ३३ ॥

सकलकर्मभूमिषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः ॥

‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओको नमस्कार हो ।
 जो अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध आत्माके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । जो पांच
 महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण
 करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैलके समान भद्रप्रकृति,
 मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसंग या सब
 जगह बिना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्वोंके प्रकाशक, उदधि
 अर्थात् सागरके समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वतके समान परीषह और उपसर्गोंके
 आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभा-
 पुंजयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके समान
 दूसरेके बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदिमें निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात् आकाशके
 समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण करनेवाले
 होते हैं ॥ ३३ ॥

संपूर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओको नमस्कार हो ।

१. गगणतल व गिरालवणा, वाउरिव अपडिववा, सारदसलिल इव सुद्धहियया, पुक्खरपत्त इव
 निखलेवा, कुम्भो इव गुत्तिदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाण व एगजाया, भारडपक्खी व अप्पमत्ता,
 कुजरो इव सोडीरा, वसभो इव जातत्थिमा, सीहो इव दुद्धरित्ता, मदरा इव अप्पकंपा, सागरो इव
 गभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरु इव दित्तत्थेया, जच्चकचणगं व इव जातरुवा, वसुधरा इव सव्वफासवित्तया,
 सहयहुयात्तणो तेयसा जलत्ता अणगारा । सूत्र. २, २ ७० उरगगिरिजलणसागरनहतलत्तणसमो अ जो होई ।
 भमरभियवरणिजलत्तहरविपवणत्तमो अ तो समणो ॥ अनु. पृ. २५६

२ णिव्वाणसाधए जोए सदा जुजति साधवो । समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ॥
 मूलाच्चा ५१२ वा नि १००५ साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिनिर्माक्षमिति साधव । समता वा सर्वभूतेषु
 ध्यायन्तीति निर्वक्षित्यायात् साधव । यदाह, णिव्वाणसाहए जोए जम्हा साहेति साहुणो । समा य सव्वभूएसु
 तम्हा ते भावसाहुणो ॥ साहायक वा सयमकारिणा धारयन्तीति साधवा । सर्वग्रहण च सर्वेषां गुणवत्ताम-
 विगेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम् । अथवा, सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिता सार्वा, ते च ते साधवश्च सार्वसाधव ।
 सार्वस्य वा अर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः नार्वसाधवः । सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति कुर्वन्ति, सार्वान् वा
 अर्हतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा ।
 अथवा श्रव्येषु श्रवणार्हेषु वाक्येषु अथवा सव्यानि दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो निपुणाः
 श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वा । एषा च नमनीयता मोक्षमार्गसाहाय्यकरणोपकारित्वात् । भग १, १, १ टीका.

सर्वनमस्कारेणवत्रतनसर्वलोकशब्दावन्त्यदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगत-
त्रिकालगोचराहंदादिदेवताप्रणमनार्थम् ।

युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनाम्,
अप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि
स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वा-
पत्तेः । तत आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । नाचार्यादि-
स्थितरत्नानां सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेदः, रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः । न
कारणकार्यत्वाद्भेदः, सत्स्वेवाचार्यादिस्थरत्नावयवेष्वन्यस्य तिरोहितस्य रत्नभागस्य'

पांच परमेष्ठियोको नमस्कार करनेमे, इस नमस्कार मन्त्रमे जो ' सर्व ' और ' लोक ' पद हैं वे अन्तर्दीपक हैं, अतः संपूर्ण क्षेत्रमे रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिये ।

शंका— जिन्होंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किंतु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोने आत्म-स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमे देवपना नहीं आ सकता है । अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, अपने अपने भेदोसे अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रयसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा (यदि रत्नत्रयकी अपेक्षा देवपना न माना जाय तो) संपूर्ण जीवोको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रयके यथायोग्य धारक होनेसे देव हैं, क्योंकि, अरिहंतादिकसे आचार्यादिकमे रत्नत्रयके सद्भावकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् जिसतरह अरिहत और सिद्धोंके रत्नत्रय पाया जाता है, उसीप्रकार आचार्यादिकके भी रत्नत्रयका सद्भाव पाया जाता है । इसलिये आशिक रत्नत्रयकी अपेक्षा इनमे भी देवपना बन जाता है ।

आचार्यादि परमेष्ठियोमे स्थित तीन रत्नोका सिद्ध परमेष्ठीमे स्थित रत्नोसे भी भेद नहीं है । यदि दोनोंके रत्नत्रयमे सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिकमे स्थित रत्नोंके अभावका प्रसंग आवेगा । अर्थात् जब आचार्यादिकके रत्नत्रय सिद्ध परमात्माके रत्नत्रयसे भिन्न सिद्ध हो जावेगे, तो आचार्यादिकके रत्न ही नहीं कहलावेगे ।

आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठीके सम्प्रदर्शनादिक रत्नोमे कारण कार्यपनेसे भी भेद नहीं है, क्योंकि, आचार्यादिकमे स्थित रत्नोके अवयवोके रहने पर ही तिरोहित, अर्थात् कर्मपटलोके कारण पर्यायरूपसे अप्रगट, दूसरे रत्नावयवोका अपने आवरणकर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है । अर्थात् जैसे जैसे कर्मपटलोका अभाव होता जाता है, वैसे ही

स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात् । न परोक्षापरोक्षकृतो भेदः, वस्तुपरिच्छित्ति प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्यावस्थाभेदतो भेदः, निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नावयवावयविकृतो भेदः, अवयवस्यावयविनोऽव्यतिरेकात् । सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूह-कार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम् ।

विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो

वैसे अप्रगट रत्नोके शेष अवयव अपने आप प्रगट होते जाते हैं । इसलिये उनमे कारण-कार्यपना भी नहीं बन सकता है । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोमे परोक्ष और प्रत्यक्ष-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, वस्तु-परिच्छित्तिकी अपेक्षा दोनों एक हैं । केवल एक ज्ञानके अवस्थाभेदसे भेद नहीं हो सकता है । यदि ज्ञानमे उपाधिकृत अवस्था-भेदसे भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमे भी भेद हो जायगा । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोके रत्नोमें अवयव और अवयवी-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं ।

शंका— सपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नोका एकदेश देव नहीं हो सकता ।

समाधान— ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, रत्नोके एकदेशमे देवपनाका अभाव होने पर रत्नोकी समग्रतामे भी देवपना नहीं बन सकता है । अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेशमे नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रतामे कहासे आ सकता है ?

शंका— आचार्यादिकमे स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश है ।

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार पलाल-राशिका दाहरूप अग्नि-समूहका कार्य अग्निके एक कणसे भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी सनझना चाहिये । इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है ।

शंका— सर्व प्रकारके कर्म-लेपसे रहित सिद्ध-परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया-कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहंतोको आदिमे नमस्कार क्यों किया जाता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोमे श्रद्धाकी अधिकताके कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहंत परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक गुणवाले सिद्धोमे सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है । अथवा, यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आप्त, आगम और पदार्थका परिज्ञान नहीं हो सकता था । किंतु अरिहंत परमेष्ठीके

न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया 'वादावर्हन्नमस्क्रियते' । न पक्षपातो दोषाय, शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात्, अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वस्थापनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः । उक्तं च—

जस्संतियं घम्मपहं^३ णिगच्छे तस्संतियं वेणइयं पउजे ।

सक्कारए तं सिर-पंचण^४ काएण वाया मणसा य णिच्चं^५ ॥ ३४ ॥

मंगलस्स कारणं गयं ।

संपहि णिमित्तमुच्चदे । कस्स णिमित्तं ? सुत्तावदारस्स । तं कथं जाणिज्जदि

प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमे अरिहंतोंको नमस्कार किया जाता है ।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार आदिमे अरिहंतोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इसपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है । किंतु शुभ पक्षमे रहनेसे वह कल्याणका ही कारण है । तथा द्वैतको गौण करके अद्वैतकी प्रधानतामे किये गये नमस्कारमे द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है ।

विशेषार्थ— पक्षपात वहाँ संभव है जहां दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी और अधिक आकर्षण होता है । परंतु यहां परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें दृष्टि प्रधानतया गुणोंकी ओर रहती है, अवस्थाभेदकी प्रधानता नहीं है । इसलिये यहां पक्षपात किसी प्रकार भी संभव नहीं है ।

अथवा आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिये भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया गया है । कहा भी है—

जिसके समीप धर्म-मार्ग प्राप्त करे उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा उसका, शिर-पंचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जंघाएं इन पंचांगोंसे तथा काय, वचन और मनसे निरन्तर सत्कार करना चाहिये ।

इसतरह मंगलके कारणका वर्णन समाप्त हुआ । अब निमित्तका कथन करते हैं—

शंका— यहां पर किसके निमित्तका कथन किया जाता है ?

समाधान— यहां पर सूत्रावतार अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भ होनेके निमित्तका वर्णन किया जाता है ।

१. अरहंतुवएणेण निद्धा नज्जति तेग अरहाई । न वि कोइ य परिस्साए पणमित्ता पणमई रत्तो ॥

आ नि १०१५.

२ मु वर्हन्नमस्कार क्रियते । ३ मु. घम्मवह ।

४ प्रतिपु 'पचमेण' इति पाठ । दो जाणू दोण्णि करा पचमग होइ उत्तमग तु । सम्म सपणिवाओ णेओ पचगपणिवाओ ॥ पञ्चा. वि ३, १५

५ जस्सतिए घम्मपयाइ निक्खे तम्मतिए वेणइय पउजे । सक्कारए सिरसा पजलीओ कायणिग्राओ मो मनमा अ निच्च । द. वै ९, १३.

सुत्तावदारस्स, ण अण्णस्सेति? पयरणादो । भोयण-वेलाए ' सेंधवमाणि ' त्ति वयणादो लोण इव ।। बद्ध-बंध-बंधकारण-मुक्क-मोक्ख-मोक्खकारणाणि णिक्खेव-णय-प्पमाणाणियोग-द्वारेहि अहिगम्म भविय-जणो जाणदु त्ति सुत्तमोदिण्णं अत्यदो तित्थयरादो, गंथदो गणहर-देवादो त्ति ।

द्रव्यभावान्म्यामकृत्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति चेदेतत्सर्व-मभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत । पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुन-र्घटत एव ।

छट्ठव्व-णव-पयत्थे सुय-णाणाइच्च-दिण्ण-तेएण ।

पस्सतु भव्व-जीवा इय सुय-रविणो हवे उदयो' ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं हेतुरुच्यते । तत्र हेतुद्विविधः, प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति । कस्य हेतुः?

शंका— यह कैसे जाना जाता है कि यहां पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है, अन्यका नहीं ।

समाधान— यह बात प्रकरणसे जानी जाती है । जैसे—भोजन करते समय ' सैंधव लाओ ' इस प्रकारके वचनसे सेधे नमकका ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि यहां पर ग्रन्थावतारके निमित्तका ही कथन किया जा रहा है ।

बद्ध, बन्ध, बन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्त्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारासे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाता बनें, इसलिये यह सूत्र-ग्रन्थ अर्थ-प्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थकरसे और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणघरदेवसे अवतीर्ण हुआ है ।

शंका— द्रव्य और भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सकता है ।

समाधान— यह शंका तो तब बनती जब यहां पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती । परंतु यहां पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है ।

भव्य-जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखें अर्थात् भलीभांति जानें, इसलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अब हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका है, एक-प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु ।

शंका— यहां पर किसके हेतुका कथन किया जाता है ?

सिद्धान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुद्विविधः, साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षभेदात् । तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनं प्रतिसमय-मसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च^१ । कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्षं द्विविधम्, अभ्युदयं नैश्रेय-समिति । तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादि-प्रशस्त-कर्म-तीव्रानुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशदादि-देव-चक्रवर्ति-वलदेव-नारायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्डलीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम्^२ ।

समाधान— यहां पर सिद्धातके अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है ।

उन दोनो प्रकारके हेतुओमेसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु । उनमेसे अज्ञानका विनाश सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमे असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे कर्मोंकी निर्जराका होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु (फल) समझना चाहिये ।

शंका— कर्मोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है ? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है, यह बात अवधि-ज्ञानी और मन-पर्यय-ज्ञानियोको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है ।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु है । परोक्षहेतु दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नैश्रेयससुख । इनमेंसे साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवसंबन्धी दिव्य-सुख और चक्रवर्ती, वलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजा, अधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि मनुष्य-सम्बन्धी मानुष्य-सुखको अभ्युदयसुख कहते हैं ।

१ सक्खापच्चक्खपरपच्चक्खा दोण्णि होदि पच्चक्खा । अण्णाणस्स विणास णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ॥ देवमणुस्सादीहि य सततमव्वमच्चणप्पयाराणी । पडिसमयमसखेज्जयगुणसेडिकम्मणिज्जरण ॥

ति प १, ३६-३७

२ इय सक्खापच्चक्ख पच्चक्खपर पर च णादव्व । सिस्सपडिसिस्सपहुदीहि सददमव्वमच्चणपयार ॥ दोभेद च परोक्ख अव्वुदयसोक्खा मोक्खसोक्खाड । सादादिविविहसुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहि ॥ उदपडिददिगिदियतेतीससामरसमाणपहुदिसुह । राजाहिराजमहाराजद्धमडिलिडलयाण ॥ महमडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरितित्थयरसोक्ख । अट्ठारसमेत्ताण सामीसेणेण भत्तिजुत्ताण ॥ ति प १, ३८-४१

अण्ठादशसख्याना श्रेणीनामधिपतिविनम्राणाम् ।
राजा स्यान्मुकुटधर कल्पतरु सेवमानानाम् ॥ ३६ ॥

एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ—

हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मति-सेठ्ठि-दंडवई ।
मुद्द-क्खत्तिय-वम्हण-वइसा तह महयरा चेव ॥ ३७ ॥
गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता ।
अट्ठारह सेणीओ पयाडणा मेलिया होति^१ ॥ ३८ ॥
पूतनाज्ज-दण्डनायक-वर्ण-वणिग्भुग्-गण्ड-महामात्राच्च ।
मन्त्रि-पुरोहित-सेनान्यमात्य-तलवर-महत्तरा स्यु श्रेण्य ॥ ३९ ॥
पञ्चगतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके ।
राजसहस्राधिपति प्रतीयतेऽसौ महाराज ॥ ४० ॥
द्विसहस्रराजनाथो मनीषिभिर्वर्ण्यतेऽर्धमण्डलिक ।
मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतु सहस्रावनीशपति ॥ ४१ ॥

जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिये कल्पवृक्षके समान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहां प्रकरणमे उपयोगी गाथाएं उद्धृत की जाती हैं ।

घोड़ा, हाथी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानो महामात्य और पैदल सेना इसतरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३७, ३८ ॥

अथवा हाथी, घोड़ा, रथ और पयादे ये चार सेनाके अग, दण्डनायक; ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिक्पति, गणराज, महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तलवर और महत्तर ये अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमे पांचसौ राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं, और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज कहते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

१ वररयणमउडधारी सेवयमाणा णवति दह अट्ठ । दंता हवेदि राजा जितसत्तु समरमघट्टे ॥ करितुरय-रहाहिवई सेणावड य मति-सेठ्ठि-दंडवई । मुद्दक्खत्तियवइसा हवति तह महयरा पवरा ॥ गणरायमतितलवर-पुरोहिया मतया महामता । बहुविहपडणया य अट्ठारमा होति सेणीओ ॥ ति प १, ४२-४४

अष्टसहस्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधा महामण्डलिकम् ।
 षोडशराजसहस्रैर्विनम्यमानस्त्रिखण्डधरणीश^१ ॥ ४२ ॥
 षट्खण्डभरतनाथ द्वात्रिंशद्धरणिपतिसहस्राणाम् ।
 दिव्यमनुष्य विदुरिह भोगागार सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥
 सकलभुवनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठ^२ ।
 विधुधवलचामराणा तस्य स्याद्वै चतु षष्टि ॥ ४४ ॥
 तित्थयर-गणहरत्त तहेव देविद-चक्रवट्टिस्त ।
 अण्णरिहमेवमाई अब्भुदय-सुह^३ वियाणाहि^३ ॥ ४५ ॥
 तत्र नैःश्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम् । उक्तं च—
 अदिसयमाद-समुत्थ विसयादीद अणोवममणत्त ।
 अब्बुच्छिण्ण च सुह सुद्धुवजोगो य सिद्धान^४ ॥ ४६ ॥

बुधजन आठ हजार राजाओके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं । और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

इस लोकमे बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्र-रत्नको धारण करनेवाले और भरतक्षेत्रके छह खण्डके अधिपतिको दिव्य मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौसठ चँवर दुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस लोकमे तीर्थंकरपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रवर्तिपना और इसी प्रकारके अन्य अर्ह अर्थात् पूज्य पदोको अभ्युदयसुख समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरिहत और सिद्धोंके अतीन्द्रिय सुखको नैःश्रेयस सुख कहते हैं । कहा भी है—

अतिशयरूप, आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद-

१ पचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो । रायाण जो सहस्स पालइ सो होदि महाराजो ॥ दुसहस्समउडवद्धभुववसहो तच्च अद्धमडलियो । चउराजसहस्साण अहिणाहो होइ मडलिय ॥ महमडलियो णामो अठ्ठसहस्साण अहिवई ताण । रायाण अद्धचक्की सामी सोलससहस्समेत्ताण ॥ ति प १, ४५-४७

२ मु-फल ।

३ छवखडभरहणाहो वत्तीमसहस्समउडवद्धपहुदीओ । होदि हु सयलचक्की तित्थयरो सयलभुवणवई ॥ ति प. १, ४५ वलवासुदेवादीना पराक्रमवर्णनाय किञ्चिदुच्यते, सोलसरायसहस्सा सव्ववलेण तु सकलनिवद्ध । अच्छति वासुदेव अगडतडम्मी ठिय सत्त ॥ घेतूण सकल सो वामगहत्थेण अच्छमाणाण । भुजिज्ज विर्लिपिज्ज व महमहण ते न चाएत्ति ॥ दो सोला वत्तीसा सव्ववलेण तु सकलनिवद्ध । अच्छति चक्कवट्टि अगडतडम्मी ठिय सत्त ॥ ज केसवस्स उ वल त दुगुण होइ चक्कवट्टिस्स । तत्तो वला वलवगा अपरिमियवला जिणवरिदा ॥ आ नि ७१-७५

४ प्रवच १, १३ 'सुद्धुवओगप्पसिद्धान' इति पाठभेद ।

भाविय-सिद्धताण दिणयर-कर-णिम्मलं हवइ णाणं ।
 सिसिर-यर-कर-सरिच्छ हवइ चरित्तं स-वस-चित्त ॥ ४७ ॥
 मेरु व्व णिप्पकंप णट्ठट्ठ-मल ति-मूढ-उम्मुक्क ।
 सम्मद्दसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणव्भासा^१ ॥ ४८ ॥
 तत्तो चेव सुहाइ सयलाइं देव-मणुय-खयराण ।
 उम्मूलियट्ठ-कम्मं फुड सिद्ध-सुहं पि पवयणादो^२ ॥ ४९ ॥
 जिय^३-मोहिंघण-जलणो अण्णाण-तमघयार-दिणयरओ ।
 कम्म-मल-कलुस-पुसओ जिण-वयणमिवोवही सुहयो ॥ ५० ॥
 अण्णाण-तिमिर-हरण-सुभविय-हिययारविद-जोहणयं ।
 उज्जोइय-सयल-वह सिद्ध-दिवायर भजह^४ ॥ ५१ ॥

रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धोंको होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र होता है ॥ ४७ ॥

प्रवचन अर्थात् परमागमके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल-रहित, तीन मूढताओंसे रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रवचनके अभ्याससे ही देव, मनुष्य और विद्याधरोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं, तथा आठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिद्ध सुख भी प्रवचनके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

वह जिनागम जीवके मोहरूपी ईंधनको भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, अज्ञान-रूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मको मार्जन करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुभग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिद्धान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

१ नोक्ख तित्थयराण कप्पातीदाण तह य इदियादीद । अदिमवमादममुत्थ णित्सेयसमणुवम पवर ॥ सुदणाणभावणाए णाण मत्तड-किरण-उज्जोओ । आद चदुज्जल चरित्त चित्त हवेदि भव्वाण ॥ कणयवरावरवीर मूढत्तयविरहिदं हयगमलं । जायदि पयवणपढणे सम्मद्दसणमणुवम णं ॥ ति प १, ४९-५१.

२ मुरज्जेयरमणुवाण लब्धति मुहाइ आरिभभासा । तत्तो णिव्वाणसुह णिण्णासिदधातुणद्धमल ।

ति. प १, ५२

३ 'व' प्रती 'जियमोहिंघणजलणो' इत्यादि गाथाद्वय नास्ति ।

४. गाथाद्वे ५०-५१ तमे ताप्रनौ न स्त ।

अथवा जिनपालितो निमित्तम्, हेतुर्मोक्षः, शिक्षकाणां हर्षोत्पादनं निमित्त-
हेतुकथने प्रयोजनम् । परिमाणमुच्चदे-अक्षर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि
संखेज्जं, अत्थदो अणंतं । पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं । शिक्षकाणां हर्षोत्पादनार्थ
मतिव्याकुलता-विनाशनार्थं च परिमाणमुच्यते^१ । णामं जीवट्ठाणमिदि । कारणं
पुव्वं व वत्तव्वं ।

तत्थ कत्ता दुविहो^२—अत्थ-कत्ता गंथ-कत्ता चेदि । तत्थ अत्थ-कत्ता दव्वादीहि
चउहि परुविज्जदि । तत्र तस्य तावद् द्रव्यनिरूपणं क्रियते, स्वेद-रजो-मल-रक्तनयन-
कटाक्षशरमोक्षादि—शरीरगताशेषदोषादूषित—समचतुरस्रसंस्थान—वज्रवृषभसंहनन-
दिव्यगन्ध-प्रमाणस्थितनखरोम-निर्भूषणायुधाम्बरभय-सौम्यवदनादि-विशिष्टदेहधरः

अथवा, जिनपालित इस श्रुतावतारके निमित्त हैं और उसका हेतु मोक्ष है, अर्थात्
मोक्षके हेतु जिनपालितके निमित्तसे इस श्रुतका अवतार हुआ है । यहां पर निमित्त और हेतुके
कथन करनेसे पाठकजनोंको हर्षका उत्पन्न करना ही प्रयोजन है ।

अब परिमाणका व्याख्यान करते हैं, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, और अनुयोग
द्वारोंकी अपेक्षा श्रुतका परिमाण संख्यात है और अर्थ अर्थात् तद्वाच्य विषयकी अपेक्षा अनन्त है ।
पदकी अपेक्षा अठारह हजार प्रमाण है । शिक्षकजनोंको हर्ष उत्पन्न करानेके लिये और
मतिसंबन्धी व्याकुलता दूर करनेके लिये यहां पर परिमाण कहा गया है ।

नाम— इस शास्त्रका नाम जीवस्थान है ।

कारण— कारणका व्याख्यान पहले कर आये हैं । उसी प्रकार यहांपर भी उसका
व्याख्यान करना चाहिये ।

कतकि दो भेद हैं, अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता । इनमेसे अर्थकर्ताका द्रव्यादिक चार के
द्वारा निरूपण किया जाता है । उनमेसे पहले द्रव्यकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पसीना, रज अर्थात् बाह्य कारणोसे शरीरमे उत्पन्न हुआ मल, मल अर्थात् शरीरसे
उत्पन्न हुआ मल, रक्त-नेत्र और कटाक्षरूप वाणोका छोड़ना आदि शरीरमे होनेवाले संपूर्ण
दोषोसे रहित, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच सहनन, दिव्य-सुगन्धमयी, सदैव योग्य
प्रमाणरूप नख और रोमवाले, आभूषण, आयुध, वस्त्र और भयरहित सौम्य-मुख आदिसे

१ विविहत्थेहि अणत संखेज्ज अक्यराणगणणाए । एद पमाणमुदिद सिस्साण मइविकासयर ॥

ति प १, ५३

२ कत्तारो दुवियप्पो णादव्वो अत्थगथभेदेहि । दव्वादिचउप्पयारेहि भासिमो अत्थकत्तारो ॥
सेदरजाइमलेण रत्तिच्छिदुक्खवाणमोक्खेहि । इयपहुदिदेहदोसेहि सततमद्दसिदसरीरो ॥ आदिमसहणणजुदो
समचउरस्सगचारुसठाणो । दिव्ववरगघघारी पमाणट्ठिठदरोमणखरुवो ॥ णिब्भूसणायुधवरभीदी सोम्माणणा-
दिदिव्वतणू । अट्ठव्महियसहस्सपमाणवरलक्खणोपेदो ॥ चउविहुउवसग्गेहि णिच्च विमुक्को कसायपरिहीणो ।
छुहपहुदिपरिसहेहि परिचत्तो रायदोसेहि ॥ ति प १, ५५-५९

चतुर्विधोपसर्गक्षुधादिपरिषह-रागद्वेषकषायेन्द्रियादिसकलदोषगोचरातिक्रान्तः योजना-
न्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा-सप्तहृतशतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकार-न्यूना-
धिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः भवनवासिवाणव्यन्तर-
ज्योतिष्क-कल्पवासीन्द्र^१-विद्याधर-चक्रवर्ति-बल-नारायण-राजाधिराज-महाराजार्ध-
महामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्यालादि-देव-विद्याधर-मनुष्यर्षि-तिर्यगिन्द्रेभ्यः
प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता ।

तत्थ खेत्त-विसिट्ठोत्थ-कत्ता परूविज्जदि—

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।

णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे^२ ॥ ५२ ॥

महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स ।

अत्रोपयोगिनौ श्लोको—

युक्त ऐसे विशिष्ट शरीरको धारण करनेवाले, देव, मनुष्य, तिर्यच और अचेतनकृत चार प्रकारके
उपसर्ग, क्षुधा आदि बावीस परीषह, राग, द्वेष, कषाय और इन्द्रिय-विषय आदि संपूर्ण दोषोंसे
रहित, एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप भंटे हुए अठारह महाभाषा और सातसौ
लघुभाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यच, देव और मनुष्योंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता
और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त,
भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी देवोंके इन्द्रोंसे, विद्याधर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण,
राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक राजाओंसे, इन्द्र, अग्नि, वायु,
भूति, सिंह, व्याल आदि, देव तथा विद्याधर-मनुष्य-ऋषि और तिर्यचोंके इन्द्रोंसे पूजाके
अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता समझना चाहिये ।

अब क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पंचशैलपुरमे (पंचपहाड़ी अर्थात् पांच पर्वतोंसे शोभायमान राजगृह नगरके पास)
रमणीक, नानाप्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, देव तथा दानवोंसे वन्दित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम ऐसे
विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भव्य-जीवोंको अर्थका उपदेश दिया अर्थात्
दिव्य-ध्वनिके द्वारा जीवादि पदार्थों और मोक्षमार्ग आदिका उपदेश दिया ॥ ५२ ॥

इसविषयमें दो उपयोगी श्लोक हैं—

१. जयणपमाणसठितिरियामरमणुवनिवहपडिवोहो । मिदमधुरगभीरतरा विसदविसयसयल-
भासाहि ॥ अट्टरसमहाभासा खुत्तयभासा वि सत्तसयसत्ता । अक्खरअणक्खरअण्णसण्णीजीवाण सलयभासाओ ॥
एदासि भासाण तालुवदतोठ्ठकठवावार । परिहरिय एक्ककाल भव्वजणाणदकरभासो ॥ भावणवेतरजो-
इत्तियकप्पवासेहि केत्तववलेहि । विज्जाहरेहि चक्किप्पमुहेहि णरेहि तिरिएहि ॥ एदेहि अण्णेहि विरचिदचरणा-
रविदजुगपूजो । दिट्ठसयलट्टनारो महवीरो अत्थकत्तारो ॥ ति प १, ६०-६४.

२. जयधवलाया नायेय ' निद्धचारणसेविदे ' इति चतुर्यचरणपाठभेदेनोपलभ्यते । सुरखेयरमणहरणे
गुणणामे पचसेलणयरम्मि । विउलम्मि पव्वदवरे वीरजीणो अट्ठकत्तारो ॥ ति प १, ६५. ईरेइ विसेसेण
क्खवेइ कम्माइ गमयइ सिव वा । गच्छइ य तेण वीरो स मह वीरो महावीरो ॥ वि भा १०६५

ऋषिगिरिरैन्द्राशाया^१ चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभार ।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणी स्थितौ तत्र^२ ॥ ५३ ॥

घनुराकारश्छिन्नो वारुणवायव्यसौम्यदिक्षु तत ।
वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डु सर्वे कुशाग्रवृता^३ ॥ ५४ ॥

एसो खेत्त-परिच्छेदो ।

तत्थ कालदो अत्थ-कत्ता परुविज्जदि—

इमिसे^४ वसप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए ।
चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए सते^५ ॥ ५५ ॥

पूर्व दिशामे चौकोर आकारवाला ऋषिगिरि नामका पर्वत है । दक्षिण दिशामे वैभार और नैऋत दिशामे विपुलचल नामके पर्वत हैं । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले हैं ॥ ५३ ॥

पश्चिम, वायव्य और सौम्य दिशामे घनुषके आकारवाला फैला हुआ छिन्न नामका पर्वत है । ऐशान दिशामे वृत्ताकार पाण्डु नामका पर्वत हैं । ये सब पर्वत कुशके अग्रभागसे ढके हुए हैं ॥ ५४ ॥

यह क्षेत्र-परिच्छेद समझना चाहिये ।

अब कालकी अपेक्षा अर्थकर्तिका निरूपण करते हैं—

इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुःषमा-सुषमा नामके चौथे कालके पिछले भागमे कुछ कम चौतीस वर्ष बाकी रहनेपर, वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमे, प्रथमपक्ष अर्थात्

१ जयधवलाया 'भूगिरि' इति पाठ ।

२ चउरस्सो पुव्वाए रिमिसेलो दाहिणाए वेभागो । णडरिदिदिमाए विउओ दोण्णि तिकोण-द्विदायारा ॥ ति प १, ६६

३ घनुराकारश्छिन्नो वारुणवायव्यसौम्यदिक्षु तत । वृत्ताकृतिरीशाने पाण्डु सर्वे कुशाग्रवृता । जयध
अ पृ ९ चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलमोमदिसविभागेषु । ईसाणाए पण्डुव वट्टो सर्वे कुसग्गपरियरणा ॥
ति प १, ६७ ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्र सनिर्झर । दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभ भूषयत्यलम् ॥ वैभारो
दक्षिणामाशा त्रिकोणाकृतिराश्रित । दक्षिणापरदिङ्मध्य विपुलश्च तदाकृति ॥ सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो-
व्याप्य बलाहक । शोभते पाण्डुको वृत्त पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥ ह पु ३, ५३-५५.

४ मु इम्मिस्से ।

५ एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि । तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ॥

वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले ।
 पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि^१ ॥ ५६ ॥
 सावण-बहुल-पडिवदे रुद्ध-मुहुत्ते सुहोदए रविणो ।
 अभिजिस्स पढम-जोए एत्थ^२ जुगाई^३ मुणेयव्वो^४ ॥ ५७ ॥

एसो कालपरिच्छेदो ।

भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते — ज्ञानावरणादि-निश्चय-व्यवहारापायातिशयजाता-
 नन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-क्षायिक-सम्यक्त्व-दान-लाभ-भोगोपभोग-निश्चय-व्यवहार-
 प्राप्त्यतिशयभूत-नव-केवल-लब्धि-परिणतः^५ । उक्तं च—

कृष्णपक्षमे, प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय आकाशमे अभिजित् नक्षत्रके उदित रहने पर
 तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई ॥ ५५, ५६ ॥

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाके दिन रुद्रमूहर्तमे सूर्यका शुभ उदय होने पर और अभिजित्
 नक्षत्रके प्रथम योगमे जब युगकी आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिये ॥ ५७ ॥
 यह काल-परिच्छेद हुआ ।

अब भावकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके निश्चय-व्यवहाररूप विनाश कारणोंकी विशेषतासे उत्पन्न
 हुए अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक-सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोगकी
 निश्चय-व्यवहाररूप प्राप्तिके अतिशयसे प्राप्त हुई नौ केवल-लब्धियोंसे परिणत भगवान्
 महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया । अर्थात् निश्चय और व्यवहारसे अभेद-भेदरूप नौ लब्धियोंसे
 युक्त होकर भगवान् महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया । कहा भी है—

१. वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए । अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥
 ति प १, ६८-६९

२ मु जत्थ ।

३ जुगाइ (युगादि) युगारम्भे, युगारम्भकाले प्रथमतः प्रवृत्ते मासि तिथिमुहूर्तादौ च । आदी
 जुगस्स नवच्छरो उ मासस्स अद्धमासो उ । दिवसा भरहेरवए राईया सह विदेहेसु ॥ युगस्य × × सवत्सर-
 पचकात्मकस्यादि सवत्सर । स च श्रावणत आषाढपौर्णमासीचरमसमय । ततः प्रवर्तमान श्रावण एव
 भवति । तस्यापि च मासस्य श्रावणस्यादिरर्धमास पक्ष पक्षद्वयमीलनेन मासस्य सभवात् । सोऽपि च पक्षो
 बहुलो वेदितव्यः पौर्णमास्यनन्तर बहुलपक्षस्यैव भावात् । × × । दिवसाऽहोरात्रा बहुलाईयाणि होति
 पव्वाणि । अभिई नक्खत्ताई रहो आई मुहुत्ताण ॥ सावण-बहुलपडिवाए बालवकरणे अभिइनक्खत्ते । सव्वत्थ
 पढमसमए जुगस्स आइ वियाणाहि ॥ ज्यो क २ पाहुड । वक्ष्यन्ते ये च कालाशा सुषमसुपमादय । आरम्भ
 प्रतिपद्यन्ते सर्वे तेऽपि युगादित ॥ लो प्र २५, ४७१

४ सावणवहुले पाडिव रुद्धमुहुत्ते सुहोदए रविणो । अभिजिस्स पढम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुढ ॥
 ति प १, ७० श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभु । प्रतिपद्याह्नि पूर्वाह्ने शासनार्थमुदाहरत् ॥ ह पु २, ९१

५ णाणावरणप्पहुदि अ णिच्छयववहारपायअतिसयए । सजादेण अणत णाणेण दसणसुहेण ॥
 विरिएण तहा खाइयसम्मत्तेण पि दाणलाहेहि । भोगोपभोगणिच्छयववहारोहि च पुत्तिपुणो ॥ ति प ७१, ७२

दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते ।

णव केवल-लब्धीनो दंसण-णाण चरित्ते य ॥ ५८ ॥^१

खीणे दंसण-मोहे चरित्त-मोहे तहेव^२ घाड-तिए ।

सम्मत्त-विरिय-णाणं खइयाइं होति केवलिणो^३ ॥ ५९ ॥

उप्पण्णम्मि अणत्ते णट्ठम्मि य छादुमत्तिए णाणे ।

णव-विह-पयत्त-गवभा दिव्वज्जुणी कहेइ सुत्तट्ठ^४ ॥ ६० ॥

एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता । तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो
तम्मि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण वम्हणेण
गोदम-गोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह^५-विणासणट्ठमुवगय-
वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणावहारिदो^६ । उत्तं च--

दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नव केवल-
लब्धियाँ हैं ॥ ५८ ॥

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके क्षय हो जानेपर तथा शेष तीन घातिया कर्मोंके
क्षय हो जानेपर केवलीजिनके सम्यक्त्व, वीर्य और ज्ञान ये क्षायिक भाव प्रगट होते हैं ॥ ५९ ॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट हो जानेपर और अनन्तरूप केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर
नौ प्रकारके पदार्थोंसे गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थका प्रतिपादन करती हैं । अर्थात् केवलज्ञान हो
जानेपर भगवान्की दिव्यध्वनि खिरती है ॥ ६० ॥

इस प्रकार भगवान् महावीर अर्थ-कर्ता हैं । इस प्रकार केवलज्ञानसे विभूषित उन
भगवान् महावीरके द्वारा कहे गये अर्थको, उसी कालमें और उसी क्षेत्रमें क्षयोपशमविशेषसे
उत्पन्न हुए चार प्रकारके निर्मल ज्ञानसे युक्त, वर्णसे ब्राह्मण, गोतमगोत्री, संपूर्ण दुःश्रुतिमें
पारंगत, और जीव-अजीवविषयक संदेहको दूर करनेके लिये श्री वर्द्धमानके पादमूलमें उपस्थित
हुए ऐसे इन्द्रभूतिने अवधारण किया । कहा भी है—

१ व. प्रती गाथेय-नास्ति । २ मु. चउक्क ।

३ खीणे दंसणमोहे चरित्तमोहे तहेव घाडतिए-। सम्मत्तणाणविरिया खइया ते होति केवलिणो ॥
जयव अ पृ. ८ दंसणमोहे णट्ठे घादित्तिदए चरित्तमोहम्मि । सम्मत्तणाणदंसणवीरियचरियाइ होति
खइयाइ ॥ ति प. १, ७३.

४ जादे अणत्तणाणे णट्ठे छदुमट्ठिदम्मि णाणम्मि । णवविहपयत्तसारा दिव्वज्जुणी कहेइ
मुत्तत्थ ॥ अण्णेहि अणत्तेहि गुणेहि जुत्तो विसुद्धचारित्तो । भवमयभजणदच्छो महवीरो अत्यक्तारो

५ महवीरभासित्यो तस्सि खेत्तम्मि तत्थकाले य । खयोवसमविबुद्धिउपसमलमईहि पुण्णेण ॥
लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविहविसएणु । संदेहणासणत्थ उवगदसिखीरचलणमूलेण ॥ विमले
गोदमगोत्ते जादेण इंदभूदिणामेण । चउवेदपारगेण मिस्सेण विमुद्धनीलेण ॥ ति प. १, ७६-७८

६ मित्यादुत्थयत्त्यायामिन्द्रभूति सकलवेदवेदाङ्गपारग सन्नपि जीवास्तित्वविषये सद्विद्य एवासीत् ।

गोत्तेण गोदमो^१ विप्पो चाउव्वेय-सडगवि ।

णामेण इदमूदि त्ति सीलव वम्हणुत्तमो ॥ ६१ ॥

पुणो तेणिदमूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण वारहंगाणं चोदस-पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चैव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा^२ । तदो भाव-सुदस्स अत्थ-पदाणं च तित्थयरो कत्ता । तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता । तत्तो गंथ-रयणा जादेत्ति । तेण वि^३ गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स संचारिदं । तेण वि जंबूसायस्स संचारिदं । परिवाडिमस्सिदूण एदे^४ तिणिण वि सयल-सुद-धारया भणिया । अपरिवाडिए पुण सयल-सुद-पारगा संखेज्ज-सहस्सा ।

गौतमगोत्री, चिप्रवर्णी, चारो वेद और पडगविद्याका पारगामी, शीलवान् और ब्राह्मणोमे थ्रेष्ठ ऐसा वर्द्धमानस्वामीका प्रथम गणधर इन्द्रभूति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥

अनन्तर भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत उस इन्द्रभूतिने वारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थोंकी एक ही मुहुर्तमे क्रमसे रचना की । अतः भावश्रुत और अर्थ-पदोंके कर्ता तीर्थकर हैं । तथा तीर्थकरके निमित्तसे गौतम गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए, इसलिये द्रव्यश्रुतके कर्ता गौतम गणधर हैं । इसतरह गौतम गणधरसे ग्रन्थरचना हुई । उन गौतम गणधरनेभी दोनो प्रकारका श्रुतज्ञान लोहार्यको दिया । लोहार्यनेभी जम्बूस्वामीको दिया । परिपाटी-क्रमसे ये तीनों ही सकलश्रुतके धारण करनेवाले कहे गये हैं । और यदि परिपाटी-क्रमकी अपेक्षा न की जाय तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुतके धारी हुए ।

प्रश्नानन्तरं समवसरण समभ्येत्य प्रवृज्य च श्रीवर्द्धमानस्वामिनः पप्रच्छ किं जीवोऽस्ति नास्ति वा किं गुण कियान् कीदृग् ? तदा जीवोऽस्त्यनादिनिबन्धे शुभाशुभविभेदकर्मणा कर्ता । × × इत्याद्यनेकभेदैस्तथा म जीवादिवस्तु मद्भावात् । दिव्यध्वनिना रफुटमिन्द्रभूतये मन्मतिरवोचत् । इन्द्र श्रुता ४५-६४ देवै क्रियमाणा समवसरणलक्षणा महिमा दृष्ट्वाऽमपित सन्निन्द्रभूतिर्भणति-भो भो ब्राह्मणवरा । मा मुक्त्वा किमेव नागरलोकस्तस्य कस्यचित्पादमूलं धावति ? ननु महत्कुतूहलं कथयतात्रनिबन्धनमिति महाप्रलयमेव इव गजित्वा समवसरणं प्रविष्टो वादार्थम् । परं च तत्र श्रीवीरं दृष्ट्वा हतप्रभं इव सगर्जितं सन् पुरतः स्थितः । तदा भगवता धीरेणाभाषितं ' किं मत्ने अत्थि जीवोऽयमाहुः नत्थि त्ति ममयो तुज्झ । वेयपयाणं य अत्थ ण याणसी तेसिमो अत्थो ' (आ नि १५०) ततश्च निःसंशयं मत्तमी प्रव्रजितः । वि भा २०१८-२०८३

१ गौतमा गौ प्रकृष्टा म्यान् मा च सर्वजभारती । ता वेत्ति तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मतः ॥ गौतमादागतो देवः स्वर्गाप्रादगौतमो मतः । नेन प्रोक्तमधीयानस्त्वञ्चामीर्गौतमश्रुतिः ॥ इन्द्रेण प्राप्त-पूजार्द्धिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यसे । माक्षात्यर्वजपुत्रस्त्वमाप्तमज्ञानकण्ठिकः ॥ आ पु २, ५२-५४

२ भावसुदपज्जएहि परिणदमदणा य वारसगाण । चोदमपुव्वाणं तहा एक्कमुहुत्तेण विरचनां विहिदा । ति प १, ७९

३ मु. तेण गोदमेण ।

गोदमथेरो^१ लोहज्जाइरियो^२ जंबूसामी य एदे तिण्णि वि सत्त-विह-लद्धि-
संपण्णा सयल-सुय-सायर-पारया होऊण केवलणाणमुप्पाइय णिव्वुइं पत्ता^३ ।
तदो विण्हू णंदिमित्तो अवराइदो गोवद्धणो भद्दवाहु त्ति एदे पुरिसोली-कमेण
पंच^४ वि चोद्दस-पुव्व-हरा । तदो विसाहाइरियो पोढिलो खत्तियो जयाइरियो
णागाइरियो सिद्धत्थेरो^५ धिदिसेणो विजयाइरियो बुद्धिल्लो गंगदेवो
धम्मसेणो त्ति एदे^६ पुरिसोली-कमेण एक्कारस वि आइरिया एक्कारसण्हमंगाणं
उप्पायपुव्वादि-दसण्हं पुव्वाणं च पारया जादा, सेसुवरिम-चटुण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा
य । तदो णक्खत्ताइरियो जयपालो पांडुसामी धुवसेणो^७ कंसाइरियो त्ति एदे पुरिसोली-
कमेण पंच^८ वि आइरिया एक्कारसंग-धारया जादा, चोद्दसण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा य ।
तदो सुभद्दो जसभद्दो^९ जसवाहु^{१०} लोहज्जो त्ति एदे चत्तारि^{११} वि आइरिया आयारंग-धरा

गौतमस्थविर, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीनो ही सात प्रकारकी ऋद्धियोसे
युक्त और सकल-श्रुतरूपी सागरके पारगामी होकर अन्तमे केवलज्ञानको उत्पन्न कर
निर्वाणको प्राप्त हुए । इसके बाद विण्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रवाहु ये
पांचो ही आचार्य परिपाटी-क्रमसे चौदह पूर्वके धारी हुए ।

तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थस्थविर,
धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी-क्रमसे ग्यारह
अंग और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वके धारक तथा शेष उपरिम चार पूर्वके एकदेशके धारक हुए ।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पांचो ही आचार्य
परिपाटी-क्रमसे संपूर्ण ग्यारह अंगोके और चौदह पूर्वके एकदेशके धारक हुए । तदनन्तर
सुभद्र, यशोभद्र, यशोवाहु और लोहार्य ये चारो ही आचार्य संपूर्ण आचारांगके धारक और

१ मु गोदमदेवो ।

२ जयधवलायामिन्द्रनन्दिश्रुतावतारे च लोहार्यस्य स्थाने सुवर्माचार्यस्योल्लेखोऽस्ति । तद्यथा-तदो तेण
गोममगोत्तेण इदमूदिणा अतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसगत्येण तेणेव कालेण कयदुवालसगगथरयणेण गुणेहि
सगसमाणस्स सुहुमाइरियस्स गथो वक्खाणिदो । जयघ अ पृ ११ प्रतिपादित ततस्तच्छ्रुत समस्त महात्मना
तेन । प्रथितात्मीयसधर्मणे सुवर्माभिवानाय ॥ इन्द्र श्रुता ६७

३ वासट्ठि वरिसकालो अणुवट्ठिय तिण्णि केवलणो । ब्र श्रु ६७

४ एदेसि पच्चण्ह पि सुदकेवलीण कालो वस्ससद १०० । जयघ अ पृ ११

५ मु सिद्धत्थदेवो ।

६. तेसि कालो तिसीदिसदवस्साणि १८३ । जयघ अ पृ ११

७ 'द्रुमसेन' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८१

८ एदेसि कालो वीसुत्तरविसदवासमेत्तो २२० । जयघ अ पृ ११

९ 'अमयभद्र' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८३.

१०. 'जहवाहु' इति पाठ । जयघ अ पृ ११ 'जयवाहु' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८३

११ एदेसि X X कालोअट्ठारसुत्तर वाससद ११८ जयघ अ पृ, ११

सेसंग-पुव्वाणमेग-देस-धरा य' । तदो सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेग-देसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो ।

तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण' अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ-वोच्छेदो होहिदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो' । लेह-द्विय-धरसेणाइरिय"-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि वे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामल-वहु-विह-विणय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिवखुत्तावुच्छियाइरिया अंधविसय-वेण्णायडादो पेसिदा । तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए

शेष अंग तथा पूर्वोक्ते एकदेशके धारक हुए । इसके बाद सभी अंग और पूर्वोक्ता एकदेश आचार्य-परंपरासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ ।

सौराष्ट्र (गुजरात-काठियावाड़) देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामे रहनेवाले, अष्टांग महानिमित्तके पारगामी, प्रवचन-वत्सल और आगे अग-श्रुतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको ऐसे उन धरसेनाचार्यने महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु-सम्मेलनमे सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के (दक्षिणदेशके निवासी) आचार्योंके पास एक लेख भेजा । लेखमे लिखे गये धरसेनाचार्यके वचनोको भलीभांति समझकर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थको ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ, नाना प्रकारकी उज्ज्वल और निर्मल विनयसे विभूषित अंगवाले, शीलरूपी मालाके धारक, गुरुओ द्वारा प्रेषण (भेजने) रूपी भोजनसे तृप्त हुए, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश, उत्तम कुल और उत्तम जातिमे उत्पन्न हुए, समस्त कलाओमे पारंगत, और तीन बार पूछा है आचार्योंसे जिन्होंने, (अर्थात् आचार्योंसे तीन बार आज्ञा लेकर) ऐसे दो साधुओको आन्ध्र-देशमे बहनेवाली वेणानदीके तटसे भेजा ।

मार्गमे उन दोनों साधुओंके आते समय, जो कुन्दके पुष्प, चन्द्रमा और शंखके समान

१ मु - धारया ।

२ एदेसि सव्वेसि कालाण समासो छसदवासाणि तेमीदिवासममहियाणि ६८३ वट्टमाणजिणिदे णिव्वाण गदे । जयध अ पृ ११.

३ देशे तत सुराष्ट्रे गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयन्तगिरी । चद्रगुहाविनिवासी महातपा परममुनिमुख्य ॥ अग्रायणीयपूर्वस्थितपचमवस्तुगतचतुर्थमहाकर्मप्राभूतकज्ञ सूरिधरसेननामाभूत् ॥ इन्द्र श्रुता १०३, १०४

४ देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा-समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥

इन्द्र श्रुता १०६

५ मु धरसेण ।

पच्छिमभाए^१ कुंदेंदु-संखवण्णा सव्व-लक्खण-संपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पदाहिणा पाएसु
णिमुट्ठिय^२-पदियंगा बे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा । एवंविह-सुमिणं
दट्ठूण तुट्ठेण धरसेणाइरिएण 'जयउ सुय देवदा' त्ति संलवियं^३ । तद्विवसे चेय ते
दो वि जणा संपत्ता धरसेणाइरियं । तदो धरसेण-भयवदो^४ किदियम्मं काउण दोण्णि
दिवसे बोलाविय तदिय-दिवसे विणएण धरसेण-भडारओ तेहिं विण्णत्तो 'अणेण
कज्जेणम्हा दो वि जणा तुम्हं पादमूलमुगवया' त्ति । 'सुट्ठु भद्दं' ति भणिऊण
धरसेण-भडारएण दो वि आसासिदा । तदो चित्तिदं भयवदा—

सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाज्वि-जाहय-सुएहि ।

मट्ठिय-मसय-समाण वक्खाणड जो सुद मोहा^५ ॥ ६२ ॥

दढ-गारव-पडिवद्धो विसयामिस-विस-वसेण धुम्मतो ।

सो भट्ट-वोहि-लाहो भमइ चिर भव-वणे मूढो ॥ ६३ ॥

सफेद वर्णवाले हैं, जो समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य (धरसेन) की तीन प्रदक्षिणा दी हैं और जिनके अंग नम्रित होकर आचार्यके चरणोंमें पड़ गये हैं ऐसे दो बैलोंको धरसेन भट्टारकने रात्रिके पिछले भागमें स्वप्नमें देखा । इस प्रकारके स्वप्नको देखकर संतुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'श्रुतदेवता जयवन्त हो' ऐसा वाक्य उच्चारण किया ।

उसी दिन दक्षिणापथसे भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्यको प्राप्त हुए । उसके बाद धरसेनाचार्यकी पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन बिताकर तीसरे दिन उन दोनोंने धरसेनाचार्यसे निवेदन किया कि 'इस कार्यसे हम दोनों आपके पादमूलको प्राप्त हुए हैं ।' उन दोनों साधुओंके इसप्रकार निवेदन करने पर 'अच्छा है, कल्याण हो' इसप्रकार कहकर धरसेन भट्टारकने उन दोनों साधुओंको आश्वासन दिया । इसके बाद भगवान धरसेनने विचार किया कि—

शैलघन, भग्नघट, अहि (सर्प), चालनी, महिष, अवि (मेढा), जाहक (जोक), शुक, माटी और मशकके समान श्रोताओंको जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता है, वह मूढ दृढ़ रूपसे ऋद्धि आदि तीनों प्रकारके गारवोंके आधीन होकर विषयोकी लोलुपतारूपी विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्तिसे भ्रष्ट होकर भव-वनमें चिरकालतक परिभ्रमण करता है ॥ ६२, ६३ ॥

१ मु पच्छिमे भाए । २ 'भाराक्रान्ते नरेणिसुद्ध.'—है ८, ४, १५८

३ आगमनदिने च तयो पुरैव धरसेनमूरिरपि रात्री । निजपादयो पतन्ती धवलवृषावैक्षत स्वप्ने ॥ तत्स्वप्नेक्षणमात्राज्जयतु श्रीदेवतेति समुपलपन् । उदतिष्ठदत प्रात समागतावैक्षत मुनी द्वौ ॥

इन्द्र श्रुता ११२, ११३

४ ईसरिय-स्व-सिरि-जस-धम्म पयत्तामया भगाभिकखा । ते तेसिमसामण्णा सति जओ तेण भगवते ॥

वि भा १०५३

५ सेलघण कुडग चालिणि परिपूणन हसमहिसमेसे य । मसग जलूग विराली जाहग गो भेरि
आभीरी वृ क सू ३३४, आ नि १३९

विशेषार्थ— शैलनाम पाषाणका है और घन नाम मेघका है । जिसप्रकार पाषाण, मेघके चिरकालतक वर्षा करनेपर भी आद्र या मृदु नहीं होता है, उसी प्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरुजन चिरकालतक भी धर्माभूतके वर्षण या सिंचन द्वारा कोमलपरिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओंको शैलघन श्रोता कहा है ॥ १ ॥ भग्नघट फूटे घड़ेको कहते हैं । जिस प्रकार फूटे घड़ेमें ऊपरसे भरा गया जल नीचेकी ओरसे निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं ठहरता, इसी प्रकार जो उपदेशको एक कानसे सुनकर दुसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है ॥ २ ॥ अहि नाम सांपका है । जिस प्रकार मिश्री मिश्रित-दुग्धके पान करनेपर भी सर्प विषका ही वमन करता है, उसी प्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेशके सुनने पर भी विष वमन करते हैं अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहिसमान श्रोता समझना चाहिये ॥ ३ ॥ चालनी जैसे उत्तम आटेको नीचे गोरा देती है और भूसा या चोकरको अपने भीतर रख लेती है, इसी प्रकार जो उत्तम सारयुक्त उपदेशको तो बाहर निकाल देते हैं और नि सार तत्त्वको धारण करते हैं वे चालनीसमान श्रोता हैं ॥ ४ ॥ महिषा अर्थात् भैंसा जिस प्रकार जलाशयसे जल तो कम पीता है परंतु बारबार डुबकी लगाकर उसे गंदला कर देता है, उसी प्रकार जो श्रोता सभामें उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पाकर क्षोभ या उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं वे महिषासमान श्रोता हैं ॥ ५ ॥ अवि नाम मेष (भेंडा) का है । जैसे भेंडा पालनेवालेकोही मारता है, उसी प्रकार जो उपदेशदाताकी ही निन्दा करते हैं और समय आनेपर घात तक करने को उद्यत रहते हैं उन्हें अविके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ ६ ॥ जाह्क नाम सेही आदि अनेक जीवोका है पर प्रकृतमें जोक अर्थ ग्रहण किया गया है । जैसे जोकको स्तनपर भी लगावे तो भी वह दूध न पीकर खून ही पीती है, इसी प्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरुके समीप रहकर भी उत्तम तत्त्वको तो ग्रहण नहीं करते, पर अधम तत्त्वको ही ग्रहण करते हैं वे जोकके समान श्रोता हैं ॥ ७ ॥ शुक् नाम तोतेका है । तोतेको जो कुछ सिखाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसी प्रकार उपदेश स्मरणकर लेनेपर भी जिनके हृदयमें भाव-भासना नहीं होती है वे शुक्समान श्रोता हैं ॥ ८ ॥ मट्टी जैसे जलके सयोग मिलने पर तो कोमल हो जाती है, पर जलके अभावमें पुनः कठोर हो जाती है, इसी प्रकार जो उपदेश मिलनेतक तो मृदु-परिणामी बने रहते हैं और बादमें पूर्ववत् ही कठोर-हृदय हो जाते हैं वे मट्टीके समान श्रोता हैं ॥ ९ ॥ मशक अर्थात् मच्छर पहले कानोंमें आकर गुनगुनाता है, चरणोंमें गिरता है किंतु अवसर पाते ही काट खाता है, उसी प्रकार जो श्रोता पहले तो गुरु या उपदेश-दाताकी प्रशंसा करेंगे, चरण-वन्दना भी करेंगे, पर अवसर आते ही काटे बिना न रहेगे उन्हें मशकके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ १० ॥ उक्त सभी प्रकारके श्रोता अयोग्य हैं, उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है ।

किसी किसी शास्त्रमें उक्त नामोंमें तथा अर्थमें भेद भी देखनेमें आता है किंतु कुश्रोताका भाव यहां पर अभीष्ट है ।

इदि वयणादो जहाछंदाईणं विज्जा-दाणं संसार-भय-वद्धणमिदि चित्तेऊण सुहसुमिण-दंसणेणेव अवगय-पुरिसंतरेण धरसेण-भयवदा पुणरवि ताणं परिक्खा काउमाढत्ता ' सुपरिक्खा हियय-णिव्वुइकरेति ' । तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ^१ । तत्थ एया अहियक्खरा, अवरा विहीणक्खरा । एदाओ छट्ठोववासेण साहेहु त्ति । तदो ते सिद्धविज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उद्वंतुरिया अवरेया काणिया । एसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चित्तेऊण मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहिं हीणाहियक्खराणं छुहणावणयण-विहाणं काऊण पढंतेहि दो वि देवदाओ सहाव-रूव-ट्टियाओ दिट्ठाओ । पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम्म^२-तिहि -णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो । पुणो कसेण वक्खाणंतेण तेण आसाढ^३-मास-सुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो । विणएण गंथो समाणिदो त्ति तुट्ठेहि भूदेहि तत्थेयस्स सहदी पूजा पुप्फ-वलि-संख-

इस वचनके अनुसार यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले श्रोताओको विद्या देना संसार और भयका ही बढ़ानेवाला है, ऐसा विचार कर, शुभ स्वप्नके देखने मात्रसे ही यद्यपि धरसेन भट्टारकने उन आये हुए दोनो साधुओके अन्तर अर्थात् विशेषताको जान लिया था, तो भी फिरसे उनकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया, क्योंकि, उत्तम प्रकारसे ली गई परीक्षा हृदयमे संतोषको उत्पन्न करती है । इसके बाद धरसेनाचार्यने उन दोनो साधुओको दो विद्याएं दीं । उनमेसे एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली थी । दोनोको दो विद्याएं देकर कहा कि इनको षष्ठभक्त उपवास अर्थात् दो दिनके उपवाससे सिद्ध करो । इसके बाद जब उनको विद्याएं सिद्ध हुईं, तो उन्होने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओको देखा कि एक देवीके दांत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है । ' विकृताग होना देवताओका स्वभाव नहीं होता है ' इस प्रकार उन दोनोने विचारकर मन्त्र-संबन्धी व्याकरण-शास्त्रमे कुशल उन दोनोने हीन अक्षरवाली विद्यामे अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली विद्यामेसे अक्षर निकालकर मन्त्रको पढ़ना अर्थात् फिरसे सिद्ध करना प्रारम्भ किया । जिससे वे दोनो विद्या-देवताएं अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूपमे स्थित दिखलाई पड़ीं । तदनन्तर भगवान् धरसेनके समक्ष, योग्य विनय-सहित उन दोनोके विद्या-सिद्धिसंबन्धी समस्त वृत्तान्तके निवेदन करनेपर ' बहुत अच्छा ' इस प्रकार सतुष्ट हुए धरसेन भट्टारकने शुभ तिथि, शुभनक्षत्र और शुभवारमे ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया । इसतरह क्रमसे व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान्से उन दोनोने आषाढ मासके शुक्लपक्षकी एकादशीके पूर्वाण्णह्कालमे ग्रन्थ समाप्त किया । विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया, इसलिए सतुष्ट हुए भूत जातिके व्यन्तर देवोने उन दोनोमेसे एकको

१ सुपरीक्षा हन्निर्वृत्तिकरीति सञ्चिन्त्य दत्तवान् सूरि । सावयितु विद्ये द्वे हीनाविकवर्णसयुक्ते ॥

इन्द्र श्रुता ११५

२ मु मोम । ३ मु वक्खाणतेण आसाढ ।

तूर-रव-संकुला कदा । तं दट्ठूण तस्स 'भूदबलि' त्ति भडारएण णामं कयं ।
अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ-वियत्थ-ट्ठिय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-
दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णामं कयं ।

पुणो ते' तद्विसे' चेव पेसिदा संता 'गुरु-वयणमलंघणिज्जं' इदि चित्तिज्ज-
णागदेहि अंकुलेसरे वरिसा-कालो कओ । जोगं समाणीय जिणवालियं' दट्ठूण
पुप्फयंताइरियो वणवासि' विसयं गदो । भूदबलि-भडारओ वि दमिल-विसयं' गदो ।
तदो पुप्फयंताइरिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाऊण विसदि' सुत्ताणि' करिय पढाविय
पुणो सो भूदबलि-भयवंतस्स पासं पेसिदो । भूदबलि-भयवदा जिणवालिद-पासे
दिट्ठ-विसदि-सुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगय-जिणवालिदेण महाकम्म-पयडि-पाहुडस्स
वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्ण-बुद्धिणा पुणो दव्व-पमाणाणुगममादि काऊण गंथ-
रचना कदा । तदो एयं खंड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि
कत्तारो उच्चंति ।

पुष्प बलि तथा शंख और तूर्य जातिके वाद्यविशेषके नादसे व्याप्त बड़ी भारी पूजा की । उसे
देखकर घरसेन भट्टारकने उनका 'भूतबलि' यह नाम रक्खा । तथा जिनकी भूतोंने पूजा की
है, और अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको दूर करके भूतोंने जिनके दांत समान कर दिये हैं ऐसे दूसरेका
भी घरसेन भट्टारकने 'पुष्पदन्त' नाम रक्खा ।

तदनन्तर उसी दिन वहांसे भेजे गये उन दोनोंने 'गुरुके वचन अर्थात् गुरुकी आज्ञा
अलंघनीय होती है' ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षाकाल बिताया ।
वर्षायोगको समाप्त कर और जिनपालितको देखकर (उसके साथ) पुष्पदन्त आचार्य तो
वनवासि देशको चले गये और भूतबलि भट्टारक तमिल देशको चले गये । तदनन्तर पुष्पदन्त
आचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्र बनाकर और
जिनपालितको पढ़ाकर अनन्तर उन्हे भूतबलि आचार्यके पास भेजा । तदनन्तर जिन्होंने
जिनपालितके पास बीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे हैं और पुष्पदन्त आचार्य
अल्पायु हैं । इसप्रकार जिन्होंने जिनपालितसे जान लिया है, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका
विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हुई है बुद्धि जिनको ऐसे भगवान् भूतबलिने द्रव्यप्रमाणा-
नुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की । इसलिये इस खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा भूतबलि और
पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुतके कर्ता कहे जाते हैं ।

१ मु पुणो तद्विसे । २ 'द्वितीयदिवसे' इति पाठ । इन्द्र श्रुता. १२९.

३ 'स्वभागिनेयं' इति विशेष. । इन्द्र श्रुता. १३४. ४ मु. वणवासि ।

५ मु दमिलदेस । अ प्रतिमें देसं पाठ. ६. मु तथा अ प्रतिमें वीसदि ।

७. वाञ्छन् गुणजीवादिकविशतिविधनूत्रसत्प्ररूपणया । युक्त जीवत्यानाद्यधिकार व्यरचयत्सम्यक् ॥

तदो मूल-तंत-कत्ता वड्ढमाण-भडारओ, अणुतंत-कत्ता गोदम-सामी, उवतंतकत्तारा भूदवलि-पुष्पक्यंतादयो वीय-राय-दोस-मोहा मुणिवरा । किमर्थ कर्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम् ' वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम् ' इति न्यायात् ।

संपहि जीवट्टाणस्स^१ अवयारो उच्चदे । तं जहा— सो वि चउव्विहो उवक्कमो णिक्खेवो णयो अणुगमो चेदि । तत्थ उवक्कमं भणिस्सामो । उपक्रम इत्यर्थमात्मनः उप समीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः^२ । सो वि उवक्कमो पंचविहो—आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । उत्तं च—

तिविहा य आणुपुव्वी दसहा णाम च छव्विह माणं ।

वत्तव्वदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियारो वि ॥ ६४ ॥ इदि ।

इसतरह मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी हैं और उपग्रन्थकर्ता राग, द्वेष और मोहसे रहित भूतवलि, पुष्पदन्त इत्यादि अनेक आचार्य हैं ।

शंका— यहां पर कर्ताका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान— शास्त्रकी प्रमाणताके दिखानेके लिये यहां पर कर्ताका प्ररूपण किया गया है, क्योंकि, ' वक्ताकी प्रमाणतासे ही वचनोमे प्रमाणता आती है ' ऐसा न्याय है ।

अब जीवस्थानके अवतारका प्रतिपादन करते हैं । अर्थात् पुष्पदन्त और भूतवलि आचार्यने जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध नामक जिस षट्खण्डागमकी रचना की । उनमेसे, प्रकृतमे यहां जीवस्थान नामके प्रथम खण्डकी उत्पत्तिका क्रम कहते हैं । वह इसप्रकार है—

वह अवतार चार प्रकारका है— उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम । उन चारोमें पहले उपक्रमका निरूपण करते हैं, जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं । उस उपक्रमके पांच भेद हैं— आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, और अर्थाधिकार । कहा भी है—

आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है, नामके दश भेद हैं, प्रमाणके छह भेद हैं, वक्तव्यताके तीन भेद हैं और अर्थाधिकारके भी तीन भेद हैं ॥६४॥

१ इयमूलततकत्ता सिरिवीरो इदभूदि विप्पवरे । उवतते कत्तारो अणुतते सेस आइरिया ॥
णिण्णट्टरायदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो । कि कारण पभणिदा कहिदु सुत्तस्स पामण्ण ॥ ति प १, ८०, -८१.

२ पुष्पदन्तभूतवलिम्या प्रणीतस्यागमस्य नाम ' षट्खण्डागम ' तस्येमे षट् खण्डा — १ जीवस्थान २ खुद्दाबन्ध ३ बन्धस्वामित्वविचय ४ वेदनाखण्ड ५ वर्गणाखण्ड ६ महाबन्धञ्चेति । एपा पण्णा खण्डाना मध्ये प्रथमतस्तावज्जीवस्थाननामकप्रथमखण्डम्यावतारो निरूप्यते ।

३ प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम् । उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोदात इत्यपि ॥ आ पु २
१०३ सत्यस्सोवक्कमण उवक्कमो तेण तम्मि व तओ वा । सत्यसमीवीकरण आणयण नासदेनम्मि ॥

वि भा ११४

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी । जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी^१ । तिस्से उदाहरणं— ‘उसहमजियं च वंदे’^२ इच्चेवमादि । जं उवरोदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी^३ । तिस्से उदाहरणं—

एस करेमि य पणम जिणवर-वमहस्स वड्ढमाणस्स ।

सेसाण च जिणाणं सिव-सुह-कखा विलोमेण^४ ॥ ६५ ॥ इदि

जमणुलोस-विलोमेहि विणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुव्वी^५ । तिस्से उदाहरणं—

गय-गवल-सजल-जलहर-परहुव-सिहि-गलय-भमर-मकासो ।

हरिउल-वस-पईवो सिव-माउव-वच्छओ जयऊ ॥ ६६ ॥ इच्चेवमादि ।

पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी इसतरह आनुपूर्वीके तीन भेद हैं । जो वस्तुका विवेचन मूलसे परिपाटीद्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं । उसका उदाहरण इसप्रकार है— ‘ऋषभनाथकी वन्दना करता हूँ, अजितनाथकी वन्दना करता हूँ’ इत्यादि क्रमसे ऋषभनाथको आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो वन्दनासंबन्धी पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है । जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदितक परिपाटी-क्रमसे (प्रतिलोम-पद्धतिसे) किया जाता है उसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहते हैं । जैसे—

मोक्ष-सुखकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोमे श्रेष्ठ ऐसे वर्द्धमानस्वामीको नमस्कार करता हूँ । और विलोमक्रमसे अर्थात् वर्द्धमानके बाद पार्श्वनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जितेन्द्रोको भी नमस्कार करता हूँ ॥ ६५ ॥

जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके बिना जहां कहींसे भी किया जाता है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं । जैसे—

हाथी, अरण्यभैसा, जलपरिपूर्ण और सघन मेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और भ्रमरके

१ ज जेण कमेण मुत्तकारेहि ठडदमुप्पण्णं वा तस्म तेण कमेण गणणा पुव्वाणुपुव्वी णाम ।

जयघ अ पृ ३

२ उसहमजिय च वदे मभवमभिणदण च सुमइ च । पउमप्पह सुपास जिण च चदप्पह वदे ॥ सुविहि च पुप्फदत मीयलमेय च वासुपुज्ज च । विमलमणत भयव घम्मं सति च वदामि ॥ कुथु च जिणवरिद अर च मल्लि च मुणिसुव्वय च । णमि वदामि अरिट्ठ णेमि तह पासवड्ढमाण च ॥ एवमए अभियुहिया विहुयरयमला पहीणजरमरणा । चउवीस वि जिणवरा तित्थयरा मे पमीयतु ॥ द भ पृ ४

३ तस्स विलोमेण गणणा पच्छाणुपुव्वी । जयघ अ पृ. ३

४ एस करेमि पणाम जिणवरवसहस्स वड्ढमाण च । सेसाण च जिणाण सगणगणधराण च सव्वेसि ॥ मूलाचा १०५

५ जत्थ वा तत्थ वा अप्पणो इच्छिदमार्दि काट्ठण गणणा जत्थतत्थाणुपुव्वी । जयघ अ पृ ३

इदं पुण जीवट्ठाणं खंड-सिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए द्विदं छण्हं खंडाणं पढम-खंडं जीवट्ठाणमिदि । वेदणा-कसिण-पाहुड-सज्झादो अणुलोम-विलोम-कमेहि विणा जीवट्ठाणस्स संतादि-अहियारा अहिणिग्गया त्ति जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि संठिदं । जीवट्ठाणे ण पच्छाणुपुव्वी संभवइ ।

णामस्स दस^१ ट्ठाणाणि भवंति । तं जहा, गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिक्खपदे अणादियसिद्धंतपदे पाघण्णपदे णामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि ।

गुणानां भावो गौण्यम् । तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि^२ । यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि । नोगौण्यपदं^३ नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप

समान वर्णवाले, हरिवंगके प्रदीप, और शिवादेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवान् जयवन्त हो ॥ ६६ ॥ इत्यादि यथातथानुपूर्विका उदाहरण समझना चाहिये ।

यह जीवस्थान नामक शास्त्र खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा पूर्वानुपूर्वी क्रमसे लिखा गया है, क्योंकि, षट्खण्डागममें जीवस्थान प्रथम खण्ड है । वेदनाकषायप्राभृतके मध्यसे अनुलोम और विलोमक्रमके बिना जीवस्थानके सत्, संख्या आदि अधिकार निकले हैं, इसलिये जीवस्थान यथातथानुपूर्वमे भी गर्भित है । किंतु इस जीवस्थान खण्डमे केवल पश्चादानुपूर्वी संभव नहीं हैं ।

नाम-उपक्रमके दश भेद हैं । वे इसप्रकार हैं— गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद ।

गुणोके भावको गौण्य कहते हैं । जो पदार्थ गुणोकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्यपदार्थ हैं । वे गौण्य पदार्थ पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोके होते हैं उन्हें गौण्यपद-नाम कहते हैं । अर्थात् जिस संज्ञाके व्यवहारमे अपने विशेष गुणका आश्रय लिया जाता है उसे गौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, सूर्यकी तपन और भास् गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएँ हैं । जिन संज्ञाओमे गुणोकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नोगौण्यपद-नाम कहते हैं । जैसे, चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम ।

१ से किं दसनामे पण्णत्ते ? त जहा, गोण्णे नोगोण्णे आयाणपएण पडिक्खपएण पहाणयाए अणाडअनिद्वत्तेण नामेण अवयवेण नजोगेण पमाणेण । अनु. १, १२७

२ से किं त गोण्णे ? गोण्णे खमड त्ति खमणो, तपइ त्ति तपणो, जलइ त्ति जलणो, पवइ त्ति पवणो । से त्त गोणे । अनु. १, १२८

३ नो गोणे अकुतो सकुतो अमुग्गो समुग्गो अलाल पलाल अकुलिया नकुलिया अमुद्दो समुद्दो नोपल असइ त्ति पलान, अमाति वाहए माइवाहए, अवीय वावए वीयावावए, नो इदगोवइए त्ति इदगोवे से त्त नो गोणे । अनु. १, १२८

इत्यादीनि नामानि । आदानपदं^१ नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम् । नैतद्गुणनाम्नोऽन्तर्भवति, तत्रादानादेयत्वविवक्षाभावात् । भावे वा न तद्गुणाश्रितम्, आदानपदनाम्नोऽन्तर्भावात् । पूर्णकलश इत्येतदादानपदम् । नादानपदम् । तद्यथा— घटस्य कलश इति संज्ञा नात्तद्रव्यादिमाश्रिता, तस्यास्तथाविधविवक्षामन्तरेण प्रवृत्तायाः समुपलम्भात् । न पूर्णशब्दोऽपि, तस्य पर्याप्तवाचकत्वेन गुणनाम्नोऽन्तर्भावात् । नोभयसमासोऽपि, तस्य भावसंयोगोऽन्तर्भावादिति ? न, जलादिद्रव्याधारत्वविवक्षायां पूर्णकलशशब्दस्यादान-

विशेषार्थ— जिन मनुष्योंके चन्द्रस्वामी आदि नाम रक्खे जाते हैं उनमें चन्द्र आदिका न तो स्वामीपना पाया जाता है और न इन्द्रके वे रक्षक ही होते हैं । केवल ये नाम रूढिसे रक्खे जाते हैं । इनमें गुणादि की कुछ भी प्रधानता नहीं पायी जाती है, इसलिये इन्हे नोगौण्यपदनाम कहते हैं ।

ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें आते हैं, अर्थात् जिनमें द्रव्यके निमित्तकी अपेक्षा होती है उन्हें आदानपदनाम कहते हैं ।

विशेषार्थ— आदानपदनामोमे, संयोगको प्राप्त हुए द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई अवस्थाविशेषकी वाचक संज्ञाएं ली जाती हैं । अर्थात् आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे जो नाम प्रचलित होते हैं उन्हें आदानपदनाम कहते हैं ।

इस आदानपदनामका गुणनाममें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, गुणनामोंमें आदान-आदेय भावकी विवक्षा नहीं रहती है । यदि गुणनामोमे भी आदान-आदेय भावकी विवक्षा मान ली जाय तो गौण्यपदनाम गुणाश्रित नहीं रह सकते हैं, क्योंकि, आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे उनका आदानपदनामोमे अन्तर्भाव हो जायगा ।

‘ पूर्णकलश ’ इस पदको आदानपदनाम समझना चाहिये ।

शंका— ‘ पूर्णकलश ’ यह आदानपदनाम नहीं हो सकता है । इसका खुलासा इस-प्रकार है— घटकी ‘ कलश ’ यह संज्ञा ग्रहण किए गये किसी द्रव्यादिके आश्रयसे नहीं है, क्योंकि ‘ कलश ’ इस संज्ञाकी द्रव्यादिकके निमित्तकी विवक्षाके बिना ही प्रवृत्ति देखी जाती है । इसी-तरह ‘ पूर्ण ’ यह शब्द भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, ‘ पूर्ण ’ यह शब्द पर्याप्तका वाचक होनेसे उसका गौण्यपदनाममें अन्तर्भाव हो जाता है । पूर्ण और कलश इन दोनों पदोंका समास भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, उसका भावसंयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान— ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, जलादि द्रव्यके आधारपनेकी विवक्षामें ‘ पूर्णकलश ’ इस शब्दको आदानपदनाम माना गया है ।

१ से कि त आयाणपदेण ? धम्मो मगलं, चूलिया चाउरगिज्ज असखय आवती तत्थिज्ज अद्दइज्ज जण्णइज्जं पुरिसइज्ज एल्लइज्जं वीरय धम्मो मग्गो समोसरण गत्थो ज महिय से त आयाणपदेण, ।

पदत्वाभ्युपगमात् । एवमविधवेत्यपि चालयित्वा व्यवस्थापनीयम् । अक्लिष्टानि कानि पुनरादानपदनामानि ? वधूरन्तर्वन्तीत्यादीनि, आत्तभर्तृधृतापत्यनिबन्धनत्वात् । प्रतिपक्षपदानि^१ कुमारी बन्ध्येत्येवमादीनि, आदानपदप्रतिपक्षनिबन्धनत्वात् । अनादिसिद्धान्तपदानि धर्मास्तिरधर्मास्तिरित्येवमादीनि । अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः, स पदं स्थानं यस्य तदनादिसिद्धान्तपदम्^२ । प्राधान्यपदानि^३ आम्नवनं निम्बवनमित्यादीनि, वनान्तः सत्स्वप्यन्येष्वविवक्षितवृक्षेषु विवक्षाकृतप्राधान्यचूतपिचुमन्द-

विशेषार्थ— जलादि द्रव्य आदान है और कलश आदेय है । इसलिये ' पूर्णकलश ' इस शब्दका आदानपदनाममे अन्तर्भाव होता है । यह बात गौण्यपदनाममे नहीं है, इसलिये उसमे उसका अन्तर्भाव नहीं होसकता है यदि गौण्यपदमे इसप्रकारकी विवक्षा की जायगी तो वह गौण्यपद न कहलाकर आदानपदकी कोटिमे आ जायगा ।

इसीप्रकार ' अविधवा ' इस पदका भी विचार कर आदानपदनाममे अन्तर्भाव कर लेना चाहिये ।

शंका— अक्लिष्ट अर्थात् सरल आदानपदनाम कौनसे हैं ?

समाधान— वधू और अन्तर्वन्ती इत्यादि सरल आदानपदनाम समझना चाहिये, क्योंकि, स्वीकृत पतिकी अपेक्षा वधू और धारण किये गये गर्भस्थ पुत्रकी अपेक्षा ' अन्तर्वन्ती ' संज्ञा प्रचलित है ।

कुमारी, बन्ध्या इत्यादिक प्रतिपक्षपदनाम हैं, क्योंकि, आदानपदोमे ग्रहण किये गये दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पड़ती है और यहां पर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पड़ता है । इसलिये आदानपदनामोके प्रतिपक्ष-कारणक होनेसे कुमारी या बन्ध्या इत्यादि पद प्रतिपक्ष-पदनाम जानना चाहिये ।

अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोको अनादिसिद्धान्तपदनाम कहते हैं । जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि । अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है । वह सिद्धान्त जिस नामरूप पदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं ।

बहुतसे पदार्थोंके होने पर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं । जैसे आम्नवन निम्बवन

१ से किं त पडिवक्खपएण ? पडिवक्खपदेण नवेसु गामागारणगरत्वेडकच्चडमडवदोणमुहपट्टणाममवाहसनिवेसेसु सनिविसमाणेसु असिवा सिवा, अग्गी सीअलो, विस महुअ, कल्लालघरेसु अविल साउअ, जे रत्तए से अलत्तय, जे लाउए से अलाउए, जे मुअए से कुमुअए, आलवते विवलीअभासए, से त पडिवक्खपएण ।

अनु १, १२८

२ अनादियसिद्धतेण, धम्मत्थिकाए अवम्मत्थिकाए आगामत्थिकाए जीवत्थिकाए पुगलत्थिकाए अद्धाममए से त अनादियसिद्धतेण । अनु १, १२८

३ पाहणयाए अमोगवणे सत्तवणवणे चपगवणे चूअवणे नागवणे पुत्रागवणे उच्छुवणे दक्खवणे सालिवणे से त पाहणयाए । अनु १, १२८

निबन्धनत्वात् । नामपदं^१ नाम गौडोऽन्ध्रो द्रमिल इति, गौडान्ध्रद्रमिलभाषानाम-
धामत्वात् । प्रमाणपदानि^२ शतं सहस्रं द्रोणः खारी पलं तुला कर्षादीनि, प्रमाणनाम्नां^३
प्रमेयेषूपलम्भात् ।

अवयवपदानि^४ यथा । सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति । तत्रोप-
चितावयवनिबन्धनानि यथा, गलगण्डः शिलीपदः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि ।
अवयवापचयनिबन्धनानि यथा छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि । संयोग-
पदानि^५ यथा । स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात् । द्रव्यसंयोगपदानि
यथा— इभ्यः गौथः दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादीनि, द्रव्यसंयोगनिबन्धनत्वात् तेषां ।

इत्यादि । वनमे अन्य अविवक्षित वृक्षोके रहने पर भी विवक्षासे प्रधानताको प्राप्त आम और
नीमके वृक्षोके कारण आन्नवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमे आते हैं ।

गौड़, आन्ध्र, द्रमिल इत्यादि नामपद नाम हैं । ये गौड़ आदि नाम गौड़ी, आन्ध्री
और द्रमिल भाषाओके नाम के आधारभूत हैं ।

गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो संज्ञाएँ प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपदनाम कहते हैं ।
जैसे, सौ, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि । ये सब प्रमाणनाम प्रमेयोमे पाये जाते
हैं, अर्थात् इन नामोके द्वारा तत्प्रमाण वस्तुका बोध होता है ।

अब अवयवपदनाम कहते हैं । अवयव दो प्रकारके होते हैं— उपचितावयव और अप-
चितावयव । रोगादिके निमित्त मिलने पर किसी अवयवके वड जानेसे जो नाम बोले
जाते हैं उन्हें उपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, गलगण्ड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि ।
जो नाम अवयवोके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमे आते हैं उन्हें
अपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम ।

अब संयोगपदनामका कथन करते हैं । द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और
भावसंयोग के भेदसे संयोग चार प्रकारका है । इभ्य, गौथ, दण्डी, छत्री, गर्भिणी इत्यादि द्रव्य-
संयोगपदनाम हैं, क्योंकि, धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें

१. नामेण पिउपिआमहस्स नामेण उन्नामिज्जड से त्त णामेण । अनु १, १२८

२ पमाणेण चउव्विहे पण्णत्ते ।-त जहा, नामपमाणे ठवणप्पमाणे दव्वपमाणे भावपमाणे ।

अनु १, १३३

३ अवयवेण, मिगी सिही विसाणी दाढी पक्खी खरी नही वाली । दुपय चउप्पय बहुपय लगूली
केसरी कउही परियर-ववेण भड जाणिज्जा महिल्लिअ निवसणेण सित्थेण दोणवाय कवि च एक्काए गाहाए ।
से त्त अवयवेण । अनु १, १२८

४ से किं त नजोएण ? सजोगे चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा, दव्वसजोगे, खेत्तनजोगे, कालसजोगे,
भावसजोगे । से किं त दव्वसजोगे ? दव्वसजोगे तिविहे पण्णत्ते, त जहा, सचित्ते अचित्ते, मीसए । से किं त्त
सचित्ते ? सचित्ते गोहि गोमिए, महिनीहि महिसए, उरणीहि उरणीए, उट्टीहि उट्टीवाले, से त्त सचित्ते । से

नासिपरश्वादयः, तेषामादानपदेऽन्तर्भावात् । सहचरितत्वविवक्षायां भवन्तीति चेन्न, सहचरितत्वविवक्षायां तेषां नामपदनाम्नोऽन्तर्भावात् । क्षेत्रसंयोगपदानि^१, माथुरः वाल्मः दाक्षिणात्यः औदीच्य इत्यादीनि, यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति । कालसंयोगपदानि^२ यथा— शारदः वासन्तक इत्यादीनि । न वसन्तशरद्वेगन्तादीनि, तेषां नामपदेऽन्तर्भावात् । भावसंयोगपदानि^३— क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि ।

आते हैं । असि, परशु इत्यादि द्रव्यसंयोगपदनाम नहीं हैं, क्योंकि, उनका आदानपदमे अन्तर्भाव होता है ।

गंका— सहचारीपनेकी विवक्षामे असि, परशु आदिका संयोगपदनाममे अन्तर्भाव हो जायगा ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहचारीपनेकी विवक्षा होने पर उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

माथुर, वाल्म, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, मथुरा आदि क्षेत्रके संयोगसे माथुर आदि संज्ञाएँ व्यवहारमे आती हैं । जब माथुर आदि संज्ञाएँ नामरूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमे अन्तर्भाव होता है, अन्यथा नहीं ।

शारद, वासन्तक इत्यादि कालसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, शरद् और वसन्त ऋतुके संयोगसे ये संज्ञाएँ व्यवहारमें आती हैं । किंतु वसन्त, शरद्, हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका काल-संयोगपदनामोंमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रोध मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं । किंतु जिनमे

किं त अचित्ते ? अचित्ते छत्तेण छत्ती, दडेण दडी, पडेण पडी, बडेण घडी, कडेण कडी मे न अचित्ते । मे किं त मीसए ? नीनए हल्लेण हालिए, मगडेण मागटिए, रट्टेण रट्टिए, नावाए नाविए, ने त दव्व- मज्जेगे ।

अनु. १, १२९

१ मे किं त चेत्तमज्जेगे ? भाग्वे, एरवए, हेमए, एरुण्णवए, हरिवानए, रम्मगवानए, देवकुलए, उत्तरकुलए, पुव्वविदेहए अपरविदेहए । अह्वा माग्वे, मालवए, मोण्डूठए, मरुद्दूठए, कुकुणए, ने त चेत्तमज्जेगे । अनु. १, १३०.

२ मे किं त कालमज्जेगे ? नुममनुममाए, नुममाए, नुसमदुसमाए दुममनुसमाए, दुममाए, दुमम-दुममाए, । अह्वा पावणए, वामारुणए, मरुदए, हेमतए, वनतए, गिम्हए, ने त कालमज्जेगे । अनु. १, १३१

३ मे किं त भावमज्जेगे ? दुविहे पणत्ते, त जहा, पनत्त्ये अ अपनत्त्ये अ । मे किं त पसत्त्ये ? णाणेण णाणी, दसणेण दसणी, चरित्तेण चरिती मे त पसत्त्ये ? मे किं त अपनत्त्ये ? कोहेण कोही, माणेण माणी, मायाए मायी, लोहेण लोही मे त अपनत्त्ये, ने त भावमज्जेगे । मे त मज्जेण । अनु. १, १३२.

न शीलसादृश्यनिबन्धनयमसिंहाग्निरावणादिनामानि', तेषां नामपदेऽन्तर्भावात् । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्ति, अनुपलम्भात्^१ ।

तत्थेदस्स जीवट्टाणस्स णामं किं पदं ? जीवाणं ट्टाण-वण्णणादो जीवट्टाण-मिदि गोण्णपदं । मंगलादिसु छसु अहियारेसु वक्खाणिज्जमाणेसु णामं वुत्तमेव । पुणो

स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अग्नि और रावण आदि संज्ञायें भावसंयोगपदरूप नहीं हो सकती हैं, क्योंकि, उनका नामपदमे अन्तर्भाव होता है । उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि, व्यवहारमे इनके अतिरिक्त अन्य नाम नहीं पाये जाते हैं ।

विशेषार्थ— यत्तिवृषभाचार्यने कषायप्राभृतमें नामके केवल छह भेद बताये हैं । वे ये हैं, गोण्यपद, नोगोण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद । पूर्वमे जो नामके दश भेद कह आये हैं । उनमेसे, यहां पर अनादिसिद्धान्तसबन्धी गुणसापेक्ष नामोका गोण्यपद और आदानपदमे तथा गुणनिरपेक्ष नामोका नोगोण्यपदमे अन्तर्भाव किया है । प्राधान्यपदनामोका गोण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भाव किया है । प्रमाणपदनामोका गोण्यपदमें, नामपदनामोका नोगोण्यपदमे और संयोगपदनामोका आदानपदमे अन्तर्भाव किया है । अवयव-पदनामोका उपचितपदनाम और अपचितपदनामोमे अन्तर्भाव हो ही जाता है ।

शंका— उन पूर्वोक्त दश प्रकारके नामपदोंमे यह जीवस्थान कौनसा नामपद है ?

समाधान— जीवोके स्थानोका वर्णन करनेसे ' जीवस्थान ' यह गोण्य नामपद है ।

शंका— पहले मंगलादिक छह अधिकारोका व्याख्यान करते समय नामपदका

१ मु रावणादीनि नामानि ।

२. णाम छव्विह ॥ ३ ॥ (कसायपाहुड्ढचुणिसुत्त) गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदानपदे पड्विक्खपदे अवचयपदे उपचयपदे चेदि । × × × पावण्णपदणामाण कथं तव्भावो ? वलाहकाए च बहुसु वण्णेसु सतेसु धवला वलाहका लोकाओ त्ति जो णामणिद्वेसो सो गोण्णपदे णिवददि गुणमुहेण दव्वम्मि पडत्तिदसणादो । कयवणिवादि-अणेगेसु रुक्खेगेसु तत्थ सतेसु जो एगेण रुक्खेण णिववणमिदि णिद्वेसो सो आदानपदे णिवददि वणेणात्तरुक्खमवधे-णेदस्स पडन्निदसणादो । दव्वत्तेत्तकालभावमजोयपदाणि रायासिधुणुरसुरलोकणयरभारह्यअइरावयसायरवामत-यकोट्ठीमाणी इच्चाईणि णामाणि वि आदानपदे चेव णिवदति इदमेदस्स अत्थि एत्थ वा इदमत्थि त्ति विवक्खाए एदेसि णामाण पवुत्तिदसणादो । अवयवपदणामाणि अवचयउपचयपदणामेसु पविसति, तेहिंतो तस्स भेदाभावादो । गुअणामा कवुग्गीवा कमलदलणयणा चदमुट्ठी विवोट्ठी इच्चाईणि तत्तो वाहिराणि अत्थि त्ति चे णेदाणि णामाणि ममासत्तमूदउवमद्वत्थसवधेण दव्वम्मि पडत्तीदो । अणादियसिद्धतपदणामेसु जाणि अणादिगुणमवव-मवेगियय पयट्टाणि जीवो णाणी चयणावतो त्ति ताणि गोण्णपदे आदानपदे च णिवदति । जाणि णोगोण्णपदाणि नाणि णोगोण्णपदणामेसु णिवदति । पमाणपदणामाणि वि गोण्णपदे चेव णिवदति समाणस्स दव्वगुणत्तादो अरविदमव्वम अरविदसण्णा णामपदा । मा च अणादियसिद्धतपदणामेसु पविट्ठा अणादिसरूवेण तस्स तत्थ पडत्तिदसणादो । अणादियसिद्धतपदणामाण धम्मकाअगासजीवपुग्गलादीण छप्पदतव्भावो पुव्व पस्सिदो त्ति णेदाणि पग्गविज्जदे । तदो णाम दमविह चेव होदि त्ति एयनग्गहो ण वत्तव्वो, किनु छव्विह पि होदि त्ति नेत्तव्व । जयध अ पृ ४-५

गंथावदारे णामं उच्चदि त्ति ? न, पूर्वोद्दिष्टस्य नाम्नोऽनेन पदान्वेषणात् ।

पमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल-भाव-णय-प्पमाण-भेदेहि । तत्थ दव्व-पमाणं संखेज्जमसंखेज्जमणंतयं चेदि । खेत्त-पमाणं एय-पदेसादि । काल-पमाणं समयावलि-यादि । भाव-पमाणं पंचविहं, आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । णय-प्पमाणं सत्तविहं, णेगम-संगह-ववहारुज्जुसुद-सद्-समभिरुद्ध-एवंभूद-भेदेहि । अहवा णय-प्पमाणमणेयविहं—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होति णय-वादा ।

जावदिया णय-वादा तावदिया चेव होति पर-समया^१ ॥६७॥ ॥इदि वयणादो॥

कथं नयानां प्रामाण्यं ? न, प्रमाणकार्याणां नयानामुपचारतः प्रामाण्या-विरोधात् । एत्थ इदं जीवट्टाणं एदेसु पंचसु पमाणेसु कदमं पमाणं ? भावपमाणं । तं पि पंचविहं तत्थ पंचविहेसु भाव-पमाणेसु सुद-भाव-पमाणं । कर्तृनिरूपणया

व्याख्यान कर ही आये हैं, फिर यहां पर ग्रन्थके प्रारम्भमे नामपदका व्याख्यान किसलिये किया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं क्योंकि, पूर्वमें कहे गये नामका दशप्रकारके नामपदोमेसे किसमे अन्तर्भाव होता है इसका इस कथनके द्वारा ही अन्वेषण किया है ।

द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाणके भेदसे प्रमाणके पांच भेद हैं । उनमे संख्यात, असंख्यात और अनंत यह द्रव्यप्रमाण है । एक प्रदेश आदि क्षेत्रप्रमाण है । एक समय, एक आवली आदि कालप्रमाण है । आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन-पर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकारका है । अथवा नयप्रमाण आगे कहे गये वचनके अनुसार अनेक प्रकारका समझना चाहिये ।

जितने भी वचन-मार्ग है, उतने ही नयवाद, अर्थात् नयके भेद हैं । और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं ॥ ६७ ॥

शंका— नयोमें प्रमाणता कैसे संभव है, अर्थात् उनमे प्रमाणता कैसे आ सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नय प्रमाणके कार्य हैं, इसलिये उपचारसे नयोमें प्रमाण-ताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ— शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जब नय वस्तुके एक अंशमात्रको ग्रहण करता है सर्वांशरूपसे वस्तुको नहीं जानता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाय । इसका समाधान यह है कि प्रमाण द्वारा परिगृहीत वस्तुमें ही नयकी प्रवृत्ति होती है, इसलिये प्रमाणका कार्य होनेसे उपचारसे उनमे प्रमाणता आ जाती है ।

एवास्य प्रामाण्यं निरूपितमिति पुनरस्य प्रामाण्यनिरूपणमनर्थकमिति चेन्न, सामान्येन जिनोक्तत्वान्यथानुपपत्तितोऽवगतजीवस्थानप्रामाण्यस्य शिष्यस्य बहुषु भावप्रमाणेष्विदं जीवस्थानं श्रुतभावप्रमाणमिति ज्ञापनार्थत्वात् । अहवा पमाणं छव्विहं नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रमाणभेदात् । तत्थ णाम-पमाणं पमाण-सण्णा । द्दुवणा-पमाणं दुविहं, सवभाव-द्दुवणा-पमाणं असवभाव-द्दुवणा-पमाणमिदि । आकृतिमति सद्भाव-स्थापना । अनाकृतिमत्यसद्भावस्थापना । दव्वपमाणं दुविहं आगमदो णोआगमदो य । आगमदो पमाण-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, संखेज्जासंखेज्जाणंत-भेद-भिण्ण-सहागमो वा । णोआगमो तिविहो, जाणय^१-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जाणय-सरीरं ^२भवियं च गयं । तव्वदिरित्त-दव्व-पमाणं तिविहं, संखेज्जमसंखेज्जमणंतमिदि ।

शंका— उन पांच प्रकारके प्रमाणोमेसे ' जीवस्थान ' यह कौनसा प्रमाण है ?

समाधान— यह भावप्रमाण है ।

मतिज्ञानादिरूपसे भावप्रमाणके भी पांच भेद हैं । इसलिये उन पांच प्रकारके भाव-प्रमाणोमेसे इस जीवस्थान शास्त्रको श्रुतभावप्रमाणरूप जानना चाहिये ।

शंका— पहले कर्ताका निरूपण कर आये हैं, इसलिये उसके निरूपण कर देनेसे ही इस शास्त्रकी प्रमाणताका निरूपण हो जाता है, अतः फिरसे उसकी प्रमाणताका निरूपण करना निरर्थक है ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, यह जीवस्थान शास्त्र प्रमाण है, अन्यथा वह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ नहीं हो सकता था । इस प्रकार सामान्यरूपसे इस जीवस्थान शास्त्रकी प्रमाणताका निश्चय करनेवाले शिष्यको बहुत प्रकारके भाव प्रमाणोमेसे यह जीवस्थान शास्त्र श्रुतभावप्रमाणरूप है, इसतरह विशेष ज्ञान करानेके लिये यहां पर इसकी प्रमाणताका निरूपण किया है ।

अथवा, नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव-प्रमाणके भेदसे प्रमाण छह प्रकारका है ।

उनमे ' प्रमाण ' ऐसी सज्ञाको नामप्रमाण कहते हैं । सद्भावस्थापनाप्रमाण और असद्भावस्थापनाप्रमाणके भेदसे स्थापनाप्रमाण दो प्रकारका है । तदाकारवाले पदार्थोमे सद्भाव-स्थापना होती है और अतदाकारवाले पदार्थोमे असद्भावस्थापना होती है । आगमद्रव्यप्रमाण और नोआगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे द्रव्यप्रमाण दो प्रकारका है । प्रमाणविषयक शास्त्रको जाननेवाले परंतु वर्तमानमे उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । अथवा, शब्दोकी अपेक्षा संख्यातभेदरूप वक्ताओकी अपेक्षा असंख्यातभेदरूप और तद्वाच्य अर्थकी अपेक्षा अनंत-भेदरूप ऐसे शब्दरूप आगमको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यके तीन भेद समझने चाहिये ।

खेत्त-काल-पमाणाणि पुवं व वत्तव्वाणि । भाव-पमाणं पंचविहं—मदि-भाव-पमाणं सुद-भाव-पमाणं ओहि-भाव-पमाणं मणपज्जव-भाव-पमाणं केवलभाव-पमाणं चेदि । एत्थेदं जीवट्ठाणं भावदो सुद-भाव-पमाणं । दव्वदो संखेज्जासंखेज्जाणंतसरूव-सद्द-पमाणं ।

वत्तव्वदा ति विहा—ससमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चेदि । जम्हि सत्थम्हि स-समयो चेव वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं, तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा । पर-समयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमय-वत्तव्वं, तस्य भावो परसमयवत्तव्वदा णाम । जत्थ दो वि परूवेऊण पर-समयो दूसिज्जदि स-समयो थाविज्जदि सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि । एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवत्तव्वदा, ससमयस्सेव परूवणादो । अत्थाहियारो ति विहो—पमाणं पमेयं तदुभयं चेदि । एत्थ जीवट्ठाणे एक्को चेय अत्थाहियारो, पमेय-परूवणादो । उवक्कमो गदो ।

उनमे, ज्ञायकशरीर और भावि नोआगमद्रव्यका वर्णन पहले कर आये हैं । तद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यप्रमाण संख्यातरूप, असंख्यातरूप और अनन्तरूप भेदकी अपेक्षा तीन प्रकारका है । क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाणका वर्णन पहलेके समान ही करना चाहिये । मतिभाव-प्रमाण, श्रुतभावप्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मन पर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाणके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । इनमेसे यह 'जीवस्थान' नामका शास्त्र भावप्रमाणकी अपेक्षा श्रुतभावप्रमाणरूप है, और द्रव्यकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्तरूप शब्दप्रमाण है ।

वक्तव्यता तीन प्रकारकी है—स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभय-वक्तव्यता । जिस शास्त्रमे स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथवा विशेषरूपसे ज्ञान कराया जाता है उसे स्वसमयवक्तव्य कहते हैं—और उसके भावको अर्थात् उसमे रहनेवाली विशेषताको स्वसमयवक्तव्यता कहते हैं । परसमय मिथ्यात्वको कहते हैं । उसका जिस प्राभूत या अनुयोगमे वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष ज्ञान कराया जाता है उस प्राभूत या अनुयोगको परसमयवक्तव्य कहते हैं—और उसके भावको अर्थात् उसमे होनेवाली विशेषताको परसमयवक्तव्यता कहते हैं । जहांपर स्वसमय और पर-समय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमयकी स्थापना की जाती है उसे तदुभयवक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमे रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं । इनमेसे इस जीवस्थान शास्त्रमे स्वसमयवक्तव्यता समझनी चाहिये, क्योंकि, इसमे स्वसमयका ही निरूपण किया गया है ।

प्रमाण, प्रमेय और तदुभयके भेदसे अर्थाधिकारके तीन भेद हैं । उनमेसे इस जीवस्थान शास्त्रमे एक प्रमेय-अर्थाधिकारका ही वर्णन है, क्योंकि, इसमे प्रमाणके विषयभूत प्रमेयका ही वर्णन किया गया है । इसतरह उपक्रमनामका प्रकारण समाप्त हुआ ।

णिकखेवो चउव्विहो णाम-ट्ठवणा-दव्व-भाव-जीवट्ठाण-भेएण । णाम-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-सदो । ट्ठवण-जीवट्ठाणं बुद्धीए समारोविय-जीवट्ठाण-दव्वं । दव्व-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण । तत्थ जीवट्ठाण-जाणओ अणुवजुत्तो आगम-दव्व-जीवट्ठाणं । णोआगम-दव्व-जीवट्ठाणं तिविहं जाणुगसरीर-भविय-तव्वदिरित्त-णोआगम-दव्व-जीवट्ठाण-भेएण । आदिल्ल-दुगं सुगमं । तव्वदिरित्तं जीवट्ठाणाहार-भूदागास-दव्वं । भाव-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण । आगम-भाव-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-जाणओ उवजुत्तो । णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं मिच्छाइट्ठियादि-चोद्दस-जीव-समासा । एत्थ णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं पयदं । णिकखेवो गदो ।

नयैविना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते । तद्यथा—प्रमाणपरिगृहीतार्थक-देशे वस्त्वध्यवसायो नयः । स द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति^१ । 'द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान्पर्यायानिति द्रव्यम्', द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ।

नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थानके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है । 'जीवस्थान' इस प्रकारकी संज्ञाको नामजीवस्थान कहते हैं । जिस द्रव्यमे बुद्धिसे जीवस्थानकी आरोपणा की हो उसे स्थापनाजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे द्रव्यजीवस्थान दो प्रकारका है । उनमे, जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु वर्तमानमे उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यजीवस्थान तीन प्रकारका है । इनमेसे, आदिके दो अर्थात् ज्ञायकशरीर और भावि सुगम हैं । जीवस्थानोके अथवा जीवस्थान शास्त्रके आधारभूत आकाश-द्रव्यको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे भाव-जीवस्थान दो प्रकारका है । जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले और वर्तमानमे उसके उपयोगसे युक्त जीवको आगमभावजीवस्थान कहते हैं । और मिथ्यादृष्टि आदि चौदह जीवसमासोको नोआगमभावजीवस्थान कहते । इनमेसे, इस जीवस्थान शास्त्रमें नोआगमभावजीवस्थान निक्षेप प्रकृत है । इस तरह निक्षेपका वर्णन हुआ ।

नयोके विना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है, इसलिये यहां पर नयोका वर्णन करते हैं । उन नयोका खुलासा इस प्रकार है—प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एक अंशमे वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो

१ अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय । प्र क मा पृ २०५.

२ द्रव्य सामान्यमभेदोऽन्वय उत्सर्गोऽर्थो विषयो येषा ते द्रव्यार्थिका । पर्यायो विशेषो भेदो व्यतिरेकोऽपवादोऽर्थो विषयो येषा ते पर्यायार्थिका । लघीय पृ ५१

३ मु इचेति । द्रोष्यत्यदु ।

४ द्रवति गच्छति तास्तान् पर्यायान् द्रूयते गम्यते तैस्तै पर्यायैरिति वा द्रव्यम् । जयव अ पृ २६
निजनिजप्रदेशसमूहैरुपपत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवच्चेति द्रव्यम् । अ प ८७

परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिविधः—नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति । विधिव्यतिरिक्त-प्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात्संग्रहः । द्रव्यव्यतिरिक्त-पर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः वा संग्रहः^१ । संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदनं व्यवहारः^२, व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः । यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्यं वर्तत इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगमः^३ इति यावत् । एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः, स्वविषये पर्यायाभावतः सामान्यविशेषकालयोरभावात् ।

प्रकारका है । जो उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ था उसे द्रव्य कहते हैं । द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । 'परि' अर्थात् भेदको जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं । वह पर्याय ही जिस नयका प्रयोजन हो उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं ।

द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय । विधि अर्थात् सत्ताको छोड़कर प्रतिषेध असत्ता भिन्न उपलब्ध नहीं होती है, इसलिये विधिमात्र ही तत्त्व है । इस प्रकारके निश्चय करनेवाले नयको समस्तका ग्रहण करनेवाला होनेसे संग्रहनय कहते हैं । अथवा, द्रव्यको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती हैं, इसलिये द्रव्य ही तत्त्व है । इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको संग्रहनय कहते हैं । संग्रहनयसे ग्रहण किये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक अवहरण करनेको अर्थात् भेद करनेको व्यवहार कहते हैं । उस व्यवहारके आधीन चलनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं । जो है वह उक्त दोनों अर्थात् संग्रह और व्यवहारको छोड़कर नहीं रहता है । इसतरह जो केवल एकको ही प्राप्त नहीं है, अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं । अर्थात् संग्रह और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगमनय है । ये तीनों ही नय नित्यवादी हैं, क्योंकि, इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन

१ मद्रूपतानतिक्रान्तस्वभावमिदं जगत् । नत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् मग्रहो मत ॥ स त टी पृ ३११ स्वजात्यविरोधेनैकत्वमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रह । स नि. १, ३३. स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहण मग्रह । त रा वा १, ३३. एकत्वेन विज्ञेयाणां ग्रहण संग्रहो मत । सजातेरविरोधेन दृष्टेष्टान्या कथंचन ॥ त श्लो वा १, ३३, ४९

२ स सि १, ३३. त रा वा १, ३३ प्र क. मा पृ. २०५ संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वक । योजहारो विभाग स्याद्व्यवहारो नय स्मृत ॥ त. श्लो वा १, ३३, ५८ व्यवहारन्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम् । तथैव द्रव्यमानत्वाद व्यवहारयति देहिन् ॥ स त. टी पृ ३११

३ अनभिनिवृत्तार्थनङ्कल्पमात्रग्राही नैगम । स सि १, ३३ अयं सङ्कल्पमात्रग्राही नैगम । त रा. वा १, ३३. तत्र सङ्कल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय । त श्लो वा १, ३३ अनिष्पन्नार्थनङ्कल्पमात्रग्राही नैगम. । प्र क मा पृ. २०५ अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम् । विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते निगमो नय ॥ स त. टी पृ. ३११ नैकमनिर्माहमत्तानामान्यविशेषविशेषज्ञानैमिमीते मिनोति वा नैकम् । निगमेपु

पर्यायार्थिको द्विविधः— अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति । द्रव्यपर्यायार्थिकनययोः^१ किंकृतो भेदश्चेदुच्यते ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः । ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनम्, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः । स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकसमयाद्वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति

तीनो नयके विषयमे सामान्य और विशेषकालका अभाव है ।

विशेषार्थ— एवंभूतनयसे लेकर विलोमक्रमसे ऋजुसूत्र नय तक पूर्व पूर्व नय सामान्य रूपसे और उत्तरोत्तर नय विशेषरूपसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायिको विषय करते हैं । इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनों ही काल द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं होते हैं । इस विवक्षासे द्रव्यार्थिक नयके तीनों भेदोको नित्यवादी कहा है । अथवा, द्रव्यार्थिक नयमें कालभेदकी विवक्षा ही नहीं है, इसलिये उसमे सामान्य और विशेषकालका अभाव कहा है ।

अर्थनय और व्यञ्जन (शब्द) नयके भेदसे पर्यायार्थिक नय दो प्रकारका है ।

शंका— द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयमें भेद किस कारणसे है ?

समाधान— ऋजुसूत्र वचनोका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह (काल) जिन नयोका मूल आधार है वे पर्यायार्थिकनय हैं । विच्छेद अथवा अन्त जिस कालमें होता है उस कालको विच्छेद कहते हैं । वर्तमानवचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं और उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं । वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोका विच्छेदरूप काल जिन नयोका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं । अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोके विच्छेदरूप कालसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिकनय हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इन पर्यायार्थिक नयोके अतिरिक्त शेष शुद्धाशुद्धरूप द्रव्यार्थिक नय हैं ।

वा अर्थवोधेषु कुगलो भवो वा नैगम । अथवा नैके गमा पन्थानो यस्य स नैकगम । तत्राय सर्वत्र सदित्येवमनु-
गताकारावबोधहेतुभूता महासत्तामिच्छति अनुवृत्तव्यावृत्तावबोधहेतुभूत च सामान्यविशेष द्रव्यत्वादि व्यावृत्ता-
वबोधहेतुभूत च नित्यद्रव्यवृत्तिमन्त्य विशेषमिति । स्या सू पृ. ३७१ सिद्धसेनीया. पुन षडेव नयानम्युपगत-
वन्तः, नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोरेतर्भावविवक्षणात् । तथाहि यदा, नैगम सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा स
सग्रहेऽन्तर्भवति सामान्याम्युपगमपरत्वात् विशेषाम्युपगमनिष्ठस्तु व्यवहारे । आ सू पृ ७

१. मु. द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकयो ।

२ द्रव्यमर्थं प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिक तद्भूतलक्षणनामान्येनाभिन्नसादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नम-
भिन्न च वस्त्वम्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति यावत् । परि भेद ऋजुसूत्रवचनविच्छेद एति गच्छतीति पर्याय ।
स पर्याय- अर्थ. प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक सादृश्यलक्षणनामान्येन भिन्नमभिन्न च द्रव्यार्थिकाशेषविषय
ऋजुसूत्रवचनविच्छेदेन पाठयन् पर्यायार्थिक इत्यवगन्तव्य । जयव अ पृ २७

यावत् । अपरे शुद्धाशुद्धद्रव्याधिकाः^१ । तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहभेदैरभिन्नं वर्तमानमात्रं वस्त्वध्यवस्यन्तोऽर्थनयाः^२, न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः । व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः^३ । तत्रार्थनयः ऋजुसूत्रः^४ । कुतः ? ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूचयतीति तत्सिद्धेः । नैगमसंग्रहव्यवहाराश्चार्थनया इति चेत्, सन्तवेतेऽर्थनयाः अर्थव्यापृतत्वात्, किंतु न ते पर्यायार्थिकाः, द्रव्यार्थिकत्वात् ।

व्यञ्जननयस्त्रिविधः— शब्दः समभिरूढ एवंभूत इति । शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहण-

यही उनमें भेद है ।

उनमेसे, अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायसे भेदरूप और लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके भेदसे अभेदरूप केवल वर्तमान-समयवर्ती वस्तुके निश्चय करनेवाले नयोको अर्थनय कहते हैं । यहां पर शब्दोके भेदसे अर्थमें भेदकी विवक्षा नहीं है । व्यञ्जन (शब्द) के भेदसे वस्तुमें भेदका निश्चय करनेवाले नय व्यञ्जननय कहलाते हैं । इनमे, ऋजुसूत्र नयको अर्थनय समझना चाहिये । क्योंकि, ऋजु-सरल अर्थात् वर्तमान-समयवर्ती पर्यायमात्रको जो सूत्रयति अर्थात् सूचित करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं । इसतरह वर्तमान पर्यायरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण यह नय अर्थनय है, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— नैगम, संग्रह और व्यवहारनय भी तो अर्थनय हैं, फिर यहां पर अर्थनयोंमें केवल ऋजुसूत्रनयका ही ग्रहण क्यों किया ?

समाधान— अर्थको विषय करनेवाले होनेके कारण वे भी अर्थनय हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है । किंतु वे तीनों नय द्रव्यार्थिकरूप होनेके कारण पर्यायार्थिक नहीं है ।

व्यञ्जननय तीन प्रकारका है—शब्द, समभिरूढ और एवंभूत । शब्दके आधारसे

१ तत्र शुद्धद्रव्यार्थिक पर्यायिकलङ्कारहित बहुभेद नग्रह । (अशुद्ध) द्रव्यार्थिक पर्यायिकलङ्कारा-
ङ्कितद्रव्यविषय. व्यवहार । यदस्ति न तद्द्वयमतिलघ्य वर्तत इति नैगमो नैगम शब्दगोलकर्मकार्यकारणा-
वारावेयसहचारमानमेयोन्मेयभूतमविष्यद्वर्तमानादिकमाश्रित्य स्थितोपचारविषय । जयव अ पृ २७

२ वस्तुन स्वरूपं स्ववर्मभेदेन भिदानोऽर्थनय । अभेदको वा, अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयति एति
गच्छति इत्यर्थनय । जयव अ पृ २७

३ ऋजुसूत्रवचनविच्छेदोपलक्षितस्य वस्तुन वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननय । जयव अ पृ २७

४ ऋजु प्रगुण सूत्रयति तन्त्रयति इति ऋजुसूत्र । स सि १, ३३ सूत्रपातवद्ऋजुसूत्र । यया ऋजु-
सूत्रपातस्यता ऋजु प्रगुण सूत्रयति तन्त्रयति ऋजुसूत्र । त रा वा १, ३३ ऋजुसूत्र क्षगव्वसि वस्तु
सत्सूत्रयेदृजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात्मत ॥ त श्लो वा १, ३३, ६१ ऋजु प्राञ्जल (व्यञ्जन)
वर्तमानक्षणमात्र सूत्रयतीत्युजुसूत्र । प्र क मा पृ २०५ तत्रर्जुसूत्रनीति स्याच्छुद्धपर्यायस्यश्रिता । तन्त्रयत्यैव
भावस्य भावा स्थितिवियोगतः ॥ अतीतानागतानकारकालस्यसर्ववर्जिनम् । वर्तमाननया नर्वमृजुसूत्रेण सूच्यते ॥
स त टी पृ ३११-३१२

प्रवणः शब्दनयः^१, लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । लिङ्ग-
व्यभिचारस्तावदुच्यते— स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे
स्व्यभिधानं अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानं वीणा आतोद्यमिति । नपुंसके
स्व्यभिधानं आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति ।
नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानं आयुधं परशुरिति । संख्याव्यभिचारः— एकत्वे द्वित्वं नक्षत्रं
पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वं नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वं गोदौ ग्राम इति ।

अर्थके ग्रहण करनेमें समर्थ शब्दनय है, क्योंकि, यह नय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और
उपग्रहके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला है ।

स्त्रीलिंगके स्थान पर पुल्लिंगका कथन करना और पुल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका
कथन करना आदि लिंगव्यभिचार है । जैसे 'तारका स्वातिः' तारका स्वाति हैं । इस प्रयोगमें
तारका शब्द स्त्रीलिंग है और स्वाति शब्द पुल्लिंग है, इसलिए स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिंग
शब्दका प्रयोग करना लिंगव्यभिचार है । 'अवगमो विद्या' अवगम विद्या है । इस प्रयोगमें
अवगम शब्द पुल्लिंग है और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है, इस लिए पुल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंग शब्द
कहनेसे लिंगव्यभिचार है । 'वीणा आतोद्यम्' वीणा आतोद्य है । यहांपर वीणा शब्द स्त्रीलिंग
है और आतोद्य शब्द नपुंसकलिंग है । इसलिए स्त्रीलिंगके स्थानपर नपुंसकलिंग शब्द कहनेसे
लिंगव्यभिचार है । 'आयुधं शक्तिः' आयुध शक्ति है । यहांपर आयुध शब्द नपुंसकलिंग है ।
और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिए नपुंसकलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंग शब्द कहनेसे
लिंगव्यभिचार है । 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है । यहांपर पट शब्द पुल्लिंग है और वस्त्र शब्द
नपुंसकलिंग है । इसलिए पुल्लिंगके स्थानपर नपुंसकलिंग शब्द कहनेसे लिंगव्यभिचार है ।
'आयुधं परशुः' आयुध परसा है । यहां पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग है और परशु शब्द
पुल्लिंग है, इसलिए नपुंसकलिंगके स्थानपर पुल्लिंग शब्द कहनेसे लिंगव्यभिचार है ।

एक वचन आदि की जगह द्विवचन आदिका कथन करना संख्याव्यभिचार है । जैसे,
नक्षत्र पुनर्वसू हैं । यहांपर नक्षत्र शब्द एक वचनान्त है और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है ।
इसलिए एक वचनके स्थानमें द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'नक्षत्रं शतभिषजः'
नक्षत्र शतभिषज हैं । यहांपर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त है और शतभिषज शब्द बहुवचनान्त है ।
इसलिए एक वचनके स्थानमें बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'गोदौ ग्रामः'
गोदौ ग्राम है । यहांपर गोदौ शब्द द्विवचनान्त है और ग्राम शब्द एकवचनान्त है । इसलिए

१. लिङ्गसंख्यामावनादिव्यभिचारनिवृत्तिपर शब्दनय । त त्ति १, ३३ अपत्यर्थमाह्वयति
प्रत्यायतीति शब्द । त रा वा १, ३३ कालादिभेदतोऽर्थस्य भेद य प्रतिपादयेत् । मोऽत्र शब्दनयः शब्द-
प्रधानत्वादुदाहृतः ॥ त ङो वा १, ३३, ६८ कालकारकलिङ्गसंख्यामावनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं गपतीति
शब्दो नयः । प्र. क मा पृ. २०६ विरोविलिङ्गसंख्यादिभेदाद्भिन्नस्वभावताम् । तस्यैव मन्वमानोऽयं शब्द-
प्रत्यवतिष्ठते ॥ त त टी पृ ३१३

द्वित्वे बहुत्वं पुनर्वसू पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वं आम्नाः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वं देवमनुष्या उभौ राशी इति । कालव्यभिचारः— विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता^१, भविष्यदर्थे भूतप्रयोगः । भावि कृत्यमासीदिति भूते भविष्यत्प्रयोग इत्यर्थः । साधन-व्यभिचारः, ग्राममधिशेते इति । पुरुषव्यभिचारः^२, एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति । उपग्रहव्यभिचारः, रमते विरमति, तिष्ठति संतिष्ठते,

द्विवचनके स्थानमे एक वचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है, 'पुनर्वसू पञ्चतारकाः' पुनर्वसू पांच तारका हैं । यहांपर पुनर्वसू द्विवचनान्त है और पञ्चतारका शब्द बहुवचनान्त है । इसलिए द्विवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'आम्नाः वनम्' आम्नाके वृक्ष वन है । यहांपर आम्ना शब्द बहुवचनान्त है और वन शब्द एकवचनान्त है । इसलिए बहुवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'देवमनुष्या उभौ राशी ।' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं । यहांपर देव-मनुष्य शब्द बहुवचनान्त है और राशी शब्द द्विवचनान्त है । इसलिए बहुवचनके स्थानपर द्विवचन शब्दका कथन करना संख्याव्यभिचार है ।

भविष्यत् आदि कालके स्थानपर भूत आदि कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है । जैसे, 'विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्वको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा । यहांपर विश्वका देखना भविष्यत् कालका कार्य है । परंतु उसका भूतकालके प्रयोगद्वारा कथन किया गया है । इसलिए यहां पर भविष्यत् कालका कार्य भूतकालमे कहनेसे कालव्यभिचार है । इसीतरह 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका । यहां पर भी भूतकालके स्थानपर भविष्यत् कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है ।

एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधन-व्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'ग्राममधिशेते' वह ग्राममे शयन करता है । यहांपर सप्तमी कारकके स्थानपर द्वितीया कारकका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह साधनव्यभिचार है ।

उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके

१ ये हि वैयाकरणव्यवहारनयानुरोधेन 'घातुसम्बन्धे प्रत्यया' इति सूत्रमारम्य विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता, भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेऽप्येकपदार्थमादृता यो विश्व द्रक्ष्यति सोऽपि पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्याभेदोऽभिमत, तथा व्यवहारदर्शनादिति । तत्र य परीक्षाया मूलक्षते काल-भेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसगात् रावणशखचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्ते । आसीद्वावणो राजा, शखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वात् नैकार्थतेति चेत्, विश्वदृश्या जनितेत्यनयोरपि माभूत् तत एव । न हि विश्व दृष्टवान् इति विश्वदृशि त्वेतिशब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकाल पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात् । अतीतकालस्याप्यनागतत्वाव्यपरोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत् तर्हि न परमार्थतः - कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था । त श्लो वा पृ २७२-२७३

२ 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, स यातस्तेपिता' इति साधनभेदेपि पदार्थमभिन्नमादृता " प्रहासे मन्य वावि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च " इति वचनात् । तदपि न श्रेय परीक्षाया, अह पचामि, त्व

विशति निविशते इति । एवमादयो व्यभिचारा न युक्ताः, अन्यार्थस्यान्यार्थेन सम्बन्धाभावात् । ततो यथालिङ्गं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानमिति ।

नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः' । इन्दनादिन्द्रः पूर्दारणात्पुरन्दरः शकना-
च्छक्र इति भिन्नार्थवाचकत्वात्त्रैते एकार्थवर्तिनः । न पर्यायशब्दाः सन्ति, भिन्नपदानामे-

कथन करनेको पुरुषव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊंगा परंतु अब न जाओगे, तुम्हारा पिता चला गया । यहांपर 'मन्यसे' के स्थानपर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुषका और 'यास्यामि' के स्थानपर 'यास्यसि' यह मध्यमपुरुषका प्रयोग हुआ है, इसलिये पुरुषव्यभिचार है ।

उपसर्गके निमित्तसे परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर परस्मैपदके कथन कर देनेको उपग्रहव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'रमते' के स्थानपर 'विरमति', 'तिष्ठति' के स्थानपर 'संतिष्ठते' और विशति के स्थानपर 'निविशते' का प्रयोग किया जाता है ।

इसतरह जितने भी लिंग आदि व्यभिचार पूर्वमे कहे गये हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि, अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है । इसलिये समान लिंग, समान सख्या और समान साधन आदिका कथन करना ही उचित है ।

शब्दभेदसे जो नाना अर्थोमे अभिरूढ होता है उसे समभिरूढ नय कहते हैं । जैसे, 'इन्दनात्' अर्थात् परम ऐश्वर्यशाली होनेके कारण इन्द्र 'पूर्दारणात्' अर्थात् नगरोंका विभाग करनेवाला होनेके कारण पुरन्दर और 'शकनात्' अर्थात् सामर्थ्यवाला होनेके कारण शक्र । ये तीनों शब्द भिन्नार्थवाचक होनेसे इन्हे एकार्थवर्ती नहीं समझना चाहिये । इस नयकी दृष्टिमे पर्यायवाची शब्द नहीं होते हैं, क्योंकि, भिन्न पदोंका एक पदार्थमे रहना स्वीकार कर लेनेमे

पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेऽप्येकार्थत्वप्रसगात् । त श्लो वा पृ २७३ तथा पुरुषभेदेऽपि नैकान्तिकं तद् वस्तु इति, 'एहि मन्ये' इत्यादि । इति च प्रयोगो न युक्त, अपि तु 'एहि मन्यसे यथाह रथेन यास्यामि' इत्यनेनैव परभावेनैतन्निर्देष्टव्यम् । स त. पृ ३१३ 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवचन' वा १, ४, १०६ 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इति प्रहासे यथाप्राप्तमेव प्रतिपत्ति नात्र प्रसिद्धार्थविषयसि किञ्चिन्नवन्धनमस्ति, 'रथेन यास्यसि, इति भावगमनाभिधानात् प्रहासो गम्यते' । 'नहि यास्यसि' इति वहिर्गमन प्रतिषिध्यते । अनेकस्मिन्नपि प्रहसितरि च प्रत्येकमेव परिहास इति अभिधान-वशाद् 'मन्ये' इति एकवचनमेव । लौकिकश्च प्रयोगोऽनुमर्तव्य इति न प्रकारान्तरकल्पना न्याया । 'त्रीणि त्रीणि अन्य-युष्मदस्मादि' हैम ३, ३, १७

१. स सि १, ३३ त रा वा १, ३३. पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नय समभिरूढ-
स्यात्पूर्ववच्चात्प निश्चयः ॥ त श्लो वा १, ३३, ७६ नानार्थान् समेत्याभिमुख्येन रूढ समभिरूढ । प्र क मा.
पृ २०६ तथाविधस्य तस्यापि वस्तुन क्षणवृत्तिन । व्रते समभिरूढस्तु सज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ स त टी पृ ३१३

कार्थवृत्तिविरोधात् । नाविरोधः, पदानामेकत्वापत्तेरिति । नानार्थस्य भावः नानार्थता तां समभिरूढत्वात्समभिरूढः ।

एवं भेदे भवनादेवम्भूतः^१ । न पदानां समासोऽस्ति, भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थ-वर्तिनां चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति, वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षायोगात् । ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसायः एवंभूतनयः^२ । एतस्मिन्नये एको गोशब्दो नानार्थे न वर्तते, एकस्यैकस्वभावस्य बहुषु वृत्तिविरोधात् । पदगतवर्णभेदाद्वाच्यभेदस्याध्यवसायकोऽप्ये-

विरोध आता है । यदि यह कहा जाय भिन्न पदोंकी एक पदार्थमे वृत्ति होनेमे कोई विरोध नहीं आता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा होने पर समस्त पदोंमे एकत्वकी आपत्ति आती है । इससे यह तात्पर्य निकला कि जो नय शब्दभेदसे अर्थमे भेद स्वीकार करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं । नाना पदार्थोंके भाव अर्थात् विशेषताको नानार्थता कहते हैं और उस नानार्थताके प्रति जो अभिरूढ़ है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं ।

एवंभेद अर्थात् जिस शब्दका जो वाच्य है वह तद्रूप क्रियासे परिणत समयमे ही पाया जाता है । उसे जो विषय करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिमे पदोंका समास नहीं हो सकता है, क्योंकि, भिन्न भिन्न कालवर्ती और भिन्न भिन्न अर्थवाले शब्दोंमे एकपनेका विरोध है । इसीतरह शब्दोंमे परस्पर सापेक्षता भी नहीं है, क्योंकि, वर्ण, अर्थ, संख्या और कालादिकके भेदसे भेदको प्राप्त हुए पदोंके दूसरे पदोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती है । जब कि एक पद दूसरे पदकी अपेक्षा नहीं रखता है तो इस नयकी दृष्टिमे वाक्य भी नहीं बन सकता

१ येनात्मना भूतस्तेनैवाव्यवसाययतीति एवम्भूत । स सि १, ३३ त रा वा १, ३३ तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुख । त श्लो वा १, ३३, ७५ एवमित्य विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूत परिणतमर्थं योऽभिप्रेति स एवम्भूतो नय । (क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्यम्भावोऽत्र । टिप्पणी) प्र क मा पृ २०६ एकस्यापि ध्वनेर्वाच्य सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवम्भूतोऽभिमन्यते ॥ स त टी पृ ३१४

२ एवम्भवनादेवम्भूत । अस्मिन्नये न पदाना समासोऽस्ति स्वरूपतः कालभेदेन च भिन्नानामेकत्व-विरोधात् । न पदानामेककालवृत्ति समास क्रमोत्पन्नाना क्षणक्षयिणा तदनुपपत्ते । नैकार्थे वृत्ति समास, भिन्नपदानामेकार्थे वृत्त्यनुपपत्ते । न वर्णसमासोऽप्यस्ति, तन्नपि पदसमासोक्तदोषप्रसगात् । तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थं एकार्थं इत्येवम्भूताभिप्रायवान् एवम्भूतनय । जयध अ पृ २९ यत्क्रिया-विशिष्टशब्देनोच्यते, तामेव क्रिया कुर्वद्वस्त्वेवम्भूतमुच्यते । एवशब्देनोच्यते चेष्टाक्रियादिक प्रकार, तमेवम्भूत प्राप्तमिति कृत्वा ततश्चैवम्भूतवस्तुप्रतिपादको नयोऽप्युपचारादेवम्भूत । अथवा एवशब्देनोच्यते चेष्टाक्रियादिक प्रकार, तद्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽप्युपगमात्तमेवम्भूत प्राप्त एवम्भूत इत्युपचारमन्तरेणापि व्याख्यायते स एवम्भूतो नय । अ रा कोष (एवम्भूत)

वम्भूतः, एवम्भेदे^१ समुत्पन्नत्वात् । एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येयाः । एते च पुनर्व्यवहर्तृभिरवश्यमवगन्तव्याः, अन्यथार्थप्रतिपादनावगमानुपपत्तेः । उक्तं च—

णत्थि णएहि विहूण सुत्त अत्थो व्व जिणवरमदम्हि ।

तो णय-वादे णिउणा मुणिणो सिद्धतिया होति^२ ॥ ६८ ॥

तम्हा अहिगय-सुत्तेण अत्थ-संपायणम्हि जइयव्व ।

अत्थ-गई वि य णय-वाद-गहण-लीणा दुरहियम्मा^३ ॥ ६९ ॥

एवं णय-परुवणा गदा । अणुगमं वत्तइस्सामो—

एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीव-समासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवंति ॥ २ ॥

है यह बात सिद्ध हो जाती है । इसलिये एक पद एक ही अर्थका वाचक होता है । इस प्रकारके विषय करनेवाले नयको एवंभूतनय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिमें एक गो शब्द नाना अर्थोंमें नहीं रहता है, क्योंकि, एकस्वभाववाले एक पदका अनेक अर्थोंमें रहना विरुद्ध है । तथा पदमें रहनेवाले वर्णोंके भेदसे वाच्यभेदका निश्चय करानेवाला भी एवंभूतनय है, क्योंकि, यह नय इसप्रकारके भेदमें उत्पन्न हुआ है । इस तरह ये नय संक्षेपसे सात प्रकारके और अवान्तर भेदोंसे असंख्यात प्रकारके समझना चाहिये । व्यवहारकुशल लोगोको इन नयोका स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिये । अन्यथा, अर्थात् नयोके स्वरूपको समझे बिना पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन और उसका ज्ञान अथवा पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिपादनका ज्ञान नहीं हो सकता है । कहा भी है—

जिनेन्द्रभगवानके मतमें नयवादके बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है, इसलिये जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्तके ज्ञाता समझने चाहिये । अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागमको भलेप्रकार जान लिया है उसे ही अर्थसंपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थके परिज्ञान करनेमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि, पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादर्ूपी जंगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जाननेके लिये कठिन है ॥ ६८, ६९ ॥ इस तरह नयप्ररूपणाका वर्णन समाप्त हुआ ।

अब अनुगमका निरूपण करते हैं ।

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाणसे इन चौदह गुणस्थानोंके अन्वेषणरूप प्रयोजनके होने पर वहां ये चौदह ही मार्गणास्थान जानने योग्य हैं ॥ २ ॥

१ एवम्भूते ।

२ नत्थि नएहि विहूण सुत्त अत्थो य जिणमए किंचि । आसज्ज उ सोयार नए नयविसारओ वूआ ॥

आ नि ६६१

३ मुत्त अत्थनिमेण न मुत्तभेत्तेण अत्थपडिबत्ती । अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥ तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थमपायणम्मि जइयव्व । आयरियधीरहत्था हदि महाण विलवेन्ति ॥ स त ३, ६४, ६५.

‘ एत्तो ’ एतस्मादित्यर्थः । कस्मात् प्रमाणात् । कुत एतदवगम्यते ? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात् । नाजलात्मकहिमवतो निपतज्जलात्मकगङ्गाया व्यभिचारः, अवयविनोऽवयवस्यात्र वियोगापायस्य विवक्षितत्वात् । नावयविनोऽवयवो भिन्नो विरोधात् । तदपि प्रमाणं द्विविधं द्रव्यभावप्रमाणभेदात् । द्रव्यप्रमाणात् संख्येया-

‘ एत्तो ’ अर्थात् इससे ।

शंका— यहां पर ‘ एतद् ’ पदसे किसका ग्रहण किया है ?

समाधान— यहां पर ‘ एतद् ’ पदसे प्रमाणका ग्रहण किया है, इसलिये ‘ इससे ’ अर्थात् ‘ प्रमाणसे ’ ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ।

शंका— यह कैसे जाना, कि यहां पर ‘ एत्तो ’ पदका ‘ प्रमाणसे ’ यह अर्थ लिया गया है ?

समाधान— क्योंकि, प्रमाणरूप जीवस्थानका अप्रमाणसे अवतार अर्थात् उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे यह जाना जाता है कि यहां पर ‘ एत्तो ’ इस पदमे स्थित ‘ एतत् ’ शब्दसे प्रमाणका ग्रहण किया गया है ।

यहां पर यदि कोई यह कहे कि कार्यमे कारणानुकूल ही गुणधर्म पाये जाते हैं, क्योंकि, वह कार्य है । इस अनुमानमे जो कार्यत्वरूप हेतु है, वह प्रमाणरूप कारणसे उत्पन्न हुए प्रमाणात्मक जीवस्थानरूप साध्यमे पाया जाता है, और अजलस्वरूप हिमवान्से उत्पन्न हुई जलात्मक गंगानदीरूप विपक्षमे भी पाया जाता है । अतएव इस कार्यत्वरूप हेतुके पक्षमे रहते हुए भी विपक्षमे चले जानेके कारण व्यभिचार दोष आता है । अतः यह कहना कि प्रमाणरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसेही हुई है, सगत नहीं है । इस शंकाको मनमे निश्चय करके आचार्य आगे उत्तर देते हैं कि इस तरह अजलात्मक हिमवान्से निकलती हुई जलात्मक गंगानदीसे भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर अवयवीसे वियोगापायरूप अर्थात् अवयवीसे संयोगको प्राप्त हुआ अवयव विवक्षित है । इसका कारण यह है कि अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं है, क्योंकि, अवयवीसे अवयवको सर्वथा भिन्न मान लेनेसे विरोध आता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि हिमवान् पर्वत अजलात्मक है । परंतु उस पर्वतके जित्त भागसे गंगा नदी निकली है, वह भाग जलमय ही है । इसलिये यहां पर हिमवान् पर्वतसे उसका जलात्मक अवयव ग्रहण करना चाहिये । इससे जो पहले व्यभिचार दोष दे आये है वह दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर हिमवान् पर्वतका जलात्मक भाग ही ग्रहण किया गया है, और उससे गंगा नदी निकली है । अतएव इसे विपक्ष न समझकर सपक्ष ही समझना चाहिये । इस तरह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाणस्वरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है ।

द्रव्यप्रमाण और भावप्रमाणके भेदसे वह प्रमाण दो प्रकारका है । द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा शब्द, प्रमातृ और प्रमेयके आलम्बनसे क्रमशः संख्यात, असंख्यात और अतनरूप द्रव्यजीव-

संख्येयानस्तात्मकद्रव्यजीवस्थानस्यावतारः । भावप्रमाणं पञ्चविधम् :- आभिनिबोहियभावप्रमाणं, सुदभावप्रमाणं ओहिभावप्रमाणं मणपज्जवभावप्रमाणं केवलभावप्रमाणं चेदि ।

तत्थ आभिनिबोहियणाणं णाम पंचिदिय-णोइंदिएहि मदिणाणावरण-खयो-वसमेण य जणिदोग्गहेहावाय^१-धारणाओ सद्-परिस-रस-रूव-गंध-दिठ्ठ-सुदाणुभूद-विसयाओ बहुबहुविह-खिप्पाणिस्सिदाणुत्त-धुवेदर-भेदेण ति-सय-छत्तीसाओ । सुदणाणं णाम मदि-पुव्वं मदिणाण-पडिगहियमत्थं मोत्तूणणत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीय-क्खओवसम-जणिदं । ओहिणाणं णाम दव्व-क्खेत्त-काल-भाव-वियप्पियं पोगल-दव्वं पच्चक्खं जाणदि । दव्वदो^२ जहण्णेण जाणंतो एयजीवस्स ओरालिय-सरीर-संचयं लोगागास-पदेस-मेत्ते खंडे कदे तत्थेय-खंडं जाणदि । उक्कस्सेणेग-परमाणुं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहण्णमणुक्कस्सोही जाणदि । खेत्तदो जहण्णेणंगुलस्स असंखेज्जदिभागं

स्थानका अवतार हुआ है । भावप्रमाणके पांच भेद हैं, आभिनिबोधिकभावप्रमाण, श्रुतभावप्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मन-पर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाण ।

उनमें पांच इन्द्रिय और मनके निमित्तसे तथा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे पैदा हुआ, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप तथा शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थको विषय करनेवाला और बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत अनुवत्, ध्रुव, एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुवके भेदसे तीनसौ छत्तीस भेदरूप आभिनिबोधिक मतिज्ञान होता है ।

जिस ज्ञानमें मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थको छोड़कर तत्संबन्धित दूसरे पदार्थमें व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पसे अनेक प्रकारके पुद्गलद्रव्यको जो प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे जानता हुआ एक जीवके औदारिक शरीरके संचयके लोकाकाशके प्रदेशप्रमाण खण्ड करने पर उनमेसे एक खण्ड तकको जानता है । उत्कृष्टरूपसे, अर्थात् उत्कृष्ट अवधिज्ञान एक परमाणुतकको जानता है । अजघन्य और अनुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत द्रव्य-भेदोंको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा अवधिज्ञान जघन्यसे अंगुल, अर्थात् उत्सेघांगुलके असंख्यातवे भाग क्षेत्रको जानता है । उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्रको जानता है । अजघन्य और अनुत्कृष्ट (मध्यम) अवधिज्ञान जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत क्षेत्रभेदोंको जानता है । अवधिज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे आवलीके असंख्यातवे भागप्रमाण भूत और भविष्यत् पर्यायोंको जानता है । उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाण समयोमे स्थित अतीत और अनागत

जाणदि उक्कस्सेण असंखेज्ज-लोगमेत्त-खेत्तं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहणमणु-
क्कस्सोहि जाणदि । कालदो जहण्णेण आवलियाए असंखेज्जदि-भागे भूदं भविस्सं च
जाणदि । उक्कस्सेण असंखेज्जलोगमेत्त-समएसु अदीदमणागयं च जाणदि । दोण्हं पि
विच्चालमजहण-अणुक्कस्सोही जाणदि । भावदो पुव्व-णिहविद-दव्वस्स सत्ति
जाणदि^१ ।

मणपज्जवणाणं णाम पर-मणो-गयाइं मुत्ति-दव्वाइं तेण मणेण सह पच्चक्खं
जाणदि । दव्वदो जहण्णेण एग-समय-ओरालिय-सरीर-णिज्जरं जाणदि, उक्कस्सेण
एग-समय-पडिबद्धस्स कम्मइय-दव्वस्स अणंतिम-भागं जाणदि । खेत्तदो जहण्णेण
गाउव-पुधत्तं, उक्कस्सेण माणुस-खेत्तस्संतो जाणदि, णो बहिद्धा । कालदो जहण्णेण

पर्यायोको जानता है । अजघन्य और अनुत्कृष्ट (मध्यम) अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके
अन्तरालगत कालभेदोको जानता है । भावकी अपेक्षा अवधिज्ञान पहले निरूपणा किये गये
द्रव्यकी शक्तिको जानता है ।

जो दूसरोंके मनोगत मूर्तीक द्रव्योको उस मनके साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्यय-
ज्ञान कहते हैं । मनःपर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे एक समयसे होनेवाले औदारिक-
शरीरके निर्जरारूप द्रव्यको जानता । उत्कृष्टरूपसे कार्माणद्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक
समयमें बंधे हुए समयप्रबद्धरूप द्रव्यके अनन्त भागोमेसे एक भागको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा
जघन्यरूपसे गव्यूपितपृथक्त्व, अर्थात् दो, तीन कोस क्षेत्रको जानता है, और उत्कृष्टरूपसे
मनुष्यक्षेत्रके भीतर जानता है, मनुष्यक्षेत्रके बाहिर नहीं जानता है । (यहांपर मनुष्यक्षेत्रसे
प्रयोजन विष्कम्भरूप मनुष्यक्षेत्रसे है, वृत्तरूप मनुष्यक्षेत्रसे नहीं है ।) कालकी अपेक्षा जघन्य-
रूपसे दो, तीन भवोको ग्रहण करता है, और उत्कृष्टरूपसे असंख्यात भवोको ग्रहण करता है,

१ णोक्कम्मुरालसच्च मज्झिमजोगज्जिय सविस्सच्चय । लोयविभत्त जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा ॥
सुहुमणिगोदपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि । अवरोगाहणमाण जहणय ओहिखेत्त तु ॥ आवलिअसखभाग
तीदमविस्स च कालदो अवर । ओही जाणदि भावे कालअसखेज्जभाग तु ॥ सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि
णिव्वियप्पो सो । गगामहाणइस्स पवाहो व्व धुवो हवे हारो ॥ परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होति ।
तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असखगुणिकमा ॥ आवलिअसखभागा जहणदव्वस्स होति पज्जाया ।
कालस्स जहणादो असखगुणहीणमेत्ता हु ॥ सव्वोहि त्ति कमसो आवलिअसखभागगुणिकमा । दव्वाण
भावण पदसखा सरिसगा होति ॥ गो जी ३७७, ३७८, ३८२, ४१५, ४१६, ४२२, ४२३ तत्थ दव्वओ ण
ओहिनाणी जहण्णेण अणताइ रुविदव्वाइ जाणइ पासइ, उक्कोसेण सव्वाइ रुविदव्वाइ जाणइ पासइ ।
खित्तओ ण ओहिनाणी जहण्णेण अगुलस्स असखिज्जइभाग जाणइ पासइ, उक्कोसेण असखिज्जाइ अलोणे
लोगप्पमाणमित्ताइ खडाइ जाणइ पासइ । कालओ ण ओहिनाणी जहण्णेण आवलिआए अनखिज्जइभाग जाणइ
पासइ, उक्कोसेण असखिज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अईयमणागय च काल जाणइ पासइ ।
भावओ ण ओहिनाणी जहण्णेण अणते भावे जाणइ पासइ, उक्कसेण वि अणते भावे जाणइ पासइ,
सव्वभावणमणत्तभाग जाणइ पासइ । न सू १६

दो तिण्ण भव-ग्गहणाणि, उक्कस्सेण असंखेज्जाणि भव-ग्गहणाणि जाणदि^१ । केवलणाणं णाम, सव्वदव्वाणि तीदाणागय^२-वट्ठमाणाणि सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि ।

एत्थ किमाभिनिबोहिय-पमाणादो, किं सुद-पमाणादो, किमोहि-पमाणादो, किं मणपज्जव-पमाणादो, किं केवल-पमाणादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं । एवं पुच्छिदे णो आभिनिबोहिय-पमाणादो, णो ओहि-पमाणादो, णो मणपज्जव-पमाणादो । गंथं पडुच्च सुद-पमाणादो, अत्थदो केवल-पमाणादो ।

भवोंको ग्रहण करता है, अर्थात् जानता है । (भावकी अपेक्षा मन-पर्यय ज्ञान पहले निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है ।)

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायोंसहित सपूर्ण द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं ।

यहां पर क्या आभिनिबोधिक प्रमाणसे प्रयोजन है, क्या श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या अवधिप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या मन-पर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, अथवा क्या केवलप्रमाणसे प्रयोजन है ? इसतरह सबके विषयमे पृच्छा करनी चाहिये और इसतरह पूछे जानेपर, यहांपर न तो आभिनिबोधिकप्रमाणसे प्रयोजन है, न अवधिप्रमाणसे प्रयोजन है, और न मन-पर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, किंतु ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतप्रमाणसे और अर्थकी अपेक्षा केवलप्रमाणसे प्रयोजन है,

१ अत्र भावापेक्षया मन पर्ययज्ञानस्य विषयो नोपलभ्यते । अवर दव्वमुरालियसरीरणिज्जिण्णस-मयवट्ठ तु । चक्खिदियणिज्जिण्ण उक्कस्स उज्जुमदिस्स हवे ॥ मणदव्ववग्गणाणमणतिमभागेण उज्जुगउक्कस्स । खडिदमेत्त होदि हु विउलमदिस्सावर दव्व ॥ अट्ठण्ह कम्माण समयपवद्ध विविस्ससोवचय । धुवहारेणिगिवार भजिदे विदिय हवे दव्व ॥ तत्विदिय कप्पाणमसखेज्जाण च समयसखसम । धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सय दव्व ॥ गाउयपुवत्तमवर उक्कस्स होदि जोयणपुवत्त । विउलमदिस्स य अवर तस्स पुवत्त वर खु णरलोय ॥ णरलोए त्ति य वयण विक्खभणियामय ण वट्ठस्स । जम्हा तग्घणपदर मणपज्जवखेत्तमुद्धिट्ठ ॥ दुगतिगभवा हु अवर सत्तट्ठमवा हवति उक्कस्स । अडणवभवा हु अवरमसखेज्ज विउलउक्कस्स ॥ आवलिअसखभाग अवर च वर च वरममखगुण । तत्तो असखगुणिद असखलोग तु विउलमदी ॥ गो जी ४५१-४५८ तत्थ दव्वओ ण उज्जुमई ण अणते अणतपएसिए खवे जाणइ पासइ, त चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ । खेत्तओ ण उज्जुमई अ जहन्नेण अगुलस्स असखेज्जयभाग, उक्कोसेण अहे जाव डमीसे रयणप्पभाए पुटवीए उवरिमहेट्ठिले खुड्डुगपयरे उड्ठ जाव जोइसस्स उवरिमतले, तिरिय जाव अतोमणस्सखित्ते अट्ठाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमिसु तीसाए अकम्मभूमिसु छप्पन्नाए अतरदीवगेसु सन्निपचेदिआण पज्जत्तयाण मणोगए भावे जाणइ पासइ । त चेव विउलमई अट्ठाइज्जेहिमगुलेहि अब्भहियतर विउलतर विसुद्धतर वितिमिरतराग खेत्त जाणइ पासइ । कालओ ण उज्जुमई जहन्नेण पलिओ-वमस्स अनविज्जइभाग, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असखिज्जइभाग अतीयमणागय वा काल जाणइ पासइ । त चेव विउलमई अब्भहियतराग विउलतराग विसुद्धतराग वितिमिरतराग जाणइ पासइ । भावओ ण उज्जुमई जहन्नेण अणते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण सव्वभावाण अणतभाग जाणइ पासइ । त चेव विउलमई अब्भहियतराग विउलतराग विसुद्धतराग वितिमिरतराग जाणइ पासइ । न सू १८

२ मु अदीदाणागय ।

एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च विद्यादो, अत्थं पडुच्च पंचमादो केवलणाणादो । पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च चउत्थादो सुद-पमाणादो, अत्थं पडुच्च पढमादो केवलादो । जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे सुदणाणादो केवलणाणादो य । सुदणाणमिदि गुणणामं, अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्तियादीहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । एदस्स तडुभयवत्तव्वदा ।

अत्थाहियारो दुविहो- अंगवाहिरो अंगपड्ढो चेदि । तत्थ अंगवाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा । तं जहा- सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं^१ उत्तरज्जयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसीहियं^२ चेदि । तत्थ जं सामाइयं तं णाम-ट्ठवणा-दव्व-क्खेत्त-काल-भावेसु^३ समत्त-विहाणं वण्णेदि । चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयरणं वंदण-विहाणं तण्णाम-संठाणुस्सेह-पंच-महाकल्लाण-चोत्तीस-अइसय-सरुवं तित्थयर-वंदणाए सहलत्तं च वण्णेदि । वंदणा एग-जिण-जिणालय-विसय-वंदणाए णिरवज्ज-भावं वण्णेइ ।

ऐसा उत्तर देना चाहिये ।

यहांपर पूर्वानुपूर्वसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा तो दूसरे श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा पांचवे केवलज्ञानप्रमाणसे प्रयोजन है । पश्चादानुपूर्वसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा चौथे श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा प्रथम केवलप्रमाणसे प्रयोजन है । यथातथानुपूर्वसे गणना करनेपर श्रुतप्रमाण और केवलप्रमाण इन दोनोंसे प्रयोजन है ।

श्रुतज्ञान यह सार्थक नाम है । वह अक्षर, पद, संघात और प्रतिपत्ति आदिकी अपेक्षा संख्यातभेदरूप है और अर्थकी अपेक्षा अनन्त है ।

तीन वक्तव्यताओमेसे इस श्रुतप्रमाणकी तडुभयवक्तव्यता (स्वसमय-परसमयवक्तव्यता) जानना चाहिये ।

अर्थाधिकार दो प्रकारका है- अंगवाह्य और अंगप्रविष्ट । उन दोनोंमेसे, अंगवाह्यके चौदह अर्थाधिकार हैं । वे इसप्रकार हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराव्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका । उनमेसे, सामायिक नामका अंगवाह्य अर्थाधिकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों द्वारा समताभावके विधानका वर्णन करता है । चतुर्विंशतिस्तव अर्थाधिकार उस उस कालसंबन्धी चौवीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करनेकीविधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पांच महाकल्याणक, चौतीस अतिशयोके स्वरूप और तीर्थंकरोंकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है ।

पडिक्कमणं कालं पुरिसे^१ य अस्सिऊण सत्तविह-पडिक्कमणाणि वण्णेइ^२। वेणइयं णाण-
दंसण-चरित्त-तवोवयारविणए वण्णेइ । किदियम्मं अरहंत-सिद्ध-आइरिय-वहुसुद-
साहूणं पूजाए^३विहाणं वण्णेइ । दसवेयालियं आयार-गोयार^४-विहि वण्णेइ^५। उत्तरज्झयणं
उत्तर-पदाणि वण्णेइ^६ । कप्पववहारो साहूणं जोगमाचरणं अकप्प-सेवणाए

वन्दना नामका अर्थाधिकार एक जिनेन्द्रदेवसंवन्धी और उन एक जिनेन्द्रदेवके अवलम्बनसे जिनालयसंवन्धी वन्दनाके निरवद्यभावका अर्थात् प्रशस्तरूप भावका वर्णन करता है । (प्रमादकृत दैवसिक आदि दोषोका निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं । वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्त-
माथिकके भेदसे सात प्रकारका है ।) प्रतिक्रमण नामका अर्थाधिकार, दु.पमादि काल और छह संहननसे युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाववाले पुरुषोंका आश्रय लेकर इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका वर्णन करता है । वैनियक नामका अर्थाधिकार ज्ञानविनय, दर्शनविनय चारित्र-
विनय, तपविनय और उपचारविनय इसतरह इन पांच प्रकारकी विनयोका वर्णन करता है । कृतिकर्म नामका अर्थाधिकार अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुकी पूजा आदिकी विधिका वर्णन करता है । विशिष्ट कालको विकाल कहते हैं । उसमें जो विशेषता होती है उसे वैकालिक कहते हैं । वे वैकालिक दश हैं । उन दश वैकालिकोका दशवैकालिक नामका

१ मु पुरिम च । क पुरेसे च ।

२ प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवनिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम् । तच्च दैवसिकरात्रिक-
पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकैर्यापथिकौत्तमाथिकभेदात्मन्नाविवम् । भरतादिक्षेत्र दु पमादिकाल पट्सहनन-
ममन्विनस्थिराम्बिरादिपुरुषभेदाश्च आश्रित्य तत्प्रतिपादक शास्त्रमपि प्रतिक्रमणम् ।

गो. जी, जी प्र, टी ३६७

३ मु पूजाविहाण वण्णेइ । कृते क्रियाया कर्म विधान अस्मिन् वर्णयत इति कृतिकर्म । तच्च
अर्हत्सिद्धाचार्यवहुश्रुतसाध्वादिनवदेवतावन्दनानिमित्तमात्माधीनताप्रादक्षिण्यत्रिवारत्रिनित्तित्तु शिरोद्वाद्गाव-
र्त्तादिलक्षणनित्यनैमित्तिकक्रियाविधान च वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६७

४ मु. गोयार-। आचारो मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो विषय आचारगोचर (आचा० ७ अ
१ उ) आचारश्च ज्ञानादिविषय पञ्चवा, गोचरश्च भिक्षाचर्येत्याचारगोचर ज्ञानाचारादिके भिक्षाचर्याया च
(न.) × × आचार श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठान कालाध्ययनादि, गोचरो भिक्षाटनम्, एतयो समाहारद्वन्द्व
आचारगोचरम् (म २ ग १ उ) अभि. रा को (आयारगोयार)

५ विशिष्टा काला विकालास्तेषु भवानि वैकालिकानि दश वैकालिकानि वर्णयन्तेऽस्मिन्निति
दशवैकालिकम् । तच्च मुनिजनानां आचरणगोचरविधि पिण्डगुहिलक्षण च वर्णयति । गो जी, जी प्र टी
३६७ तेषु दशाध्ययनेषु किमित्याह, पटमे धम्मपससा सो य इहेव जिणसासणम्हि त्ति । विइए धिइए सक्का
काउ जे एम वम्मो त्ति ॥ (तइए आयारकहा उ खुहिया आयसजमोवाओ ।) तह जीवसजमो वि य होइ
चट्ठयम्मि अज्झयणे ॥ भिक्खविसोही तवसजमस्स गुणकारिया उ पचमए । छट्ठे आयारकहा महई जोगा
मह्यणस्स ॥ वयणविभत्ती पुण मत्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणिय । णवमे विणओ दममे समाणिय एम भिक्खु
त्ति ॥ अभि रा को (दसवेयालिय)

६ उत्तराणि अधीयते पठ्यते अस्मिन्निति उत्तराध्ययनम् । तच्च चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशति-

पायच्छित्तं च वण्णेइ । कप्पाकप्पियं साहूणं जं कप्पदि जं च ण कप्पदि तं सव्वं वण्णेदि । महाकप्पियं काल-संघडणाणि अस्सिऊण साहु-पाओग्ग-दव्व-खेत्तादीणं वण्णणं कुणइ । पुंडरीयं चउव्विह-देवेसुववादकारण-अणुट्टाणाणि वण्णेइ । महापुंडरीयं सर्यालिद-पडिइंसेसु^१ उत्पत्ति-कारणं वण्णेइ । णिसीहियं बहुविह-पायच्छित्त-विहाण-वण्णणं कुणइ^२ ।

अर्थाधिकार वर्णन करता है । तथा वह मुनियोंकी आचारविधि और गोचरविधिका भी वर्णन करता है । जिसमे अनेक प्रकारके उत्तर पढ़नेको मिलते हैं उसे उत्तराध्ययन अर्थाधिकार कहते हैं । यह चार प्रकारके उपसर्गोंको कैसे सहन करना चाहिये ? चाईस प्रकारके परीषहोंके सहन करनेकी विधि क्या है ? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरोंका वर्णन करता है । कल्पव्यवहार साधुओंके योग्य आचरणका और अयोग्य आचरणके होने पर प्रायश्चित्तविधिका वर्णन करता है । कल्प नाम योग्यका है और व्यवहार नाम आचारका है । कल्पाकल्प द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा मुनियोंके लिये यह योग्य है और यह अयोग्य है, इसतरह इन सबका वर्णन करता है । महाकल्प काल और सहननका आश्रय कर साधुओंके योग्य द्रव्य और क्षेत्रादिकका वर्णन करता है । (इसमें, उत्कृष्ट संहननादि-विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर प्रवृत्ति करनेवाले जिनकल्पी साधुओंके योग्य त्रिकालयोग आदि अनुष्ठानका और स्वविरकल्पी साधुओंकी दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदिका विशेष वर्णन है ।) पुण्डरीक भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंमें उत्पत्तिके कारणरूप दान, पूजा, तपश्चरण, अकामनिर्जरा, सम्यग्दर्शन और सयम आदि अनुष्ठानोंका वर्णन करता है । महापुण्डरीक समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रोंमें उत्पत्तिके कारणरूप तपोविशेष आदि आचरणका वर्णन करता है । प्रमादजन्य दोषोंके निराकरण करनेको निषिद्धि कहते हैं, और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकारके प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको निषिद्धिका कहते हैं ।

परीपहागा च सहनविधानं तत्कल एव प्रश्ने एवमूत्तरमित्युत्तरविधानं च वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी. ३६७ कम उत्तरेण पण्य आमारस्सेव उवरिमाड तु । तम्हा उ उत्तरा खलु अज्जयणा होति णायव्वा ॥ अमि रा को (उत्तरज्जयण) कानि तान्युत्तरपदानिती चेदुच्यते छत्तीम उत्तरज्जयणा पण्णत्ता, त जहा— १ विायनुय २ परीसहो ३ चाउरगिज्ज ४ असखय ५ अकाममरणिज्ज ६ पुरिसविज्जा ७ उरविमज्ज ८ काविलिय ९ नमिपव्वज्जा १० दूमपत्तय ११ वहुसुयपूजा १२ हरिणमिज्ज १३ चित्तमभूय १४ उमुयारिज्ज १५ नमिक्खुग १६ नमाहिट्टाणाड १७ पावसमणिज्ज १८ नजडज्ज १९ मियाचारिया २० अणाहपव्वज्जा २१ नमुट्टपालिज्ज २२ रहनेमिज्ज २३ गोयमकेसिज्ज २४ समितीओ २५ जन्नडज्ज २६ सामायारी २७ खलुक्किज्ज २८ मोक्खमग्गगई २९ अणमाओ ३० तवोमग्गो ३१ चरणविही ३२ पमायट्टाणाड ३३ कम्मपयडी ३४ लेसज्जयण ३५ अणगारमग्गो ३६ जीवाजीवविभक्ती य । नम सू ३६

१ मु पडिइंसे । २ मु निविहिय ।

३ निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिं सन्नाया कप्रत्यये निषिद्धिका । तच्च प्रमाददोष-विगुह्यर्थं बहुप्रकारं प्रायश्चित्तं वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६८

अंगपविट्ठस्स अत्थाधियारो वारसविहो । तं जहा-आयारं^१ सूदयदं ठाणं
समवायो वियाहपण्णत्ती णाहाधम्मकहा^२ उवासयज्जयणं अंतयडदसा अणुत्तरोव-
वादियदसा पण्हायरणं विवागसुत्तं दिट्ठिवादो चेदि । एत्थायारंगमट्ठारह-पद-
सहस्सेहि १८०००—

कध चरे कध चिट्ठे कधमासे कध सए ।

कध भुजेज्ज भासेज्ज कध पाव ण वज्झई^३ ॥ ७० ॥

जद चरे जद चिट्ठे जदमासे जद सए ।

जद भुजेज्ज भासेज्ज एव पाव ण वज्झई ॥ ७१ ॥

एवमादियं मुणीणमायारं वण्णेदि^४ ।

सूदयदं णाम अंगं छत्तीस-पय-सहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-कप्पा-
कप्प-छेदोवट्ठावण-ववहारधम्मकिरियाओ परूवेइ ससमय-परसमय-सरूवं च परूवेइ^५ ।

अंगप्रविष्टके अर्थाधिकार वारह प्रकारके हैं । वे ये है— आचार, सूत्रकृत, स्थान,
समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतःकृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकदशा,
प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद । इनमेंसे, आचारांग अठारह हजार पदोके द्वारा—

किस प्रकार चलना चाहिये ? किस प्रकार खड़े रहना चाहिये ? किस प्रकार बैठना
चाहिये ? किस प्रकार शयन करना चाहिये ? किस प्रकार भोजन करना चाहिये ? किस प्रकार
संभाषण करना चाहिये और किस प्रकार पापकर्म नहीं बंधता है ? (इसतरह गणधरके प्रश्नोके
अनुसार) यत्नसे चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिये, यत्नसे बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक
शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये, यत्नसे संभाषण करना चाहिये ।
इस प्रकार आचरण करनेसे पापकर्मका बंध नहीं होता है ॥ ७०-७१ ॥ इत्यादि रूपसे मुनियोंके
आचारका वर्णन करता है ।

सूत्रकृतांग छत्तीस हजार पदोके द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना
और व्यवहारधर्मक्रियाका प्ररूपण करता है । तथा यह स्वसमय और परसमयका भी निरूपण

१ मू आयारो २ मू णाह

३ मूलाचा १०१२, १०१३ दशवै ४, ७, ८

४ आयारे ण समणाण आयार-गोयर-विणय-वेणइय-ट्ठाण-गमण-चकमण-पमाण-जोग-जुजण-भासा-
समिति-गुत्ती-सेज्जोवहि-भत्त-पाण-उग्गम-उप्पायण-एसणा-विसोहि-सुद्धासुद्धग्गहण-वय-णियम-तवोवहाण-सुप्प-
सत्थमाहिज्जइ । सम सू १३६

५ सुअगडे ण ससमया मूइज्जति, परसमया सूइज्जति, ससमयपरसमया सूइज्जति × × । सूअगडे
ण जीवाजीव-पुण्ण-पापासव-सवर-णिज्जरण-वध-मोक्खावसाणा पयत्था सूइज्जति समणाण अचिरकाल-
पव्वइयाण कुसमयमोह-मोहमइ-मोहियाण सदेह-जाय-सहजवुद्धि-परिणाम-समइयाण पावकरमलिन-मइ-गुण-
विसोहणत्थ असीअस्स किरियावाइयसयस्स चउरामीए अकिरियावाईण सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईण वत्तीसाए
वेणइयवाईण तिण्ह तेवट्ठीण अण्णदिट्ठियसयाण वूह किच्चा ससमए ठाविज्जति × × × । सम सू १३७

ठाणं णाम अंगं वायालीस-पद-सहस्सेहि ४२००० एगादि-एगुत्तर-ट्टाणाणि वण्णेदि^१ ।
तस्सोदाहरणं—

एक्को चेय महप्पो सो दुवियप्पो ति-लक्खणो भणिओ ।
चट्ठ-सकमणा-जुत्तो पचम-गुण-प्पहाणो य ॥ ७२ ॥
छक्कावक्कम-जुत्तो कमसो सो सत्त-भगि-सम्भावो ।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दस-ठाणियो भणियो^२ ॥ ७३ ॥

करता है । स्थानांग व्यालीस हजार पदोंके द्वारा एकसे लेकर उत्तरोत्तर एक एक अधिक स्थानोंका वर्णन करता है । उसका उदाहरण—

महात्मा अर्थात् यह जीव द्रव्य निरन्तर चैतन्यरूप धर्मसे उपयुक्त होनेके कारण उसकी अपेक्षा एक ही है । ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है । कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतनासे लक्ष्यमाण होनेके कारण तीन भेदरूप है । अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके भेदसे तीन भेदरूप है । चार गतियोंमें परिभ्रमण करनेकी अपेक्षा इसके चार भेद हैं । औदयिक आदि पांच प्रधान गुणोंसे युक्त होनेके कारण इसके पांच भेद हैं । भवान्तरमें संक्रमणके समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इसतरह छह संक्रमणलक्षण अपक्रमोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा छह प्रकारका है । अस्ति, नास्ति इत्यादि सात भंगोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा सात प्रकारका है । ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंके आश्रयसे युक्त होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका है । अथवा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका तथा आठ गुणोंका आश्रय होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका है । जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला अथवा जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंरूप परिणमन करनेवाला, होनेकी अपेक्षा नौ प्रकारका है । पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजातिके भेदसे दश स्थानगत होनेकी अपेक्षा दश प्रकारका कहा गया है ॥ ७२-७३ ॥

१ ठाणे ण दव्व-गुण-खेत्त-काल-पज्जव-पयत्थाण × × एक्कविहवत्तव्वय दुविह जाव दसविहवत्तव्वय जीवाण पोगलाण य लोगट्ठाइ च ण परुवणया आवविज्जति × × । सम सू १३८.

२ पञ्चा ७१, ७२ मगहनयेन एक एवात्मा । व्यवहारनयेन ससारी मुक्तश्चेति द्विविकल्प । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त इति त्रिलक्षण । कर्मवशात् चतुर्गतिषु सक्रामतीति चतु सक्रमणयुक्त । औपशमिकक्षायिक-क्षायोपशमिकीदयिकपारिणामिकभेदेन पचविशिष्टधर्मप्रधान । पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्वाधोगतिभेदेन समारा-वस्थाया पट्कोपक्रमयुक्त । स्यादस्ति स्यान्नास्ति × × इत्यादिसप्तभगीसद्भावेऽप्युपयुक्त । अष्टविधकर्मान्वय-युक्तत्वादष्टान्वय । नवजीवाजीवान्नववचनवरनिर्जराभोक्षपुण्यपापरूपा अर्था पदार्था विषया यस्य स नवार्थ । पृथिव्यप्तेजीवायुप्रत्येकसाधारणद्वित्रिचतु पचेन्द्रियभेदाद् दशस्थानका । गो जी, जी प्र, टी ३५६

समवायो णाम अंगं चउसट्ठि-सहस्सब्बहिय-एग-लक्ख-पदेहि १६४०००
सव्वपयत्थाणं समवायं वण्णेदि' । सो वि समवायो चउव्विहो- दव्व-खेत्त-काल-
भावसमवायो चेदि । तत्थ दव्वसमवायो धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय-लोगागास-एगजीव-
पदेसा च समा । खेत्तदो सीमंतणिरय-माणुसखेत्त-उडुविमाण-सिद्धिखेत्तं च समा ।
कालदो समयो समएण, मूहुत्तो मूहुत्तेण समो । भावदो केवलणाणं केवल-दंसणेण
समं, जेयप्पमाणणाणं-मेत्त-चेयणोवलंभादो । वियाहपण्णती णाम अंगं दोहि लक्खेहि
अट्ठावीस-सहस्सेहि पदेहि २२८००० किमत्थि जीवो, कि णत्थि जीवो, इच्चेवमाइयाई
सट्ठि-वायरणं-सहस्साणि परूवेदि' । णाहाधम्मकहा णाम अंगं पंच-लक्ख-छप्पण-

समवाय नामका अग एक लाख चौसठ हजार पदोके द्वारा संपूर्ण पदार्थोंके समवायका
वर्णन करता है, अर्थात् सादृश्यसामान्यसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जीवादि
पदार्थोंका ज्ञान कराता है । वह समवाय चार प्रकारका है- द्रव्यसमवाय, क्षेत्रसमवाय, काल-
समवाय और भावसमवाय । उनमेंसे, द्रव्यसमवायकी अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय,
लोकाकाश और एक जीवके प्रदेश समान हैं । क्षेत्रसमवायकी अपेक्षा प्रथमनरकके प्रथम
पटलका सीमन्तक नामका इन्द्रक, विल, ढाई द्वीपप्रमाण मनुष्यक्षेत्र, प्रथमस्वर्गके प्रथम पटलका
ऋजु नामका इन्द्रक विमान और सिद्धक्षेत्र समान हैं । कालकी अपेक्षा एक समय एक समयके
बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्तके बराबर है । भावकी अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शनके
समान है, क्योंकि, ज्ञेयप्रमाण ज्ञान मात्र चेतनाशक्तिकी उपलब्धि होती है । व्याख्याप्रज्ञप्ति
नामका अंग दो लाख अठ्ठाईस हजार पदोद्वारा क्या जीव है ? क्या जीव नहीं है ? इत्यादिक
रूपसे साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान करता है । नायधर्मकथा अथवा जातधर्मकथा नामका
अंग पांच लाख छप्पन्न हजार पदोद्वारा सूत्र पौरुषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधिसे स्वाध्यायकी

१ नमवाएण एकाडयाग एगद्वयण एगुत्तग्नियपरिवृद्धीए दुवालनगस्स य गणिपिंडगस्स पत्तवगो
समणुगाडिज्जड, ठाणगसयस्स वारमविहवित्थरस्स मुयणाणम्म जगजीवहियस्स भगवओ ममानेग समोवारे
अहिज्जति । तत्थ य णाणाविहप्पगारा जीवाजीवा य वणिगया वित्थरेण अवरे वि ँ बहुविहा विनेसा नरग-
तिरिय-मणुव-मुरगगाण आहास्सामलेनावात्तमउआअप्पमाणउववायववणउग्गहणोवहिवेयविहाण-
उव्वोगजोगडवियन्नाय विविहा य जीवजोणी विक्खंभुत्तेहपरियप्पमाण विहिविनेना य मवरादीण महीधराण
कुलगरतित्थगरगणहराण सम्मत्तमरुहाविवाण चक्कीण चैव चक्कहृहलहराण य वासाण य णिग्गमा य समाए
एए ञ्ज्जे य एवमाइ एत्थ वित्थरेण अत्था सनाहिज्जति X X । सम नू. १३९

२. मु जेयप्पमाण णाण— ३ क वाहरण

४ वियाहेण णाणाविहणुपरिवरापरिविवित्थरगुत्तज्जुत्थया । जिणेण वित्थरेण भामियाण
दव्वगुत्तवेत्तकालपज्जयपदेत्तपरिणामजहत्तिद्वियभावलगुगमणिकउववाअप्पमाणानुनिउणोवक्कमविविहप्पकार-
पणउपगसियाणं X X X उत्तसि सहस्समणूयाण वागरणाण दमपाओ X X X पण्णविज्जति । नम नू १४०.

५. नाथ त्रिलोकेश्वराणां स्वामी तीर्थकरपरमभट्टारक तत्त्व धर्मकथा जीवादिबन्धुत्वभावकथन,

सहस्स-पदेहि ५५६००० सुत्त-पोरिसीसु^१ तित्थयराणं धम्मवदेसणं^२ गणहरदेवस्स जाद-संसयस्स संदेह-छिदण-विहाणं, बहुविह-कहाओ उवकहाओ च वण्णेदि । उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारस-लक्ख-सत्तरि-सहस्स-पदेहि ११७००००—

दसण-वद-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य ।

वम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरदी य^३ ॥ ७४ ॥

इदि एक्कारस-विह-उवासगाणं लक्खणं तेसिं चेव वदारोवण-विहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि^४ । अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस-लक्ख-अट्ठावीस-सहस्स-

प्रस्थापना हो इसलिये, तीर्थंकरोंकी धर्मदेशनाका, सन्देहको प्राप्त गणधरदेवके सन्देहको दूर करनेकी विधिका तथा अनेक प्रकारकी कथा और उपकथाओंका वर्णन करता है । उपासकाध्ययन नामका अंग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदोंके द्वारा दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सच्चित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकारके श्रावकोंके लक्षण, उन्हींके व्रत धारण करनेकी विधि और उनके आचरणका वर्णन करता है । अन्तकृद्दशा नामका अंग तेवीस लाख अट्ठाईस हजार पदोंके द्वारा एक एक तीर्थंकरके तीर्थमें नानाप्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहन कर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषोंको प्राप्त कर निर्वाणको प्राप्त हुये दश दश अन्तकृतकेवलियोंका वर्णन करता है, तत्त्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

धातिकर्मक्षयानन्तरकेवलज्ञानसहोत्पन्नतीर्थंकरत्वपुण्यातिशयविजृम्भितमहिम्न तीर्थंकरस्य पूर्वान्धमध्याह्ना-पराह्णार्धरात्रेषु षट्षट्षट्टिकाकालपर्यंत द्वादशगणमभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति अन्यकालेऽपि गणधर-शक्रचक्रवरप्रश्नानन्तर चोद्भवति । एव समुद्भूतो दिव्यध्वनि समस्तासन्नत्रोतृगणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षण रत्नत्रयात्मक वा धर्म कथयति । अथवा ज्ञातृगणधरदेवस्य जिज्ञासमानस्य प्रश्नानुसारेण तदुत्तरवाक्यरूपा धर्मकथा तत्पृष्ठास्तित्वानास्तित्वादिस्वरूपकथनम् । अथवा ज्ञातृणा तीर्थंकरगणधरशक्रचक्रवरादीना धर्मानु-बधिकयोपकथाकथन नाथधर्मकथा ज्ञातृधर्मकथा नाम वा षष्ठमगम् । गो जी, जी प्र टी ३५६ णायाधम्मकहासु ण णायाण णगराड उज्जाणाड चेइयाइ वणखडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइ धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोडअइडिडिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जावो सुयपरिग्गहातवोवहाणाइ परियागा सलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइ पाओवगमणाइ देवलोगमणाइ मुकुलपच्चायाइ पुणवोहिलाभा अतकिरियाओ य आधविज्जति × × । सम सू १४१

१ सुत्तपोरिसी-सूत्रपौरुषी सिद्धान्तोक्तविधिना स्वाध्यायप्रस्थापनम् । अभि. रा को

२ मु धम्मदेसण ।

३ प्रा प. १, १३६ । गो जी ४७७

४. उवासगदसासु ण उवासयाण रिद्धिविसेसा परिसा । वित्थरधम्मसवणाणि वोहिलाभ-अभिगम-सम्मत्तविसुद्धया थिरत्त मूलगुण-उत्तरगुणाइयारा ठिईविसेसा य बहुविसेसा पडिमाभिग्गहग्गहण-पालणा उवसग्गाहियासणा णिरुवसग्गा य तवा य विचित्ता सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासा अपच्छिममारण-तिया य सलेहणाओसणाहि अप्पाण जह य भावइत्ता × × कप्पवरविमानुत्तमेसु अणुभवति × × अणोवमाइ सोक्खाइ । एते अन्ने य एवमाइअत्था वित्थरेण य × × आधविज्जति । सम सू १४२.

पदेहि २३२८००० एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं
लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि । उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये— संसारस्यान्तः कृतो
यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्कविल^१-
पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमानतीर्थकर-तीर्थे^२ । एवमृषभादीनां त्रयोविंशते-
स्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गात्रिजित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो
दशास्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशा^३ । अणुत्तरोववादियदसा णाम अंगं वाणउदि-लक्ख-
चोयाल-सहस्स-पदेहि ९२४४००० एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे
सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण अणुत्तर-विमाणं गदे दस दस वण्णेदि । उक्तं च तत्त्वार्थ-

जिन्होने संसारका अन्त किया उन्हें अन्तकृतकेवली कहते हैं । वर्द्धमान तीर्थकरके
तीर्थमे नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कविल, पालम्ब, अष्टपुत्र
ये दश अन्तकृतकेवली हुए हैं । इसी प्रकार ऋषभदेव आदि तेवीस तीर्थकरोके तीर्थमे और
दूसरे दश दश अनगार दारुण उपसर्गोंको जीतकर सपूर्ण कर्मोंके क्षयसे अन्तकृतकेवली हुए । इन
सबकी दशाका जिसमे वर्णन किया जाता है उसे अन्तकृद्दशा नामका अंग कहते हैं ।

अनुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग दानवे लाख चवालीस हजार पदोद्वारा एक एक
तीर्थमे नाना प्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशयविशेषोंको प्राप्त
करके पांच अनुत्तर विमानोंमे गये हुए दश दश अनुत्तरौपपादिकोंका वर्णन करता है । तत्त्वार्थ-
भाष्यमे भी कहा है—

उपपादजन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं । विजय, वैजयन्त,

१. मु किष्कविल ।

२ “ संसारस्यान्त कृतो यैस्तेऽन्तकृत नमिमतगसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयमवाल्मीकवलीकनिष्कवल-
पालवष्टपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे ॥ ” त रा वा पृ ५१ ‘ वलीक ’ स्थाने ‘ वलिक ’ पाठ
गो जी, जी प्र, टी ३५७ “ अतगडदसाण दस अज्झयणा पण्णत्ता । त जहा, णमि १ मातगे २ सोमिले
३ रामगुत्ते ४ सुदसणे ५ चेव । जमाली ६ त भगाली त ७ किक्कमे ८ पल्लतेतिय ९ ॥ फाले अवडपुत्ते त
१० एमेते दस आहिता ॥ एतानि च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गोऽध्ययनसग्रहे
नोपलभ्यन्ते, यतस्तत्राभिधीयते— ‘ गोयम १ समुद् २ सागर ३ गभीरे ४ चेव होइ थिमिए ५ य । अयले
६ कपिल्ले ७ खलु अक्खोभ ८ पसेणइ ९ विण्हू १० ॥ ततो वाचनान्तरापेक्षाणि इमानीति सभावयाम् । न च
जन्मान्तरनामापेक्षया एतानि भविष्यन्तीति वाच्य, जन्मान्तराणां तत्र अनभिधीयमानत्वादिति । स्था सू ७५४
(टीका)

३ अतगडदसासु ण अतगडाण णगराइ × × समोसरणा धम्मायरिया, धम्मकहा × ×
पव्वज्जाओ, × × जियपरीसहाण चउव्विहकम्मक्खयम्मि जह केवलस्स लभो परियाओ, जत्तिओ य जह
पालिओ मुणिहि पायोवगओ य जो जहि जत्तियाणि भंत्ताणि छेअत्ता अतगडो मुणिवरो × × मोक्खसुख च
पत्ता एए अन्ने य एवमाइअत्था वित्त्यारेण पस्सेइ । सम सू १४३.

भाष्ये— उपपादो जन्म प्रयोजनमेषां त इमे औपपादिकाः, विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजित-सर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तराणि । अनुत्तरेष्वौपपादिकाः अनुत्तरौपपादिकाः, ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-कार्तिकेय-नन्द^१-नन्दन-शालिभद्राभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे । एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गान्निजित्य विजयाद्यनुत्तरेषूपपन्नाः इत्येवमनुत्तरौपपादिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशा^२ । पण्हायरणं णाम अंगं तेणउदिलक्ख-सोलह-सहस्स-पदेहि ९३१६००० अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी निव्वेयणी चेदि

जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं । जो अनुत्तरोंमें उपपादजन्मसे पैदा होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं । ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्द्धमान तीर्थकरके तीर्थमे हुए हैं । इसी तरह ऋषभनाथ आदि तेवीस तीर्थकरोंके तीर्थमें अन्य दश दश महासाधु दारुण उपसर्गोंको जीतकर विजयादिक पांच अनुत्तरोंमे उत्पन्न हुए । इस तरह अनुत्तरोंमे उत्पन्न होनेवाले दश साधुओंका जिसमें वर्णन किया जावे उसे अनुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग कहते हैं ।

प्रश्नव्याकरण नामका अंग तेरानवे लाख सोलह हजार पदोंके द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निवेदनी इन चार कथाओंका (तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल-संबन्धी धन, धान्य, लाभ, अलाभ, जीवित, मरण, जय और पराजय संबन्धी प्रश्नोंके पूछनेपर उनके उपायका) वर्णन करता है ।

१ 'कार्तिक नद' इति पाठ । त रा वा पू. ५१ 'कार्तिकेय नद' इति पाठ गो जी, जी. प्र, टी ३५७ मु कार्तिकेयानन्द ।

२ अणुत्तरोववाइयदसामु ण अनुत्तरोववाइयाण × × × तित्थकरसमोसरणाइ परमगल्लजगाहियाणि जिणातिसेसा य बहुविसेसा जिणसीसाण चेव समणगणपवरगवहत्थीण × × अणगारमहरिस्सीणं वण्णओ × × अवसेसकम्मविसयविरत्ता नरा जहा अवभुवेति धम्ममुराल सजम तव चावि बहुविहप्पगार जह वहीणि वासाणि अणुचरित्ता आराहियनाणदसणचरित्तजोगा × × जे य जहि जत्तियाणि भत्ताणि छेअइत्ता लद्धण य समाहिमुत्तम-ज्झाणजोगजुत्ता उववन्ना मुणिवरोत्तमा जह अणुत्तरेसु पावति जह अनुत्तर तत्थ विसयसोक्ख तओ य चुआ कमेण कार्हित्ति सजया जहा य अतकिरिय एए अन्ने य एवमाइअत्था वित्थरेण × × आधविज्जति सम सू १४४ ईसिदासे य १ घण्णे त २ सुणक्खत्ते य ३ कात्ति ४ । सट्ठाणे ५ सालिभद्दे त ६, आणदे ७ तेतली ८ तित । दसन्नभद्दे ९ अत्तिमुत्ते १० एमेते दस आहिया ॥ 'अणुत्तरो' इत्यादि, इह च त्रयो वर्गास्तज्ज तृतीयवर्गं दृश्यमानाध्ययनं कैश्चित्सह साम्यमस्ति, न सर्वे । यतस्तत्र तु दृश्यते 'धन्यश्च सुनक्षत्र ऋषिदानश्चाख्यातः पेल्लको रामपुत्रश्चन्द्रमा प्रोष्ठक इति ॥ १ ॥ पेढालपुत्रोजगार. पोढिलश्च विहल्ल दशम उक्क, एवमेते आख्याता दश ॥ २ ॥ तदेवमिहापि वाचनान्तरापेक्षयाप्यनविभाग उक्तो न पुनरुप-लम्बमानवाचनापेक्षयेति । स्या सू ७५५ (टीका)

चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि^१ । तत्थ अक्खेवणी^२ णाम छद्दव्व-णव-पयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धिं करेती परूवेदि । विक्खेवणी^३ णाम पर-समएण स-समयं दूसंती पच्छा दिगंतर-सुद्धिं करेती स-समयं थावंती छद्दव्व-णव-पयत्थे परूवेदि । संवेयणी^४ णाम पुण्ण-फल-संकहा । काणि पुण्ण-फलाणि ? तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्ठि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहरिद्धीओ । णिव्वेयणी^५ णाम पाव-फल-संकहा । काणि पाव-फलाणि ? णिरय-तिरिय-कुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि । संसार-सरीर-भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम । उक्तं च—

जो नाना प्रकारकी एकान्त दृष्टियोंका और दूसरे समयोंका निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकारके पदार्थोंका प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं । जिसमें पहले परसमयके द्वारा स्वसमयमे दोष बतलाये जाते हैं । अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना की जाती है और छह द्रव्य नौ पदार्थोंका प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं । पुण्यके फलका वर्णन करनेवाली कथाको संवेदनी कथा कहते हैं ।

शंका— पुण्यके फल कौनसे हैं ।

समाधान— तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्या-घरोकी ऋद्धियां पुण्यके फल हैं ।

पापके फलका वर्णन करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं ।

शंका— पापके फल कौनसे हैं ?

समाधान— नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियोमे जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदिकी प्राप्ति पापके फल हैं ।

अथवा, संसार, शरीर और भोगोमे वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं । कहा भी है—

१ प्रश्नस्य दूतवाक्यनष्टमुष्टिचितादिरूपस्यार्थस्त्रिकालभोचरो धनधान्यादिलाभालाभसुखदुःखजी-वितमरणजयपराजयादिरूपो व्याक्रियते व्याख्यायते यस्मिस्तत्प्रश्नव्याकरणम् । अथवा शिष्यप्रश्नानुरूपतया अवक्षेपणी विक्षेपणी मवेजनी निर्वेजनी चेति कथा चतुर्विधा व्याक्रियन्ते यस्मिस्तत्प्रश्नव्याकरणं नाम ।

गो जी, जी प्र, टी ३५७

२ प्रयमानुयोगकरणानुयोगचरणानुयोगद्रव्यानुयोगरूपपरमागमपदार्थानां तीर्थंकरादिवृत्तान्तलोक-संस्थानदेशसकलवर्तितधर्मपंचास्तिकायादीनां परमताशकारहितं कथनमाक्षेपणी कथा । गो जी, जी प्र, टी ३५७

३ प्रमाणनयात्मकयुक्तियुक्तेतुत्वादिवलेन सर्वथैकान्तादिपरसमयार्थनिराकरणरूपा विक्षेपणी कथा ।

गो जी, जी प्र, टी ३५७

४ रत्नत्रयात्मकवर्मानुष्ठानफलभूततीर्थंकराद्यैश्वर्यप्रभावतेजोवीर्यज्ञानसुखादिवर्णनरूपा संवेजनी कथा । गो जी, जी प्र, टी ३५७

५ संसारशरीरभोगरागजनितदुष्कर्मफलनारकादिदुःखदुष्कुलविरूपागदारिद्र्यापमानदुःखादिवर्णना-

आक्षेपणी^१ तत्त्वविधानभूता विक्षेपणी^२ तत्त्वदिगन्तशुद्धिम् ।

सवेगिनी धर्मफलप्रपञ्चा निर्वेदिनी^३ चाह कथा विरागाम्^४ ॥ ७५ ॥

एतथ विक्खेवणी णाम कहा जिण-वयणमयाणंतस्स ण कहेयव्वा^५, अगहिद-स-समय-सव्भावो पर-समय-संकहाहि वाउलिद-चित्तो मा मिच्छत्तं गच्छेज्ज त्ति तेण तस्स विक्खेवणी मोत्तूण सेसाओ तिण्णि वि कहाओ कहेयव्वाओ । तदो गहिद-ससमयस्स^६ उवलद्ध-पुण्ण-पावस्स जिण-सासणे अट्ठि-मज्जाणुरत्तस्स^७ जिण-वयण-

तत्त्वोका निरूपण करनेवाली आक्षेपणी कथा है । तत्त्वसे दिशान्तरको प्राप्त हुई दृष्टियोका शोधन करनेवाली अर्थात् परमतकी एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना करनेवाली विक्षेपणी कथा है । विस्तारसे धर्मके फलका वर्णन करनेवाली संवेगिनी कथा है और वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेदिनी कथा है ।

इन कथाओका प्रतिपादन करते समय जो जिनवचनको नहीं जानता है अर्थात् जिसका जिनवचनमे प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि, जिसने स्वसमयके रहस्यको नहीं जाना है और परसमयकी प्रतिपादन करनेवाली कथाओके सुननेसे व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्वको स्वीकार न कर लेवे, इसलिये स्वसमयके रहस्यको नहीं जाननेवाले पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश न देकर शेष तीन कथाओका उपदेश देना चाहिये । उक्त तीन कथाओद्वारा जिसने स्वसमयको भलीभांति समझ लिया है, जो पुण्य और पापके स्वरूपको जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हृदियोंके मध्यमें रहनेवाला

द्वारेण वैराग्यकथनरूपा निर्वेजनी कथा । गो जी, जी प्र., टी. ३५७

१ आक्षिप्यते मोहात्तत्त्व प्रत्याकृष्यते श्रोताऽनयेत्याक्षेपणी । चतुर्विधा सा आचारक्खेवणी, व्यवहारक्खेवणी, पण्णत्तिकेवणी, दिट्ठिवायक्खेवणी । आचारो लोचास्नानादि, व्यवहार कथञ्चिदापन्नदोष-व्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षण, प्रज्ञप्तिश्च सगयापन्नस्य मवुरवचनं प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादि-भावकथनम् । विज्जाचरणं च तवो य पुरिसकारो य समिइ गुत्तीओ । उवइस्सइ खलु जहिय कहाइ अक्खेवणीइरसो ॥ अभि रा को (अक्खेवणी)

२ विक्षिप्यते सन्मार्गात्कुमार्गे कुमार्गाद्वा सन्मार्गे श्रोताऽनयेति विक्षेपणी । सा चउन्विहा पण्णत्ता । तं जहा, (१) ससमय कहेत्ता परसमय कहेइ । (२) परसमय कहेत्ता ससमय ठावित्ता भवइ । (३) सम्मावाय कहेइ, सम्मावाय कहेत्ता मिच्छावाय कहेइ । (४) मिच्छावाय कहेत्ता सम्मावाय ठावइत्ता भवइ ॥ जा ससमयवज्जा खलु होइ कहा लोगवेयमजुत्ता । परसमयाणं च कहा एसा विक्खेवणी णाम । अभि रा को (विक्खेवणी) ३ मु निर्वेगिनी ।

४ आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ । ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ सवेयणी पुण कहाणाणं चरित्तं तववीरियइड्ढिगदा । णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोवे य ॥

मूलारा ६५६, ६५७.

५ वेणइयस्म पढमया कहा उ अक्खेवणी कहेयव्वा । तो ससमयगहियत्थे कहिज्ज विक्खेवणी पच्छा ॥ अक्खेवणि अक्खित्ता जे जीवा ते लभति सम्मत । विक्खेवणीए भज्जा गाढतरागं च मिच्छत्त ॥ अभि रा को (वम्मकहा) ६ मु गहिद-ममयस्स ।

७ भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा । वम्माणुरागरत्तो य होइ जिणसासणे णिच्च ॥ मूलारा ७३७

णिच्चिदिगिच्छस्स भोगरड-विरदस्स तव-सील-णियम-जुत्तस्स पच्छा विक्खेवणी, कहा कहेयव्वा । एसा अकहा वि पण्णवयंतस्स परूवयंतस्स तदा कहा होदि^१ । तम्हा पुरिसंतरं पप्प समणेण कहा कहेयव्वा । पण्हादो हद-णट्ठ-मुट्ठि-चिंता-लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविय-मरण-जय-पराजय-णाम-दव्वाउ-संखं च परूवेदि । विवागसुत्तं^२ णाम अंगं एग-कोडि-चउरासीदि-लक्ख-पदेहि १८४००००० पुण्ण-पाव-कम्माणं विवायं वण्णेदि । एक्कारसंगाणं सव्व-पद-समासो चत्तारि कोडीओ पण्णारह लक्खा बे सहस्सं च ४१५०२००० । दिट्ठिवादो^३ णाम अंगं वारसमं । तस्य दृष्टिवादस्य स्वरूपं निरूप्यते- कौत्कल-काण्ठेविट्ठि-कौशिक-हरिश्मश्रु-माध्वपिक-रोमश-हारीत-मुण्ड-

रस हड्डीसे संसक्त होकर ही शरीरमे रहता है, उसी तरह जो जिनशासनमे अनुरक्त है, जिन-वचनमें जिसको किसी प्रकारकी विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रतिसे विरक्त है और जो तप, शील और नियमसे युक्त है ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका उपदेश देना चाहिये । प्ररूपण करके उत्तमरूपसे ज्ञान करानेवालेके लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है । इसलिये योग्य पुरुषको प्राप्त करके ही साधुको कथाका उपदेश देना चाहिये । यह प्रश्नव्याकरण नामका अंग प्रश्नके अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिंता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्याका भी प्ररूपण करता है । विपाक-सूत्र नामका अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदोके द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मोंके फलोंका वर्णन करता है । ग्यारह अंगोके कुल पदोका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है । दृष्टिवाद नामका बारहवां अंग है । आगे उसके स्वरूपका निरूपण करते हैं— दृष्टिवाद नामके अंगमे कौत्कल, काण्ठेविट्ठि, कौशिक, हरिश्मश्रु, माध्वपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी मतोंका, मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति,

अर्थ्यानि च कीकसानि मिज्जा च तन्मध्यवर्ती धातुरस्थिमिज्जास्ता प्रेमानुरागेण सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भा-दिरागेण रक्ता इव रक्ता येषा ते तथा । अथवाऽस्थिमिज्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते अट्ठिमिज्जेप्पेम्माणुरागरत्ता । भग २ ५ १०६ (टिका)।

१ परसमओ उभय वा सम्मद्दिट्ठिस्स ससमओ जेण ॥ तो सव्वज्झयणाइ ससमयवत्तव्वनिययाइ ॥ मिच्छत्तमयसमूह सम्मत्त ज च तदुवगारम्मि । वट्ठु परमिद्धतो तो तस्स तवो ससिद्धतो ॥ वि भा ९५६, ९५७

२ शुभाशुभकर्मणा तीव्रमदमध्यमविकल्पशक्तिरूपानुभागस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयफलदानपरिणति-रूप उदयो विपाक, त सुत्रयति वर्णयतीति विपाकसूत्रम् । गो जी, जी प्र, टी ३५७ विवागसुए ण सुक्कहदुक्कडाण कम्माण फलविवागे आघविज्जति । X X । सम सू १४६

३ दृष्टीना त्रिपट्युत्तरत्रिशतसह्याना मिथ्यादर्शनाना वादोऽनुवाद, तन्निराकरण च यस्मिन् क्रियते तद्दृष्टिवाद नाम । गो जी, जी प्र, टी ३६० दिट्ठिवाए ण सव्वभावपरूवणया आघविज्जति । से समासओ

अश्वलायनादीनां क्रियावाद-दृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचिकपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-
वाद्बलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, शाकल्य-वल्कल-
कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पैप्पलाद-वादरायण-स्वेष्टकृदैति-
कायन-वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतुकर्ण-
वाल्मीकि-रोमहर्षणी-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैयकिकदृष्टीनां
द्वात्रिंशत्^१ । एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे
क्रियते ।

एतथ किमायारादो, एवं पुच्छा सर्व्वेसि । णो आयारादो, एवं वारणा सर्व्वेसि,
दिट्ठिवादादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो- आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो
चेदि । तत्थ आणुपुव्वी ति विहा- पुव्वणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि ।

वादबलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियोंके चौरासी मतोंका, शाकल्य, वल्कल,
कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, वादरायण स्वेष्टकृत्, ऐतिकायन
वसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादियोंके सरसठ मतोंका तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण,
वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि
वैयकिकवादियोंके बत्तीस मतोंका वर्णन और निराकरण किया गया है । पूर्व्वमे कहे हुए क्रिया-
वादी आदिके कुल भेद तीनसौ त्रैसष्ठ होते हैं ।

इस शास्त्रमें क्या आचारांगसे प्रयोजन है, क्या सूत्रकृतांगसे प्रयोजन है, इस तरह
बारह अंगोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । और इस तरह पूछे जाने पर यहां पर न तो
आचारांगसे प्रयोजन है, न सूत्रकृतांग आदिसे प्रयोजन है इस तरह सबका निषेध करके यहां
पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है-
आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्याधिकार । इनमेसे पूर्व्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और
यथातयानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहां पूर्व्वानुपूर्वीसे गिनने पर बारहवें

पचविहे, परिकम्म सुत्ताइ पुव्वगय अणुओगो चूलिया । परिकम्मे सत्तविहे X X X । सुत्ताइ अट्ठासीति
भवतीति मक्खायाइ X X X । पुव्वगय चउद्दसविह पन्नत्त । अणुओगे दुविहे पन्नत्ते X X X । जण आइल्लाण
चउण्ह पुव्वण चूलियाओ, सेसाइ पुव्वाइ अचूलियाड सेत्त चूलियाओ । मम सू १४७

१ कौत्कलकाडेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमाछयिकरोमसहारीतमुडाश्वलायलादीना क्रियावाददृष्टीनाम-
शीतिशत । मरीचकुमारकपिलोलूकगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाद्बलिमाठरमौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीना चतुर-
शीति । शाकल्यवल्कलकुथुमिसात्यमुद्गिनारायणकण्वमाध्यंदिनमोदपैप्पलादवादरायणावष्टीकृदैरिकायनव-
सुजैमिन्यादीनामज्ञानकृदृष्टीना सप्तषष्टि । वशिष्ठपाराशरजतुकर्णवाल्मीकिरोमहर्षिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रो-
पमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीना वैयकिकदृष्टीना द्वात्रिंशत् । त रा वा पृ ५१ ' काणैविद्धि ' स्थाने ' कठैविद्धि ',
' माद्वपिक ' स्थाने ' माधपिक ', ' कण्व ' स्थाने ' कठ ', ' स्वेष्टकृत् ' स्थाने ' म्विष्ठिक्य ', जतुकर्ण '
स्थाने ' जतुक्कर्ण ', ' अयस्थूण ' स्थाने ' अगस्थ ' पाठा उपलभ्यन्ते । गो जी, जी प्र, टी ३६०

एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बारसमादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पढमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दिट्ठिवायादो । णामं— दिट्ठीओ वददीदि दिट्ठिवादं ति गुणणामं । पमाणं- अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं । वत्तव्वदा— तदुभयवत्तव्वदा । तस्स पंच अत्थाहियारा हवंति— परियम्म^१-सुत्त^२-पढमाणि-योग^३-पुव्वगय^४-चूलिया^५ चेदि । जं तं परियम्मं तं पंचविहं । तं जहा— चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती वियाहपण्णत्ती चेदि । तत्थ चंदपण्णत्ती^६ णाम छत्तीस-लक्ख-पंच-पद-सहस्सेहि ३६०५००० चंदाउ-परिवारिद्धि-गइ-विबुस्सेह-

अंगसे, पश्चादानुपूर्वसे गिनने पर पहलेसे और यथातथानुपूर्वसे गिनने पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है ।

नाम— इसमें अनेक दृष्टियोंका वर्णन किया गया है, इसलिये इसका 'दृष्टिवाद' यह गौण्यनाम है ।

प्रमाण— अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग आदिकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है ।

वक्तव्यता— इसमें तदुभयवक्तव्यता है ।

उस दृष्टिवादके पांच अधिकार हैं— परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । उनमेंसे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इस तरह परिकर्मके पांच भेद हैं ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म छत्तीस लाख पांच हजार पदोंकेद्वारा चन्द्रमाकी आयु,

१. परित् सर्वत. कर्माणि गणितकरणसूत्राणि यस्मिन् तत्परिकर्म । गो जी, जी. प्र, टी ३६१

२ सूचयति कुदृष्टिदर्शनीति सूत्रम् । जीव अवधक अकर्ता निर्गुण अमोक्ता स्वप्रकाशक. परप्रकाशक अस्त्येव जीव नास्त्येव जीव इत्यादिक्रियाक्रियानाविनयकुदृष्टीना मिथ्यादर्शनानि पूर्वपक्षतया कथयति । गो जी., जी प्र, टी ३६१

३ प्रथम मिथ्यादृष्टिमन्त्रतिकमव्युत्पन्न वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकार प्रथमानुयोग । चतुर्विंशतितीर्थकरद्वादशचक्रवर्तिनववलदेवनववासुदेवप्रतिवासुदेवरूपत्रिपटिशलाकापुरुषपुराणानि वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६२

४ इह तीर्थकरस्तीर्थप्रवर्तनकाले गणधरान् सकलश्रुतार्थाविगाहनसमर्थानधिकृत्य पूर्वं पूर्वगत सूत्रार्थं भाषते, ततस्तानि पूर्वाण्युच्यन्ते । गणधरा पुन सूत्ररचना विदधत आचारादिक्रमेण विदधति स्थापयन्ति वा । अन्ये तु व्याचक्षते, पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति पश्चादाचारादिकम् ।

न सू पृ २४०

५ नूदत्त्याण विसेसपरुविया चूलिया णाम । धवला अ पृ ५७३ दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानु-योगेऽनुवर्तार्यसग्रहपरा ग्रन्थपद्धतय । न सू पृ. २४६

६ चन्द्रप्रज्ञप्ति चन्द्रस्य विमानायु परिवारऋद्धिगमनहानिवृद्धिसकलार्थचतुर्थांशग्रहणादीन् वर्णयति ।

गो. जी, जी प्र., टी ३६२

वण्णणं कुणइ । सूर-पण्णत्ती^१ पंच-लक्ख-तिण्णि-सहस्सेहि ५०३००० सूरस्सायु-
भोगोवभोग-परिवारिद्धि-गइ-विबुस्सेह-दिण-किरणुज्जोव-वण्णणं कुणइ । जंबूदीव
पण्णत्ती^२ तिण्णि-लक्ख-पंचवीस-पद-सहस्सेहि ३२५००० जंबूदीवे णाणाविह-मणुयाणं
भोग-कम्म-भूमियाणं अण्णेसि च पव्वद-दह णइ-वेइया-वंसावासाकट्टिम^३-जिणहरादीणं
वण्णणं कुणइ । दीवसायरपण्णत्ती^४ वावण्ण-लक्ख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ५२३६०००
उद्धार-पल्ल-पमाणेण दीव-सायर-पमाणं अण्णं पि दीव-सायरंतब्भूदत्थं बहु-भेयं
वण्णेदि । विद्याहपण्णत्ती^५ णाम चउरासिदी-लक्ख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ८४३६०००
रुवि-अजीव-दव्वं अरुवि-अजीव-दव्वं भवसिद्धिय-अभवसिद्धिय-रासि च वण्णेदि । सुत्तं
अट्ठासीदि-लक्ख-पदेहि ८८००००० अवंधओ अलेवओ^६ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो
सच्चगओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो

परिवार, ऋद्धि, गति और विम्बकी उंचाई आदिका वर्णन करता है । सूर्यप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म पांच लाख तीन हजार पदोकेद्वारा सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, विम्बकी उंचाई, दिनकी हानि-वृद्धि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन करता है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदोकेद्वारा जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए नाना प्रकारके मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदिका और पर्वत, द्रव, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अकृत्रिम जिनालय आदिका वर्णन करता है । द्वीपसागरप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदोके द्वारा उद्धारपत्त्यसे द्वीप और समुद्रोके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नाना प्रकारके दूसरे पदार्थोंका वर्णन करता है । व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदोके द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है,

दृष्टिवाद अंगका सूत्र नामका अर्थाधिकार अठासी लाख पदोकेद्वारा जीव अवन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नास्ति-स्वरूप ही है, जीव अस्तिस्वरूप ही है, पृथिवी आदिक पांच भूतोंके समुदायरूपसे जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञानके बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है,

१ सूर्यप्रज्ञप्ति सूर्यस्यायुर्मंडलपरिवारऋद्धिगमनप्रमाणग्रहणादीन् वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६२

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपगतमेककुलनैलहदवर्षंकुडवेदिकावनसंख्यतरावाममहानद्यादीन् वर्णयति ।

गो जी, जी प्र, टी ३६२.

३. मु वेइयाण वम्सा-।

४ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति असख्यातद्वीपसागराणा स्वत्प तत्रस्थितज्योतिर्वानभावनावानेषु विद्यमाना-कृत्रिमजिनभवनादीन् वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी. ३६२

५ रूप्यरूपिजीवाजीवद्रव्याणा भव्याभव्यभेदप्रमाणलक्षणाना अनतरसिद्धपरस्परसिद्धाना अन्य-वस्तूना च वर्णन करोति । गो जी, जी प्र, टी ३६२ ६ मु अववेवओ ।

उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो अणिच्चो अप्पेति वण्णेदि । तेरासियं^१ णियदिवादं^२ विण्णाणवादं^३ सह्वादं^४ पहाणवादं^५ दव्ववादं^६ पुरिसवादं^७ च वण्णेदि । उत्तं च—

इत्यादि रूपसे क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियोंके तीनसौ त्रेसठ मतोंका पूर्वपक्षरूपसे वर्णन करता है । यह त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद, और पुरुषवादका भी वर्णन करता है । कहा भी है—

१ तेरासिय (त्रैराशिक) गोशालप्रवर्तिता आजीविका पाखण्डिनस्त्रैराशिका उच्यन्ते । कस्मादिति चेदुच्यते, इह ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति । तद्यथा, जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोक अलोका लोकालोकाश्च, सदसत्सदसत् । नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति । तद्यथा, द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिकसुभयास्तिक च । ततस्त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिका । न सू पृ २३९

२ णियतिवाद (दैववाद) जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा । तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ गो क ८८२ ये तु नियतिवादिनस्ते ह्येवमाहु, नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावा सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा । तथाहि, यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत् एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यभावव्यवस्था प्रतिनियतव्यवस्था च न भवेत् नियामकाभावात् । तत् एव कार्यनैयत्यत प्रतीयमानामेना निर्याति को नाम प्रमाणपथकुशलो वाधितु क्षमते ? मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः । अभि. रा को (णियइ)

३ विण्णाणवाद (विज्ञानाद्वैतवाद) प्रतिभासमानस्याशेषस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपान्तं प्रविष्टत्वं प्रसिद्धे सवेदनमेव पारमार्थिकं तत्त्वम् । तथाहि, यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति । × × × तथा यद्वेद्यते तद्वि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिरिति । न्या कु च पृ ११९ बाह्यार्थनिरपेक्ष ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्वते ते विज्ञानवादिनः । तेषां राद्वान्तो विज्ञानवादः । अभि. रा को (विण्णाणवाद)

४ सह्वाद (शब्दब्रह्मवाद) सकल योगजमयोगजं वा प्रत्यक्षं शब्दब्रह्मोल्लेख्येवावभासते बाह्याध्यात्मिकार्थपूत्यधमानस्यास्य शब्दानुविद्धत्वेनैवोत्पत्तेः, तत्संस्पर्शवैकल्ये प्रत्ययानां प्रकाशमानतायां दुर्घटत्वात् । वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च, तदभावे तेषां नापरं रूपमवशिष्यते । न्या कु च पृ १३९, १४०

५ पहाणवाद (प्रधानवाद) सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रधानम् । प्रधानस्य वादः प्रधानवादः साख्यवाद इत्यर्थः । साख्यानां हि पुमथपिष्वप्रकृतिपरिणाम एव लोकः । अभि. रा को (पहाणकड)

६ दव्ववाद (द्रव्यैकान्तवादी नित्यवाद) यत्कापिल दर्शनं साख्यमत एतद् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम् । तदुक्तम्, ज काविल दरिसण एय दव्वद्वियस्स वत्तव्व । स त ३, ४८

७ पुरिसवाद (पौरुषवाद) आलसङ्घो णिरुच्छाहो फलं किञ्चिं ण भुज्जे । यणक्खीरादिपाणं वा पउस्सेण विणा ण हि ॥ गो क ८९० अथवा, पुरिसवाद पुरुषाद्वैतवाद — एको चेव महप्पा पुरिसो देवो यं मव्ववादी य । सव्वगनिग्गूढो वि य सचेयणो निग्गुणो परमो ॥ गो क ८८१ पुरुष एवैकः सकललोकस्थिति-सर्गप्रलयहेतुः प्रलयेऽप्यलुप्तज्ञानातिशयशक्तिरिति । तथा चोक्तम्, ऊर्णनाभ इवाशूना चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् । प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥ इति । तथा 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यादि मन्वानानां वादः पुरुषवादः । अभि. रा को (पुरिसवाइ)

अट्टासी^१-अहियारेसु चउण्हमहियारणमत्थणिद्देसो^२ ।

पढमो अवधयाण विदियो तेरासियाण वोद्धवो ॥ ७६ ॥

तदियो य णियइ-पक्खे हवइ चउत्थो ससमयम्मि ॥

पढमाणियोगो पंच-सहस्स-पदेहि ५००० पुराणं वण्णेदि । उत्तं च—

वारसविह पुराण जगदिट्ठं^३ जिणवरेहि सव्वेहि ।

त सव्वं वण्णेदि हु जिणवसे रायवसे य ॥ ७७ ॥

पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्ठि-वसो दु ।

विज्जहराणं तदियो चउत्थयो वासुदेवाण ॥ ७८ ॥

चारण-वसो तह पचमो दु छट्ठो य पण्ण-ममणाण ।

सत्तमओ कुरुवसो अट्ठमओ तह य हरिवसो ॥ ७९ ॥

णवमो य इक्खुयाण दसमो वि य कासियाण वोद्धवो ।

वाईण्णकारसमो वारममो णाह-वसो दु ॥ ८० ॥

पुव्वगयं पंचाणउदि-कोडि-पण्णास-लख-पंच-पदेहि ९५५०००००५ उप्पाय-

इस सूत्र नामक अर्थाधिकारके अठासी अधिकारोमेसे चार अधिकारोका अर्थनिर्देश मिलता है । उनमे पहला अधिकार अवधकोका दूसरा त्रैराशिकवादियोका, तीसरा नियति-वादका समझना चाहिये । तथा चौथा अधिकार स्वसमयका प्ररूपक है ॥ ७६ ॥

दृष्टिवाद अंगका प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पांच हजार पदोके द्वारा पुराणोका वर्णन करता है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवने जगतमे बारह प्रकारके पुराणोका उपदेश दिया है । वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशोका वर्णन करते हैं । पहला अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरोका, दूसरा चक्रवर्तियोका, तीसरा विद्याधरोका, चौथा नारायण, प्रतिनारायणोका, पांचवां चारणोका, छठवां प्रज्ञाश्रमणोंका वंश है । तथा सातवां कुरुवंश, आठवां हरिवंश, नववां इक्ष्वाकुवंश, दशवां काश्यपवंश, ग्यारहवां वादियोका वंश और बारहवां नाथवंश है ॥ ७७-८० ॥

दृष्टिवाद अंगका पूर्वगत नामका अर्थाधिकार पंचानवे करोड़ पचास लाख और पांच पदोद्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदिका वर्णन करता है ।

१ सुत्ताइ अट्टासीति भवति । त जहा, उजुग परिणयापरिणय बहुभगिय विप्पच्चइय विनयचरिय अणतर परपर समाण सज्जूह (भासाण) समिन्न अहाच्चय (अहवाय नन्धा) सोवत्थि (वत्त य) णदावत्त बहुल पुट्ठापुट्ठ वियावत्त एवभूय दुआवत्त वत्तमाणप्पय समभिरूढ सव्वओमद् पणाम (पस्सास नन्धा) दुपडिग्गह इच्चेयाइ वावीस त्ताइ छिण्णछेअणइआइ ससमयसुत्तपरिवाडीए इच्चेआइ वावीस सुत्ताइ अच्छिन्न-छेयनइयाइ आजीवियमुत्तपरिवाडीए इच्चेआइ वावीस सुत्ताइ तिकणइयाइ तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेआइ वावीस सुत्ताइ चउक्कणइयाइ ससमयसुत्तपरिवाडीए एवामेव सपुव्वावरेण अट्टासीति सुत्ताइ भवति ।

सम सू १४७

२ मु मत्थि णिद्देसो ।

३ ' ज दिट्ठ ' इति पाठ प्रतिभाति ।

व्वय-धुवत्तादीणं वण्णणं कुणइ । चूलिया पंचविहा- जलगया थलगया मायागया
 रुवगया आगासगया चेदि । तत्थ जलगया दो-कोडि-णव-लक्ख-एऊण-णवुड-सहस्स-वे-
 सद-पदेहि २०९८९२०० जलगमण-जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि
 वण्णेदि' । थलगया णाम तेत्तिएहि चेव पदेहि २०९८९२०० भूमि-गमण-कारण-
 मंत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संवंधमणं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि' ।
 मायागया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० इंद-जालं वण्णेदि' । रुवगया तेत्तिएहि
 चेय पदेहि २०९८९२०० सीह-हय-हरिणादि-रुवायारेण परिणमण-हेटु-मंत-तंत-
 तवच्छरणाणि चित्त-कटु-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि' । आयासगया णाम
 तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० आगास-गमण-णिमित्त-मंत-तंत-तवच्छरणाणि
 वण्णेदि' । चूलिया-सव्व-पद-समासो-दस-कोडीओ एगूण-पंचास-लक्ख-छायाल सहस्स-
 पदाणि १०४९४६००० ।

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगताके भेदसे चूलिका पांच प्रकारकी है । उनमेसे, जलगता चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसी पदोद्वारा जलमे गमन और जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदिका वर्णन करती है । स्थलगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोद्वारा पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तुविद्या और भूमिसवन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणोका वर्णन करती है । मायागता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोद्वारा (मायारूप) इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । रूपगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोद्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादि के स्वरूपके आकाररूपसे परिणमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है । आकाशगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोद्वारा आकाशमे गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । इन पांचो ही चूलिकाओके पदोका जोड दश करोड़ उनचास लाख

१ जलगता चूलिका जलस्तम्भनजलगमनाग्निस्तम्भाग्निमक्षणाग्न्यामनाग्निप्रवेगनादिकारणमन्त्रतन्त्र-तपश्चरणादीन् वर्णयति । गो जी , जी प्र , टी ३६२

२ स्थलगता चूलिका मेरुकुलशैलभूम्यादिषु प्रवेगनशीघ्रगमनादिकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीन् वर्णयति । गो जी , जी प्र , टी ३६२

३ मायागता चूलिका मायारूपेन्द्रजालविक्रियाकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीन् वर्णयति ।

गो जी , जी प्र , टी ३६२

४ रूपगता चूलिका सिंहकारितुण्यरसनरतहरिणशशकवृषभव्याघ्रादिरूपपरावर्तनकारणमन्त्रतन्त्र-तपश्चरणादीन् चित्रकाष्ठलेप्योत्खननादिलक्षणधातुवाटरसवादखन्यावादादीश्च वर्णयति ।

गो जी , जी प्र , टी ३६२

५ आकाशगता चूलिका आकाशगमनकारणमन्त्रतन्त्रतपश्चरणादीन् वर्णयति ।

गो जी , जी प्र , टी ३६२.

एत्थ किं परियस्मादो, किं सुत्तादो ? एवं पुच्छा सर्व्वेसि । णो परियस्मादो, णो सुत्तादो, एवं वारणा सर्व्वेसि । पुव्वगयादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थाणुपुव्वी तिविहा, पुव्वानुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एत्थ पुव्वानुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे विदियादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पुव्वगयादो । पुव्वानं गयं पत्त-पुव्व-सरूवं वा पुव्वगयमिदि गुणणामं । अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जं, अत्थदो पुण अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा । अत्थाधियारो चोद्वसविहो । तं जहा— उत्पादपूर्वं अग्रायणीयं वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञान-प्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याण-नामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकबिन्दुसारमिति ।

तत्थ उप्पादपुव्वं^१ दसण्हं वत्थूणं १० वे-सद-पाहुडाणं २०० कोडि-पदेहि

छयालीस हजार पद है ।

इस जीवस्थान शास्त्रमे क्या परिकर्मसे प्रयोजन है? क्या सूत्रसे प्रयोजन है? इस तरह सबके विषयमे पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर परिकर्मसे प्रयोजन नहीं है, सूत्रसे प्रयोजन नहीं है इस तरह सबका निषेध करके यहां पर पूर्वगतसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है— अनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहां पूर्वानुपूर्वीसे गिननेपर चौथे भेदसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर दूसरे भेदसे और यथातथानुपूर्वीसे गिननेपर पूर्वगतसे प्रयोजन है जो पूर्वोको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वोके स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं । इसतरह 'पूर्वगत' यह गौण्यनाम है । वह अक्षर, पद, संघात प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्त-प्रमाण है । तीनों वक्तव्यताओमेसे यहां स्वसमयवक्तव्यता समझना चाहिये । अर्थाधिकारसे चौदह भेद हैं । वे ये हैं— उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व ।

उनमेसे, उत्पादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभूतोके एक करोड़ पदोद्वारा जीव, काल

१ वस्तुन द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याद्यनेकधर्मपूरकमुत्पादपूर्वम् । तच्च, जीवादिद्रव्याणा नानानय-विषयक्रमयोगपद्यसभावितोत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिकालगोचराणि नवधर्मा भवन्ति । तत्परिणत द्रव्यमपि नवविधम्, उत्पन्न उत्पद्यमान उत्पत्त्यमान नष्ट नश्यत् नश्यत् स्थित तिष्ठत् स्थास्यदिति नवप्रकारा भवन्ति । उत्पादादीना प्रत्येक नवविधत्वसभवादेकागीतिविकल्पधर्मपरिणतद्रव्यवर्णन करोति । गो जी , जी प्र ,टी ३६६

१०००००० जीव-काल-पोग्गलाणमुप्पाद-व्वय-धुवत्तं वण्णेइ । अग्गेणियं णाम पुव्वं चोद्दसण्हं वत्थूणं १४ वे-सयासीदि-पाहुडाणं २८० छण्णउइ-लक्ख-पदेहि ९६००००० अंगाणमगं वण्णेइ^१ । वीरियाणुपवादं णाम पुव्वं अट्ठण्णं वत्थूणं ८ सट्ठि-सय-पाहुडाणं १६० सत्तरि-लक्ख-पदेहि ७०,००००० अप्प-विरियं पर-विरियं उभय-विरियं खेत्त-विरियं भव-विरियं तव-विरियं वण्णेइ^२ । अत्थिणत्थिपवादं णाम पुव्वं अट्ठारसण्हं वत्थूणं १८ सट्ठि-ति-सद-पाहुडाणं ३६० सट्ठि-लक्ख-पदेहि ६०,००००० जीवाजीवाणं अत्थि-णत्थित्तं वण्णेदि^३ । तं जहा— जीवः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यादस्ति, परद्रव्य-क्षेत्रकालभावैः स्यान्नास्ति, ताभ्यामक्रमेणादिष्टः स्यादवक्तव्यः, प्रथमद्वितीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति च, प्रथमतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, द्वितीयतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, प्रथम-

और पुद्गल द्रव्यके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वर्णन करता है । (अग्र अर्थात् द्वादशांगोमे प्रधानभूत वस्तुके अग्र अर्थात् ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणीयपूर्व कहते हैं ।) यह पूर्व चौदह वस्तुगत दोसौ अस्ती प्राभूतोंके छद्यानवे लाख पदों द्वारा अंगोके अग्र अर्थात् परिमाणका कथन करता है । वीर्यानुप्रवादपूर्व आठ वस्तुगत एकसौ साठ प्राभूतोंके सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भाववीर्य और तपवीर्यका वर्णन करता है । अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व अठारह वस्तुगत तीनसौ साठ प्राभूतोंके साठ लाख पदोंद्वारा जीव और अजीवके अस्तित्व और नास्तित्वधर्मका वर्णन करता है । जैसे जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है । जिस समय वह स्वद्रव्यचतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टयद्वारा अक्रमसे अर्थात् युगपत् विवक्षित होता है उस समय स्यादवक्तव्यरूप है । स्वद्रव्यादिरूप प्रथमधर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीयधर्मसे जिस समय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्तिरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म और स्याद-वक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिस समय विवक्षित होता है उस समय कथंचित् अस्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिस समय क्रमसे विवक्षित होता है उस समय कथंचित् नास्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म, स्यान्नास्तिरूप

१ अग्रस्य द्वादशांगेषु प्रधानभूतस्य वस्तुन अग्रं ज्ञान अग्रायणं, तत्प्रयोजनमग्रायणीयम् । तच्च सप्तशतमुनयदुर्णयपचास्तिकायपङ्क्तद्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थादीन् वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६६ अग्र परिमाण तस्यायन गमन परिच्छेदनमित्यर्थ । तस्मै हितमग्रायणीय, सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारीति भावार्थ । न सू पृ २४१

२ वीर्यस्य जीवादिवस्तुसामर्थ्यानुवदनमनुवर्णनमस्मिन्निति वीर्यानुप्रवाद नाम तृतीय पूर्वम् । तच्च आत्मवीर्यपरवीर्योभयवीर्यक्षेत्रकालवीर्यभाववीर्यतपोवीर्यादिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायवीर्याणि वर्णयति ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६.

३ अस्ति नास्ति इत्यादिवर्माणां प्रवाद प्ररूपणमस्मिन्निति अस्तिनास्तिप्रवाद नाम चतुर्थ पूर्वम् ।

गो जी, जी प्र. टी ६६६

द्वितीयतृतीयधर्मः क्रमेणादिष्टः स्यादिस्त च नास्ति चावक्तव्यश्च जीव इति ।
 एवमजीवादयोऽपि वक्तव्याः । णाणपवादं णाम पुव्वं बारसण्हं वत्थूणं १२ वि-सद-
 चालीस-पाहुडाणं २४० एगूण-कोडि-पदेहि ९९९९९९९ पंच णाणाणि तिण्णि
 अण्णाणाणि वण्णेदि^१ । दव्वद्विय-पज्ज-वद्विय-णयं पडुच्च अणादिअणिहण-अणादि-
 सणिहण-सादिअणिहण-सादिसणिहण-णाणादि^२ वण्णेदि-णाणं णाणसरूवं च वण्णेदि ।

सच्चपवादं णाम पुव्वं बारसण्हं वत्थूणं १२ दु-सय-चालीस-पाहुडाणं २४०
 छहि अहिय-एग-कोडि-पदेहि १००००००६ वाग्गुप्तिः^३ वाक्संस्कारकारणं प्रयोगो
 द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेक प्रकारं मृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र
 निरूपितस्तत्सत्यप्रवादम् । व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्वं वा वाग्गुप्तिः । वाक्संस्कार-
 कारणानि शिरःकण्ठादीन्यष्टौ स्थानानि । वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः सुगमः ।
 अभ्याख्यानकलहपैशून्यावद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिवृत्त्यप्रणतिमोषसम्यग्मिथ्यादर्शना-
 तिमका भाषा द्वादशधा । अयमस्य कर्तेति अनिष्टकथनमभ्याख्यानम् । कलहः प्रतीतः ।

द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय
 कथंचित् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप जीव है । इसी तरह अजीवादिकका भी कथन करना
 चाहिये । ज्ञानप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोके एककम एक करोड पदोद्वारा
 पांच ज्ञान तीन अज्ञानोका वर्णन करता है । तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यार्थिकनयकी अवेक्षा
 अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्तरूप ज्ञानादि तथा इसी तरह ज्ञान
 और ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करता है । सत्यप्रवादपूर्व बारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोके
 एक करोड छह पदोद्वारा वचनगुप्ति, वाक्संस्कारके कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकारकी भाषा,
 अनेक प्रकारके वक्ता, अनेक प्रकारके असत्यवचन और दश प्रकारके सत्यवचन इन सबका वर्णन
 करता है । असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचनसंयम अर्थात् मौनके धारण करनेको वचनगुप्ति
 कहते हैं । मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वाका मूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचनसंस्कारके
 कारण हैं । शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचनप्रयोगका स्वरूप सरल है । अभ्याख्यानवचन,
 कलहवचन, पैशून्यवचन, अवद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निवृत्तिवचन
 अप्रणतिवचन, मोषवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शनवचनके भेदसे भाषा बारह प्रकारकी
 है । यह इसका कर्ता है इस तरह अनिष्ट कथन करनेको अभ्याख्यानभाषा कहते हैं । कलहका

१ ज्ञानाना प्रवाद प्ररूपणमस्मिन्निति ज्ञानप्रवादम् । तच्च मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि पच
 सम्यग्ज्ञानानि । कुमतिकुश्रुतविभगाख्यानि त्रीण्यज्ञानानि स्वरूपमख्याविषयफलानि आश्रित्य तेषां प्रामाण्या-
 प्रामाण्यविभाग च वर्णयति । गो, जी, जी प्र, टी ३६६

२ मु सादिमणिहणाणि ।

३ इत आरम्य सत्यप्रवादवर्णनान्तं यावत् समग्रपाठोऽविकलरूपेण तत्त्वार्थराजवार्तिके पृ ५२
 पक्ति ८ त आरम्य २८ तमपक्षिपर्यन्तं शब्दश उपलभ्यते ।

पृष्ठतो दोषाविष्कारणं पैशुन्यम् । धर्मार्थिकाममोक्षासम्बद्धा वागबद्धप्रलापः । शब्दादि-
विषयेषु रत्युत्पादिका रतिवाक् । तेष्वेवारत्युत्पादिकारतिवाक् । यां वाचं श्रुत्वा
परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक् । वणिग्व्यवहारे यामवधार्यं निकृतिप्रवणः
आत्मा भवति स निकृतिवाक् । यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाभ्यां^१ केष्वपि न प्रणमति
साऽप्रणतिवाक् । यां श्रुत्वा स्तेये प्रवर्तते सा मोषवाक् । सम्यग्मार्गस्योपदेष्टी^२
सम्यग्दर्शनवाक् । तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक् । वक्तारश्चाविष्कृतवक्तृपर्यायाः
द्वीन्द्रियादयः । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम् । दशविधः सत्यसद्भावः नाम-
रूप-स्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समय-सत्यभेदेन । तत्र
सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, यथेन्द्र इत्यादि ।
यदर्थसन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादिष्वसत्यपि चैतन्यो-
पयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि । असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षादिषु तत्

अर्थ स्पष्ट ही है । (परस्पर विरोधके बढ़ानेवाले वचनोकी कलहवचन कहते हैं ।) पीछेसे
दोष प्रगट करनेको पैशून्यवचन कहते हैं । धर्म, अर्थ काम और मोक्षके संबन्धसे रहित वचनोको
अवद्वप्रलापवचन कहते हैं । इन्द्रियोके शब्दादि विषयोमे राग उत्पन्न करनेवाले वचनोको
रतिवचन कहते हैं । इन्द्रियोके शब्दादि विषयोमे अरतिको उत्पन्न करनेवाले वचनोको
अरतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर परिग्रहके अर्जन और रक्षण करनेमें आसक्ति
उत्पन्न होती है उसे उपधिवचन कहते हैं । जिस वचनको अवधारण करके जीव वाणिज्यमें
ठगनेरूप प्रवृत्ति करनेमें समर्थ होता है उसे निकृतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर तप
और ज्ञानसे अधिक गुणवाले पुरुषोमे भी जीव नन्नीभूत नहीं होता है उसे अप्रणतिवचन कहते
हैं । जिस वचनको सुनकर चौर्यकर्ममें प्रवृत्ति होती है उसे मोषवचन कहते हैं । समीचीन मार्गका
उपदेश देनेवाले वचनको सम्यग्दर्शनवचन कहते हैं । मिथ्यामार्गका उपदेश देनेवाले वचनको
मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं । जिनमे वक्तृपर्यायि प्रगट हो गई है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी
जीव वक्ता हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका हैं । नामसत्य,
रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य
और समयसत्यके भेदसे सत्यवचन दश प्रकारका है ।

मूल पदार्थके नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्यके व्यवहारके लिये जो
सज्ञा की जाती है उसे नामसत्य कहते हैं । जैसे, ऐश्वर्यादि गुणोके न होने पर भी किसीका
नाम ' इन्द्र ' ऐसा रखना नामसत्य है । पदार्थके नहीं होने पर भी रूपकी मुख्यतासे जो वचन
कहे जाते हैं उसे रूपसत्य कहते हैं । जैसे, चित्रलिखित पुरुष आदिमें चैतन्य और उपयोगादिक-
रूप अर्थके नहीं रहने पर भी ' पुरुष ' इत्यादि कहना रूपसत्य है । मूल पदार्थके नहीं

१ ' तपोविज्ञानाधिकेष्वपि ' इति पाठ । त रा वा पृ ५२

२ मु. सम्यग्मार्गोपदेष्टी ।

स्थापनासत्यम् । साद्यनादीन् भावान्^१ प्रतीत्य यद्वचस्तत्प्रतीत्यसत्यम् । यल्लोके संवृत्याश्रितं वचस्तत्संवृतिसत्यम्, यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि । धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्ममकरहंससर्वतोभद्रकौञ्चव्यूहादिषु इतरेतरद्रव्याणां^२ यथाविभागविधिसन्निवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् । द्वात्रिंशज्जनपदेऽर्वायानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपदसत्यम् । ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणां व्यपदेशदृष्टं यद्वचस्तद्देशसत्यम् । छद्मस्थ-ज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमिदमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यम् । प्रतिनियतषट्त्तयद्रव्यपर्यायाणा-मागमगम्यानां याथात्म्याविष्कारणं यद्वचस्तत्समयसत्यम् ।

आदपवादं सोलसण्हं वत्थूणं १६ वीसुत्तर-ति-सय-पाहुडाणं ३२० छव्वीस-कोडि-पदेहि २६०००००००० आदं वण्णेदि वेदे त्ति वा विण्हु त्ति वा भोत्ते त्ति वा बुद्धे त्ति वा इच्चादि-सरुवेण । उवतं च—

जीवो क्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोगलो ।

वेदो विण्हू सयभू य सरीरी तह माणवो ॥ ८१ ॥

रहने पर भी कार्यके लिये जो द्यूतसंवन्धी अक्ष (पांसा) आदिमे स्थापना की जाती है उसे स्थापनासत्य कहते हैं । सादि और अनादि भावोंकी अपेक्षा जो वचन बोला जाता है उसे प्रतीत्यसत्य कहते हैं । लोकमे जो वचन संवृति अर्थात् कल्पनाके आश्रित बोले जाते हैं उन्हें संवृतिसत्य कहते हैं । जैसे, पृथिवी आदि अनेक कारणोंके कहने पर भी जो पंक अर्थात् कीचड़मे उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं इत्यादि । धूपके सुगन्धी चूर्णके अनुलेपन और प्रघर्षणके समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और कौंच आदिरूप व्यूहरचनाके समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्योंके विभागानुसार विधिपूर्वक रचनाविशेषके प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें संयोजनासत्य कहते हैं । आर्य और अनार्यके भेदसे वत्तीस देशोमे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्राप्त करानेवाले वचनको जनपदसत्य कहते हैं । ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदिके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जो वचन हैं उन्हें देशसत्य कहते हैं । छद्मस्थोका ज्ञान यद्यपि द्रव्यकी यथार्थताका निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण अर्थात् धर्मके पालन करनेके लिये यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है इत्यादि रूपसे जो संयत और श्रावकके वचन हैं उन्हें भावसत्य कहते हैं । आगमगम्य प्रतिनियत छह प्रकारकी द्रव्य ओर उनकी पर्यायोकी यथार्थताके प्रगट करनेवाले जो वचन हैं उन्हें समयसत्य कहते हैं ।

आत्मप्रवादपूर्व सोलह वस्तुगत तीनसौ बीस प्राभृतोके छव्वीस करोड़ पदोद्वारा जीव वेत्ता है, विण्हू है, भोक्ता है, बुद्ध है, इत्यादि रूपसे आत्माका वर्णन करता है । कहा भी है—

१ मु साद्यनादीनीपशमिकादीन् भावान ।

२ ' वा सचेतनेतरद्रव्याणा ' इति पाठ । त रा वा पृ ५२

सत्ता जतू य माणी य माई जोगी य सकडो ।

असकडो^१ य खेतण्ह अंतरप्पा तहेव य^२ ॥ ८२ ॥

एदेसिमत्थो वुच्चदे । तं जहा— जीवदि जीविस्सदि पुवं जीविदो त्ति जीवो^३ । सुहमसुहं करेदि त्ति कत्ता^४ । सच्चमसच्चं संतमसंतं वददीदि वत्ता^५ । पाणा एयस्स संति त्ति पाणी^६ । अमर-णर-तिरिय-णारय-भेएण चउव्विहे संसारे कुसलमकुसलं भुज्जंदि त्ति भोत्ता^७ । छव्विह-संठाण-बहुविह-देहेहि^८ पूरदि गलदि त्ति पोग्गलो^९ । सुख-दुक्खं वेदेदि त्ति वेदो, वेत्ति जानातीति वा वेदः^{१०} । उपात्तदेहं व्याप्नोतीति विष्णुः^{११} ।

जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गल है, वेद है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सक्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योगसहित है, सकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है ॥ ८१-८२ ॥

आगे इन्हीं दोनों गाथाओका अर्थ कहते हैं । वह इस प्रकार है— जीता है, जीवित रहेगा और पहले जीवित था, इसलिये जीव है । शुभ और अशुभ कार्यको करता है, इसलिये कर्ता है । सत्य-असत्य और योग्य-अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है । इसके प्राण पाये जाते हैं इसलिये प्राणी है । देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकीके भेदसे चार प्रकारके संसारमे पुण्य और पापका भोग करता है, इसलिये भोक्ता है । छह प्रकारके सस्यान और नाना प्रकारके शरीरोद्द्वारा पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुद्गल है । सुख और दुखका वेदन करता

१ ' वेदो ' स्थाने ' वेदी ', ' सकडो ' स्थाने ' सकुडो ', ' असकडो ' स्थाने ' असकुडो ' पाठ ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६

२ गाथाद्वयान्तर्गता ' च ' शब्दा उक्तानुक्तसमुच्चयार्थाः वेदितव्याः । तत कारणात् व्यवहाराश्रयेण कर्मनोकर्मरूपभूतद्रव्यादिसम्भवेन मूर्त, निश्चयनयाश्रयेणामूर्त इत्यादय आत्मधर्मा समुच्चीयन्ते ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६

३ जीवति व्यवहारनयेन दशप्राणान् निश्चयनयेन केवलज्ञानदर्शनसम्यक्स्वरूपचित्प्राणाश्च वारयति जीविष्यति जीवितपूर्वञ्चेति जीव । गो जी, जी प्र, टी ३६६

४ व्यवहारनयेन शुभाशुभ कर्म, निश्चयेन चित्पर्यायाश्च करोतीति कर्ता । गो जी, जी प्र, टी ३६६

५ व्यवहारनयेन सत्यमसत्य च वक्तीति वक्ता, निश्चयेनावक्ता । गो जी, जी प्र, टी ३६६

६ नयद्वयोक्तप्राणा सन्त्यस्येति प्राणी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

७ व्यवहारेण शुभाशुभकर्मफल, निश्चयेन स्वस्वरूप च भुक्ते अनुभवतीति भोक्ता ।

गो जी, जी प्र टी ३६६

८. मु मठाण ।

९ व्यवहारेण कर्मनोकर्मपुद्गलान् पूरयति गालयति चेति पुद्गल, निश्चयेनापुद्गल ।

गो जी, जी प्र टी ३६६

१० नयद्वयेन लोकालोकगत त्रिकालगोचर सर्वं वेत्ति जानातीति वेद । गो जी, जी प्र टी ३६६

११ व्यवहारेण स्वोपात्तदेह समुद्धाते सर्वलोक, निश्चयेन ज्ञानेन सर्वं वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णु ।

गो जी, जी प्र टी ३६६

स्वयमेव भूतवानिति स्वयम्भूः^१ । शरीरमेयस्स अत्थि त्ति शरीरी^२ । मनुः ज्ञानं, तत्र भव इति मानवः^३ । सजण-संबंध-मित्त-वग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता^४ । चउगइ-संसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू^५ । माणो एयस्स अत्थि त्ति माणी^६ । माया अत्थि त्ति मायी^७ । जोगो अत्थि त्ति जोगी^८ । अइसण्ह-देह-पमाणेण संकुडदि त्ति संकुडो^९ । सव्वं लोगागासं वियापदि त्ति असंकुडो^{१०} । क्षेत्रं स्वस्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः^{११} । अट्ठ-कम्मवभंतरो त्ति अंतरप्पा^{१२} ।

है, इसलिये वेद है । अथवा जानता है, इसलिये वेद है । प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करता है, इसलिये विष्णु है । स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्वयम्भू है । संसार अवस्थामें इसके शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है । मनु ज्ञानको कहते हैं । उसमें यह उत्पन्न हुआ है, इसलिये मानव है । स्वजनसंबन्धी मित्रवर्ग आदिमें आसक्त रहता है, इसलिये सक्ता है । चार गतिरूप संसारमें उत्पन्न होता है, और दूसरो को उत्पन्न करता है इसलिये जन्तु है । इसके मानकषाय पाई जाती है, इसलिये मानी है । इसके मायाकषाय पाई जाती है, इसलिये मायी है । इसके तीन योग होते हैं, इसलिये योगी है । अतिसूक्ष्म देह मिलनेसे संकुचित होता है इसलिये संकुट है । संपूर्ण लोकाकाशको व्याप्त करता है, इसलिये असंकुट है । क्षेत्र अर्थात् अपने स्वरूपको जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ है । आठ कर्मोंके भीतर रहता है इसलिये अन्तरात्मा है ।

१ यद्यपि व्यवहारेण कर्मवशाद् भवे भवे भवति परिणमति, तथापि निश्चयेन स्वयं स्वस्मिन्नेव ज्ञानदर्शनस्वरूपेणैव भवति परिणमति इति स्वयम्भू । गो जी, जी प्र, टी ३६६

२ व्यवहारेण औदारिकादिशरीरमस्यास्तीति शरीरी, निश्चयेनाशरीर । गो जी, जी प्र, टी ३६६

३ व्यवहारेण मानवादिपर्यायपरिणतो मानव. उपलक्षणान्तरक तिर्यङ् देवश्च । निश्चयेन मनो ज्ञाने भव मानव । गो जी, जी प्र, टी ३६६

४ व्यवहारेण स्वजनमित्रादिपरिग्रहेषु सजतीति सक्ता, निश्चयेनासक्ता । गो जी, जी प्र, टी ३६६.

५ व्यवहारेण चतुर्गतिसंसारे नानायोगिषु जायत इति जन्तु ससारीत्यर्थ । निश्चयेनाजन्तु ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६.

६ व्यवहारेण मानोऽहकारोऽस्यास्तीति मानी, निश्चयेनामानी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

७ व्यवहारेण माया वचना अस्यास्तीति मायी, निश्चयेनामायी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

८ व्यवहारेण योग कायवाङ्मन कर्मास्यास्तीति योगी, निश्चयेनायोगी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

९, १० व्यवहारेण सूक्ष्मनिगोदलव्यपार्याप्तकसर्वजघन्यशरीरप्रमाणेन सकुटत्ति सकुचितप्रदेशो भवतीति सकुट, समुद्राते सर्वलोक व्याप्नोतीति असंकुट । निश्चयेन प्रदेशसहस्रारविसर्पणाभावादानुभय. किंचिदूनचरमशरीरप्रमाण इत्यर्थ । गो जी, जी प्र, टी ६६६

११ नयद्वयेन क्षेत्र लोका लोक स्वस्वरूपं च जानातीति क्षेत्रज्ञ । गो जी, जी प्र, टी ३६६

१२ व्यवहारेण अष्टकर्माम्यन्तरवर्तिस्वभावत्वान्, निश्चयेन चैतन्याम्यन्तरवर्तिस्वभावत्वाच्च अन्तरात्मा । गो जी, जी प्र, टी ३६६

कम्मपवादं णाम पुव्वं वीसण्हं वत्थूणं २० चत्तारि-सय-पाहुडाणं ४०० एग-
कोडि-असीदि-लक्ख-पदेहि १८०००००० अट्ठविहं कम्मं वण्णेदि' । पच्चक्खणाण-
णामधेयं तीसण्हं वत्थूणं ३० छस्सय-पाहुडाणं ६०० चउरासीदि-लक्ख-पदेहि
८४०००००० दव्व-भाव-परिमियापरिमिय-पच्चक्खणाणं उववासविहि पंच समिदीओ
तिण्णि गुत्तीओ च परूवेदि' । विज्जाणुवादं णाम पुव्वं पण्हारसण्हं वत्थूणं १५ तिण्णि-
सय-पाहुडाणं ३०० एग-कोडि-दस-लक्ख-पदेहि ११०००००० 'अंगुष्ठप्रसेनादीनां
अल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि अन्तरिक्षभीमाङ्ग-
स्वरस्वप्नलक्षणव्यञ्जनछिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति' । कल्लाण'-णामधेयं
णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० वि-सद-पाहुडाणं २०० छव्वीस-कोडि-पदेहि
२६००००००० रविशशिनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्ययफलानि शकुन-
व्याहृतमहद्दलदेववासुदेवचक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च कथयति ।

कर्मप्रवादपूर्व वीस वस्तुगत चारसौ प्राभृतोंके एक करोड़ अस्ती लाख पदोद्वारा आठ प्रकारके कर्मोंका वर्णन करता है । प्रत्याख्यानपूर्व तीस वस्तुगत छहसौ प्राभृतोंके चौरासी लाख पदोद्वारा द्रव्य, भाव आदिकी अपेक्षा परिमितकालरूप और अपरिमितकालरूप प्रत्याख्यान, उपवासविधि, पाच समिति और तीन गुप्तियोंका वर्णन करता है । विद्यानुवादपूर्व पन्द्रह वस्तुगत तीनसौ प्राभृतोंके एक करोड़ दश लाख पदोंद्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्प विद्याओंका, रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओंका, और अन्तरिक्ष, भीम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन, चिन्ह इन आठ महानिमित्तोंका वर्णन करता है । कल्याणवादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके छव्वीस करोड़ पदोद्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणोंके चारक्षेत्र, उपपादख्यान, गति,

१ कर्मण प्रवाद प्ररूपणमस्मिन्निति कर्मप्रवादमष्टम पूर्व । तच्च मूलोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदभिन्न चटुविकल्पवदयोदीरणनत्वाद्यवस्थ ज्ञानावरणादिकर्मस्वरूप समवधानेर्थापयतपस्यावाक्यमादि वर्णयति ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६

२ प्रत्याख्यायते निषिध्यते सावद्यमस्मिन्ननेनेति वा प्रत्याख्यान नवम पूर्वम् । तच्च नामस्यापना-
द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य पुरुषमहननवलाद्यनुसारेण परिमितकाल अपरिमितकाल वा प्रत्याख्यान मावद्यवस्तु-
निवृत्ति उपवासविधि तज्ज्ञावनाग पचसमितित्रिगुप्त्यादिक च वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६६.

३ यथा विद्ययागुप्ते देवतावतार क्रियते सा अगुष्ठप्रसेनी विद्योच्यते । अभि रा को (अगुष्ठपमेणी)

४ विद्याना अनुवाद अनुक्रमेण वर्णन यस्मिन् तद्विद्यानुवाद दशम पूर्वम् । गो जी, जी प्र, टी. ३६६

५ कल्याणाना वाद प्ररूपणमस्मिन्निति कल्याणवादमेकादश पूर्वम् । तच्च तीर्थकरचक्रवरलदेव-
वासुदेवप्रतिवासुदेवादीना गर्भावतरणकल्याणादिमहोत्सवान् तत्कारणतीर्थकरत्वादिपुण्यविशेषहेतुषोडशभावना-
तपोविशेषपाद्यनुष्ठानानि चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रचारग्रहणशकुनादिकलादि च वर्णयति । गो जी, जी प्र टी ३६६
एकादशमवन्ध्य, वन्ध्य नाम निष्फल न विद्यते वन्ध्य यत्र तदवन्ध्य, किमुक्त भवति ? यत्र सर्वेऽपि ज्ञानतप-
सयमादय शुभफला सर्वे च प्रमादयोऽशुभफला वर्ण्यन्ते तदवन्ध्य नाम, तस्य पदपरिमाण पङ्क्ति-
पदकोटय । न मू पृ २४१.

प्राणावायं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं^१ १० वि-सद-पाहुडाणं २०० तेरस-कोडि-पदेहि १३०००००००० कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदं भूतिकर्म^२ जाडगुलिप्रक्रमं प्राणा-पानविभागं च विस्तरेण कथयति^३ । किरियाविसालं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० वि-सद-पाहुडाणं २०० णव-कोडि-पदेहि ९०००००००० लेखादिकाः द्वासप्ततिकलाः स्त्रैणांश्चतुःषष्टिगुणान् शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियां छन्दोविचितिक्रियां च कथयति^४ । लोकविन्दुसारं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० वि-सद-पाहुडाणं २०० बारह^५-कोडि-पण्णास-लख-पदेहि १२५००००००० अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षगमन-क्रियाः मोक्षसुखं च कथयति^६ । सयल-वत्थु-समासो पंचाणउदि-सदं १९५ सयल-पाहुड-समासो तिण्णि-सहस्सा णवय-सया ३९०० ।

वक्राति तथा उनके फलोका, पक्षीके शब्दोका और अरिहंत अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदिके गर्भावतार आदि महाकल्याणकोका वर्णन करता है । प्राणावायुपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके तेरह करोड़ पदोंद्वारा शरीरचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, अर्थात् शरीर आदिकी रक्षाके लिये किये गये भस्मलेपन सूत्रबंधनादि कर्म, जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायामके भेद-प्रभेदोका विस्तारसे वर्णन करता है । क्रियाविशालपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके नौ करोड़ पदोंद्वारा लेखनकला आदि बहत्तर कलाओंका, स्त्रीसंबन्धी चौसठ गुणोका, शिल्पकलाका काव्यसंबन्धी गुण-दोषविधिका और छन्दनिर्माणकलाका वर्णन करता है । लोकविन्दुसारपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके बारह करोड़ पचास लाख पदोंद्वारा आठ प्रकारके व्यवहारोका, चार प्रकारके बीजोका, मोक्षको ले जानेवाली क्रियाका और मोक्षसुखका वर्णन करता है । इन चौदह पूर्वोक्ते संपूर्ण वस्तुओका जोड़ एकसौ पञ्चानवे है और संपूर्ण प्राभृतोंका जोड़ तीन हजार नौसौ है ।

१ मु वत्थूह ।

२ शरीरभाण्डकरक्षायं भस्मसूत्रादिना यत्परिवेष्टनकरणं तद् भूतिकर्म । उक्तं च ' भूईए महियाइ व सूत्तेण व होइ भूइकम्म तु । वमहीसरीरमडयरक्खा अभिभोगमाईआ । प्र सा पू पृ १८१

३ प्राणाना आवाद प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावाद द्वादश पूर्वम् । तच्च कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदं भूतिकर्म जांगुलिकप्रक्रम इलापिगलासुपुम्नादिवहुप्रकारप्राणापानविभाग दशप्राणाना उपकारकापकारकद्रव्याणि गत्याद्यनुसारेण वर्णयति । गो जी , जी प्र , टी ३६६

४ क्रियादिभि नृत्यादिभि विशाल विस्तीर्णं गोभमान वा क्रियाविशाल त्रयोदश पूर्वम् । तच्च संगीतशान्त्रछंदोलकारादिद्वादसप्ततिकला चतुष्षष्टिगुणान् शिल्पादिविज्ञानानि चतुरशीतिगर्भावानादिका अष्टोत्तरशत सम्यग्दर्शनादिका पञ्चविंशति देववदनादिका नित्यनैमित्तिका क्रियाश्च वर्णयति ।

गो जी , जी प्र , टी ३६७ ५ मु पाहुडाण बारह

६ त्रिलोकविन्दुसार इति पाठ । त्रिलोकाना विन्दव अवयवा सार च वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति त्रिलोक-विन्दुसारम् । तच्च त्रिलोकस्वरूप पटत्रिंशत्परिकर्माणि अष्टौ व्यवहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षस्वरूप तद्गमनकारणक्रिया मोक्षसुखस्वरूप च वर्णयति ॥ गो जी , जी प्र , टी ३६३ यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्मराशिक्रियाविभागश्च सर्वश्रुतसपदुपदिष्टा तत्त्वलु लोकविन्दुसारम् । त रा वा पृ ५३

एत्थ किमुप्पायपुव्वादो, किमग्गेणियादो ? एवं पुच्छा सव्वेसि । णो उप्पाय-
पुव्वादो, एवं वारणा सव्वेसि । अग्गेणियादो । तस्स अग्गेणियस्स पंचविहो उव्वकमो-
आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । अणुपुव्वी तिविहा— पुव्वाणु-
पुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे
विदियादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे तेरसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे
अग्गेणियादो । अंगाणमग्ग-पदं वण्णेदि त्ति अग्गेणियं त्ति^१ गुणणामं । अख्खर-पद-
संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा ।

अत्थाधियारो चोद्दसविहो । तं जहा— पुव्वंते अवरंते ध्रुवे अद्दुवे चयणलद्धी
अद्दुवमं पणिधिकप्पे अट्ठे भोम्मावयादीए सव्वट्ठे कप्पणिज्जाणे तीदे अणागय-
काले सिज्झए वुज्झए^२ त्ति चोद्दस वत्थूणि^३ । एत्थ किं पुव्वंतादो, किं अवरंतादो ?
एवं पुच्छा सव्वेसि कायव्वा । णो पुव्वंतादो णो अवरंतादो, एवं वारणा सव्वेसि

इस जीवस्थान शास्त्रमे क्या उत्पादपूर्वसे प्रयोजन है, क्या अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन
है ? इस तरह सबके विषयमे पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर न तो उत्पादपूर्वसे प्रयोजन
है और न दूसरे पूर्वसे प्रयोजन है इस तरह सबका निषेध करके यहां पर अग्रायणीयपूर्वसे
प्रयोजन है, इस तरहका उत्तर देना चाहिये ।

उस अग्रायणीयपूर्वके पांच उपक्रम हैं— आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और
अर्थाधिकार । पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी, और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी
है । यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर दूसरेसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर तेरहवेसे
और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है । अंगोके अग्र अर्थात्
प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला होनेके कारण 'अग्रायणीय' यह गौण्यनाम है । अक्षर,
पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्तरूप
है । इसमे स्वसमयका ही कथन किया गया है, इसलिये स्वसमयवक्तव्यता है ।

अग्रायणीयपूर्वके अर्थाधिकार चौदह प्रकारके हैं । वे इस प्रकार हैं, पूर्वान्त, अपरान्त
ध्रुव, अध्रुव, चयनलब्धि, अर्धोपम, प्रणधिकल्प, अर्थ, भौम, व्रतादिक, सर्वार्थ, कल्पनिर्याण,
अतीतकालमे सिद्ध और बुद्ध, अनागतकालमें सिद्ध और बुद्ध । इनमेसे यहां पर क्या पूर्वान्तसे
प्रयोजन है, क्या अपरान्तसे प्रयोजन है ? इस तरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहां
पर पूर्वान्तसे प्रयोजन नहीं, अपरान्तसे प्रयोजन नहीं, इत्यादि रूपसे सबका निषेध कर देना
चाहिये । किन्तु चयनलब्धिसे यहां पर प्रयोजन है इस प्रकार उत्तर देना चाहिये । चयनलब्धिका

१ मु अग्गेणिय गुणणाम । २ मु वज्झए ।

३. पूर्वान्त ह्यपरान्त ध्रुवमध्रुवच्यवनलब्धिनामानि । अध्रुव सप्रणिधि चाप्यर्थं भौमावयाद्य (?) च ॥
सर्वार्थकल्पनीय ज्ञानमतीत त्वनागत कालम् । सिद्धिमुपाव्य च तथा चतुर्दश वस्तूनि द्वितीयस्य ॥ द म पृ ८-९

कायव्वा । चयणलद्धीदो । तस्स उवक्कमो पंचविहो । आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा । पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पंचमादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चयणलद्धीदो । णामं चयण-विहिं लद्धि-विहिं च वण्णेदि तेण चयणलद्धि त्ति गुणणामं । पमाणमक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा । अत्थाधियारो वीसदिविहो । एत्थ किं पढम-पाहुडादो, किं विदिय-पाहुडादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं णेयव्वा । णो पढम-पाहुडादो णो विदिय-पाहुडादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयव्वा । चउत्थ-पाहुडादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो । आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा । पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे सत्तारसमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे कम्म-पयडिपाहुडादो । णामं कम्माणं पयडि-सरूवं वण्णेदि तेण कम्मपयडिपाहुडे त्ति

उपक्रम पांच प्रकारका है— आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । उन तीनोंमेंसे, यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर पांचवें अर्थाधिकारसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर दशवे अर्थाधिकारसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर चयनलद्धि नामके अर्थाधिकारसे प्रयोजन है । यह अर्थाधिकार चयनविधि और लद्धिविधिका वर्णन करता है, इसलिये चयनलद्धि यह गौण्यनाम है । अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यात तथा अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है । स्वसमयका कथन करनेवाला होनेके कारण यहां पर स्वसमयवक्तव्यता है । चयनलद्धिके अर्थाधिकार वीस प्रकारके हैं । उनमेंसे यहां क्या प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन है, क्या दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन है ? इस तरह सबके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, इस प्रकार सबका निषेध कर देना चाहिये । किन्तु यहां पर चौथे प्राभृतसे प्रयोजन है, ऐसा उत्तर देना चाहिये ।

उसका उपक्रम पांच प्रकारका है— आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर चौथे प्राभृतसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर सत्रहवें प्राभृतसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर कर्मप्रकृतिप्राभृतसे प्रयोजन है । यह कर्मोंकी प्रकृतियोंके स्वरूपका वर्णन करता है, इसलिये कर्मप्रकृतिप्राभृत यह गौण्यनाम है । इसका 'वेदनाकृत्स्नप्राभृत' यह दूसरा नाम भी है । कर्मोंके उदयको वेदना कहते हैं । उसका यह

गुणणामं । वेयणकसिणपाहुडे त्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि । वेयणा कम्माणमुदयो,
तं कसिणं निरवसेसं वण्णेदि, अदो वेयणकसिण-पाहुडमिदि एदमवि गुणणाममेव ।
पमाणमदखर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जमतथदो अणंतं । वत्तव्वं
ससमयो । अत्थाहियारो चउवीसदिविहो । तं जहा- कदी वेदणाए फासे कम्मे
पयडीसु बंधणे णिवंधणे पक्कमे उवक्कमे उदए मोक्खे संकमे लेस्सा लेस्सायम्मे
लेस्सापरिणामे सादमासादे दीहे रहस्से भवधारणीए पोग्गलत्ता णिधत्तमणिधत्तं
णिकाचिदमणिकाचिदं कम्मट्ठिदी पच्छिमक्खंधे' त्ति । अप्पावहुगं च सव्वत्थ, जेण
चउवीसण्हमणियोगद्वाराणं साहारणो तेण पुह अहियारो ण होदि त्ति । एत्थ किं
कदीदो, किं वेयणादो ? एवं पुच्छा सव्वत्थ कायव्वा । णो कदीदो, णो वेयणादो,
एवं वारणा सव्वेसिं णेयव्वा । बंधणादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो- आणुपुव्वी
णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा- पुव्वाणुपुव्वी
पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । तत्थ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे छट्ठादो,

निरवशेषरूपसे वर्णन करता है, इसलिये वेदनाकृत्स्नप्राभूत यह भी गौण्यनाम ही है । यह अक्षर,
पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा
अनन्तप्रमाण है । स्वसमयका ही कथन करनेवाला होनेके कारण इसमे स्वसमयवक्तव्यता है ।

कर्मप्रकृतिप्राभूतके अर्थाधिकार चौबीस प्रकारके हैं, वे इस प्रकार हैं- कृति, वेदना,
स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म,
लेश्यापरिणाम, सातअसात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित,
अनिकाचित, कर्मस्थिति और पश्चिमस्कंध । इन सब अधिकारोमे अल्पबहुत्व लगा लेना
चाहिये, क्योंकि, चौबीस ही अधिकारोमे अल्पबहुत्व साधारण अर्थात् समानरूपसे है, इसलिये
अल्पबहुत्वनामका पृथक् अधिकार नहीं है ।

यहां पर क्या कृतिसे प्रयोजन है, क्या वेदनासे प्रयोजन है ? इस तरह सब अधिकारोके
विषयमे पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर न तो कृतिसे प्रयोजन है, न वेदनासेही प्रयोजन है,
इस तरह सबका निषेध कर देना चाहिये । किंतु बन्धन अधिकारसे प्रयोजन है, इस तरह उत्तर
देना चाहिये । उस बन्धन नामके अधिकारका उपक्रम पांच प्रकारका है- आनुपूर्वी, नाम,
प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके
भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । उन तीनोंमेसे, पूर्वानुपूर्वीसे गिननेपर छठे अधिकारसे,

१ पचमवस्तुचतुर्यप्राभूतकस्यानुयोगनामानि । कृतिवेदने तथैव स्पर्शनकर्म प्रकृतिमेव ॥ वधन-
निबधनप्रक्रमानुपक्रममयाम्युदयमोक्षौ । सक्रमलेश्ये च तथा लेख्याया कर्मपरिणामौ ॥ सातमसात दीर्घं ह्रस्व
भवधारणीयसज्ञं च । पुरुपुद्गलात्मनाम च निधत्तमनिधत्तमभिनीमि ॥ मनिकाचितमनिकाचितमथ कर्मस्थितिक-
पश्चिमस्कंधौ । अल्पबहुत्व च यजे तद्द्वाराणा चतुर्विंशम् ॥ ६ भ पृ ९

पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे एगूणवीसदिमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे बंधणादो । णामं बंध-वण्णणादो बंधणो त्ति गुणणामं । पमाणमक्खर-पय-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जमत्यदो अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तव्वदा । अत्थाधियारो चउव्विहो । तं जहा— बंधो बंधगो बंधणिज्जं बंधविधाणं चेदि । एत्थ किं बंधादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायव्वा । णो बंधादो, णो बंधणिज्जादो । बंधगादो बंधविधाणादो च । एत्थ बंधगे त्ति अहियारस्स एक्कारस अणियोगद्वाराणि । तं जहा— एगजीवेण सामित्तं एगजीवेण कालो एगजीवेण अंतरं णाणाजीवेहि भंगविचयो दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो पोसणाणुगमो णाणाजीवेहि कालाणुगमो णाणाजीवेहि अंतराणुगमो भागाभागाणुगमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि । एत्थ किं एगजीवेण सामित्तादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं । णो एगजीवेण सामित्तादो, एवं वारणा सव्वेसिं । पंचमादो । दव्वपमाणादो दव्वपमाणाणुगमो णिग्गदो ।

पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर उन्नीसवे अधिकारसे और यथातथानुपूर्वीसे गिननेपर बन्धन नामके अधिकारसे प्रयोजन है । यह बन्धन नामका अधिकार बन्धका वर्णन करता है, इसलिये इसका ' बन्धन ' यह गौण्यनाम है । यह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा संख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है । स्वसमयका वर्णन करनेवाला होनेसे इसमें स्वसमयवक्तव्यता है ।

इसके अर्थाधिकार चार प्रकारके हैं । वे इस प्रकार हैं— बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । यहांपर क्या बन्धसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे चारों अधिकारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहांपर बन्धसे प्रयोजन नहीं है, न बन्धनीयसे प्रयोजन है, किन्तु बन्धक और बन्धविधानसे यहांपर प्रयोजन है ।

इन बन्ध आदि चार अधिकारोंमेंसे बन्धक इस अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार है । वे इस प्रकार हैं— एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगम, एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम, एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम, भागाभागाणुगम और अल्पवहुत्वानुगम । यहांपर क्या एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे ग्यारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहांपर एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन नहीं है, इत्यादि रूपसे सबका निषेध भी कर देना चाहिये । किन्तु यहां पांचवे द्रव्यप्रमाणानुगमसे प्रयोजन है, इस प्रकार उत्तर देना चाहिये ।

इस जीवस्थान शास्त्रमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामका अधिकार है, वह इस बन्धक नामके अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामके पांचवे अधिकारसे निकला है ।

बंधविहाणं चउव्विहं । तं जहा— पयडिबंधो द्विदिवंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि । तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो, मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि । तत्थ जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्पो । जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, एगेगुत्तर-पयडिबंधो अव्वोगाढउत्तरपयडिबंधो चेदि । तत्थ जो सो एगेगुत्तरपयडिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्वाराणि णादव्वाणि भवंति । तं जहा, समुक्कित्तणा सव्वबंधो णोसव्वबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्धुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधंतरं बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागानुगमो परिमाणानुगमो खेत्तानुगमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि । एदेसु समुक्कित्तणादो पयडिसमुक्कित्तणा द्वाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया णिगया । तेवीसदिमादो भावादो भावो णिगदो । जो सो अव्वोगाढउत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, भुजगारबंधो पयडिट्ठाणबंधो चेदि । जो सो भुजगारबंधो तस्स अट्ठ अणियोगद्वाराणि, सो थप्पो । जो सो पयडिट्ठाणबंधो तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि । तं जहा, संतपरूवणा दव्वपप्पाणानुगमो खेत्तानुगमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि । एदेसु अट्ठसु अणियोगद्वारेसु छ अणियोगद्वाराणि णिगयाणि ।

बन्धविधान चार प्रकारका है । वह इस प्रकार— प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । उन चार प्रकारके बन्धमेसे मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदसे प्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है । उनमेसे, मूलप्रकृतिबन्धका वर्णन स्थगित करके उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदोंका वर्णन करते हैं । वह उत्तरप्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है— एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्ध । उनमेसे जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध है उसके चौबीस अनुयोगद्वार हैं । वे इस प्रकार हैं— समुत्कीर्तना, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धांतर, बन्धसन्निकर्ष, नाना जीवोकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इन चौबीस अधिकारोमे जो समुत्कीर्तना नामका अधिकार है उसमेसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक निकले हैं और तेवीसवे भावानुगमसे भावानुगम निकला है ।

जो अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्ध है वह दो प्रकारका है— भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध । उनमेसे, भुजगारबन्धके आठ अनुयोगद्वारोके वर्णनको स्थगित करके प्रकृतिस्थानबन्धसे जो आठ अनुयोगद्वार हैं उनका वर्णन करते हैं । वे इस प्रकार हैं— सत्परूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इन आठ अनुयोगद्वारोमेसे छह अनुयोगद्वार निकले हैं । वे इस प्रकार हैं— सत्परूपणा, क्षेत्रपरूपणा,

तं जहा— संतपरूवणा खेत्तपरूवणा पोसणपरूवणा कालपरूवणा अंतरपरूवणा अप्पावहुगपरूवणा चेदि । एदाणि छ पुविल्लाणि दोणिण एक्कदो मेलिदे जीवट्टाणस्स अट्ट अणियोगद्वाराणि हवंति । पयडिट्ठाणबंधे वुत्त-संतादि-छ-अणियोगद्वाराणि पयडिट्ठाणबंधस्स वुत्ताणि । पुणो जीवट्टाणस्स संतादि-छ-अणियोगद्वाराणि चोद्दसण्हं गुणट्टाणाणं वुत्ताणि । कधं तेहिंतो एदाणमवदारो त्ति? ण एस दोसो, एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी अत्थि । एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी एवदि खेत्ते । एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधएहि मिच्छाइट्ठीहि एवदियं खेत्तं पोसिदं । एदस्स पयडिट्ठाणस्स बंधया मिच्छाइट्ठी तं मिच्छत्त-गुणमच्छंडंता' जहण्णेण एत्तियं काल-मुक्कस्सेण एत्तियं कालमच्छंत्ति । ताणमंतर-कालो जहण्णुक्कस्सेण एत्तिओ होदि ।

स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा । ये छह और बन्धक अधिकार के ग्यारह अधिकार हैं, उनमेके द्रव्यप्रमाणानुगममेसे निकला हुआ द्रव्यप्रमाणानुगम तथा एकोत्तरप्रकृतिबन्धके जो चौबीस अधिकार हैं उनमेके तेवीसवे भावानुगममेसे निकला हुआ भावप्रमाणानुगम, इस तरह इन सबको एक जगह मिला देने पर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार हो जाते हैं ।

शंका— प्रकृतिस्थानबन्धमे जो छह अनुयोगद्वार कहे गये हैं वे प्रकृतिस्थानबन्ध-संबन्धी कहे गये हैं । किन्तु जीवस्थानके जो सत्प्ररूपणा आदि छह अनुयोगद्वार हैं वे चौदह गुणस्थानसंबन्धी कहे गये हैं । ऐसी हालतमें प्रकृतिस्थानबन्धसंबन्धी छह अनुयोगद्वारोमेसे जीवस्थानसंबन्धी छह अनुयोगद्वारोका अवतार कैसे हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव हैं । मिथ्यादृष्टि जीव इतने क्षेत्रमे इस प्रकृतिस्थानके बन्धक होते हैं । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोने इतना क्षेत्र स्पर्श किया है । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव उस मिथ्यात्व गुणस्थानको नहीं छोड़ते हुए जघन्यकी अपेक्षा इतने कालतक और उत्कृष्टकी अपेक्षा इतने कालतक मिथ्यात्व गुणस्थानमे रहते हैं । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोका जघन्य अन्तरकाल इतना और उत्कृष्ट अन्तरकाल इतना होता है । इसी तरह शेष गुणस्थानोका कथन करके फिर उनका अल्पबहुत्व कहा गया है । इसलिये उस प्रकृतिस्थानमे कहे गये छह अनुयोगद्वारोके साथ जीवस्थानमे कहे गये छह अनुयोगद्वारोका एकत्व अर्थात् समानता विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

विशेषार्थ— प्रकृतिस्थानबन्धमे सदादि छह अनुयोगोका प्रकृतिस्थानकी अपेक्षा कथन है और इस जीवस्थानमे प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोकी अपेक्षा सदादि छह अनुयोगोका कथन है । इसलिये प्रकृतिस्थानके छह अनुयोगोमेसे जीवस्थानके छह अनुयोगोकी उत्पत्ति विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

एवं सेसगुणट्टाणं च भणित्तं पुणो ताणमप्पावहुगं उत्तं । तेण तेहि पयडिट्ठाणम्मिह
उत्त-छहि अणियोगद्वारेहि सह एगत्तं ण विरुज्जदे । एत्थतण-दव्वाणियोगस्स वि किं
ण गहणं कीरदि त्ति उत्ते, ण, मिच्छाडट्ठी-आदि-गुणट्टाणेहि विणा एयस्स वंधट्टाणस्स
बंधया जीवा एत्तिया इदि सामण्णेण वुत्तत्तादो । वंधगे उत्त-दव्वाणियोगस्स गहणं
कीरदि, तत्थ वंधगा मिच्छाडट्ठी एत्तिया सासणादिया एत्तिया इदि उत्तत्तादो ।
कथमजोगि-गुणट्टाणस्स अवंधगस्स दव्व-संखा पल्लविज्जदि त्ति, ण एस दोसो, भूद-
पुव्व-गडमस्सिज्जण तस्स भणण-संभवादो । जीवपयडि-सत-बंधमस्सिज्जण उत्तमिदि
वा । एवं भावस्स वि वत्तव्वं । एवं जीवट्टाणस्स अट्ठ-अणियोगद्वार-परुवणं कदं ।

प्रकृतिस्थान अधिकारमे कहे गये द्रव्यानुयोगका भी ग्रहण इस जीवस्थानमे क्यों नहीं
किया है ? अर्थात् प्रकृतिस्थान अधिकारके सदादि छह अनुयोगोंमेंसे जिस प्रकार जीवस्थानके
सदादि छह अनयोगद्वारोंकी उत्पत्ति बतलाई है, उसी प्रकार प्रकृतिस्थानाधिकारके द्रव्यानु-
योगमेंसे जीवस्थानके द्रव्यानुयोगकी उत्पत्तिका कथन क्यों नहीं किया गया है ? इस प्रकारकी
शंका करनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रकृतिस्थानके
द्रव्यानुयोग अधिकारमे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षाके बिना ' इस द्रव्यस्थानके
वन्धक जीव इतने हैं ' ऐसा केवल सामान्यरूपमे कथन किया गया है । और वन्धक अधिकारके
द्रव्यानुयोग प्रकरणमें इस प्रकृतिस्थानके वन्धक मिथ्यादृष्टि जीव इतने हैं, सासादन सम्यग्दृष्टि
जीव इतने हैं ऐसा विशेषरूपमे कथन किया गया है । इसलिये वन्धक अधिकारमें कहे गये
द्रव्यानुयोगका ग्रहण इस जीवस्थानमें किया है । अर्थात् वन्धक अधिकारके द्रव्यानुगम प्रकरणसे
जीवस्थानका द्रव्यप्रमाणानुगम प्रकरण निकला है ।

शंका— अयोगी गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियोंका वन्ध नहीं होता है, इसलिये उनकी
द्रव्यप्रमाणानुगममें द्रव्यसंख्या कैसे कही जावेगी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायका आश्रय लेकर अयोगी
गुणस्थानकी द्रव्यसंख्याका कथन संभव है । अर्थात् जो जीव पहले मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोमे
प्रकृतिस्थानोके वन्धक थे वे ही अयोगी हैं । इस प्रकार अयोगी गुणस्थानकी द्रव्यसंख्याका
प्रतिपादन किया जा सकता है । अथवा, जीवके सत्त्वरूप प्रकृतिवन्धका आश्रय लेकर अयोगी
गुणस्थानकी द्रव्यसंख्याका प्ररूपण किया गया है ।

भावानुगमका कथन भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ।

विशेषार्थ— जीवस्थानकी भावप्ररूपणा प्रकृतिस्थानके भावानुगममेंसे न निकल कर
एकैकोत्तरप्रकृतिवन्धके जो चौबीस अधिकार हैं उनके तेवीसवें भावानुगममेंसे निकली है । इसका
कारण यह है कि प्रकृतिस्थानके भावानुगममे भावोंका सामान्यरूपसे कथन है और एकैकोत्तर-
प्रकृतिस्थानके भावानुगममे भावोंका विशेषरूपसे कथन है । इस तरह जीवस्थानके आठ
अनुयोगद्वारोंका निरूपण किया ।

तदो द्विदिबंधो दुविहो- मूलपयडिद्विदिबंधो उत्तरपयडिद्विदिबंधो चेदि । तत्थ जो सो मूलपयडिद्विदिबंधो सो थप्पो । जो सो उत्तरपयडिद्विदिबंधो तस्स चउवीस अणियोगद्वाराणि । तं जहा- अद्धाछेदो सव्वबंधो णोसव्वबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहण्णबंधो अजहण्णबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्धुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधंतरं बंधसण्णियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागानुगमो परिमाणानुगमो खेत्तानुगमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पाबहुगानुगमो चेदि । तत्थ अद्धाछेदो दुविहो- जहण्णद्विदिअद्धाछेदो उक्कस्सद्विदिअद्धाछेदो चेदि । जहण्णद्विदिअद्धाछेदादो जहण्णद्विदी णिगगदा । उक्कस्सद्विदिअद्धाछेदादो उक्कस्सद्विदी णिगगदा । पुणो सुत्तादो सम्मत्तुप्पत्ती णिगगया । वियाहपण्णत्तीदो गदिरागदी णिगगदा । संपहि पुव्वं उत्तापयडिसमूक्कित्तणा' द्वाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया एदाणं पंचण्हमुवरि संपहि उत्त'-जहण्णद्विदि- अद्धाछेदं उक्कस्सद्विदिअद्धाछेदं सम्मत्तुप्पत्ति गदिरागादि च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति । एदं सव्वमवि मणेण अवहारिय 'एत्तो' इदि उत्तं भयवदा पुप्फयंतेण ।

स्थितिवन्ध दो प्रकारका है- मूलप्रकृतिस्थितिवन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्ध । उनमेसे मूलप्रकृतिस्थितिवन्धका वर्णन स्थगित करके जो उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं उनका कथन करते हैं । वे इस प्रकार है- अर्धच्छेद, सर्ववन्ध, नोसर्ववन्ध, उत्कृष्टवन्ध, अनुत्कृष्टवन्ध, जघन्यवन्ध, अजघन्यवन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, ध्रुववन्ध, अध्रुववन्ध वन्धस्वामित्वविचय, वन्धकाल, वन्धान्तर, वन्धसन्निकर्ष, नाना जीवोकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इनमे अर्धच्छेद दो प्रकारका है- जघन्यस्थिति-अर्धच्छेद और उत्कृष्ट-स्थिति-अर्धच्छेद । इनमे जघन्यस्थिति-अर्धच्छेदसे जघन्यस्थिति निकली है और उत्कृष्टस्थिति-अर्धच्छेदसे उत्कृष्टस्थिति निकली है । सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामका अधिकार निकला है और व्याख्याप्रज्ञप्तिसे गति आगति नामका अधिकार निकला है ।

अब नौ चूलिकाओका उत्पत्तिक्रम बताते हैं, पहले जो एकैकोत्तरप्रकृति अधिकारके समुत्कीर्तना नामके प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महा-दण्डकोंके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं, उन पाचोमे अभी कहे गये जघन्यस्थिति-अर्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति-अर्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन चार अधिकारोके मिला देने पर चूलिकाके नौ अधिकार हो जाते हैं । इस समस्त कथनको मनमे निश्चय करके भगवान् पुष्प-दन्तने 'एत्तो' इत्यादि सूत्र कहा ।

‘ इमेसि ’ एतेषाम् । न च प्रत्यक्षनिर्देशोऽनुपपन्नः, आगमाहितसंस्कारस्या-
चार्यस्यापरोक्षचतुर्दशभावजीवसमासस्य तदविरोधात् । जीवाः समस्यन्ते एष्विति
जीवसमासाः^१ । चतुर्दश च ते जीवसमासाः चतुर्दशजीवसमासाः । तेषां चतुर्दशानां
जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः । तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः ।
मार्गणा एवार्थः प्रयोजनं मार्गणार्थस्तस्य भावो मार्गणार्थता तस्यां मार्गणार्थतायाम् ।
तस्यामिति तत्र । ‘ इमानि ’ इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षीभूतानि निर्दिश्यन्ते,
नार्थमार्गणस्थानानि, तेषां देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । तानि च
मार्गणस्थानानि चतुर्दशैव भवन्ति, मार्गणस्थानसंख्याया न्यूनाधिकभावप्रतिषेधफल
एवकारः । किं मार्गणं नाम ? चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मि-
न्ननेन वेति मार्गणम् । उत्तं च—

‘ एतो ’ इत्यादि सूत्रमे जो ‘ इमेसि ’ पद आया है उससे जो प्रत्यक्षीभूत पदार्थका
निर्देश होता है वह अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि, जिनकी आत्मा आगमाभ्याससे संस्कृत है ऐसे
आचार्यके भावरूप चौदह जीवसमास प्रत्यक्षीभूत हैं । अतएव ‘ इमेसि ’ इस पदके प्रयोग
करनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अनन्तानन्त जीव जिनमें संग्रह किये जाय उन्हें जीवसमास
कहते हैं । वे जीवसमास चौदह हैं । उन चौदह जीवसमासोंसे यहां पर चौदह गुणस्थान
विवक्षित हैं । अर्थात् जीवसमासका अर्थ यहां पर गुणस्थान लेना चाहिये । मार्गणा, गवेषणा
और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं । मार्गणारूप प्रयोजनको मार्गणार्थ कहते हैं ।
मार्गणार्थ अर्थात् मार्गणारूप प्रयोजनके भाव अर्थात् विशेषताको मार्गणार्थता कहते हैं । उस
मार्गणारूप प्रयोजन विशेषकी विवक्षा होनेपर, यहां पर इसी अर्थमें ‘ तत्थ ’ यह पद आया है ।
‘ इमानि ’ इस पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानोंका निर्देश किया है । द्रव्यमार्गणाओका
ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, द्रव्यमार्गणाएँ देश, काल और स्वभावकी अपेक्षा दूरवर्ती हैं ।
अतएव अल्पज्ञानियोंको उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है । वे मार्गणास्थान चौदह ही हैं ।
यहां सूत्रमें जो ‘ एवं ’ पद दिया है उसका फल या प्रयोजन मार्गणास्थानकी संख्याके न्यूनाधिक-
भावका निषेध करना है ।

शंका— मार्गणा किसे कहते हैं ?

समाधान— सत्, संख्या आदि अनुयोगद्वारासे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या
जिसके द्वारा खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं । कहा भी है—

१ कथमिय ‘ जीवसमास ’ इति सज्जा गुणस्थानम्य जाता ? इति चेज्जीवा समस्यन्ते सक्षिप्यन्ते
एष्विति जीवसमासा । अथवा जीवा सम्यगासते एष्विति जीवसमासा इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्येन गुणस्थानान्वेव
जीवसमासशब्देनोच्यन्ते । गो जी, जी प्र, टी १०

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जते जहा तथा विट्ठा ।

ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणे मग्गणा होति' ॥ ८३ ॥

तं जहा ॥ ३ ॥

‘ तच्छब्दः पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शो ’ इति न्यायात् ‘ तं ’ तत् मार्गणविधानं ।
‘ जहा ’ यथेति यावत् । एवं पृष्ठवतः शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा
भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ॥ ४ ॥

गताविन्द्रिये काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने संयमे दर्शने लेश्यायां भव्ये सम्यक्त्वे
संज्ञिनि आहारे च जीवसमासाः भृग्यन्ते । ‘ च ’ शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते
समुच्चयार्थः । ‘ इति ’ शब्दः समाप्तौ वर्तते । सप्तमीनिर्देशः किमर्थः ? तेषामधि-

श्रुतज्ञान अर्थात् द्रव्यश्रुतरूप परमागममे जीव पदार्थ जिस प्रकार देखे गये हैं उसी
प्रकारसे वे जिन नारकत्वादि पर्यायोके द्वारा अथवा जिन नारकत्वादिरूप पर्यायोमे खोजे जाते
हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं । और वे चौदह होती हैं ऐसा जानो ॥ ८३ ॥

वे चौदह मार्गणास्थान जैसे ? ॥३॥

‘ तत् ’ शब्द पूर्व प्रकरणमे आये हुए अर्थका परामर्शक होता है ’ इस न्यायके अनुसार
‘ तत् ’ इस शब्दसे मार्गणाओके भेदोका ग्रहण करना चाहिये । ‘ जहा ’ इस पदका अर्थ ‘ जैसे ’
होता है । वे जैसे ? इस तरह पूछनेवाले शिष्यके सन्देहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

गति इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व,
संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं और इनमे जीव खोजे जाते हैं ॥ ४ ॥

गतिमे, इन्द्रियमे, कायमे, योगमे, वेदमे, कषायमे, ज्ञानमे, संयममें, दर्शनमे, लेश्यामे,
भव्यत्वमे, सम्यक्त्वमे, संज्ञीमें और आहारमे जीवसमासोका अन्वेषण किया जाता है । इस
सूत्रमें ‘ च ’ शब्द समुच्चयार्थक है, इसलिये प्रत्येक पदके साथ उसका संबन्ध कर लेना चाहिये ।
‘ इति ’ शब्द समाप्तिरूप अर्थमे आया है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मार्गणाएँ चौदह
ही होती हैं ।

१ प्रा प १, ५६ गो जी १४१ गत्यादिमार्गणा यदा एकजीवस्य नारकत्वादिपर्यायस्वरूपा
विवक्षितास्तदा ‘ याभि ’ इतीत्यभूतलक्षणे तृतीया विभक्ति । यदा एकद्रव्य प्रति पर्यायाणामधिकरणता
विवक्ष्यते तदा ‘ यामु ’ इत्यधिकरणे सप्तमी विभक्ति, विवक्षावशात्कारकप्रवृत्तिरिति न्यायस्य सद्भावात् ।
जी प्र टी श्रुत ज्ञायतेऽनेनेति श्रुतज्ञान, वर्णपदवाक्यरूप द्रव्यश्रुत गुरुशिष्यप्रशिष्यपरम्परया द्रव्यागमस्य
अविच्छिन्नप्रवाहेण प्रवर्तमानत्वात् । तत्र ‘ यथा दृष्टास्तथा जानीहि ’ इति वचनेन शास्त्रकारस्य कालदोषा-
त्प्रमादाद्वा यत्स्खलित तन्मुक्त्वा परमागमानुसारेण व्याख्यातार अव्येतारो वाऽविरुद्धमेव वस्तुस्वरूप गृह्णन्तीति
प्रदर्शितमाचार्ये । म प्र टी

करणत्वप्रतिपादनार्थः तृतीयानिर्देशोऽप्यविरुद्धः । स कथं लभ्यते ? न, देशामर्शकत्वा-
न्निर्देशस्य । यत्र च गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि ' आइ-मज्झंत-वण्ण-सर-लोवो '
 इति लुप्ता विभक्तिरित्यभ्यूह्यम् । अहवा ' लेस्सा-भविय-सम्मत्त-सण्णि-आहारए '
 चेदि एकपदत्वान्नावयवविभक्तयः श्रूयन्ते ।

अथ^१ स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गिणा निष्पद्यमानोपलभ्यते^२ । तद्यथा, मृगयिता
 मृग्यं मार्गणं मार्गणोपाय इति । नात्र ते सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति । नैष
 दोषः, तेषामप्यत्रोपलम्भात् । तद्यथा, मृगयिता भव्यपुण्डरीकः तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीवः,

शंका— सूत्रमे गति आदि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्तिका निर्देश क्यो किया
 गया है ?

समाधान— उन गति आदि मार्गणाओको जीवोका आधार बतानेके लिये सप्तमी
 विभक्तिका निर्देश किया है ।

इसी तरह सूत्रमे प्रत्येक पदके साथ तृतीया विभक्तिका निर्देश भी हो सकता है, इसमें
 कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— जब कि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्ति पाई जाती है तो फिर तृतीया
 विभक्ति कैसे समझें ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस सूत्रमे प्रत्येक पदके साथ जो
 सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है वह देशामर्शक है, इसलिये तृतीया विभक्तिका भी ग्रहण
 हो जाता है ।

सूत्रोक्त गति आदि जिन पदोमे विभक्ति नहीं पायी जाती है, वहां पर भी ' आइमज्झ-
तवण्णसरलोवो ' अर्थात् आदि, मध्य और अन्तके वर्ण और स्वरका लोप हो जाता है । इस
 प्राकृतव्याकरणके सूत्रके नियमानुसार विभक्तिका लोप हो गया है । फिर भी उसका अस्तित्व
 समझ लेना चाहिये । अथवा ' लेस्साभवियसम्मत्तसण्णिआहारए ' यह एक पद समझना
 चाहिये, इसलिये लेख्या आदि प्रत्येक पदमे विभक्तियां देखनेमे नहीं आती हैं ।

शंका— लोकमे अर्थात् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार करते समय भी चार प्रकारसे
 अन्वेषण देखा जाता है । वे चार प्रकार ये हैं— मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय । परंतु
 यहां लोकोत्तर पदार्थके विचारमे वे चारो प्रकार नहीं पाये जाते हैं, इसलिये मार्गणाका कथन
 करना नहीं बन सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकरणमे भी वे चारो प्रकार पाये
 जाते हैं । वे इस प्रकार हैं— जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भव्यपुण्डरीक मृगयिता

१ ननु लोके व्यावहारिकपदार्थस्य विचारे कश्चिन्मृगयिता किञ्चिन् मृग्य कापि मार्गणा
 कश्चिन्मार्गणोपाय इति चतुष्टयमस्ति । अत्र लोकोत्तरेऽपि तद् वक्तव्यमिति चेदुच्यते, मृगयिता भव्यवरपुण्डरीक
 गुरु शिष्यो वा । मृग्या गुणस्थानादिविशिष्टा जीवा, मार्गणा गुरुशिष्ययोर्जीवतत्त्वविचारणा । मार्गणोपाया
 गतीन्द्रियादय पञ्च भावविशेषा करणाधिकरणरूपा सन्तीति लोकव्यवहारानुसारेण लोकोत्तरव्यवहारोऽपि
 वर्तते । गो जी, म प्र, टी ८४१ २ मु निष्पाद्य—।

चतुर्दशगुणविशिष्टजीवा मृग्यं, मृग्यस्याधारतामास्कंदन्ति मृगयितुः करणतामादधानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति । सूत्रे शेषत्रितयं परिहृत्य किमिति^१ मार्गणमेवोक्तमिति चेन्न, तस्य देशामर्शकत्वात्, तन्नान्तरीयकत्वाद्वा ।

गम्यत इति गतिः^२ । नातिव्याप्तिदोषः, सिद्धैः प्राप्यगुणाभावात् । न केवलज्ञानादयः प्राप्याः, तथात्मकैकस्मिन् प्राप्यप्रापकभावविरोधात् । कषायादयो हि प्राप्याः, औपाधिकत्वात् । गम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीव-

अर्थात् लोकोत्तर पदार्थोंका अन्वेषण करनेवाला है । चौदह गुणस्थानोंसे युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य हैं । जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थानविशिष्ट जीवोंके आधारभूत हैं, अथवा अन्वेषण करनेवाले भव्य जीवोंको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदिक मार्गणा हैं । शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणाके उपाय हैं ।

शंका— इस सूत्रमें मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीनोंको छोड़कर केवल मार्गणाका ही उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति आदि मार्गणावाचक पद देशामर्शक हैं, इसलिये इस सूत्रमें कही गई मार्गणाओंसे तत्संबन्धी शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है । अथवा मार्गणा पद शेष तीनोंका अविनाभावी है, इसलिये भी केवल मार्गणाका कथन करनेसे शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है ।

जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं । गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोंका अभाव है । यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जावे, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि, केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मामें प्राप्य-प्रापकभावका विरोध है । उपाधिजन्य होनेसे कषायादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है । परंतु वे सिद्धोंमें पाये नहीं जाते हैं, इसलिये सिद्धोंके साथ तो अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है ।

शंका— जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं । गतिका ऐसा लक्षण करने पर गमन-रूप क्रियामें परिणत जीवोंके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकोंको भी गति यह संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, गमनक्रियापरिणत जीवोंके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते हैं ?

१ मु. परिहृतमिति ।

२ ' गम्यत इति गति ' एवमुच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेश स्यात् ? तन्न, गतिनामकर्मोदयोत्पन्नजीवपर्यायस्यैव गतित्वाम्युपगमात् । गमन वा गति । एव सति ग्रामारामादिगमनस्यापि गतित्व प्रसज्यते । तन्न, भवाद् भवसंक्रातेरेव विवक्षितत्वात् । गमनहेतुर्वा गतिरित्यपि भण्यमाने शकटादेरपि गतित्व प्राप्नोति । तन्न, भवात्तरगमनहेतोर्गततिनामकर्मणो गतित्वाम्युपगमात् । जी प्र, टी अत्र मार्गणाप्रकरणे गतिनामकर्म न गृह्यते, वक्ष्यमाणनारकदिगतिप्रपञ्चस्य नारकादिपर्यायेष्वेव सभवात् ।

गो जी., म प्र, टी १४६

प्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, गतिकर्मणः समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य ततः कथञ्चिद्भेदादविरुद्धप्राप्तितः प्राप्तकर्मभावस्य गतित्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेः । भवाद्वैवसंक्रान्तिर्वा गतिः । सिद्धिर्गतिस्तद्विपर्यासात् । उक्तं च—

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुण्येव्वा ।

जीवा हु चाउरग गच्छति त्ति य गई होइ^१ ॥ ८४ ॥

प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि । अक्षाणीन्द्रियाणि । अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा । तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि । शब्दस्पर्श-रसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत् । भावेन्द्रियकार्यत्वाद् द्रव्यस्येन्द्रियव्यपदेशः । नेयमदृष्टपरिकल्पना, कार्यकारणोपचारस्य

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति नामकर्मके उदयसे जो आत्माके पर्याय उत्पन्न होती है वह आत्मासे कथञ्चित् भिन्न है अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है । और इसीलिये प्राप्तिरूप क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नारकादि आत्मपर्यायके गतिपना माननेसे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

अथवा, एक भवसे दूसरे भवमे जानेको गति कहते हैं । पूर्वमे जो गतिनामा नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्यायविशेषको अथवा एक भवसे दूसरे भवमे जानेको गति कह आये है, ठीक इससे विपरीतस्वभाववाली सिद्धगति होती है । कहा भी है—

गतिनामा नामकर्मके उदयसे जो जीवकी चेष्टाविशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं । अथवा, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमे जाते हैं उसे गति कहते हैं ॥ ८४ ॥

जो प्रत्यक्षमे व्यापार करती है उन्हे इन्द्रियाँ कहते हैं । जिसका खुलासा इस प्रकार है—अक्ष इन्द्रियको कहते हैं, और जो अक्ष अक्षके प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है उस इन्द्रियविषय अथवा इन्द्रिय-ज्ञानरूप प्रत्यक्षमे जो व्यापार करती हैं उन्हे इन्द्रियाँ कहते हैं । द्रव्येन्द्रियोके निमित्तरूप ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नामक ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे इन्द्रियाँ होती हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है । क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोके होने पर ही द्रव्येन्द्रियोकी उत्पत्ति होती है, इसलिये भावेन्द्रिया कारण हैं और द्रव्येन्द्रियां कार्य हैं और इसलिये द्रव्येन्द्रियोको भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है । यह कोई अदृष्टकल्पना नहीं है, क्योंकि, कार्यगत धर्मका कारणमे और कारणगत धर्मका कार्यमे उपचार जगत्मे प्रसिद्धरूपसे पाया जाता है ।

१. मु सिद्ध- ।

२. प्रा प १, ५८ गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई । गारयतिरिक्खमाणुसदेवगइ त्ति य हवे चहुवा ॥ गो. जी. १४६

जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात् । इन्द्रियवैकल्यमनोऽनवस्थानानध्यवसायालोकाद्यभावा-
वस्थायां क्षयोपशमस्य प्रत्यक्षविषयव्यापाराभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति
चेन्न, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितस्य गोशब्दस्यागच्छद्गोपदार्थेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भात् ।
भवतु तत्र रुढिबललाभादिति चेदत्रापि तल्लाभादेवास्तु, न कश्चिद्दोषः । विशेषा-
भावतस्तेषां सङ्खरव्यतिकररूपेण^१ व्यापृतिः व्याप्नोतीति चेन्न, प्रत्यक्षे 'नियमिते
रतानीति प्रतिपादनात् । सङ्खरव्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषय-
निरतानीन्द्रियाणि इति वा वक्तव्यम् । स्वेषां विषयः स्वविषयस्तत्र निश्चयेन

शंका— इन्द्रियोंकी विकलता, मनकी चंचलता, और अनध्यवसायके सङ्खारमे तथा
प्रकाशादिकके अभावरूप अवस्थामे क्षयोपशमका प्रत्यक्ष विषयमे व्यापार नहीं हो सकता है,
इसलिये उस अवस्थामे आत्माके अनिन्द्रियपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो गमन करती हैं उसे गौ कहते हैं । इस तरह
'गो' शब्दकी व्युत्पत्ति होने पर भी नहीं गमन करनेवाले गौ पदार्थमे भी उस शब्दकी प्रवृत्ति
पाई जाती है ।

शंका— भले ही गोपदार्थमे रुढ़िके बलसे गमन नहीं करती हुई अवस्थामे भी
गो-शब्दकी प्रवृत्ति होवे । किंतु इन्द्रियवैकल्यादिरूप अवस्थामे आत्माके इन्द्रियपना प्राप्त नहीं
हो सकता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो आत्मामे भी इन्द्रियोंकी विकलता आदि कारणोंके
रहने पर रुढ़िके बलसे इन्द्रिय शब्दका व्यवहार मान लेना चाहिये । ऐसा मान लेनेमे कोई दोष
नहीं आता है ।

शंका— इन्द्रियोंके नियामक विशेष कारणोका अभाव होनेसे उनका सकर और
व्यतिकररूपसे व्यापार होने लगेगा । अर्थात् या तो वे इन्द्रियां एक दूसरी इन्द्रियके विषयको
ग्रहण करेगी या समस्त इन्द्रियोंका एकही साथ व्यापार होगा ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, 'प्रत्यक्षनिरतानि इन्द्रियाणि'
यह पहले कह आये है । तदनुसार 'निरतानि' पदमे आये हुए 'नि' उपसर्गका अर्थ नियमित
है और प्रत्यक्ष पदका अर्थ विषय या इन्द्रियजन्य ज्ञान है । इस प्रकार जो नियमित अपने अपने
विषयमे या उस उस इन्द्रियसे उत्पन्न हुए ज्ञानमे 'रतानि' रत हैं अर्थात् व्यापार करती हैं वे
इन्द्रियां हैं यह पहले कह आये हैं, इसलिये संकर और व्यतिकर दोष नहीं आता है ।

१ इत आरम्य 'इन्द्रिय' शब्दस्य व्याख्यानं यावत्समग्रपाठ गो जीवकाडस्य 'मदि-आवरण
इत्यादि १६५ तमगाथाया जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीकया प्रायेण समान ।

२ सर्वेषां युगपत्प्राप्ति सङ्खर । परस्परविषयगमन व्यतिकर । न्या कु च पृ ३६०

३ मु नीतिनियमिते । 'नीति' इति पाठो नास्ति । गो जी, जी प्र टी १६५

निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्ययावस्थायां निर्णयात्मकरतेरभावात्तत्रात्मनोऽ-
निन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रुढिबललाभादुभयत्र प्रवृत्त्यविरोधात् । अथवा स्ववृत्ति-
रतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्ययनिर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः, तस्यां स्ववृत्तौ रतानी-
न्द्रियाणि । निर्व्यापारावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् ।
अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि । अर्थत इत्यर्थः, स्वेऽर्थे च निरतानीन्द्रियाणि,
निरवद्यत्वाज्ञात्र वक्तव्यमस्ति । अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि^१ । उक्तं च—

अहमिदा जह देवा अविसेस अहमह ति मण्णता ।

ईसति एक्कमेक्क डदा इव इदिए जाण^२ ॥ ८५ ॥

शंका— संशय और विपर्ययरूप ज्ञानकी अवस्थामे निर्णयात्मक रति अर्थात् प्रवृत्तिका
अभाव होनेसे उस अवस्थामे आत्माको अनिन्द्रियपनेकी प्राप्ति हो जावेगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, रुढ़िके बलसे निर्णयात्मक और अनिर्णयात्मक इन
दोनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा, अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं । इसका खुलासा इस
प्रकार है— संशय और विपर्ययज्ञानसे निर्णय आदिके करनेमें जो प्रवृत्ति होती है उसे वृत्ति
कहते हैं । उस अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं ।

शंका— जब इन्द्रियाँ अपने विषयमें व्यापार नहीं करती हैं तब उन्हें व्यापाररहित
अवस्थामे इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये है कि रुढ़िके
बलसे ऐसी अवस्थामे भी इन्द्रिय-व्यवहार होता है ।

अथवा, जो अपने अर्थमें निरत हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं । ‘ अर्थते ’ अर्थात् जो निश्चित
किया जाय उसे अर्थ कहते हैं । उस अपने विषयरूप अर्थमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियाँ
कहते हैं । इन्द्रियोका यह लक्षण निर्दोष होनेके कारण इस विषयमें अधिक वक्तव्य कुछ भी
नहीं है । अर्थात् इन्द्रियोका यह लक्षण इतना स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोषोंको यहाँ अवकाश ही
नहीं है ।

अथवा, अपने अपने विषयका स्वतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियाँ कहलाती हैं ।
कहा भी है—

जिस प्रकार ग्रैवेयकादिमें उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव मैं सेवक हूँ अथवा स्वामी हूँ इत्यादि

१ यदिन्द्रस्यात्मनो लिंग यदि वेन्द्रेण कर्मणा । सृष्ट जुष्ट तथा दृष्ट दत्त वेति तदिन्द्रियम् ॥
गो जी, जी प्र, टी १६४ इदो जीवो सव्वोवल्लिभोगपरमेसरत्तणओ । सोत्ताइमेयमिदियमिह तल्लिगाइ
भावाओ ॥ वि भा ३५६० ‘ इदि ’ परमैश्वर्ये ‘ इदितो नुम् ’ इन्दनादिन्द्र आत्मा (जीव) सर्वविषयो-
पलब्धि- (ज्ञान) -भोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्ग चिन्हमविनाभाविलिङ्गसत्तासूचनात् प्रदर्शना-
दुपलम्भनाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । अभि रा को (इदिय)

२. प्रा प. १ ६५ गो जी १६४ यथा ग्रैवेयकादिजाता अहमिन्द्रदेवा अहमहमिति स्वामिभृत्यादि-

चीयत इति कायः । नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः, पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात् । औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां सहकारिणामभावे ततश्चयनानुपपत्तेः । कर्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चितनोकर्मपद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात् । अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपद्गल-

विशेषभावसे रहित अपनेको मानते हुए एक एक होकर अर्थात् कोई किसीकी आज्ञा आदिके पराधीन न होते हुए स्वयं स्वामीपनेको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने अपने स्पर्शादिक विषयका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित हैं, अतएव अहन्मिद्रोकी तरह इन्द्रियाँ जानना चाहिये ।

जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं । यहां पर जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं ऐसी व्याप्ती बना लेने पर कायको छोड़कर ईंट आदिके सचयरूप विपक्षमें भी यह व्याप्ती घटित हो जाती है, अतएव व्यभिचार दोष आता है । ऐसी शंका मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह ईंट आदिके सचयके साथ व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मोंके उदयसे इतना विशेषण जोड़कर ही ' जो संचित किया जाता है ' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गई है ।

शंका— पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मोंके उदयसे जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गई है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव रहने पर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोकर्मवर्गणाओका सचय नहीं हो सकता है ।

शंका— कर्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदि कर्मोंके द्वारा संचित हुए नोकर्मपुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, नोकर्मरूप पुद्गलके संचयके कारणरूप नामकर्मका सत्त्व कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिये उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है ।

अथवा, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं ।

शंका— कायका इस प्रकारका लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दे आये हैं, वह दूर नहीं होता है । अर्थात् इस तरह भी जीवके कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें अकायपनेकी प्राप्ति होती है ।

विशेषशून्य मन्यमाना एकैके भूत्वा आज्ञादिभिरपरतन्त्रा सन्त ईशते प्रभवन्ति स्वामिभाव श्रयन्ति, तथा स्पर्शनादिन्द्रियाण्यपि स्पर्शादिस्वस्वविषयेषु ज्ञानमुत्पादयितुमीशते, परानपेक्षया प्रभवन्ति, तत कारणादहमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि इति । जी. प्र टी

पिण्डः कायः । अत्रापि स दोषो न निवार्यत इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितकर्मपुद्गल-
पिण्डस्य तत्र सत्त्वात् । आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वान्न तस्य काय-
व्यपदेश इति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्वतस्तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः । उक्तं च—

अप्पप्पवुत्ति—सच्चिद—पोग्गल—पिण्डं वियाण कायो त्ति ।

सो जिणमदम्हि भणिओ पुढविककायादिछब्भेदो^१ ॥ ८६ ॥

जह भारवहो पुरिसो वहइ भर गेण्हिरुण कावोडि ।

एमेव वहइ जीवो कम्म-भर काय-कावोडि^२ ॥ ८७ ॥

युज्यत इति योगः । न युज्यमानपटादिना व्यभिचारः, तस्यानात्मधर्मत्वात् ।

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है । अर्थात् जिससमय आत्मा कर्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंका सद्भाव रहता ही है, इसलिये इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है ।

शंका— कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त हुए नोकर्म पुद्गलपिण्डका असत्त्व होनेके कारण कर्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह व्यपदेश नहीं बन सकता है ?

समाधान— नोकर्म पुद्गलपिण्डके सचयके कारणभूत कर्मका कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव होनेसे कर्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह सज्ञा बन जाती है । कहा भी है—

योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय समझना चाहिये । वह काय जिनमतमें पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका कहा गया है । और वे पृथिवी आदि छह काय, त्रसकाय और स्थावरकायके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार भारको ढोनेवाला पुरुष कावड़को लेकर भारको ढोता है, उसी प्रकार यह जीव शरीररूपी कावड़को लेकर कर्मरूपी भारको ढोता है ॥ ८७ ॥

जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं । यहा पर जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं ऐसी व्याप्ति करने पर संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार हो जायगा । इस प्रकारकी शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिक आत्माके धर्म नहीं हैं । जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं । इस प्रकारकी व्याप्तिमें

१ जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ । सो जिणमदम्हि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेओ ॥

प्रा प १, ७५ । गो जी १८१

२ प्रा प १, ७६, गो जी २०२ लोके यथा भारवह पुरुष कावटिक भार गृहीत्वा विवक्षितस्थान वहति नयति प्रापयति तथा ससाग्जिव औदारिकादिनोकर्मशरीरक्षिप्तज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभार गृहीत्वा नानायोनिस्थानानि वहति ।

न कषायेण व्यभिचारः, तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात् । अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादान-
निवन्धनवीर्योत्पादो योगः । अथवात्मप्रदेशानां सङ्क्षोचविकोचो योगः । उक्तं च—

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो ।

जीवस्स प्पणिओओ जोगो ति जिणेहि णिद्धिट्ठो' ॥ ८८ ॥

वेद्यत इति वेदः । अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति, वेदत्व^१ प्रत्य-
विशेषादिति चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति विशेषावगतेः
'रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः' इति वा । अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः । अत्रापि

आत्मधर्मकी मुख्यता होनेसे यद्यपि सयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकका निराकरण हो जायगा
फिर भी कषायका निराकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि, कषाय आत्माका धर्म है और
संयोगको भी प्राप्त होता है । इसलिये जो जो सयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं यह व्याप्ति
कषायमे भी घटित होती है, अतएव कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है । ऐसी शकाको
मनमे धारण करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह कषायके साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता
है, क्योंकि, कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमे कारण नहीं पडती है । अथवा, प्रदेशपरिस्पन्दरूप
आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्तसे कर्मोंके ग्रहण करनेमे कारणभूत वीर्यकी उत्पत्तिको योग कहते हैं ।
अथवा, आत्माके प्रदेशोके सकोच और विस्ताररूप होनेको योग कहते हैं । कहा भी है—

मन, वचन और कायके निमित्तसे होनेवाली क्रियासे युक्त आत्माके जो वीर्यविशेष
उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं । अथवा, जीवके प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रियाको योग
कहते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कथन किया है ॥ ८८ ॥

जो वेदा जाय, अनुबभ किया जाय उसे वेद कहते हैं ।

शंका— वेदका इस प्रकारका लक्षण करने पर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद संज्ञा
प्राप्त हो जायगी, क्योंकि, वेदनपनेकी अपेक्षा वेद और आठ कर्मोंका उदय ये दोनों ही समान हैं ।
जिस तरह वेद वेदनरूप है, उसी तरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका उदय भी वेदनरूप है ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि सामान्यरूपसे की गई कोई भी
प्ररूपणा अपने विशेषोंमें पाई जाती है, इसलिये विशेषका ज्ञान हो जाता है । अथवा, रौढ़िक
शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढ़िके आधीन होती है, इसलिये वेद शब्द पुरुषवेदादिमे रूढ़ होनेके कारण
'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ
कर्मोंके उदयका नहीं ।

१ प्रा प १, ५५ । पुग्गलविवाइदेहोदएण मणवयणकायजुत्तस्स । जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागम-
कारण जोगो । गो जी २१६ मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो । जीवस्स अप्पणिज्जो स
जोगसन्नो जिणक्खाओ ॥ तेओज्जोगेण जहा रत्तत्ताई धउस्स परिणामो । जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्प-
परिणामो ॥ जोगो विरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा । नत्ती सामत्थ ति य जोगस्स हवति पज्जाया ॥
स्या सू पृ १०१

२ मु वेद्यत्व ।

मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, अत्रापि रुढिवशाद्वेदनाम्नां कर्मणा-
मुदयस्यैव वेदव्यपदेशात् । अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः । उक्तं च—

वेदस्सुदीरणाए वालत्त पुण णियच्छदे वहुसो ।

थी-पु-णवुसए वि य वेए त्ति तओ हवइ वेओ ॥ ८९ ॥

सुखदुःखवहुसस्यकर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः । 'कषन्तीति कषायाः' इति
किमिति न व्युत्पादितः कषायशब्दश्चेन्न, ततः संशयोत्पत्तेः प्रतिपत्तिगौरवभयाच्च ।
उक्तं च—

अथवा, आत्मप्रवृत्तिमे सम्मोहके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं ।

शंका— इस प्रकारके लक्षणके करने पर भी संपूर्ण मोहके उदयको वेद संज्ञा प्राप्त हो
जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, इस व्युत्पत्तिमे भी रुढ़िके
बलसे वेदनामक कर्मके उदयको ही वेद संज्ञा प्राप्त है ।

अथवा, आत्मप्रवृत्तिमे स्त्री-पुरुषविषयक मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद
कहते हैं । कहा भी है—

वेदकर्मकी उदीरणासे यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चांचल्यको प्राप्त होता
है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव तथा नपुंसकभावका वेदन करता है, इसलिये उस वेदकर्मके उदयसे
प्राप्त होनेवाले भावको वेद कहते हैं ॥ ८९ ॥

सुख, दुःखरूपी नाना प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण
करती हैं, अर्थात् फल उत्पन्न करनेके योग्य करती हैं, उन्हें कषाय कहते हैं ।

शंका— यहां पर कषाय शब्दकी, 'कषन्तीति कषायाः' अर्थात् जो कसे उन्हें कषाय
कहते हैं, इस प्रकारकी व्युत्पत्ति क्यों नहीं की ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'जो कसे उन्हें कषाय कहते हैं' कषाय शब्दकी इस
प्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर कषणवाले किसी भी पदार्थको कषाय माना जायगा । अतः
कषायोंके स्वरूप समझनेमे संशय उत्पन्न हो सकता है, इसलिये जो कसे उन्हें कषाय कहते हैं
इस प्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई । तथा, उक्त व्युत्पत्तिसे कषायोंके स्वरूपके समझनेमे कठिनाता
जायगी, इस भीतिसे भी 'जो कसे उन्हें कषाय कहते हैं,' कषाय शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति
नहीं की गई । कहा भी है—

१. प्रा प १, १०१ । पुरिमिच्छिसडवेदोदयेण पुरिसिच्छिसडओ भावे । णामोदयेण दव्वे पाएण
समा कहि विसमा ॥ वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य ह्वेज्ज समोहो । समोहेण ण जाणदि जीवो हि गुण व
दोत्त वा ॥ गो जी. २७१, २७२.

सुह-दुख-सुवहु-सस्स कम्म-क्खेत्त कसेदि जीवस्स ।

संसार-दूर-मेर तेण कसायो त्ति ण वेत्ति' ॥ ९० ॥

भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम् । मिथ्यादृष्टीनां कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां प्रकाशस्य समानतोपलम्भात् । कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयात्प्रतिभासितेऽपि वस्तुनि संशयविपर्ययानध्यवसायानिवृत्तितस्तेषाम-ज्ञानितोक्तेः । एवं सति दर्शनावस्थायां ज्ञानाभावः स्यादिति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् ।

सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं ॥ ९० ॥

सत्यार्थका प्रकाश करनेवाली शक्तिविशेषको ज्ञान कहते हैं ।

शंका— मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान भूतार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है ।

शंका— यदि दोनोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुके प्रति-भासित होनेपर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहा है ।

शंका— इस तरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी मानने पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानोपयोगका अभाव इष्ट ही है ।

शंका— यदि ऐसा है तो इस कथनका कालानुयोगमें आये हुए 'एगजीव पडुच्च

१ प्रा प १, १०० । गो जी २८२ अत्र मिथ्यादर्शनादिजीवसक्लेशपरिणामरूप बीज प्रकृति-स्थित्यनुभागप्रदेशभेदकर्मवन्वनलक्षणे क्षेत्रे उपत्वा क्रोवादिकपायनामा जीवस्य भृत्य पुनरपि कालादिसामग्रीलब्धि-समुत्पन्नसुखदुःखलक्षणवहुविविधान्यानि अनाद्यनिवनमसारदूरसीमानि यथा सुफलितानि भवति तथा उपर्युपरि कृपति इति 'कृपि विलेखने' इत्यस्य धातोर्विलेखनार्थं गृहीत्वा निरुक्तिपूर्वकं कपायशब्दस्यार्थनिरूपण आचार्येण कृतमिति । जी प्र टी, कप्यतेऽस्मिन् प्राणी पुन पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनक-वदिति । कप संसारं तस्मिन्नाममन्तादयन्ते गच्छन्त्येभिरसुमन्त इति कपाया । यद्वा कपाया इव कपाया, यथा हि तुवरिकादिकपायकलुषिते वाससि मञ्जिष्ठादिरागं श्लिष्यति चिरं चावतिष्ठति तथैतत्कलुषिते आत्मनि कर्मं सवध्यते चिरं स्थितिकं च जायते, तदायत्वात्तत्स्थिते । अभि रा को (कसाय)

कालसूत्रेण^१ सह विरोधः किन्न भवेदिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य प्राधान्यात् । विपर्ययः कथं भूतार्थप्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्युपलम्ब्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्त्व-सस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः । अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम् । एतेन संशय-विपर्ययानध्यवसायावस्थासु ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात् शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम् । ततो मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धं द्रव्यगुणपर्याया-ननेन जानातीति ज्ञानम् । अभिन्नस्य कथं करणत्वमिति चेन्न, सर्वथा भेदाभेदे च

अणादिओ अपज्जवसिदो^२ इत्यादि सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं प्राप्त हो जायगा ? अर्थात् कालानुयोगमे ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त आदि आया हैं । और यहां पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामे ज्ञानका अभाव बतलाया है, इसलिये यह कथन परस्पर विरुद्ध है । भतः दर्शनोपयोगकी अवस्थामे ज्ञानका अभाव कैसे हो सकता है, क्योंकि, इस कथनका कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है ?

समाधान— ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, कालानुयोगमे जो ज्ञानकी अपेक्षा कालका कथन किया है, वहा क्षयोपशमकी प्रधानता है ।

शंका— विपर्ययज्ञान सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, चन्द्रमामे पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे पदार्थमे सत्त्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमे भूतार्थता बन जाती है ।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु-स्वरूपका निश्चय करानेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं । ज्ञानका इस प्रकारका लक्षण करनेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामे ज्ञानका (सम्यग्ज्ञानका) अभाव प्रतिपादित हो जाता है । कारण कि शुद्ध-निश्चयनयकी विवक्षामे तत्त्वार्थका उपलम्भ करानेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है । इसलिये मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानी नहीं हो सकते हैं । इस प्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोको जानते हैं उसे ज्ञान कहते हैं यह बात सिद्ध होती है ।

शंका— ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है, इसलिये वह पदार्थोंके जाननेके प्रति साधकतम कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, साधकतम कारणरूप ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्माके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है, और कथञ्चित् भिन्न तथा अभिन्नस्वरूप अनेकान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है, इसलिये आत्मासे कथञ्चित् भेदरूप ज्ञानको जाननेरूप क्रियाके प्रति साधकतम कारण मान

१ कालपदेनाव कालानुयोगद्वारो बोद्धव्य । तत्र चैकानेकजीवापेक्षया ज्ञानादिमार्गणाना काल प्रतिपादित । तत्र प्रतिपादितानि च सूत्राणि कालसूत्राणि ज्ञेयानि । प्रकृते च ' णाणाणुवादेण मदिअण्णाणि-सुदअण्णाणीमु मिच्छादिट्ठी ओघ (कालानु सू २६३) ओघेण मिच्छादिट्ठी केवचिर कालादो होति ? णाणाजीव पडुच्च सव्वद्धा (कालानु सू २१०) एगजीव पडुच्च अणादिओ अपज्जवसिदो, अणादिओ सपज्जवसिदो, सादिओ सपज्जवसिदो ।

स्वरूपहानिप्रसङ्गादनेकान्ते स्वरूपोपलब्धेन तस्य करणत्वविरोध इति । उक्तं च—

जाणइ तिकाल-सहिए दव्व-गुणे पज्जए य बहु-भेए ।

पच्चक्ख च परोक्खं अणेण णाण^१ ति ण वेति^२ ॥ ९१ ॥

संयमनं संयमः । न द्रव्ययमः संयमः, तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात् । यमेन समित्तयः सन्ति, तास्वसतीषु संयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं' शब्देनात्मसात्कृताशेष-समितित्वात् । अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः । उक्तं च—

लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ— यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा भिन्न माना जावे तो दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जानेके कारण यह धर्म है और यह धर्मी है अथवा यह धर्म इस धर्मीका है, इस प्रकारका व्यवहार ही नहीं बन सकता है । इसलिये निश्चित धर्मके अभावमे वस्तुके विनाशका प्रसंग आता है । और यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा अभिन्न माना जावे तो धर्म और धर्मी इस प्रकारका भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, सर्वथा अभेद मानने पर इन दोमेसे किसी एकका ही अस्तित्व सिद्ध होगा । उनमेसे यदि केवल धर्मका ही अस्तित्व मान लिया जावे, तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि, कोई भी धर्म आधारके बिना नहीं रह सकता है । और यदि केवल धर्मीका अस्तित्व मान लिया जावे तो धर्मके बिना उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती है । इसलिये धर्मको धर्मीसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिये । इस तरह अनेकान्तके मानने पर ही धर्म-धर्मी व्यवस्था बन सकती है और धर्म-धर्मी व्यवस्थाके सिद्ध हो जाने पर ज्ञानको साधकतम कारण माननेमे किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाने उसको ज्ञान कहते हैं ॥ ९१ ॥

संयमन करनेको संयम कहते हैं । संयमका इस प्रकारका लक्षण करने पर द्रव्य-यम अर्थात् भावचारित्रशून्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयम शब्दमे ग्रहण किये गये 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है ।

शंका— यहां पर यमसे समित्तियोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, समित्तियोंके नहीं होने पर संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, संयममे दिये गये 'सं' शब्दसे संपूर्ण समित्तियोंका ग्रहण हो जाता है ।

अथवा, पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समित्तियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है । कहा भी है—

१. मु णाणे त्ति ।

२ प्रा प १, ११७ । गो जी २९९

वय-समिइ-कसायाण दडाण तहिदियाण पचण्ह ।

धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जया सजमो भणिओ^१ ॥ ९२ ॥

दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् । नाक्ष्णालोकेन चातिप्रसङ्गः, तयोरनात्मधर्मत्वात् । दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोरविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्वहि-
र्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविरोधात्^२ । किं तच्चैतन्यमिति चेत्,
त्रिकालगोचरानन्तपर्यायात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमवशेन संवेदनं चैतन्यम् ।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोका धारण करना; ईर्या,
भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग इन पांच समितियोका पालना; क्रोध, मान, माया, और
लोभ इन चार कषायोका निग्रह करना, मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोका त्याग करना
और पांच इन्द्रियोका जय, इसको सयम कहते हैं ॥ ९२ ॥

जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका
इस प्रकारका लक्षण करने पर चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी देखनेमें सहकारी होनेसे उनमें
दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिप्रसङ्ग दोष आता है । शङ्काकारकी इस प्रकारकी
शङ्काको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह चक्षु इन्द्रिय और आलोकके साथ
अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नहीं हैं ।
यहां चक्षुसे द्रव्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिये ।

शंका— जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इस प्रकार
लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो
जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको
ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके एक होनेमें विरोध आता है ।

शंका— यह चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान— त्रिकालविषयक अनन्तपर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने क्षयोपशमके
अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं ।

शंका— अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख

१ प्रा प १२७ । गो जी ४६५

२ उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्त यत्प्रयत्न तद्रूप यत्स्वस्यात्मन परिच्छेदनमवलोकन तद्दर्शनं भण्यते ।
तदनन्तरं यद् बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्तिकम् । यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्प
कुर्वन्नास्ते, पश्चात्पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्त्य यत्स्वरूपे प्रथममवलोकनं परिच्छेदनं
करोति तद्दर्शनमिति । तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं
भण्यते । वृ द्र स पृ ८१-८२

स्वतो व्यतिरिक्तवाह्यार्थावगतिः प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोजानात्य-
नेनात्मानं बाह्यमर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति
चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात् । तर्ह्यस्तत्त्वन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं
दर्शनम्, विशेषग्रहणं ज्ञानमिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनोऽक्रमेणोपल-
म्भात्^१ । सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोध इति चेन्न, 'हंदि दुवे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन
सह विरोधात् । अपि च न ज्ञानं प्रमाणं, सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं
प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात् । न तस्य ग्रहणमपि, सामान्यव्यतिरिक्तविशेषे

चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थोंको
जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । इस प्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमे एकता
आ जाती है, इसलिये उनमे भेद सिद्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जिस तरह ज्ञानके द्वारा यह घट है, यह पट है,
इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिनियत कर्मकी व्यवस्था होती है उस तरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है,
इसलिये इन दोनोंमे भेद है ।

शंका— यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्यको ग्रहण करनेवाला
दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिये ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना
ही ग्रहण होता है ।

शंका— यदि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है तो वह भी
रहा आओ, ऐसा मान लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'छन्नस्थोके दोनो उपयोग एक साथ नहीं होते
हैं' इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है, कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करनेमे असमर्थ
है । और जो अर्थक्रिया करनेमे असमर्थ होता है वह अवस्तरूप पड़ता है । अतएव उसका ग्रहण
करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है । तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो
नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्यरहित, अवस्तरूप केवल विशेषमे कर्ताकर्मरूप व्यवहार नहीं
बन सकता है । इस तरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमे प्रमाणता सिद्ध नहीं होनेसे
केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं । अर्थात्, जब कि
सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य वस्तरूपसे सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल
विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे
माने जा सकते हैं ?

१ ज सामण्णगग्रहण दसणमेय विमेषिय णाण । स त ३ १

२ मु. वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात् ।

अवस्तुनि^१ कर्तृकर्मरूपाभावात् । तत एव न दर्शनमपि प्रमाणम् । अस्तु प्रमाणाभाव इति चेन्न, प्रमाणाभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं, तथात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम् । तथा च 'जं सामण्णगहणं^२ तं दंसणं' इति वचनेन विरोधः स्यादिति चेन्न, तत्रात्मनः सकलबाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात्^३ । तदपि कथमवसीयत इति चेत्^४ 'भावानं णेव कट्ठु आयारं' इति वचनात् । तद्यथा, भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद्दर्शनम् । अस्यैवार्थस्य पुनरपि

शंका— यदि ऐसा है, तो प्रमाणका अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय ?

समाधान— यह ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमाणका अभाव मान लेने पर प्रमेय, प्रमाता आदि सभीका अभाव मानना पड़ेगा ।

शंका— यदि प्रमेयादि सभीका ही अभाव होता है तो होबो ?

समाधान— यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमेयादिका अभाव देखनेमें नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है । अतः सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक स्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका— उक्त प्रकारसे दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मान लेने पर 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं' परमागमके इस वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, आत्मा संपूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारणरूपसे पाया जाता है, इसलिये उक्त वचनमें सामान्य संज्ञाको प्राप्त आत्माका ही सामान्य पदसे ग्रहण किया गया है ।

शंका— यह कैसे जाना जाय कि यहां पर सामान्य पदसे आत्माका ही ग्रहण किया है ?

समाधान— क्योंकि, 'पदार्थोंके आकार अर्थात् भेदको नहीं करके' इस वचनसे उक्त बात जानी जाती है । इसीको स्पष्ट करते हैं, भावोंके, अर्थात् बाह्य पदार्थोंके, आकार अर्थात् प्रतिकर्मव्यवस्थाको नहीं करके, जो ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं । फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं कि 'यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है' इत्यादि रूपसे

१ मु व्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि ।

२ मु सामण्ण गहण ।

३ यद्यात्मग्राहक दर्शन भण्यते तर्हि 'ज सामण्ण गहण भावाण तद्दंसण' इति गायार्थं कथं घटते ? तत्रोत्तर, सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनम् । कस्मादिति चेत्, आत्मा वस्तुपरिच्छिन्ति कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति, किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति, तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यते । वृ द्र स पृ ८२-८३

४ मु चेन्न ।

दृढीकरणार्थमाह, 'अविसेसिऊण अट्ठे' इति, अर्थानविशेष्य यद् ग्रहणं तद्दर्शनमिति^१। न बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनमित्याशङ्कनीयं, तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात् । न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दति, अतिप्रसङ्गात्^२ । सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यादिति चेन्न, स्वाध्यवसायस्यानध्यवसितबाह्यार्थस्य दर्शनत्वात् । दर्शनं प्रमाणमेव, अविसंवादित्वात्, प्रतिभासः प्रमाणञ्चाप्रमाणञ्च, विसंवादाविसंवादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात् । आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका-आलोकत इत्यालोकनमात्मा,

पदार्थोंकी विशेषता न करके जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं । इस कथनसे यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि बाह्य पदार्थोंमें रहनेवाले सामान्यको ग्रहण करना दर्शन है, तो उसकी ऐसी आशङ्का करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विशेषरहित केवल सामान्य अवस्तुस्वरूप है, इसलिये वह दर्शनके विषयभावको (कर्मपनेको) नहीं प्राप्त हो सकता है । उसी प्रकार सामान्यके बिना केवल विशेष भी ज्ञानके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि, अवस्तुरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्यका ग्रहण मान लिया जावे तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है ।

शंका— दर्शनके लक्षणको इस प्रकारका मान लेने पर अनध्यवसायको दर्शन मानना पड़ेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थका निश्चय न करते हुए भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला दर्शन है, इसलिये वह अनध्यवसायरूप नहीं है । ऐसा दर्शन अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण ही है । और जो प्रतिभास अर्थात् ज्ञानसामान्य है वह प्रमाण भी हैं और अप्रमाण भी है, क्योंकि, उसमें विसंवाद और अविसंवाद ये दोनों रूप पाये जाते हैं ।

अथवा आलोकन वृत्तिको अर्थात् आत्माके व्यापारको दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है उसे आलोकन अर्थात् आत्मा कहते हैं । और वर्तन अर्थात् व्यापारको वृत्ति कहते हैं । तथा आलोकन अर्थात् आत्माकी वृत्ति को आलोकनवृत्ति कहते हैं, इसीका नाम

१ यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति । तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति । पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं सूत्र-व्याख्यानेन बहिर्विषये यत्सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादि-विशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति । मिद्वान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यान-मुख्यवृत्त्या । तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति । वृ. द्र. स. पृ. ८६.

२ मु. मास्कन्दनीत्यतिप्रसङ्गात् ।

वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका—प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम् । विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः । उक्तं च —

ज सामण्णग्गहणं^१ भावाण णेव कट्ठु आयार ।

अविसेसिऊण अत्थे दसणमिदि भण्णदे समए^२ ॥ ९३ ॥

लिम्पतीति लेश्या । न भूमिलेपिकयाऽतिव्याप्तिदोषः, कर्मभिरात्मानमित्यध्या-
हारापेक्षितत्वात् । अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या । नात्रातिप्रसङ्गदोषः,
प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात् । अथवा कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्ति-
लेश्या^३ । ततो न केवलः कषायो लेश्या, नापि योगः, अपि तु कषायानुविद्धा

स्वसंवेदन है, उसीको दर्शन कहते हैं । यहां पर दर्शन इस शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है । अथवा, प्रकाश-वृत्तिको दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ इसप्रकार है कि प्रकाश ज्ञानको कहते हैं और उस ज्ञानके लिये जो आत्माका व्यापार होता है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं, और वही दर्शन है । अर्थात् विषय और विषयीके योग्य देशमे होनेकी पूर्वावस्थाको दर्शन कहते हैं । कहा भी है—

सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थोंको अलग अलग भेदरूपसे ग्रहण नहीं करके जो सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूपमात्रका अवभासन होता है उसको परमागममे दर्शन कहा है ॥ ९३ ॥

जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं । यहां पर जो लिम्पन करती है यह लक्षण भूमिलेपिका (जिसके द्वारा जमीन लीपी जाती है) मे चला जाता है, इसलिये लक्ष्यभूत लेश्याको छोड़कर लक्षणके अलक्ष्यमे चले जानेके कारण अतिव्याप्ति दोष आता है । ऐसी शकाको मनमे उठाकर आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर भी अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है, क्योंकि, इस लक्षणमे 'कर्मोंसे आत्माको' इतने अध्याहारकी अपेक्षा है । इसका यह तात्पर्य है, कि जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं । अथवा, जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्मका संबन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं । इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है । अथवा, कषायसे अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर केवल कषाय और केवल

१ मु सामण्ण गहण ।

२ प्रा प १, १३५ । गो जी ४८२ भावाना सामान्यविशेषात्मकबाह्यपदार्थाना आकार भेदग्रहण-
मकृत्वा यत्सामान्यग्रहण स्वरूपमात्रावभासन तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते । वस्तुस्वरूपमात्रग्रहण कथं ?
अर्थात् बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिक्रियाग्रहणविकारैरविकल्प्य स्वरूपसत्तावभासन दर्शनमित्यर्थ । जी प्र टी.
भावाण सामण्णविसेसायाण सरूवमेत्त ज । वण्णणहीणग्गहण जीवेण य दसण होदि ॥ गो जी ४८३

३ कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिलेश्या । स सि २, ३

योगप्रवृत्तिलेश्येति सिद्धम् । ततो न वीतरागाणां योगो लेश्येति न प्रत्यवस्येयं, तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्रं, विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात् । उक्तं च—

लिपदि अप्पीकीरदि एदाए णियय-पुण्ण-पाव च ।

जीवो ति होइ लेस्सा लेस्सा-गुण-जाणय-क्खादा^१ ॥ ९४ ॥

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः । उक्तं च—

सिद्धत्तणस्स^२ जोग्गा जे जीवा ते हवति भवसिद्धा ॥

ण उ मल्ल-विगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव^३ ॥ ९५ ॥

योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है । इससे ग्यारहवे आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि, लेश्यामे योगकी प्रधानता है । कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योगप्रवृत्तिका विशेषण है । अतएव उसकी प्रधानता नहीं है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्याके स्वरूपको जाननेवाले गणधरदेव आदिने कहा है ॥९४॥

जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धिपद प्राप्त करनेके योग्य है, उसको भव्य कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव सिद्धत्व, अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अवस्था पानेके योग्य है उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं । किन्तु उनके कनकोपल अर्थात् स्वर्णपाषाणके समान मलका नाश होनेमें नियम नहीं है ।

विशेषार्थ— सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं । जो भव्य होते हुए भी सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिस प्रकार स्वर्णपाषाणमे सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है, उसी प्रकार सिद्ध-अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके नहीं मिलनेसे सिद्ध-पदकी प्राप्ति नहीं होती है ।

१ प्रा प १, १४२ । गो जी ४८९ । किन्तु ' णिययपुण्णपाव च ' इत्यत्र ' णियअपुण्णपुण्ण च ' पाठ ।

२ प्रा प १, १५४ । गो जी ५५८ किन्तु ' सिद्धत्तणस्स ' इति स्थाने ' भवत्तणस्स ' इति पाठ ।

३ भण्णइ भव्वो जोग्गो न य जोगत्तेण मिज्झई भव्वो । जह जोगम्मि वि दलिए सव्वत्थ न कीरए पडिमा ॥ जह वा स एव पासाणकणगजोगो विओगजोगोऽवि । न वि जुज्जइ भव्वोच्चिय स विजुज्जइ जस्स सपत्ती ॥ किं पुण जा मपत्ती मा जोगस्सेव न उ अजोगस्स । तह जो मोक्खो नियमा सो भव्वाण न इयरेसि ॥

वि भा २३१३, -२३१५.

तद्विपरीतोऽभव्यः । सुगममेतत् ।

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिव्याभिव्यक्तलक्षणं, सम्यक्त्वम्' । सत्येवमसंयतसम्यग्-
दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत्, शुद्धनये समाश्रयमाणे । अथवा
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोच्यते— आप्तागमपदार्थास्तत्त्वार्थास्तेषु^१
श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य
न विरोधश्चेन्नैष दोषः, शुद्धाशुद्धनयसमाश्रयणात् । अथवा तत्त्ववृत्तिः सम्यक्त्वं,
अशुद्धतरनयसमाश्रयणात् । उक्तं च—

जिन्होने निर्वाणको पुरस्कृत नहीं किया हैं उन्हें अभव्य कहते हैं । इसका अर्थ सरल है ।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी प्रगटता जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं ।

शंका— इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव होजायगा ?

समाधान— शुद्ध निश्चयनयका आश्रय करने पर यह कहना सत्य है ।

अथवा तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम और पदार्थको तत्त्वार्थ कहते हैं । और उनके विषयमे श्रद्धान अर्थात् अनुरक्त करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । यहां पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है । तथा आप्त, आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है ।

शंका— पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षणका विरोध क्यों न माना जाय ? अर्थात् पहले लक्षणमे प्रशमादि गुणोंकी अभिव्यक्तिको सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षणमे आप्त आदिके विषयमे श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है । इसलिये ये दोनों लक्षण भिन्न भिन्न अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमे अविरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नयकी अपेक्षासे ये दोनों लक्षण कहे गये हैं । अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्धनय की अपेक्षासे है और तत्त्वार्थश्रद्धान-
रूप लक्षण अशुद्धनयकी अपेक्षासे है, इसलिये इन दोनों लक्षणोंके कथनमे दृष्टिभेद होनेके कारण कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा तत्त्ववृत्तिको सम्यक्त्व कहते हैं । यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षा जानना चाहिये । कहा भी है—

१ प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिव्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथम ॥ रागादीनामनुद्रेक प्रशम । ससाराद्धीरुता संवेग । सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा । जीवादयोऽर्था यथास्वभावं सन्तीति मतिरास्तिक्यम् । एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथम सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते । त रा वा १, २, ३०.

२ मु पदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु ।

छ-प्पच-णव-विहाण अत्थाण जिणवरोवइठ्ठाण ।

आणाए अहिगमेण^१ व सदहण होइ सम्मत्त^२ ॥ ९६ ॥

सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी । नैकेन्द्रियादिनातिप्रसङ्गः,
तस्य मनसोऽभावात् । अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही^३ संज्ञी । उक्तं च—

सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवल्लेण ।

जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीदो असण्णी दु^४ ॥ ९७ ॥

शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः । सुगममेतत् । उक्तं च—

आहरदि सरीराण तिण्ह एगदर-वग्गणाओ ज ।

भासा-मणस्स णियद तम्हा आहारओ भणिओ^५ ॥ ९८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आज्ञा अर्थात् आप्तवचनके आश्रयसे अथवा अधिगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप और निरुक्तरूप अनुयोगद्वारोंसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ ९६ ॥

जो भलीप्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते हैं । वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते हैं । यह लक्षण एकेन्द्रियादिकमे चला जायगा, इसलिये अतिप्रसंग दोष आजायगा यह बात भी नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियादिकके मन नहीं पाया जाता है । अथवा जो शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको संज्ञी कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं । और जो इन शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सकता है उसको असंज्ञी कहते हैं ॥ ९७ ॥

औदारिकादि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । इसका अर्थ सरल है । कहा भी है—

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोमेसे उदयको प्राप्त हुए किसी

१ मु आणाए हिगमेण ।

२ प्रा प १, १५९ । गो जी ५६१ आणाए आज्ञया प्रमाणादिभिर्विना ईपन्निर्यलक्षणया । अहिगमेण अधिगमेण प्रमाणनयआप्तवचनाश्रयेण निक्षेपनिरुक्त्यनुयोगद्वारै विशेपनिर्णयलक्षणेन । जी प्र टी

३ हिताहितविधिनिषेधात्मिका शिक्षा । करचरणचालनादिरूपा क्रिया । चर्मपुत्रिकादिनोपदिश्यमानवधविधानादिरुपदेश । श्लोकादिपाठ आलाप । तद्ग्राही मनोज्वल्लेन यो मनुष्य उक्षगजराजकीरादिजीव स मज्जी नाम । गो जी , जी प्र , टी ६६२

४ प्रा प १, १७३ । गो जी ६६१ मीमसदि जो पुव्व कज्जमकज्ज च तच्चमिदर च । मिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ॥ गो जी ६६१

५ प्रा प १, १७६ । गो जी ६६५ तत्र च ' भासामणस्स ' स्थाने ' भासामणाण ' इति पाठ । उदयावण्णसरीरोदएण तद्देहवयणचिन्ताण । णोकम्मवग्गणाण ग्रहण आहारय णाम ॥ गो जी ६६४

तद्विपरीतोऽनाहारः । उक्तं च—

विग्गह^१-गइमावण्णा केवलिणो समुहदा अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा^२ ॥ ९९ ॥

अन्विष्यमाणगुणस्थानानामनुयोगद्वारप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ
इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥

‘तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि’ एतदेवालं, शेषस्य नान्तरीयकत्वादिति चेन्नैष दोषः, मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वर्तिकेत्यर्थः^३ । उक्तं च—

एक शरीरके योग्य तथा भाषा और मनके योग्य पुद्गलवर्गणाओको जो नियमसे ग्रहण करता है उसको आहारक कहते हैं ॥ ९८ ॥

उसके विपरीतको अर्थात् औदारिक आदि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण नहीं करनेको अनाहार कहते हैं । कहा भी है—

विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारो गतिके जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्धातको प्राप्त हुए सयोगिकेवली, और अयोगिकेवली तथा सिद्ध ये नियमसे अनाहारक होते हैं । शेष जीवोको आहारक समझना चाहिये ॥ ९९ ॥

अन्वेषण किये जानेवाले गुणस्थानोके आठ अनुयोगद्वारोके प्ररूपण करनेके अल्य आगका सूत्र कहते हैं—

इन ही चौदह जीवसमासोके (गुणस्थानोके) निरूपण करने रूप प्रयोजनके होनेपर वहां आगे कहे जानेवाले ये आठ अनुयोगद्वार समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शंका— ‘तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि’ इतना सूत्र बनाना ही पर्याप्त था, क्योंकि, सूत्रका शेष भाग इसका अविनाभावी है । अतएव उसका स्वयं ग्रहण हो जाता है । उसे सूत्रमे निहित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि प्राणियोके अनुग्रहके लिये शेष भागको सूत्रमें ग्रहण किया गया है ।

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका ये पांचो पर्यायवाची नाम हैं । कहा भी है—

१ प्रतरलोकपूरणसमुद्धातपरिणतमयोगिजिना । गो जी, जी प्र, टी ६६६

२ प्रा प १, १७७ । गो जी ६६६

३ मु वार्तिकेत्यर्थ । तत्रानुयोजनमनुयोग, किञ्च तत् ? श्रुते निजाभिधेयसम्बन्धन, अथवा योग इति व्यापार उच्यते, ततश्चानुरूपोऽनुकूलो वा योगो, यथा घटशब्देन घटो भण्यते, अणुना वा योगो अणुयोग इत्येवमादि । तथा निश्चितो योगो नियोगो यथा घटव्वनिना घट एवोच्यते नान्य इत्येवमादि । भाषण भाषा,

अणियोगो य णियोगो भास-विभासा य वट्टिया चेय ।
 एदे अणिओअस्स दु णामा एयट्ठआ पच^१ ॥ १०० ॥
 सूई मुद्दा पडिहो संभवदल-वट्टिया चेय ।
 अणियोग-णिस्तीए दिट्ठता होति पचेय^२ ॥ १०१ ॥

एते अष्टावधिकाराः अवश्यं ज्ञातव्याः भवन्ति, अन्यथा जीवसमासाव-

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका ये पांच अनुयोगके एकार्थवाची नाम जानना चाहिये ॥ १०० ॥

अनुयोगकी निरुक्तिमे सूची, मुद्रा, प्रतिघ, संभवदल और वर्तिका ये पांच दृष्टान्त होते हैं ॥ १०१ ॥

विशेषार्थ— अनुयोगकी निरुक्तिमें जो पांच दृष्टान्त दिये हैं वे लकड़ी आदिके कामको लक्ष्यमे रखकर दिये गये प्रतीत होते हैं । जैसे, लकड़ीसे किसी वस्तुको तैयार करनेके लिये पहले लकड़ीके निरूपयोगी भागको निकालनेके लिये उसके ऊपर एक रेखामे डोरा डाला जाता है, इसे सूचीकर्म कहते हैं । अनन्तर उस डोरासे लकड़ीके ऊपर चिन्ह कर दिया जाता है, इसे मुद्राकर्म कहते हैं । इसके बाद लकड़ीके निरूपयोगी भागको छांटकर निकाल दिया जाता है, इसे प्रतिघ या प्रतिघातकर्म कहते हैं । फिर उस लकड़ीके कामके लिये उपयोगी जितने भागोंकी आवश्यकता होती है उतने भाग कर लिये जाते हैं इसे संभवदलकर्म कहते हैं । और अन्तमे वस्तु तैयार करके उसके ऊपर ब्रश आदिसे पालिश कर दिया जाता है, यही वर्तिका-कर्म है । इस तरह इन पांच कर्मोंसे जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उसी प्रकार अनुयोग शब्दसे भी आगमानुकूल संपूर्ण अर्थका ग्रहण होता है । नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका ये चारो अनुयोग शब्दके द्वारा प्रगट होनेवाले अर्थको ही उत्तरोत्तर विशद करते हैं, अतएव वे अनुयोगके ही पर्यायवाची नाम हैं ॥ १०१ ॥

ये आठ अधिकार अवश्य ही जानने योग्य हैं, क्योंकि, इनके परिज्ञानके बिना जीव-

व्यक्तीकरणमित्यर्थ, तद्यथा, घटनाद् घट, चेष्टावानित्यर्थ । विविधा भाषा विभाषा, यथा घट कुट कुम्भ इत्येवमादि । 'वर्तिका' वृत्ती भव वर्तिका, अणेषपर्यायकथनमित्यर्थ । अनुयोगस्य पुनरमूनि एकार्थिकानि पञ्चेति । वि भा, को वृ १३९२

१ आ नि १२५

२ कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिघरिए वोड-देसिए चेव । भासगविभासए वा वित्तीकरणे य आहरणा (नि १२९) पढमो ख्वागार थूलावयवोवदसण वीओ । तइओ सव्वावयवे निट्ठोसे सव्वहा कुणइ ॥ कट्ठसमाण सुत्त तदत्थरूपेगभासण भासा । थूलत्थाण विभासा सव्वेसि वत्तिय नेय ॥ वि भा १४३३-१४३५ प्रथम काण्डे रूपकारो रूपमाविभावयति, 'डउलेइ' ति भणिय होइ । तथा द्वितीयस्तु स्थूलावयवोपदर्शन, 'वड्डेइ' ति भणिय होइ । तृतीयस्तु सर्वथा सर्वानवयवान्निर्दोषान् करोति, चीरयतीत्येवमाद्युक्त भवतीति दृष्टान्त-गाथार्थ । वि भा, को वृ १४३४.

गमानुपपत्तेरिति श्रुतवतः शिष्यस्य तन्निर्देशविषयसंग्रहः समुत्पद्यत इति जातनिश्चयः पृच्छासूत्रमाह—

तं जहा ॥ ६ ॥

अव्यक्तत्वात्तदिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । 'तद्' अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः । यथेति पृच्छा । एवं पृष्ठवतः शिष्यस्य संदेहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

संतप्ररूपणा द्रव्यप्रमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि ॥ ७ ॥

अट्टण्णमणियोगद्वाराणमाइम्मि किमिदि संतप्ररूपणा चेय उच्चदे ? ण, संताणियोगो सेसाणियोगद्वाराणं जेण जोणीभूदो तेण पढमं संताणियोगो चेव भण्णदे' ।

समासोका ज्ञान नहीं हो सकता है ऐसा सुननेवाले शिष्यको उन आठ अनुयोगद्वारोके नामके विषयमें सशय उत्पन्न हो सकता है । इस प्रकारका निश्चय होने पर आचार्य पृच्छासूत्रको कहते हैं—

वे आठ अधिकार जैसे ? ॥ ६ ॥

कहा जानेवाला विषय अव्यक्त होनेसे 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियमको ध्यानमें रखकर आचार्यने 'तद्' यह नपुंसकलिङ्ग निर्देश किया है, जो कि आगे कहे जानेवाले उन आठों ही अनुयोगद्वारोंका निर्देश करता है । 'यथा' यह पद पृच्छाको प्रगट करता है । अर्थात् वे आठ अनुयोगद्वार कौनसे हैं ? इस प्रकार पूछनेवाले शिष्यके संदेहको दूर करनेके लिये, आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणाणुगम, क्षेत्राणुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम अंतराणुगम, भावाणुगम और अल्पवहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार हैं ॥ ७ ॥

शंका— आठ अनुयोगद्वारोके आदिमें सत्प्ररूपणा ही क्यों कही गई है ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, सत्प्ररूपणारूप अनुयोगद्वार जिस कारणसे शेष अनुयोगद्वारोका योनिभूत (मूलकारण) है, उसी कारण सबसे पहले सत्प्ररूपणाका ही निरूपण किया है ।

१ सत्त्व ह्यव्यभिचारि सर्वपदार्थविषयत्वात्, न हि कश्चित् पदार्थ सत्ता व्यभिचरति × × सर्वेषां च विचारार्हाणामस्तित्वं मूलं तेन हि निश्चितस्य वस्तुन उत्तरा चिन्ता युज्यते अतस्तस्यादौ वचनं क्रियते । सत्-परिणामोपलब्धे सख्योपदेशः । निर्जातमख्यस्य निवासविप्रतिपत्तेः क्षेत्राभिधानम् । अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपलब्धेपनिश्चयार्थं स्पर्शनम् । स्थितिमतोज्वविपरिच्छेदार्थं कालोपादानम् । अनुपहृतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनम् (अन्तरवचनम्) । परिणामप्रकारनिर्णयार्थं भाववचनम् । सख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽप्यन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पवहुत्ववचनम् । त रा वा पृ ३०.

संतपरुवणाणंतरं किमिदि दव्वपमाणाणुगमो उच्चदे? ण, णिय-संखा-गुणिदोगाहणखेत्तं खेत्तं उच्चदे दि । एदं चेव अदीद-फुसणेण सह फोसणं उच्चदे । तदो दो वि अहियारा संखा-जोणिणो । णाणेग-जीवे अस्सिऊण उच्चमाण-कालंतर-परुवणा वि संखा-जोणी । इदं थोवमिदं च बहुवमिदि भण्णमाण-अप्पावहुगं पि संखा-जोणी । तेण एदाणमाइम्हि दव्वपमाणाणुगमो भण्ण-जोगो । एत्थ भावो किमिदि ण उच्चदे? ण, तस्स बहुवण्णणादो । कधं भावो बहु-वण्णणीयो? ण, कम्म-कम्मोदय-परुवणाहि विणा तस्स परुवणाभावादो । छ-वड्ढि-हाणि-ट्ठिय-भाव-संखमंतरेण भाव-वण्णणाणुववत्तीदो वा । वट्टमाण-फासं वण्णेदि खेत्तं । फोसणं पुण अदीदं वट्टमाणं च वण्णेदि । अवगय-वट्टमाणफासो सुहेण दो वि पच्छा जाणदु त्ति

शंका— सत्प्ररूपणाके वाद द्रव्यप्रमाणानुगमका कथन क्यो किया गया है ?

समाधान— क्योकि, अपनी अपनी सख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्र कहते हैं । और अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्र ही भूतकालीन स्पर्शनके साथ स्पर्शन कहा जाता है । इसलिये इन दोनों ही अधिकारोका सख्याधिकार (द्रव्यप्रमाणानुगम) योनिभूत है । उसी प्रकार नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली कालप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणाका भी सख्याधिकार योनिभूत हैं । तथा यह अल्प है, यह बहुत है, इस प्रकार कहे जानेवाले अल्पबहुत्वानुयोगद्वारका भी संख्याधिकार योनिभूत है । इसलिये इन सबके आदिमे द्रव्यप्रमाणानुगमका ही कथन करना योग्य है ।

शंका— यहा भावप्ररूपणाका वर्णन क्यो नहीं किया गया है ?

समाधान— उसका वर्णन करने योग्य विषय बहुत है, इसलिये यहां भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया गया है ।

शंका— यह कैसे जाना जावे कि भावप्ररूपणा बहुवर्णनीय है ?

समाधान— ऐसी शका नहीं करनी चाहिये, क्योकि, कर्म और कर्मोदयके निरूपणके विना भाव का निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिये भाव बहुवर्णनीय है यह समझना चाहिये । अथवा, षड्गुणी हानि और षड्गुणी वृद्धिमे स्थित भावकी सख्याके विना भाव का वर्णन नहीं हो सकता है, इसलिये भी यहां भाव का वर्णन नहीं किया गया है ।

शंका— क्षेत्रानुयोग वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है । और स्पर्शनानुयोग अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है । जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लिया है वह अनन्तर सरलतापूर्वक अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिये

पोसणपरुवणादो होदु णाम पुव्वं खेत्तस्स परुवणा, ण पुण कालंतरेहि तो ? इदि ण, अणवगय-खेत्त-फोसणस्स त्वकालंतर-जाणणुवायाभावादो । ण च संतत्थमागमो^१ ण परुवेइ, तस्स अत्थावयत्तप्पसंगादो । णेदाणि त्वकालंतरं पडिज्जदीदि^२ चेण्ण, तप्पढणे विरोहाभावादो । तहा भावप्पावहुगाणं पि परुवणा खेत्त-फोसणाणुगममंतरेण ण तव्विसया होदि^३ त्ति पुव्वमेव खेत्त-फोसण-परुवणा कायव्वा । सेसाहियारेसु संतेसु ते सोत्तूण किमट्ठं कालो पुव्वमेव उच्चदे ? ण ताव अंतरपरुवणा एत्थ भण्ण-जोग्गा, काल-जोणित्तादो । ण भावो वि, तस्स तदो हेट्ठिमअहियार-जोणित्तादो । ण अप्पावहुगं पि, तस्स वि, सेसाणियोग-जोणित्तादो । पारिसेसादो^४ कालो चैव तत्थ

स्पर्शन प्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन रहा आवे इसमें कोई आपत्ति नहीं, परंतु काल और अन्तरप्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन सभव नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे तत्संबन्धी काल और अन्तरके जाननेका कोई भी उपाय नहीं प्राप्त हो सकता है । और आगम, जिस प्रकारसे वस्तु-ध्यवस्था है, उसी प्रकारसे प्ररूपण नहीं करे यह हो नहीं सकता है । यदि ऐसा नहीं माना जावे तो उस आगमको अर्थापदत्व अर्थात् अनर्थकपदत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ।

शंका— तो भी क्षेत्र और स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् तत्सम्बन्धी काल और अन्तर-प्ररूपणाका कथन प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षेत्र और स्पर्शनके बाद काल और अन्तर-प्ररूपणाके कथन करनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

उसीप्रकार भाव और अल्पबहुत्वकी भी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शनानुगमके बिना क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती है, इसलिये इन सबके पहले ही क्षेत्र और स्पर्शनानुगमका कथन करना चाहिये ।

शंका— अन्तरादि शेष अधिकारोके रहते हुए भी उन्हें छोड़कर कालाधिकारका कथन पहले क्यों किया गया है ?

समाधान— यहांपर (स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात्) अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि, अन्तरप्ररूपणाका मूल-आधार (योनी) कालप्ररूपणा ही है । स्पर्शन-प्ररूपणाके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, उससे पूर्वका अधिकार भावप्ररूपणाका योनिरूप है । उसी प्रकार स्पर्शनप्ररूपणाके बाद अल्पबहुत्वप्ररूपणाका भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शेष अनुयोगद्वारा उसका अल्पबहुत्वप्ररूपणाका योनिरूप है । इस प्रकार जब स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इनमेंसे किसीका भी प्ररूपण नहीं हो सकता था तब परिशेषन्यायसे वहां पर काल ही प्ररूपणाके योग्य है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

परुवणा-जोगो त्ति । भावप्पावहुगाणं जोणित्तादो पुव्वमेवंतरपरुवणा उत्ता । अप्पावहुग-जोणित्तादो पुव्वमेव भावपरुवणा उच्चदे । सुत्ते तहा परुपणा किमिदि ण दिस्सदे ? ण, सुत्तस्सत्थ-सूयणमेत्त-वावारादो । तहाइरिया किमिदि ण वक्खाणेति ? ण, अवधारणसमत्थाणं सिस्साणं संपहि अभावादो तहोवएसाभावादो वा । अत्थित्तं भणदि संताणियोगो । संताणियोगमिह जमत्थित्तं उत्तं तस्स पमाणं परुवेदि दव्वाणियोगो । तेहिंतो अवगय-संत-पमाणं वट्टमाणोगाहणं परुवेदि खेत्ताणियोगो । पुणो तेहिंतोवलद्ध-संत-पमाण-खेत्ताणं अदीद-काल-विसिट्ठ-फासं परुवेदि फोसणाणु-गमो । तेहिंतोअवगय-संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं द्विदि परुवेदि कालाणियोगो । तेसिं चैव विरहं परुवेदि अंतराणियोगो । तेसिं चैव भावं परुवेदि भावाणियोगो । तेसिं चैव थोव-वहुत्तं वण्णेदि अप्पावहुगमिदि । उत्तं च—

अत्थित्त पुण सत अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं ।

पच्चुप्पण्ण खेत्त अदीद-पटुप्पण्णं फुसण ॥ १०२ ॥

भावप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणाकी योनि होनेसे इन दोनोंके पहले ही अन्तरप्ररूपणाका उल्लेख किया है । तथा अल्पबहुत्वकी योनि होनेसे इसके पहले ही भावप्ररूपणाका कथन किया है ।

शंका— सूत्रमे इस प्रकारकी प्ररूपणा क्यों नहीं दिखाई देती है ?

समाधान— यह कोई बात नहीं, क्योंकि, सूत्रका कार्य अर्थकी सूचना करना मात्र है ।

शंका— यदि ऐसा है तो दूसरे आचार्य उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओका व्याख्यान क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान— ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, एक तो आजकल विस्तृत व्याख्यानरूप तत्त्वार्थके अवधारण करनेमे समर्थ शिष्योंका अभाव है, और दूसरे उस प्रकारके उपदेशका अभाव है । इसलिये आचार्योंने उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओका व्याख्यान नहीं किया ।

सत्प्ररूपणा पदार्थोंके अस्तित्वका कथन करती है । सत्प्ररूपणामे जो पदार्थोंका अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है । इन दोनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए अस्तित्व और संख्या-प्रमाणरूप द्रव्योंकी वर्तमान अवगाहनाका निरूपण क्षेत्रानुयोग करता है । उक्त तीनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए सत्, संख्या और क्षेत्ररूप द्रव्योंके अतीतकालविशिष्ट वर्तमान स्पर्शका स्पर्शनानुयोग वर्णन करता है । पूर्वोक्त चारो अनुयोगोंके द्वारा जाने गये सत्, संख्या, क्षेत्र और स्पर्शरूप द्रव्योंकी स्थितिका वर्णन कालानुयोग करता है । जिन पदार्थोंके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श और स्थितिका ज्ञान हो गया है उनके अन्तरकालका वर्णन अन्तरानुयोग करता है, उन्हींके भावोंका वर्णन भावानुयोग करता है और उन्हींके अल्पबहुत्वका वर्णन अल्पबहुत्वानुयोग करता है । कहा भी है—

कालो द्विदि-अवघाण अतरविरहो^१ य सुण्ण-कालो य ।

भावो खलु परिणामो स-णाम-सिद्ध खु अप्पवहु ॥ १०३ ॥

प्रथमानुयोगस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमाह—

संतपरूवणदाए^२ दुविहो णिद्देसो— ओघेण आदेसेण^३ य ॥ ८ ॥

चतुर्दशजीवसमासानामित्यनुवर्तते, तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते चतुर्दशजीव-समासानां सत्प्ररूपणायामिति । सत्सत्त्वमित्यर्थः । कथम् ? अन्तर्भावितभावत्वात् । प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत् । चतुर्दशजीवसमाससत्त्वप्ररूपणायामित्यर्थः । सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचकः, यथा सदभिधानं सत्यमित्यादि । अस्ति अस्तित्ववाचकः,

अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली प्ररूपणाको सत्प्ररूपणा कहते हैं । जिन पदार्थोंके अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली संख्याप्ररूपणा है । वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्रप्ररूपणा है । अतीतस्पर्श और वर्तमानस्पर्शका वर्णन करनेवाली स्पर्शनप्ररूपणा है । जिससे पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका निश्चय हो उसे कालप्ररूपणा कहते हैं । जिसमें विरहरूप शून्यकालका कथन हो उसे अन्तरप्ररूपणा कहते हैं । जो पदार्थोंके परिणामोका वर्णन करे वह भावप्ररूपणा है । तथा अल्पबहुत्वप्ररूपणा अपने नामसे ही सिद्ध है ॥ १०२-१०३ ॥

अब पहले सदन्युयोगके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सत्प्ररूपणामे ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी अपेक्षासे इस तरह दो प्रकारका कथन है ॥ ८ ॥

इस सूत्रमे 'चतुर्दशजीवसमासानाम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये उस पदके साथ ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि 'चौदह जीवसमासोकी सत्प्ररूपणामे' । यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व है ।

शंका— यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व करनेका क्या कारण है ?

समाधान— क्योंकि, सत्मे भावरूप अर्थ अन्तर्भूत है, इसलिये यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व लिया गया है ।

प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये सब पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये 'सत्परूवण-दाए' इस पदका अर्थ यह हुआ कि चौदह जीवसमासोके सत्त्वके निरूपण करनेमे । 'सत्' शब्द शोभन अर्थात् सुंदर अर्थका भी वाचक है । जैसे, सदभिधान अर्थात् शोभनरूप कथनको

१ मु द्विदि-अवघरण अतर विरहो ।

२ मतति विज्जमाण एयस्स पयस्स जा परूवणया । गडयाइएसु वत्थुसु मतपयपत्त्वणा सा उ । जीवस्स च ज सत् जम्हा त तेहि तेसु वा पयति । तो सत्तम्म पयाइ ताड तेनु पन्वणया ॥

वि भा ४०७-४०८

३ मखेओ ओघो त्ति य गुणमण्णा सा च मोहजोगभवा । वित्थारादेसो त्ति य मग्गमण्णा सकम्मभवा ॥ गो जी ३

सति सत्ये व्रतीत्यादि । अत्रास्तित्ववाचको ग्राह्यः । निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति यावत् । स द्विविधो द्विप्रकारः — ओघेन आदेशेन च । ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः । अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति । न च प्ररूपणायास्तृतीयः प्रकारोऽस्ति, सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । विशेष-व्यतिरिक्तसामान्याभावादादेशप्ररूपणाया एव ओघावगतिः स्यादिति न द्विविधं व्याख्यानमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररुचिद्रव्यपर्यायार्थिकसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । जीवसमास इति किम् ? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः । क्वासते ? गुणेषु । के

सत्य कहते हैं । कहीं पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक भी पाया जाता है । जैसे, यह सत्यके अस्तित्व अर्थात् सद्भावमें व्रती है । इनमेसे यहां पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक ही लेना चाहिये ।

निर्देश, प्ररूपण विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं । वह निर्देश ओघ और आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है । ओघ, सामान्य या अभेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है, और आदेश, भेद या विशेषरूपसे निरूपण करना दूसरी आदेश-प्ररूपणा है । इन दो प्रकारकी प्ररूपणाओको छोड़कर वस्तुके विवेचनका और कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि, वस्तुमें सामान्य और विशेष धर्मको छोड़कर और कोई तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है ।

शंका— विशेषको छोड़कर सामान्य स्वतन्त्र नहीं पाया जाता है, इसलिये आदेश-प्ररूपणाके कथनसे ही सामान्यप्ररूपणाका ज्ञान हो जायगा । अतएव दो प्रकारका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है ?

समाधान— यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि, जो संक्षेप-रुचिवाले शिष्य होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यप्ररूपणासे ही तत्त्वको जानना चाहते हैं । और जो विस्तर-रुचिवाले होते हैं वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषप्ररूपणाके द्वारा तत्त्वको समझना चाहते हैं, इसलिये इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके अनुग्रहके लिये यहां पर दोनों प्रकारकी प्ररूपणाओका कथन किया है ।

शंका— जीवसमास किसे कहते हैं ?

समाधान— जिसमें जीव भले प्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं ।

शंका— जीव कहां रहते हैं ?

समाधान— गुणोंमें जीव रहते हैं ।

शंका— वे गुण कौनसे हैं ?

समाधान— औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये

गुणाः ? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः । अस्य गमनिका— कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः, तेषामुपशमादौपशमिकः, क्षयात्क्षायिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः । कर्मोदयोपशम-क्षयक्षयोपशम मन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः । गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते । उक्तं च—

जेहि दु लक्खिज्जते उदयादिसु सभवेहि भावेहि ।

जीवा ते गुण-सण्णा णिद्धिद्वा सव्वदरिसीहि' ॥ १०४ ॥

ओघनिर्देशार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओघेण अत्थि मिच्छाइट्टी' ॥ ९ ॥

यथोद्देशस्तथा निर्देश ' इति न्यायात् ओघाभिधानमन्तरेणापि ओघोऽवगम्यते

पांच प्रकारके गुण अर्थात् भाव हैं । इनका खुलासा इस प्रकार है— जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्धकोके उदयाभावी क्षयसे और अनागत कालमें उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोके सदवस्थारूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षाके विना जीवके स्वभावमात्रसे उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं । इन गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है । कहा भी है—

दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणसंज्ञावाला कहा है ॥ १०४ ॥

अब ओघ अर्थात् गुणस्थान प्ररूपणाका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे गुणस्थानकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥ ९ ॥

शंका— ' उद्देशके अनुसार ही निर्देश होता है ' इस न्यायके अनुसार ' ओघ ' इस शब्दके कहे विना भी ' ओघ ' का ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये उसका सूत्रमें फिरसे

१ प्रा प १, ३ । गो जी ८ अनेन गुणशब्दनिरुक्तिप्रधानसूत्रेण मिथ्यात्वादयोऽयोगि-केवलित्वपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषा त एव गुणस्थानानीति प्रतिपादिनम् । जी प्र टी

२ ननु यदि मिथ्या दृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसंभवः । गुणा हि जानादिरूपास्तत्कथं ते दृष्टी विपर्यस्ताया भवेयुरिति ? उच्यते, इह यद्यपि सर्वघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयादर्हत्प्रणीतजीवाजीवादि-वस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरमुमतो विपर्यस्ता भवति, तथापि काचिन्मनुष्यपश्यादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति अन्यथाऽजीवत्वप्रसंगात् ।

अभि रा को (मिच्छाडट्टिगुणट्टाण)

तस्येह पुनरुच्चारणमनर्थकमिति न, तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थत्वात् । सर्वसत्त्वानुग्रह-
कारिणो हि जिनाः, नीरागत्वात् । सन्ति मिथ्यादृष्टयः । मिथ्या वितथा व्यलीका
असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते
मिथ्यादृष्टयः ।

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होति णय-वादा ।

जावदिया णय-वादा तावदिया चेव पर-समया^१ ॥ १०५ ॥

इति वचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति^२, किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं
पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति । अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो
येषां ते मिथ्यादृष्टयः । उक्तं च—

मिच्छत्त वेयंतो जीवो विवरीय-दसणो होई ।

ण य धम्म रोचेदि हु मधुर खु रस जहा जरिदो^३ ॥ १०६ ॥

उच्चारण करना निष्प्रयोजन है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अल्पबुद्धि या मूढ़जनोंके अनुग्रहके
लिये सूत्रमे 'ओघ' शब्दका उल्लेख किया है । जिनदेव सपूर्ण प्राणियोंका अनुग्रह करनेवाले
होते हैं, क्योंकि, वे वीतराग हैं ।

'मिथ्यादृष्टि जीव है' यहां पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची
नाम हैं । दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है । इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके
विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मिथ्यारूप
दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं ।

जितने भी वचन-मार्ग हैं उतने ही नय-वाद अर्थात् नयके भेद होते हैं और जितने
नयवाद हैं उतने ही पर-समय (अनेकान्त-बाह्य-मत) होते हैं ॥ १०५ ॥

इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पांच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना
चाहिये, किंतु मिथ्यात्व पांच प्रकारका है यह कहना उपलक्षणमात्र है । अथवा, मिथ्या शब्दका
अर्थ वितथ और दृष्टि शब्दका अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है । इसलिये जिन जीवोंकी रुचि
असत्यमे होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं । कहा भी है—

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभावका अनुभव करनेवाला जीव
विपरीत-श्रद्धावाला होता है । जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मधुर रस अच्छा मालूम

१ गाथेय पूर्वमपि ६७ गाथाद्धेन आगता ।

२ एव स्थूलाशाश्रयेण मिथ्यात्वस्य पञ्चविधत्व कथित सूक्ष्माशाश्रयेणासत्वात्तलोकमात्रविकल्प-
संभवात् तत्र व्यवहारानुपपत्ते । गो जी, जी प्र टी १५

३ प्रा प १, ६ । गो जी १७

त मिच्छत्तं जमसद्दहणं^१ तच्चाण होड अत्याण ।

ससद्दमभिग्गहिय अणभिग्गहिद ति तं तिविह ॥ १०७ ॥

इदानीं द्वितीयगुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रमाह—

सासणसम्मार्इट्ठी ॥ १० ॥

आसादनं सम्यक्त्वविराधनम् सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो । विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादनं^२ इति भण्यते । अथ स्यान्न मिथ्यादृष्टिरयं, मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्रूपेणभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, उभयविषयरूपेणभावात् । न

नहीं होता है उसी प्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता है ॥ १०६ ॥

जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे तत्त्वार्थके विषयमे अश्रद्धान उत्पन्न होता है, अथवा विपरीत श्रद्धान होता है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं । उसके संगणित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत इस प्रकार तीन भेद हैं ॥ १०७ ॥

अब दूसरे गुणस्थानके कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं ॥ १० ॥

सम्यक्त्वकी विराधनाको आसादन कहते हैं । जो इस आसादनसे युक्त है उसे सासादन कहते हैं । किसी एक अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किंतु जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामोंको नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थानके अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं ।

शंका— सासादन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनोंको विषय करनेवाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है । इनके

१ मु जहमसद्दहण । प्रा प १, ७ ।

२ असन क्षेपण सम्यक्त्वविराधन, तेन सह वर्तते य म सासन इति निरुक्त्या मासन इत्याख्या यस्यासौ सासनाख्य । गो जी, म प्र, टी १९

३ अय औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षण सादयति अपनयतीत्यासादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोप, कृद्वहुलमिति कर्तर्यनट् । सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो नि श्रेयसतत्त्व बीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यत यमयमात्रेण उत्कर्षत पङ्क्तिरावलिकाभिरपगच्छतीति, तत सह आसादनेन वर्तत इति सासादन । × × × मास्वादनमिति वा पाठ । तत्र नह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादानेन वर्तत इति मास्वादन । यथा हि, भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्त पुरुषस्तद्वनकाले क्षीरान्नरनमास्वादयति तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वम्योपरि व्यलीकचित्त नम्यक्त्वमुद्बुहन् तद्रसमास्वादयति । तत स चामौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थान मान्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । अभि. रा को (सासण-सम्मद्दिगुणद्वान)

च चतुर्थी दृष्टिरस्ति, सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात्^१। ततोऽसन् एष गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽसदृष्टित्वात् । तर्हि मिथ्यादृष्टि-
र्भवत्वयं, नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत्, न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्धनन्ता-
नुबन्ध्यदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु
मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु

अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानमे विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे असदृष्टि ही समझना चाहिये ।

शंका— यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध कर-
नेवाले अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमे पाया
जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे
उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते
हैं, किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

विशेषार्थ— विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और
मिथ्यात्वजनित । उनमेसे दूसरे गुणस्थानमे अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया
जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है ।

१ यदि तत्त्ववृत्तिस्तदा सम्यग्दृष्टिरेवासौ, यद्यतत्त्ववृत्तिस्तदा मिथ्यादृष्टिरेवासौ, यद्युभयवृत्तिस्तदा
सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेवासौ, यद्यनुभयवृत्तिस्तदा आन्माभाव स्यात् । गो जी , म प्र , टी १९

२ ननु सम्यग्दर्शनघातकस्यानतानुवधिन कथं दर्शनमोहत्वाभाव ? इति चेत् न, तस्य चारित्र-
घातकतीव्रतमानुभागमहिम्ना चारित्रमोहत्वस्यैव युक्तत्वात् । तर्हि तस्मात् न सम्यग्दर्शनविनाश ? इति चेत्,
अनन्तानुबन्ध्यदये सति पडावलिरूपस्तोककालव्यवधानेऽपि मिथ्यात्वकर्मोदयाभिमुख्ये सत्येव सम्यग्दर्शनविनाश-
सम्भवात् । अतएव मिथ्यात्वोदयनिरपेक्षनया सासादनत्व भवतीति पारिणामिकभावत्वमुक्तम् । परिणाम
स्वभाव तस्माद्भव पारिणामिक इति व्युत्पत्तेः । नन्वेव कथमनन्तानुबन्ध्यतमोदयान्नाशितसम्यक्त्व इत्युच्यते ?
इति चेत् न, मिथ्यात्वोदयाभिमुख्यसिंहितस्य अनन्तानुबन्ध्यदयस्य सम्यग्दर्शनविनाशसम्भवेन तदुदयात्तद्विनाश
इति वचनाविरोधात् । किं बहुना अनन्तानुवधिन सम्यक्त्वविनाशसामर्थ्यशक्तिसम्भवेऽपि मिथ्यात्वोदयाभिमुख्ये
सत्येव तत्सामर्थ्यव्यक्तिरिति सिद्धो न सिद्धान्तः । गो जी , म प्र , टी १९

सासादन इति व्यपदिश्यते । किमिति मिथ्यादृष्टिरिति न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात् । न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत । यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं, तस्य चारित्रावरणत्वात् । तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात् । सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यपितनयापेक्षः । विवक्षितदर्शन-

शंका— पूर्वके कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है ?

• समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है ।

विशेषार्थ— सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी द्विस्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है । एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी द्विस्वभावता है । इसी कथनकी पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की गई है । दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिस प्रकार सम्यक्त्वके विघातमे मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती है, उसप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमे मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है । इस प्रकारकी द्विस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है ।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोके सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता । तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है । इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है ।

शंका— अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है ?

समाधान— यह आरोप ठीक नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है । फिर भी परमाणुगमे मुख्य नयकी अपेक्षा इसतरहका उपदेश नहीं दिया है ।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है । सासादन जो

मोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिकः सासादनगुणः । सासादन-
श्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः । विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं
सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति । उक्तं च—

सम्मत्त-रयण-पव्वय सिहरादो मिच्छ-भूमि-समभिमुहो ।

णासिय-सम्मतो सो सासण-णामो मुणेयव्वो^१ ॥ १०८ ॥

व्यामिश्ररुचिगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह—

सम्मामिच्छाईट्ठी ॥ ११ ॥

दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत् । समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ
सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । अथ स्यादेकस्मिन् जीवे नाक्रमेण समीचीनासमीचीनदृष्टयोरस्ति
संभवः, विरोधात् । न क्रमेणापि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणयोरेवान्तर्भावादिति । अक्रमेण

सम्यग्दृष्टि वह सासादनसम्यग्दृष्टि है ।

शंका— सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रायसे दूषित है, इसलिये उसके सम्यग्दृष्टि-
पना कैसे बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्यायकी
अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है । कहा भी है—

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नगिरिके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिके अभिमुख
है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है परंतु मिथ्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है, उसे
सासन अर्थात् सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥ ११ ॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं । जिस जीवके समीचीन और
मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

शंका— एक जीवमे एकसाथ सम्यक् और मिथ्यारूपदृष्टि संभव नहीं है, क्योंकि, इन
दोनों दृष्टियोंका एक जीवमे एकसाथ रहनेमे विरोध आता है । यदि कहा जावे कि ये दोनों
दृष्टियाँ क्रमसे एक जीवमे रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नामके स्वतन्त्र

१ प्रा प १, ९ । गो जी २०

२ लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन औपधिविशेषकत्वेन मदनकोद्रवस्थानीय मिथ्यात्वमोहनीय कर्म
शोधयित्वा त्रिधा करोति, शुद्धमर्घशुद्धमविशुद्ध चेति । तत्र त्रयाणा पुञ्जाना मध्ये यदार्धविशुद्ध पुञ्ज उदेति
तदा तदुदयाज्जीवस्वार्धविशुद्ध जिनप्रणीततत्त्ववद्भान भवति, तेन तदासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मुहर्त-
काल स्पृशति । अभि रा को (सम्मामिच्छादिद्विगुणद्वान)

सम्यग्मिथ्याख्यात्मको जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे । न विरोधोऽपि, अनेकान्ते आत्मनि भूयसां धर्माणां सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः । नात्मनोऽनेकान्तत्वमसिद्धम्, अनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वानुपपत्तेः । अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां संभवो नाशेषाणामिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति, चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकात्मन्यवस्थितिप्रसङ्गात् । किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्त्वचिदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे । अस्ति चानयोः श्रद्धयोः क्रमेणैकस्मिन्नात्मनि संभवस्ततोऽक्रमेण तत्र कदाचित्तयोः संभवेन भवितव्यमिति । न चैतत्काल्पनिकं, पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनार्हन्नपि देव इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात्^१ । पंचसु

गुणस्थानोमे ही अन्तर्भाव मानना चाहिये । इसलिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामका तीसरा गुणस्थान नही बनता है ?

समाधान— युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है ऐसा मानते हैं । और ऐसा माननेमे विरोध भी नही आता है, क्योंकि, आत्मा अनेक-धर्मात्मक है, इसलिये उसमे अनेक धर्मोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है । अर्थात् एक साथ अनेक धर्मोंके रहनेमे कोई बाधा नहीं आती है । यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है यह बात ही असिद्ध है । सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनेकान्तके बिना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता है ।

शंका— जिन धर्मोंका एक आत्मामे एकसाथ रहनेमे विरोध नहीं है, वे रहे, परन्तु सपूर्ण धर्म तो एकसाथ एक आत्मामे रह नहीं सकते हैं ?

समाधान— कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामे रहना संभव है ? यदि सपूर्ण धर्मोंका एकसाथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामे रहनेका प्रसंग आ जायगा । इसलिये परस्पर विरोधी सपूर्ण धर्म एक आत्मामे रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये । किन्तु अनेकान्तका यह अर्थ समझना चाहिये कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामे अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामे किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं । इस प्रकार जब कि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओंका क्रमसे एक आत्मामे रहना संभव है, तो कदाचित् किसी आत्मामे एकसाथ भी उन दोनोंका रहना बन सकता है । यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि, पूर्व स्वीकृत अन्य देवताके अपरित्यागके साथ साथ अरिहंत भी देव है ऐसा अभिप्रायवाला पुरुष पाया जाता है ।

शंका— पांच प्रकारके भावोंमेसे तीसरे गुणस्थानमे कौनसा भाव है ?

१ यथा कस्यचित् मित्रं प्रति मित्रत्व, चैत्रं प्रत्यमित्रत्वमित्युभयात्मकत्वमविरुद्धं लोके दृश्यते तथा

गुणेषु कोऽयं गुण इति चेत्क्षायोपशमिकः । कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते । तद्यथा— मिथ्यात्वकर्मणः सर्वधातिस्पर्धकानामुदयक्षया-
तस्यैव सत उदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वधातिस्पर्धकोदया-
च्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः । सतापि सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन
औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयादिव ततः^१
सम्यक्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात् । सम्यग्दृष्टेर्निरन्वयविनाशाकारिणः
सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वधातित्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टेः साकल्यप्रतिबन्धितामपेक्ष्य
तस्य तथोपदेशात् । मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवानन्तानुबन्धिनामपि सर्वधातिस्पर्धकक्षयो-
पशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न तस्य चारित्रप्रतिबन्धक-

समाधान— तीसरे गुणस्थानमे क्षायोपशमिक भाव है ।

शंका— मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके
क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है ?

समाधान— वह इस प्रकार है, कि वर्तमान समयमे मिथ्यात्वकर्मके सर्वधाती
स्पर्धकोका उदयाभावी क्षय होनेसे, सत्तामे रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वधाती स्पर्धकोका
उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वधाती स्पर्धकोके उदय होनेसे
सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है ।

शंका— तीसरे गुणस्थानमे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहां औदयिक भाव
क्यों नहीं कहा है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जिस प्रकार सम्यक्त्वका
निरन्वय नाश होता है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश
नहीं पाया जाता है, इसलिये तीसरे गुणस्थानमे औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव
कहा है ।

शंका— सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है,
फिर उसे सर्वधाती क्यों कहा ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिबन्ध
करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वधाती कहा है ।

शंका— जिस तरह मिथ्यात्वके क्षायोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति
वतलाई है उसी प्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वधाती स्पर्धकोके क्षायोपशमसे होता है, ऐसा
क्यों नहीं कहा ?

कस्यचित्पुरुषस्य अर्हदादिश्रद्धानापेक्षया सम्यक्त्व, अनाप्तादिश्रद्धानापेक्षया मिथ्यात्व च युगपदेव विषयभेदेन
सम्भवतीति सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वमविरुद्धमेव दृश्यते । गो जी म प्र टी २२

त्वात् । ये त्वनन्तानुबन्धिक्षयोपशमात्तदुत्पत्तिं' प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदयिकः स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात् । अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सत्तामुदयाभावलक्षणोपशमेन च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः । सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनव्युत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसद्विषया श्रद्धोत्पद्यत' इति क्षायोपशमिकः सम्यग्मिथ्यात्वगुणः । अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नम्, तत्र सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात् । तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्योपशमिकत्व-

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रका प्रतिबन्धक हैं, इसलिये यहाँ उसके क्षयोपशमसे तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है ।

जो अनन्तानुबन्धी कर्मके क्षयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे सासादन गुणस्थानको औदयिक मानना पड़ेगा । पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानको औदयिक नहीं माना गया है ।

अथवा, सम्यक्प्रकृतिकर्मके देशघाती स्पर्धकोका उदयक्षय होनेसे, सत्तामे स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है । यहाँ इस तरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्त के पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिज्ञान करानेके लिये ही कहा है । वास्तवमे तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप्त, आगम और पदार्थ-विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ हैं, किंतु उसके उदयसे सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है । यदि इस गुणस्थानमे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सत् और असत् पदार्थको विषय करनेवाली मिश्र रुचिरूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमे क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमे आये हुए जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है ।

शंका— उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमे सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस तरह तो तीसरे गुणस्थानमे औपशमिक भाव मानना पड़ेगा ।

प्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकस्यार्थस्याभावात् । अपि च यद्येवं क्षयोपशम इष्येत, मिथ्यात्वमपि क्षायोपशमिकम्, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्धकानां क्षयात्सतामुदयाभावलक्षणोपशमान्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च मिथ्यात्व-गुणस्य प्रादुर्भावोपलम्भादिति । उक्तं च—

दहि-गुडमिव वामिस्स पुहभाव णेव कारिदु सक्क ।

एव मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो^१ ॥ १०९ ॥

सम्यग्दृष्टिगुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

असंजदसम्माइट्ठी ॥ १२ ॥

शंका— तो तीसरे गुणस्थानमे औपशमिक भाव ही रहा आवे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थानमे औपशमिक भावका प्रतिपादन करनेवाला कोई आर्षवाक्य नहीं हैं । अर्थात् आगममे तीसरे गुणस्थानमे औपशमिक भाव नहीं बताया है ।

दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थानमे मिथ्यात्व आदि कर्मोंके क्षयोपशमसे क्षयोपशम भावकी उत्पत्ति मान ली जावे तो मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा, क्योंकि, सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थानमे भी सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदय अवस्थाको प्राप्त हुए स्पर्धकोका क्षय होनेसे, सत्तामे स्थित उन्हींका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे तथा मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोके उदय होनेसे मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति पाई जाती है । इतने कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि तीसरे गुणस्थानमे मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धीके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृतिके उदयसे मिश्रभाव होता है । कहा भी है—

जित प्रकार दही और गुड़को मिला देने पर उनको अलग अलग नहीं अनुभव किया जा सकता है, किंतु मिले हुए उन दोनोंका रस मिश्रभावको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार एक ही कालमे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामोको मिश्र गुणस्थान कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे असयतसम्यग्दृष्टि जीव है ॥ १२ ॥

१ प्रा प १, १० । गो जी २२ यथा नालिकेरद्वीपवानिन क्षुधादितस्यापीहागतन्यौदनादिकेऽनेकविधे ढौकिते तस्योपरि न रुचि नापि निन्दा, यतस्तेन न ओदनादिक आहारो न कदाचित् दृष्टो नापि श्रुत, एव सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न च रुचिर्नापि निन्देति । न सू पृ १०६

२ वध अविरइहेड जाणतो रागदोसदु क्व च । विरइमुह इच्छमो विरइ काउ च असमत्थो ॥ एस

समीची दृष्टिः श्रद्धा यस्यासी सम्यग्दृष्टिः, असंयतश्चासी सम्यग्दृष्टिश्च असंयतसम्यग्दृष्टिः । सो वि सम्माइट्ठी ति विहो- खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि । दंसण-चरण-गुण-घाड-चत्तारि-अणंताणुवंधि-पयडीओ, मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि दंसणमोह-पयडीओ च एदांसि सत्तण्हं णिरवसेस-क्खएण खइयसम्माइट्ठी उच्चड । एदामि सत्तण्हं पयडीणमुवममेण उवसमसम्माइट्ठी होड । सम्मत्त-त्तण्णिद-दंसणमोहणीय-भेय-कम्मस्स उदएण वेदय-सम्माइट्ठी णाम । तत्थ खइयसम्माइट्ठी ण कयाड वि मिच्छत्तं गच्छइ, ण कुणड संदेहं पि, मिच्छत्तुवभवं दट्ठूण णो विम्वहं जादि' । एरिसो चेय उवसमसम्माइट्ठी', किंतु परिणाम-पच्चएण मिच्छत्तं गच्छइ, सासणगुणं पि पटिवज्जइ, सम्मामिच्छत्त-गुणं पि ढुक्कइ, वेदगसम्मत्तं पि समल्लियइ' । जो पुण वेदयसम्माइट्ठी सो सिद्धिल-

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और संयमरहित सम्यग्दृष्टिको असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं । वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके हैं, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि । सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र गुणका घात करनेवाली चार अनन्तानुबन्धी प्रकृतियां, और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीयकी प्रकृतियां, इस प्रकार इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा विनाशसे जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि कहा जाता है । तथा इन्हीं सात प्रकृतियोंके उपशमसे जीव उपशमसम्यग्दृष्टि होता है । तथा जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्मकी भेदरूप प्रकृतिके उदयसे यह जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है । उनमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकारके सदेहको भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयोंको देखकर विस्मयको भी प्राप्त नहीं होता है । उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसी प्रकारका होता है, किंतु परिणामोके निमित्तसे उपशम सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको जाता है, सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त करता है, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको भी पहुच जाता है और वेदकसम्यक्त्वको भी प्राप्त कर लेता है । तथा जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिलश्रद्धानी होता है, इसलिये वृद्ध पुरुष जिस प्रकार अपने हाथमे लकड़ीको शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थके विषयमे शिथिलग्राही होता है, अतः कुहेतु और

असजययम्मो निदतो पावकम्मकरण च । अहिगयजीवाजीवो ज्वलियदिट्ठी वन्धियमांहो । अभि. रा को (अविरययम्महिट्ठि)

१ मु जायदि । वयणेंहि वि हेदुहि वि इदियमयआणएहि स्वेहि । वीभच्छजुगुच्छाहि य तेओक्केण वि ण चालेज्जो ॥ गो जी ६४७

२ दंसणमोहवममदो उप्पज्जइ ज पयत्थसद्दहण । उवसमसम्मत्तमिण पमण्णमलपकतोयमम । गो जी ६५०,

३ मु समल्लियइ ।

४ मु मिथिल- ।

सद्वहणो थेरस्स लद्धि-ग्गहणं व सिढिलग्गाहो कुहेउ-कुदिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ' । पंचसु गुणेषु के गुणे अस्सिऊण असंजदसम्माइट्ठि-गुणस्सुप्पत्ती जादेत्ति पुच्छिदे उच्चदे, सत्त-पयडि-क्खएणुप्पण्ण-सम्मत्तं खइयं । तेसिं चेव सत्तण्हं पयडीणुवसमेणुप्पण्ण-सम्मत्तमुवसमियं । सम्मत्त-देसघाइ-वेदयसम्मत्तुदएणुप्पण्ण-वेदयसम्मत्तं खओवसमियं । मिच्छत्ताणंताणुवंधीणं सव्वघाइ-फहयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अहवा सम्मामिच्छत्त-सव्वघाइ-फहयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण उहयत्थ सम्मत्त-देसघाइ-फहयाणमुदएणुप्पज्जइ जदो तदो वेदयसम्मत्तं खओवसमियमिदि केसिंचि आइरियाणं वक्खाणं तं किमिदि णेच्छिज्जदि, इदि चेत्, तण्ण, पुव्वं कुदृष्टान्तसे उसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेमें देर नहीं लगती है ।

पाच प्रकारके भावोंमेंसे किन किन भावोंके आश्रयसे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है ? इस प्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह क्षायिक है, उन्हीं सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व उपशमसम्यग्दर्शन होता है और सम्यक्त्वका एकदेश घातरूपसे वेदन करानेवाली सम्यक्प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक है ।

शंका— मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धीके उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे तथा आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सर्वघाती स्पर्धकोंके सदव-स्थारूप उपशमसे अथवा सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे, आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे तथा इन दोनों ही अवस्थाओंमें सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे जब क्षयोपशमरूप सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं । ऐसा कितने ही आचार्योंका मत है उसे यहा पर क्यों नहीं स्वीकार किया है ?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे चुके हैं ।

विशेषार्थ— जिस प्रकार मिश्र गुणस्थान की उत्पत्ति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयकी मुख्यतासे बतला आये हैं, उसी प्रकार यहा पर भी सम्यक्प्रकृतिके उदयकी मुख्यता समझना चाहिये । यदि इस सम्यक्त्वमें सम्यक्प्रकृतिके उदयकी मुख्यता न मान कर केवल मिथ्यात्वादिके क्षयोपशमसे ही इसकी उत्पत्ति मानी जावे तो सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयाभाव क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे तथा मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा । क्योंकि, वहां पर भी क्षयोपशमका लक्षण घटित होता है । इसलिये इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्षयोपशमकी प्रधानतासे न मानकर सम्यक्प्रकृतिके उदयकी प्रधानतासे समझना चाहिये ।

सूत्रमें सम्यग्दृष्टिके लिये जो असंयत विशेषण दिया गया है, वह अन्तर्दीपक है, इस-

१ दमणमोहदयादो उप्पज्जइ ज पयत्थसद्वहण । चलमलिणमगाढ त वेदयसम्मत्तमिदि जाणे ॥

गो जी ६४९

उत्तुत्तरादो । 'असंजद' इदि जं सम्मादिट्ठिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो हेट्ठिल्लाणं सयल-गुणट्ठाणाणमसंजदत्तं परूवेदि । उवरि असंजमाभावं^१ किण्ण परूवेदि त्ति उत्ते ण परूवेदि, उवरि सव्वत्थ संजमासंजम-संजम-विसेसणोवलंभादो त्ति । उत्तं च—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयण तु सद्दहदि ।

सद्दहदि असव्भावं अजाणमाणो गुरु-णियोगा^२ ॥ ११० ॥

णो इदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।

जो सद्दहदि जिणुत्त सम्माइट्ठी अविरदो सो^३ ॥ १११ ॥

एदं सम्माइट्ठि-वयणं उवरिम-सव्व-गुणट्ठाणेषु अणुवट्ठइ गंगा-णई-पवाहो व्व । देसविरइ-गुणट्ठाण-परूवणट्ठमुत्तर-मुत्तमाह—

संजदासंजदा ॥ १३ ॥

संयताश्च ते असंयताश्च संयतासयताः । यदि संयतः, नासावसंयतः । अथासंयतः,

लिये वह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोंके असंयतपनेका निरूपण करता है ।

शंका— चौथे गुणस्थानसे आगे असंयमका अभाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान— आगे के गुणस्थानोंमें असंयमका अभाव इसलिए नहीं कहा, क्योंकि, आगेके गुणस्थानोंमें सर्व संयमासंयम और संयम ये विशेषण पाये जाते हैं । कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है, किंतु किसी तत्त्वको नहीं जानता हुआ गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर लेता है ॥ ११० ॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किंतु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥ १११ ॥

इस सूत्रमें जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदीके प्रवाहके समान आगेके समस्त गुणस्थानोंमें अनुवृत्तिको प्राप्त होता है । अर्थात् पाचवे आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है ।

अब देशविरति गुणस्थानके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे संयतासंयत जीव हैं ॥ १३ ॥

जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासयत कहते हैं ।

शंका— जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है ? और जो असंयत

१ मु अमजमभाव ।

२ प्रा प १, १२ । गो जी २७

३ प्रा प १, ११ । गो जी २९ 'अपि' गन्देनानुकम्पादिगुणमद्मावान्निरपराधहिंसा न करोतीति मूच्यते । म प्र टी

नासौ संयत इति विरोधान्नायं गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः, इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । न गुणानां सहानवस्थान-लक्षणो विरोधः सम्भवति, सम्भवेद्वा न वस्त्वस्ति, तस्यानेकान्तनिबन्धनत्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु । सा च नैकान्ते, एकानेकाभ्यां प्राप्तनिरूपितानवस्था-भ्यामर्थक्रियाविरोधात् । न चैतन्याचैतन्याभ्यामनेकान्तस्तथोर्गुणत्वाभावात् । सहभुवो हि गुणाः, न चानयोः सहभूतिरस्ति, असति विबन्धर्यनुपलम्भात् । भवति च विरोधः समाननिबन्धनत्वे सति । न चात्र विरोधः, संयमासंयमयोरेकद्रव्यवर्तितोस्त्रसस्थावर-निबन्धनत्वात् । औदयिकादिषु पंचसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्य संयमासंयमगुणः समुत्पन्नः

होता है वह संयत नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयमभाव और असंयमभावका परस्पर विरोध है । इसलिये यह गुणस्थान नहीं बनता है ।

समाधान— विरोध दो प्रकारका है, परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्था-लक्षण विरोध । इनमेसे एक द्रव्यके अनन्त गुणोमे परस्परपरिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है क्योंकि, यदि गुणोका एक दूसरेका परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है । परंतु इतने मात्रसे गुणोमे सहानवस्थालक्षण विरोध संभव नहीं है । यदि नाना गुणोंका एकसाथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जावे तो वस्तुका अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि, वस्तुका सद्भाव अनेकान्त-निमित्तक ही होता है । जो अर्थक्रिया करनेमे समर्थ हैं वह वस्तु है । परंतु वह अर्थक्रिया एकान्तपक्षमे नहीं बन सकती है, क्योंकि, अर्थक्रियाको यदि एकरूप माना जावे तो पुन पुन उसी अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जावे तो अनवस्था दोष आनेसे एकान्तपक्षमे अर्थक्रियाके होनेमे विरोध आता है ।

पूर्वके कथनसे चैतन्य और अचैतन्यके साथ भी अनेकान्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं । जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते हैं । परंतु ये दोनों सहभावी नहीं हैं, क्योंकि वंघरूप अवस्थाके नहीं रहने पर चैतन्य और अचैतन्य ये दोनों एकसाथ नहीं पाये जाते हैं । दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, परंतु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनोंको एक आत्मामे स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न भिन्न हैं । संयमभावकी उत्पत्तिका कारण त्रसोहसासे विरतिभाव है और असंयमभावकी उत्पत्तिका कारण स्थावरहसासे अविरतिभाव है । इसलिये संयतासंयत नामका पाचवां गुणस्थान बन जाता है ।

शंका— औदयिक आदि पाच भावोमेसे किस भावके] आश्रयसे संयमासंयम भाव पैदा होता है ?

समाधान— संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि, अप्रत्याख्यानावरणीय

इति चेत्क्षायोपशमिकोऽयं गुणः, अप्रत्याख्यानानावरणीयस्य सर्वघातिस्पर्धकानामुदय-
क्षयात् सता चोपशमात् प्रत्याख्यानानावरणीयोदयादप्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमासंयमाघा-^१
राधिकृतसम्यक्त्वानि कियन्तीति चेत्क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति
पर्यायेण, ^२तान्यन्तरेणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिविरोधात् । सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो
दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकादक्षस्यानिवृत्तिविषयपिपासस्थाप्रत्याख्यानानुपपत्तेः।
उक्तं च—

जो तस-वहाउ विरओ अविरओ तह य थावर-वहाओ ।

एक-समयम्हि जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई^३ ॥ ११२ ॥

संयतानामादिगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

प्रमत्तसंयता ॥ १४ ॥

प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः । प्रमत्ताश्च ते संयताश्च

कषायके वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पर्धकोके उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी कालमें
उदयमे आने योग्य उन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानानावरणीय कषायके उदयसे
संयमासयमरूप अप्रत्याख्यान-चारित्र उत्पन्न होता है ।

शंका— संयमासंयमरूप देशचारित्रके आधारसे सम्बन्ध रखनेवाले कितने सम्यग्-
दर्शन होते हैं ?

समाधान— क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीनोंमेसे कोई एक
सम्यग्दर्शन विकल्पसे होता है, क्योंकि, उनमेसे किसी एकके बिना अप्रत्याख्यान चारित्रका
प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता है ।

शंका— सम्यग्दर्शनके बिना भी देशसयमी देखनेमे आते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित हैं और जिनकी विषय-
पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यानसंयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । कहा भी है—

जो जीव जिनेन्द्रदेवमे अद्वितीय श्रद्धाको रखता हुआ एक ही समयमे त्रसजीवोंकी
हिंसासे विरत और स्थावर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है, उसको विरताविरत
कहते हैं ॥ ११२ ॥

अब संयतोके प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे प्रमत्तसंयत जीव हैं ॥ १४ ॥

प्रकर्षसे मत्त जीवोंको प्रमत्त कहते हैं और अच्छी तरहसे विरत या संयमको प्राप्त
जीवोंको संयत कहते हैं । जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं ।

१ मृ नयमवराधिकृत— ।

२ मृ नान्यन्तरेणा— ।

३ प्रा ष १, १३ । गो जी ३१ 'च' शब्देन प्रयोजन विना स्थावरवचमपि न करोतीति
व्याख्येयो भवति । जी प्र टी

प्रमत्तसंयताः । यदि प्रमत्ताः न संयताः, स्वरूपासंवेदनात् । अथ संयताः न प्रमत्ताः, संयमस्य प्रमादपरिहाररूपत्वादिति ? नैष दोषः, संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिः गुप्तिसमित्यनुरक्षितः, नासौ प्रमादेन विनाश्यते, तत्र तस्मान्म-लोत्पत्तेः । संयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशक इति कुतोऽवसीयत इति चेत् ? संयमाविनाशान्यथानुपपत्तेः । न हि मन्दतमः प्रमादः क्षणक्षयो संयमविनाशकोऽसति विवन्धर्यनुपलब्धेः । प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वाच्छेषातीत-सर्वगुणेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति । पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्यायं प्रमत्तसंयतगुण उत्पन्नश्चेत्संयमापेक्षया क्षायोपशमिकः । कथम् ? प्रत्याख्यानावरणसर्वधातिस्पर्धको-

शंका— यदि छटवे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, प्रमत्त जीवोको अपने स्वरूपका संवेदन नहीं हो सकता है । यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, संयमभाव प्रमादके परिहारस्वरूप होता है ।

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापोंसे विरतिभावको संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पांच समितियोंसे अनुरक्षित हैं । वह संयम वास्तवमे प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, संयममे प्रमादसे केवल मलकी ही उत्पत्ति होती है ।

शंका— छटवे गुणस्थानमे संयममे मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद विवक्षित है, संयमका नाश करनेवाला प्रमाद विवक्षित नहीं है, यह बात कैसे निश्चय की जाय ?

समाधान— छटवे गुणस्थानमे प्रमादके रहते हुए संयमका सद्भाव अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिये निश्चय होता है कि यहां पर मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद ही अभीष्ट है । दूसरे छटवे, गुणस्थानमे होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयमका नाश भी नहीं कर सकता है, क्योंकि, सकलसंयमका उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके अभावमे संयमका नाश नहीं पाया जाता ।

यहां पर प्रमत्त शब्द अन्तदीपक है, इसलिये वह छटवे गुणस्थानसे पहलेके संपूर्ण गुणस्थानोंमे प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है ।

शंका— पांच भावोंमेसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

समाधान— संयमकी अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है ।

शंका— प्रमत्तसंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किस प्रकार है ?

समाधान— क्योंकि, वर्तमानमे प्रत्याख्यानावरणके सर्वधाती स्पर्धकोके उदयक्षय होनेसे और आगामी कालमे उदयमे आनेवाले सत्तामे स्थित उन्हींके उदयमे न आनेरूप उप-शमसे तथा संज्वलन कषायके उदयसे प्रत्याख्यान (संयम) उत्पन्न होता है, इसलिये

दयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानसमुत्पत्तेः। संज्वलनोदयात्संयमो^१ भवतीत्यौदयिकव्यपदेशोऽस्य किं न स्यादिति चेन्न, ततः संयमस्योत्पत्तेरभावात् । क्व तद् व्याप्रियत इति चेत्प्रत्याख्यानावरणसर्वधातिस्पर्ध-
कोदयक्षयसमुत्पन्नसंयममलोत्पादने तस्य व्यापारः । संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया
क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकगुणनिबन्धनः । सम्यक्त्वमन्तरेणापि संयमोपलम्भनार्थः
सम्यक्त्वानुवर्तनेनेति चेन्न, आप्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य त्रिमूढालीढचेतसः
संयमानुपपत्तेः । द्रव्यसंयमस्य नात्रोपादानमिति कुतोऽवगम्यत इति चेन्न,^२ सम्यक्
ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयत इति व्युत्पत्तितस्तदवगतैः उक्तं च—

क्षायोपशमिक है ।

शंका— संज्वलन कषायके उदयसे संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नामसे
क्यो नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संज्वलन कषायके उदयसे संयमकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— तो संज्वलनका व्यापार कहां पर होता है ?

समाधान— प्रत्याख्यानावरण कषायके सर्वधाती स्पर्धकोके उदयाभावी क्षयसे (और
सदवस्थारूप उपशमसे) उत्पन्न हुए संयममे मलके उत्पन्न करनेमे संज्वलनका व्यापार होता है ।

संयमके कारणभूत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक
और औपशमिक भावनिमित्तक है ।

शंका— यहां पर सम्यग्दर्शनपद की जो अनुवृत्ति बतलाई है उससे क्या यह तात्पर्य
निकलता है कि सम्यग्दर्शनके बिना भी संयमकी उपलब्धि होती है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थोंमे जिस जीवके श्रद्धा
उत्पन्न नहीं हुई तथा जिसका चित्त तीन मूढताओंसे व्याप्त है, उसके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो
सकती है ।

शंका— यहां पर द्रव्यसंयमका ग्रहण नहीं किया है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यमसहित है
उसे संयत कहते हैं । संयत शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहां पर
द्रव्यसंयमका ग्रहण नहीं किया है । कहा भी है—

१ विवक्खिदस्स मजमस्स उओवसमित्तपडुप्पायणमेत्तफल्तादो कथं मज्जलणोक्कसायाण चारित्त-
विरोहीण चारित्तकारयत्त ? देमधादित्तेण मण्डिवक्खगुणविणिम्मूलणसत्तिविरहियाणमुदयो विज्जमाणो वि ण
स कज्जकारओ त्ति मज्जट्टेदुत्तेण विवक्खियत्तादो, वत्थुदो दु कज्ज पडुप्पाएदि मज्जणणपमादो वि य । गो
जी, जी प्र., टी ३२

२ म चैत्मम्यक् ।

वत्तावत्त-पमाए जो वसइ पमत्तसजदो होइ ।

सयल-गुण-सील-कलिओ महव्वई चित्तलायरणो^१ ॥ ११३ ॥

विकहा तहा कसाया इंदिय-णिद्दा तहेव पणयो य ।

चट्टु-चट्टु-पणमेगेग होति पमादा य पण्णरसा^२ ॥ ११४ ॥

क्षायोपशमिकसंयमेषु शुद्धसंयमोपलक्षितगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—
अप्पमत्तसंजदा ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणाः, न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमाद-
रहितसंयता इति यावत् । शेषाशेषसंयतानामत्रैवान्तर्भावाच्छेषसंयतगुणस्थानानामभावः
स्यादिति चेन्न संयतानामुपरिष्ठात्प्रतिपाद्यमान^३ विशेषणाविशिष्टानामस्तप्रमादानामिह

जो व्यवत् अर्थात् स्वसवेद्य और अव्यवत् अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानियोके ज्ञानद्वारा जानने
योग्य प्रमादमे वास करता है, जो सम्यक्त्व, ज्ञानादि सपूर्ण गुणोसे और व्रतोंके रक्षण करनेमे
समर्थ ऐसे शीलोसे युक्त है, जो (देशसयतकी अपेक्षा) महाव्रती है और जिसका आचरण
प्रमादमिश्रित है, अथवा चित्रल सारंगको कहते हैं, इसलिये जिसका आचरण सारंगके समान
शबलित अर्थात् अनेक प्रकारका है, अथवा, चित्तमे प्रमादको उत्पन्न करनेवाला जिसका
आचरण है उसे प्रमत्तसयत कहते हैं ॥ ११३ ॥

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा ये चार विकथाएँ; क्रोध, मान,
माया और लोभ ये चार कषायें; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियाँ; निद्रा
और प्रणय इस प्रकार प्रमाद पन्द्रह प्रकारका होता है ॥ ११४ ॥

अब क्षायोपशमिक संयमोमे शुद्ध संयमसे उपलक्षित गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये
आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे अप्रमत्तसयत जीव हैं ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयतोका स्वरूप पहले कह आये हैं, जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता हैं
उन्हे अप्रमत्तसंयत कहते हैं, अर्थात् सयत होते हुए जिन जीवोंके पन्द्रह प्रकारका प्रमाद नहीं
पाया जाता है, उन्हे अप्रमत्तसंयत समझना चाहिये ।

शंका— वाकीके संपूर्ण संयतोका इसी अप्रमत्तसयत गुणस्थानमे अन्तर्भाव हो जाता
है, इसलिये शेष सयतगुणस्थानोका अभाव हो जायगा ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो आगे कहेजानेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणोसे

१ प्रा प १, १४ । गो जी ३३ चित्र प्रमादमिश्र लातीति चित्रल आचरण यस्यासी चित्रला-
चरण । अथवा चित्रल सारंग, तद्वत् शबलित आचरण यस्यासी चित्रलाचरण । अथवा चित्त लातीति
चित्तल, चित्तल आचरण यस्यासी चित्तलाचरण । जी प्र टी

२ प्रा प १, १५ । गो जी ३४ । अप्रती गायेय नास्ति ।

३ मु प्रतिपद्यमान — ।

ग्रहणात् । तत्कथमवगम्यत इति चेन्न उपरिष्ठात्तनसंयतगुणस्थाननिरूपणान्यथानुपपत्तितस्तदवगतेः । एषोऽपि गुणः क्षायोपशमिकः, प्रत्याख्यानावरणीयकर्मणः सर्वधातिस्पर्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां क्षयक्षयोपशमोपशमजगुणनिबन्धनः । उक्तं च—

णट्ठासेस-पमाओ वय-गुण-सीलोलि-मडिओ णाणी ।

अणुवसमओ अक्खवओ ज्ञाण-णिलीणो हु अपमत्तो^१ ॥ ११५ ॥

चारित्रमोहोपशमकक्षपकेषु प्रथमगुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अपुठ्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १६ ॥

युक्त नहीं हैं और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है ऐसे संयतोका ही यहा पर ग्रहण किया है । इसलिये आगेके समस्त सयतगुणस्थानोका इनमे अन्तर्भाव नहीं होता है ।

शंका— यह कैसे जाना जाय कि यहा पर आगे कहे जानेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणोसे युक्त संयतोका ग्रहण नहीं किया गया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि यह न माना जाय, तो आगेके संयतोका निरूपण बन नहीं सकता है, इसलिये यह मालूम पड़ता है कि यहां पर अपूर्वकरणादि विशेषणोसे रहित केवल अप्रमत्त सयतोका ही ग्रहण किया गया है ।

वर्तमान समयमें प्रत्याख्यानावरणीय कर्मके सर्वधाती स्पर्धकोके उदयक्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे तथा संज्वलन क्षयके मन्द उदय होनेसे प्रत्याख्यानकी उत्पत्ति होती है, इसलिये यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है । सयमके कारणभूत सम्यक्त्वकी अपेक्षा, सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक कर्मोंके क्षय, क्षयोपशम और उपशमसे यह गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भी है । कहा भी है—

जिसके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलोसे मण्डित है, जो निरन्तर आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणीपर आरुढ़ नहीं हुआ है और जो ध्यानमें लवलीन है, उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११५ ॥

अब आगे चारित्रमोहनीयका उपशम करनेवाले या क्षपण करनेवाले गुणस्थानोसे प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अपूर्वकरण-प्रविट्ठ-शुद्धि-संयतोमे सामान्यसे उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकारके

करणाः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः । नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विवक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत् । अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः^१ । एतेनापूर्वविशेषणेन अधःप्रवृत्तपरिणामव्युदासः कृत इति द्रष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात् । अपूर्वशब्दः प्रागप्रतिपन्नार्थवाचको नासमानार्थवाचक इति चेन्न, पूर्वसमानशब्दयोरेकार्थत्वात् । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धयः । के ते ? संयताः । तेषु संयतेषु 'अत्थि' सन्ति । नदीस्रोतो-

जीव हँ ॥ १६ ॥

करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है, कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढ़ते हुए असंख्यात-लोक-प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं । अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं । इस तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं । इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे अधःप्रवृत्त-परिणामोंका निराकरण किया गया है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहाँ पर उपरितन समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अधःप्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोंमें अपूर्वता नहीं पाई जाती है ।

शंका—अपूर्व शब्द पहले कभी नहीं प्राप्त हुए अर्थका वाचक है, असमान अर्थका वाचक नहीं है, इसलिये यहाँ पर अपूर्व शब्दका अर्थ असमान या विसदृश नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, इसलिये अपूर्व और असमान इन दोनों शब्दोंका अर्थ भी एक ही समझना चाहिये । ऐसे अपूर्व परिणामोंमें जिन जीवोंकी शुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि जीव कहते हैं ।

शंका—वे कौन हैं ? संयत हैं । उनमें 'अत्थि सन्ति' अर्थात् उपशमक और क्षपक होते हैं । नदीस्रोत-न्यायसे 'सन्ति' इस पदकी अनुवृत्ति चली आती है, इसलिये

१ अपूर्वमपूर्वा क्रिया गच्छतीत्यपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिवातरसघातगुणश्रेणि-गुणसक्रमा अन्यच्च स्थितिवन्व इत्येते पञ्चाप्यधिकारा योगपक्षेन पूर्वमप्रवृत्ता प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । अभि रा को (अपुव्वकरण)

न्यायेन सन्तीत्यनुवर्तमाने पुनरिह तदुच्चारणमनर्थकमिति चेन्न अस्यान्यार्थत्वात् ।
कथम् ? स गुणस्थानसत्त्वप्रतिपादकः, अयं तु संयतेषु क्षपकोपशमकभावयोर्वैयधि-
करण्यप्रतिपादनार्थ इति । अपूर्वकरणानामन्तः प्रविष्टशुद्धयः क्षपकोपशमकसंयताः,
सर्वे संभूय एको गुणः 'अपूर्वकरण' इति । किमिति नामनिर्देशो न कृतश्चेन्न
सामर्थ्यलभ्यत्वात् । अक्षपकानुपशमकानां कथं तद्व्यपदेशश्चेन्न, भाविनि भूतवदुप-

उत्तका फिरसे इस सूत्रमे ग्रहण करना निरर्थक है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, यहां पर 'सन्ति' पदका दूसरा ही अर्थ लिया गया है ।

शंका— वह दूसरा अर्थ किस प्रकारका है ?

समाधान— पहले जो 'सन्ति' पद आया है वह गुणस्थानोके अस्तित्वका प्रतिपादक है, और यह सयतोमे क्षपक और उपशमक भावके भिन्न भिन्न अधिकरणपनेके बतानेके लिये है ।

जिन्होंने अपूर्वकरणरूप परिणामोमे विशुद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसे क्षपक और उपशमक सयमी जीव होते हैं, और ये सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान बनता है ।

शंका— तो फिर यहां पर इस प्रकार नामनिर्देश क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह बात तो सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाती है । अर्थात् अपूर्वकरणको प्राप्त हुए उन सब क्षपक और उपशमक जीवोके परिणामोमे अपूर्वपनेकी अपेक्षा समानता पाई जाती है, इसलिये वे सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान होता है यह अपने आप सिद्ध है ।

शंका— आठवे गुणस्थानमे न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही, फिर इस गुणस्थानवर्ती जीवोंको क्षपक और उपशमक कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भावी अर्थमे भूतकालीन अर्थके समान उपचार कर लेनेसे आठवें गुणस्थानमे क्षपक और उपशमक व्यवहारकी सिद्धि हो जाती है ।

शंका— इस प्रकार मानने पर तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जायगा ?

१ इदं गुणस्थानकमन्तर्भूतकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथमममयेऽपि ये प्रपन्ना प्रपद्यन्ते प्रपत्स्यन्ते च तदपेक्षया जघन्यादीन्युत्कृष्टान्यसत्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाव्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, प्रतिपत्तृणां बहुत्वादव्यवसायानां च विचित्रत्वादिति भावनीयम् । ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तदैतद् गुणस्थानकं प्रतिपन्नानामन्तान्यव्यवसायस्थानानि कस्मान्न भवन्ति अनन्तजीवैरस्य प्रतिपन्नत्वादनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिनि । सत्यम्, स्यादेव यदि तत्प्रतिपत्तृणां सर्वेषां पृथक् पृथक् भिन्नान्येवाव्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, वहूनामेकाव्यवसायस्थानवर्तित्वादपीति । X X युगपदेतद् गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमव्यवसायस्थानव्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते ॥ अभि रा को (अपुव्वकरणगुणट्ठाणं)

चारतस्तत्सिद्धेः । सत्येवमतिप्रसङ्गः स्यादिति चेन्न, असति प्रतिबन्धरि मरणे^१ नियमेन चारित्रमोहक्षपणोपशमकारिणां तदुन्मुखानामुपचारभाजामुपलम्भात् । क्षपणोपशमननिबन्धनत्वाद् भिन्नपरिणामानां कथमेकत्वमिति चेन्न क्षपकोपशमकपरिणामानाम्-पूर्वत्वं प्रति साम्यात्तदेकत्वोपपत्तेः । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्रतनगुणश्चेत्क्षपकस्य क्षायिकः, उपशमकस्यौपशमिकः । कर्मणां क्षयोपशमाभ्यामभावे कथं तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्नैष दोषः, तयोस्तत्र सत्त्वस्योपचारनिबन्धनत्वात् । सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको भावः, दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः । उपशमकस्यौपशमिकः

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रतिबन्धक मरणके अभावमे नियमसे चारित्रमोहका उपशम करनेवाले तथा चारित्रमोहका क्षय करनेवाले अतएव उपशमन और क्षपणके सन्मुख हुए और उपचारसे क्षपक या उपशमके संज्ञाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके आठवे गुणस्थानमे भी क्षपक या उपशमक संज्ञा बन जाती है ।

विशेषार्थ— क्षपकश्रेणीमे तो मरण होता ही नहीं है, इसलिये वहां प्रतिबन्धक मरणका सर्वथा अभाव होनेसे क्षपकश्रेणीके आठवें गुणस्थानवाला आगे चलकर नियमसे चारित्रमोहनीयका क्षय करनेवाला है । अतः क्षपकश्रेणीके आठवे गुणस्थानवर्ती जीवके क्षपक संज्ञा बन जाती हैं । तथा उपशमश्रेणीस्थ आठवे गुणस्थानके पहले भागमे तो मरण नहीं होता है । परंतु द्वितीयादिक भागमे मरण संभव है, इसलिये यदि ऐसे जीवके द्वितीयादिक भागोंमे मरण न हो तो वह भी नियमसे चारित्रमोहनीयका उपशम करता है । अतः इसके भी उपशमक संज्ञा बन जाती है ।

शंका— क्षपणनिमित्तक परिणाम भिन्न हैं और उपशमननिमित्तक परिणाम भिन्न हैं, उनमें एकत्व कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्षपक और उपशमक परिणामोमे अपूर्वपनेकी अपेक्षा साम्य होनेसे एकत्व बन जाता है ।

शंका— पांच प्रकारके भावोमेसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव पाया जाता है ?

समाधान— क्षपकके क्षायिक और उपशमकके औपशमिक भाव पाया जाता है ।

शंका— इस गुणस्थानमे न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही होता है, ऐसी अवस्थामे यहा पर क्षायिक या औपशमिक भावका सद्भाव कैसे हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस गुणस्थानमे क्षायिक और औपशमिक भावका सद्भाव उपचारसे माना गया है ।

१ उपशमश्रेण्यारोहकापूर्वकरणस्य प्रथमभागे मरण नास्तीति आगम । जी प्र । मरणूणम्मि णियट्ठीपट्टमे णिद्वा तहेव पयला य, गो क ९९ । अतो नियमेन अस्त्रियमाणा प्रथमभागवर्तिनोऽपूर्वकरणा, द्वितीयादिभागेषु च आयुषि मति जीवतोऽपूर्वकरणा उपशमश्रेण्या चारित्रमोह उपशमयति अतएवोपशमका इत्युच्यन्ते । गो जी, म प्र, टी ५५

क्षायिको वा भावः, दर्शनमोहोपशमक्षयाम्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात् ।
उक्तं च—

भिण्ण-समय-ट्टिएहि दु जीवेहि ण होइ सव्वदा सरिसो ।
करणेहि एक्क-समय-ट्टिएहि सरिसो विसरिसो य^१ ॥ ११६ ॥
एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस-समय-ट्टिएहि जीवेहि ।
पुव्वमपत्ता जम्हा होति अपुव्वा हु परिणामा^२ ॥ ११७ ॥
तारिस-परिणाम-ट्ठिय-जीवा हु जिणेहि गलिय-तिमिरेहि ।
मोहस्स पुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया^३ ॥ ११८ ॥

इदानीं वादरकषायेषु चरमगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

अणियट्ठि-वादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उव-
समा खवा ॥ १७ ॥

समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। अथवा निवृत्ति^४

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो क्षपकके क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं किया है वह क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है। और उपशमकके औपशमिक या क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय नहीं किया है वह उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है। कहा भी है—

अपूर्वकरण गुणस्थानमे भिन्न-समयवर्ती जीवोके परिणामोकी अपेक्षा कभी भी सदृशता नहीं पाई जाती है, किंतु एक-समयवर्ती जीवोके परिणामोकी अपेक्षा सदृशता और विसदृशता दोनों ही पाई जाती है ॥ ११६ ॥

इस गुणस्थानमे विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न समयमे रहनेवाले जीव, जो पूर्वमे कभी भी नहीं प्राप्त हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोको ही धारण करते हैं, (इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है।) ॥ ११७ ॥

पूर्वोक्त अपूर्व परिणामोको धारण करनेवाले जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंके क्षपण अथवा उपशमन करनेमे उद्यत होते हैं, ऐसा अज्ञानरूपी अन्धकारसे सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ११८ ॥

अब वादर-कषायवाले गुणस्थानोमे अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अनिवृत्ति-वादर-सांपराधिक-प्रविष्ट-शुद्धि-सयतोमे उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं ॥ १७ ॥

समान-समयवर्ती जीवोके परिणामोकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं अथवा

१ गो जी ५२ २ प्रा प १, १८। गो जी ५१ ३ प्रा प १, १९। गो जी ५४.

४ निवृत्तिर्व्यावृत्ति परिणामानां विसदृशभावेन परिणतिरित्यनर्थान्तरम् । जयघ अ पृ १०७४.

व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः । अपूर्वकरणाश्च तादृक्षाः केचित्सन्तीति तेषामप्ययं व्यपदेशः प्राप्नोतीति चेन्न, तेषां नियमाभावात् । समानसमयस्थितजीव-परिणामानामिति कथमधिगम्यत इति चेन्न, 'अपूर्वकरण' इत्यनुवर्तनादेव द्वितीयादि-समयवर्तिजीवैः सह परिणामापेक्षया भेदसिद्धेः । साम्परायाः कषायाः, बादराः स्थूलाः, बादराश्च ते साम्परायाश्च बादरसाम्परायाः । अनिवृत्तयश्च ते बादरसाम्परायाश्च अनिवृत्तिबादरसाम्परायाः । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां तेऽनिवृत्तिबादर-साम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । ते सर्वे एको गुणोऽनिवृत्तिरिति^१ । यावन्तः परिणामास्तावन्त एव गुणाः किन्न भवन्तीति चेन्न, तथा

निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति है । अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं ।

शंका— अपूर्वकरण गुणस्थानमे भी तो कितने ही परिणाम इस प्रकारके होते हैं, अतएव उन परिणामोंको भी अनिवृत्ति संज्ञा प्राप्त होनी चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उनके इसका कोई नियम नहीं है ।

शंका— इस गुणस्थानमे जो जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्ति बतलाई है, वह समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना ?

समाधान— 'अपूर्वकरण' पदकी अनुवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है, कि इस गुण-स्थानमे प्रथमादि समयवर्ती जीवोंका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोंके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है । (अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि 'अनिवृत्ति' पदका सम्बन्ध एकसमय-वर्ती परिणामोंके साथ ही है ।)

साम्पराय शब्दका अर्थ कषाय है, और बादर स्थूलको कहते हैं, इसलिये स्थूलकषायोंको बादर-साम्पराय कहते हैं । और अनिवृत्तिरूप बादर साम्परायको अनिवृत्तिबादरसाम्पराय कहते हैं । उन अनिवृत्तिबादरसाम्परायरूप परिणामोंमे जिन संयतोकी विशुद्धि प्रविष्ट हो गई है उन्हें अनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं । ऐसे संयतोमे उपशमक और क्षपक दोनों प्रकारके जीव होते हैं । और उन सब संयतोका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है ।

शंका— जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने

१. युगपदेतद् गुणस्थानक प्रतिपन्नाना बहूनामपि जीवानामन्योन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्ति-नास्त्यस्येति अनिवृत्ति । समकालमेतद् गुणस्थानकमारुढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थान विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चित्तद्वर्त्येवेत्यर्थः । सपरंति पर्यटति ससारमनेनेति सपराय कषायोदय । X X तत्र चान्तर्मुहूर्तं यावन्तः समयास्तत्प्रविष्टाना तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एकसमयप्रविष्टानामेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानु-वर्तनादिति । अभि रा को (अणियद्विवादसपरायगुणद्वान्वण)

द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात् । वादरग्रहणमन्तदीपकत्वाद् गताशेषगुणस्थानानि वादर-
कषायाणीति प्रज्ञापनार्थम्, 'सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति
न्यायात् । संयतग्रहणमनर्थकमिति चेन्नैष दोषः, संयमस्य पञ्चस्वपि गुणेषु सम्भव एव
न व्यभिचार इत्यस्यान्यस्याधिगमोपायस्याभावतस्तदुक्तेः । आद्यं संयतग्रहणमनुवर्तते,
ततस्तदवसीयत इति चेत्तर्ह्यस्तु जडजनानुग्रहार्थमिति । यद्येवमुपशान्तकषायादिष्वपि
संयतग्रहणमस्त्विति चेन्न, सकषायत्वेन संयतानामसंयतैः साधर्म्यमस्तीति मन्द-
धियामधः संशयोत्पत्तिसम्भवात् । नोपशान्तकषायादिषु मन्दधियामप्यारेकोत्पद्यते ।
क्षीणोपशान्तकषायाः संयताः, भावतोऽसंयतैस्संयतानां साधर्म्याभावात् ।

जाय तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है, इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नियत-संख्यावाले
ही गुणस्थान कहे गये हैं ।

सूत्रमे जो 'वादर' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त
गुणस्थान वादरकषाय हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये ग्रहण किया है, ऐसा समझना चाहिये,
क्योंकि, जहां पर विशेषण सम्भव हो अर्थात् लागू पड़ता हो और न देने पर व्यभिचार आता
हो, ऐसी जगह दिया गया विशेषण सार्थक होता है, ऐसा न्याय है ।

शंका— इस सूत्रमे संयत पदका ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, संयम पांचो ही गुणस्थानोमे संभव है,
इसमे कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, इस प्रकार जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे
यहा संयम पदका ग्रहण किया है ।

शंका— 'पमत्तसंजदा' इस सूत्रमे ग्रहण किये गये संयत पदकी यहां अनुवृत्ति होती
है, और उससे ही उक्त अर्थका ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिरसे इस पदका ग्रहण करना
व्यर्थ है ?

समाधान— यदि ऐसा है, तो संयत पदका यहां पुनः प्रयोग मन्दबुद्धि जनोके
अनुग्रहके लिये समझना चाहिये ।

शंका— यदि ऐसा है, तो उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोमे भी संयत पदका ग्रहण
करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दशवे गुणस्थानतक सभी जीव कषायसहित होनेके
कारण, कषायकी अपेक्षा संयतोंकी असंयतोके साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिये नीचेके दशवे
गुणस्थानतक मन्दबुद्धि-जनोंकी संशय उत्पन्न होनेकी संभावना है । अतः संशयके निवारणके लिये
संयत विशेषण देना आवश्यक है । किंतु ऊपरके उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोमे मन्दबुद्धि-
जनोंकी भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहा पर संयत क्षीणकषाय अथवा उपशान्त-
कषायही होते हैं, इसलिये भावोकी अपेक्षा भी संयतोंकी असंयतोंसे सदृशता नहीं पाई जाती
है । अतएव यहा पर संयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है ।

काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति, काश्चिदुपरिष्ठादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽयं गुणः । काश्चित् प्रकृतीः^१ क्षपयति काश्चिदुपरिष्ठात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च । सम्यक्त्वा-
पेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक एव गुणः, तत्रान्यस्यासम्भवात् । उपशमकस्यौप-
शमिकः क्षायिकश्च, उभयोरपि तत्राविरोधात् । क्षपकोपशमकयोर्द्वित्वं किमिति नेष्यत
इति चेन्न, गुणनिबन्धनानिवृत्तिपरिणामानां साम्यप्रदर्शनार्थं तदेकत्वोक्तेः^२ । उक्तं च—

एकस्मि काल-समए सठाणादीहि^३ जह णिवट्ठति ।

ण णिवट्ठति तह च्चिय परिणामेहि मिहो जे हु ॥ ११९ ॥

होति अणियट्ठिणो ते पडिसमय जस्स एक^४ परिणामा ।

विमलयर-ज्ञाण-हुयवह-सिहाहि णिहड्ड^५-कम्म-वणा^६ ॥ १२० ॥

इस गुणस्थानमे जीव मोहकी कितनी ही प्रकृतियोका उपशमन करता है, और कितनी ही प्रकृतियोका आगे उपशम करेगा, इस अपेक्षासे यह गुणस्थान औपशमिक है । और कितनी ही प्रकृतियोका क्षय करता है, तथा कितनी ही प्रकृतियोका आगे क्षय करेगा, इस दृष्टिसे क्षायिक भी है । सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप ही है, क्योंकि, क्षपकश्रेणीमे दूसरा भाव संभव ही नहीं है । तथा चारित्रमोहनीयका उपशम करने-वालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप है, क्योंकि, उपशमश्रेणीकी अपेक्षा वहां पर दोनों भाव संभव हैं ।

शंका— क्षपकका स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशमका स्वतन्त्र गुणस्थान, इस तरह अलग अलग दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोकी समानता दिखानेके लिये उन दोनोंमे एकता कही है । अर्थात् उपशमक और क्षपक इन दोनोंमे अनिवृत्तिरूप परिणामोकी अपेक्षा समानता है । कहा भी है—

अन्तर्मुहुर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेसे किसी एक समयमे रहनेवाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि रूपसे परस्पर भेदको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार जिन परिणामोके द्वारा उनमे भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं । और उनके प्रत्येक समयमे उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं । तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी

१ नरकद्विक तिर्यग्द्विक विकलत्रय स्त्यानगृद्धित्रयमुद्योत आतप एकेन्द्रिय साधारण सूक्ष्म स्थावर चेति षोडश अत्रत्यास्त्यानप्रत्यास्त्यानकपाया अपट्टी, क्रमेण षड्वेद स्त्रीवेदो नोकपायपट्क, पुवेद सज्वलनक्रोध सज्वलनमान सज्वलनमाया एता स्थूले अनिवृत्तिकरणे (सत्त्व-) व्युच्छिन्ना भवन्ति । गो क, जी प्र, टी ३३८-३३९

२ मु तदेकत्वोपपत्ते ।

३. प्रा प १, २० । सस्थानवर्णविगाहनलिगादिभिर्वहिरगैर्ज्ञानदर्शनादिभिश्चान्तरगै । गो जी, म प्र, टी ५६

४ मु जेमिमेक्क

५ मु निहद्ध ।

६ प्रा प १, २१ । गो जी ५७

इदानीं कुशीलेषु पाश्चात्यगुणप्रतीपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अरिथि उवसमा

खवा ॥ १८ ॥

सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः । तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । सर्वे त एकगुणः,^१ सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्यभेदात् । अपूर्वं इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च । ततस्ताभ्यां सूक्ष्मसाम्परायो^२ विशेषयितव्यः, अन्यथातीतगुणेभ्यस्तस्याधिक्यानुपपत्तेः ।

निखाओसे कर्म-वनको भस्म करनेवाले होते हैं ॥ ११९-१२० ॥

अब कुशील जातिके मुनियोके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धी-संयतोमे उपशमक और क्षपक दोनो हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्मकषायको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं । उसमे जिन संयतोकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हे सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धी-संयत कहते हैं । उनमे उपशमक और क्षपक दोनो होते हैं । और सूक्ष्मसांपरायकी अपेक्षा उनमे भेद नहीं होनेसे उपशमक और क्षपक इन दोनोका एक ही गुणस्थान होता है । इस गुणस्थानमे अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनो विशेषणोकी अनुवृत्ति होती है । इसलिये ये दोनो विशेषण भी सूक्ष्म-सांपराय-शुद्धि-संयतके साथ जोड़ लेना चाहिये । अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानोसे इस गुणस्थानकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है ।

विशेषार्थ— यदि दशवे गुणस्थानमे अपूर्व विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं होगी तो उसमे प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणामोकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । और अनिवृत्ति विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवोके परिणामोमे समानता और कर्मोके क्षपण और उपशमनकी योग्यता सिद्ध नहीं होगी । इसलिये पूर्व गुणस्थानोसे इसमे सर्वथा-भिन्न जातिके ही परिणाम होते हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिये अपूर्व और अनिवृत्ति इन दो विशेषणोकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये । इस प्रकार इस गुणस्थानमे अपूर्वता, अनिवृत्तिपना और सूक्ष्मसांपरायपनारूप विशेषता सिद्ध हो जाती है ।

१ मु एको गुण ।

२ सज्वलनलोभस्य अणूनमह्येयतमस्य खण्डस्यासह्येयानि खण्डानि वेदयमानोऽनुभवन् उपशमक क्षपको वा भवति । सोऽन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्सूक्ष्मसंपरायो भण्यते । × × मुहुमसंपराइय जो वच्चति सो सुहुमसंपरागो । सुहुम नाम थोव । कह थोव ? आउयमोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मपयडीओ सिडिलवधणवद्धाओ अप्पकालट्टितिकाओ महाणुभावाओ अप्पदेमगाओ सुहुमसंपरागस्स वज्जाति । एव थोव संपराइय कम्म त स वज्जाति । सुहुमो संपरागो वा जस्स सो सुहुमसंपरागो, सो य असखेज्जसमडओ अतोमुहुत्तिओ विमुज्जमाणपरिणामो वा पडियत्तमाणपरिणामो वा भवति ति । अभि रा को [मुहुमसंपराय]

प्रकृतीः काश्चित्क्षययति^१ क्षययिष्यति क्षपिताश्चेति क्षायिकगुणः । काश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चेत्यौपशमिकगुणः । सम्यग्दर्शनापेक्षया क्षपकः क्षायिकगुणः, उपशमकः औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा, द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशम-श्रेण्यारोहणसम्भवात् । संयतग्रहणस्य पूर्ववत्साफल्यमुपदेष्टव्यम् उक्तं च—

पुष्वापुष्वा-फट्ट-अणुभागादो अणंत-गुण-हीणे ।

लोहाणुमिह द्विओ हृद सुहम-सपराओ सो^२ ॥ १२१ ॥

साम्प्रतमुपशमश्रेण्यन्त्यगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

उवसंत-कषाय-वीतराय-छदुमत्था ॥ १९ ॥

उपशान्तः कषायो येषां त उपशान्तकषायाः । वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः । छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः । वीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च वीतरागछद्मस्थाः । एतेन सरागछद्मस्थनिराकृतिरवगन्तव्या । उपशान्त-

इस गुणस्थानमे जीव कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, आगे क्षय करेगा और पूर्वमे क्षय कर चुका, इसलिये इसमे क्षायिकभाव है । तथा कितनी ही प्रकृतियोंका उपशम करता है, आगे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है । सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवाला क्षायिकभावसहित है । और उपशमश्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, क्योंकि, दोनों ही सम्यक्त्वोंसे, उपशमश्रेणीका चढना संभव है । इस सूत्रमे ग्रहण किये गये संयत पदकी पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें बतलाई गई संयत पदकी सफलताके समान सफलता समझ लेना चाहिये । कहा भी है—

पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकके अनुभागसे अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्मलोभमे जो स्थित है उसे सूक्ष्मसापराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये ॥ १२१ ॥

अब उपशमश्रेणीके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं ॥ १९ ॥

जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं । जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं । छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरणको कहते हैं, उनमे जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं । जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं उन्हें वीतरागछद्मस्थ कहते हैं । इसमें आये हुए वीतराग विशेषणसे दशम गुणस्थान तकके सरागछद्मस्थोका निराकरण समझना चाहिये । जो उपशान्तकषाय होते हुए भी वीतरागछद्मस्थ होते हैं उन्हें

१ सूक्ष्मसाम्पराये सूक्ष्मसज्ज्वलनलोभ, गो क, जी प्र, टी ३३९

२ प्रा प १, २३ । पुष्वापुष्वाफट्टयवादरमुहुमगयकिद्विअणुभागा । हीणकमाणतगुणेणवरादु वर च हेट्टस्स ॥ गो जी ५९

कषायाश्च ते वीतरागछद्मस्थाश्च उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थाः^१ । एतेनोपरितन-
गुणव्युदासोऽवगन्तव्यः । एतस्योपशमिताशेषकषायत्वादौपशमिकः, सम्यक्त्वापेक्षया
क्षायिकः औपशमिको वा गुणः । उक्तं च

सकयगहल जल वा सुरए सरवाणिय व णिम्मलए^२

सयलोवसत-मोहो उवसत-कसायओ होई^३ ॥ १२२ ॥

निर्ग्रन्थगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

क्षीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था^४ ॥ २० ॥

क्षीणः कषायो येषां तै क्षीणकषायाः । क्षीणकषायाश्च ते वीतरागाश्च

उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं । इससे (उपशान्तकषाय विशेषणसे) आगेके
गुणस्थानोंका निराकरण समझना चाहिये ।

इस गुणस्थानमे संपूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमे औपशमिक भाव
है । तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं । कहा भी है—

निर्मली फलसे युक्त निर्मल जलकी तरह, अथवा शरद् ऋतुमे निर्मल होनेवाले
सरोवरके जलकी तरह, संपूर्ण मोहनीय सर्मेके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोको
उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं ॥ १२२ ॥

अब निर्ग्रन्थगुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं ॥ २० ॥

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं । जो क्षीणकषाय होते हुए

१ अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्या । उपशान्तकषायश्च
जघन्येनैक समय भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं काल यावत् । तत उर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च
द्वेषा, भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धाया समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण
च प्रतिपतति यथैवाऽऽस्त्यैव प्रतिपतति यत्र यत्र वन्वोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते
आरभ्यन्त इति यावत् ॥ × × य. पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमये सर्वाण्यपि वन्वनादीनि करणानि
प्रवर्तयतीति विशेष । अभि रा को । (उवमतकसायवीयरगच्छउमत्यगुणद्वारा)

२ मु. णिम्मलय ।

३ प्रा प १, २४ । गो जी ६१ पर च तत्र प्रथमचरणे ' कदक-फल-जुद-जल-वा ' इति पाठ ।

४ क्षीणा अभावमापन्ना कषाया यस्य स क्षीणकषाय । तच्चान्येष्वपि गुणस्थानकेषु
क्षपकश्रेणीद्वारोक्तयुक्त्या नवापि कियतामपि कषायाणा क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेश संभवति ।
ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहण, क्षीणकषायवीतरागत्व च केवलिनोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम् ।
यद्वा छद्मस्थस्य रागोऽपि भवतीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहण । वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागछद्मस्थ स
चोपशान्तकषायोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणम् । अभि रा. को [क्षीणकसायवीयरयछउमत्य]

क्षीणकषाय-वीतरागाः । छद्मनि आवरणे तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः । क्षीणकषायवीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः । छद्मस्थग्रहणमन्तदीपकत्वादतीता-
शेषगुणानां सावरणत्वस्य सूचकमित्यवगन्तव्यम् । क्षीणकषाया हि वीतरागा एव,
व्यभिचाराभावाद्वीतरागग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, नामादिक्षीणकषायविनिवृत्ति-
फलत्वात् । पञ्चसु गुणेषु कस्मादस्य प्रादुर्भाव इति चेद्द्रव्यभावद्वैविध्यादुभयात्मक-
मोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्क्षायिकगुणनिबन्धनः । उक्तं च—

णिस्सेस-खीण-मोहो फलिहामल^१-भायणुदय-समचित्तो ।

खीण-कसाओ-भण्णइ णिग्गथो^२ वीयरएहि ॥ १२३ ॥

स्नातकगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सजोगकेवली ॥ २१ ॥

वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकषायवीतराग कहते हैं । जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शना-
वरणमे रहते हैं उन्हे छद्मस्थ कहते हैं । जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें
क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं । इस सूत्रमे आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है,
इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानोके सावरणपनेका सूचक समझना चाहिये ।

शंका— क्षीणकषाय जीव वीतराग ही होते हैं, इसमे किसी प्रकारका भी व्यभिचार
नहीं आता, इसलिये सूत्रमें वीतराग पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकषायकी निवृत्ति करना
यही इस सूत्रमे वीतराग पदके ग्रहण करनेका फल है । अर्थात् इस गुणस्थानमे नाम, स्थापना
और द्रव्यरूप क्षीणकषायका ग्रहण नहीं है, किंतु भावरूप क्षीणकषायोका ही ग्रहण है, इस बातके
प्रगट करनेके लिये सूत्रमे वीतराग पद दिया है ।

शंका— पांच प्रकारके भावोमेसे किस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है ?

समाधान— मोहनीय कर्मके दो भेद हैं— द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय । इस
गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीय कर्मोका निरन्वय (सर्वथा) नाश हो जाता है;
अतएव इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है । कहा भी है—

जिसने संपूर्ण अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धरूप मोहनीय कर्मको
नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका चित्त (आत्मा) स्फटिकमणिके निर्मल भाजनमें रक्खे हुए
जलके समान निर्मल है, ऐसे निर्ग्रन्थको वीतरागदेवने क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती कहा है ॥ १२३ ॥

अब स्नातकोके गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सयोगकेवली जीव हैं ॥ २१ ॥

१ मु फलियामल

२ प्रा प १, २५ । ण्यन्ति रचयन्ति समारकारण कर्मवन्धमिति ग्रन्था परिग्रहा मिथ्यात्ववेदादय
अन्तरगाञ्चतुर्दश, वहिरगाञ्च क्षेत्रादयो दश, नेग्गो निष्कान्त सर्वान्मना निवृत्तो निर्ग्रन्थ इति ।
गो जी , म प्र , टी ६२

केवलं केवलज्ञानम् । कथं नामैकदेशात्सकलनाम्ना प्रतिपद्यमानस्यार्थस्यावग-
तिरिति चेन्न, बलदेवशब्दवाच्यस्यार्थस्य तदेकदेशदेवशब्दादपि प्रतीयमानस्योपलम्भात् ।
न च दृष्टेऽनुपपन्नता, अव्यवस्थापत्तेः । केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्,
तदेषामस्तीति केवलिनः । मनोवायकायप्रवृत्तियोगः, योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः ।
सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः । सयोगग्रहणमवस्तनसकलगुणानां
सयोगत्वप्रतिपादकम्, अन्तर्दीपकत्वात् । क्षपिताग्नेयघातिकर्मत्वाग्निःशवतीकृतवेदनीय-
त्वान्नष्टाष्टकर्मव्यवषष्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुणः । उक्तं च—

केवलणाण-दिवायर-किण्ण-कल्लाय-अण्णासियण्णाणां^१ ।

णव-केवल-लद्धुग्गम-सुजणिय-परमण-ववाणो^२ ॥ १२४ ॥

केवल पदसे यहां पर केवलज्ञानका ग्रहण किया है ।

शंका— नामके एकदेशके फयन करनेसे संपूर्ण नामके द्वारा कहे जानेवाले अर्थका बोध कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बलदेव शब्दके वाच्यभूत अर्थका, उसके एकदेशरूप 'देव' शब्दसे भी बोध होना पाया जाता है । और इस तरह प्रतीति-मिद्व बातमें, 'यह नहीं बन सकता है' इस प्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी ।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मनकी अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं । वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते हैं । मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं । जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं । इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं । इस सूत्रमें जो, सयोग पदका ग्रहण किया है वह अन्तर्दीपक होनेसे नीचेके संपूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है । चारो घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके नि शवत कर देनेसे, अथवा आठो ही कर्मोंके अवयवरूप साठ उत्तर-कर्म-प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि अरहंत परमेष्ठोके चारो घातिया कर्मोंकी सैंतालीस, नामकर्मकी तेरह और आयुकर्मकी तीन, इस तरह त्रैसठ प्रकृतियोंका अभाव होता है । फिर भी यहां साठ कर्मप्रकृतियोंका अभाव बतलाया है । इसका ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयुकी तीन प्रकृतियोंके नाशके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता है । मुषितको प्राप्त होनेवाले जीवके एक मनुष्यायुको छोड़कर अन्य आयुकी सत्ता ही नहीं पाई जाती है, इसलिये यहां पर आयुकर्मकी तीन प्रकृतियोंकी अविवक्षा करके साठ प्रकृतियोंका नाश बतलाया गया है । कहा भी है—

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट

१ स्यावगम इति ।

२ अनेन सयोगभट्टारकस्य भव्यलोकोपकारकत्वलक्षणपरार्थसप्तप्रणीता । गो जी, जी प्र, टी ६३.

३. प्रा प १, २७ । (अनेन पदेन) भगवदहंत्परमेष्ठिनोऽजन्तज्ञानादिलक्षणस्वार्थमपत् प्रदशिता । गो जी, जी प्र, टी ६३

असहाय-णाण-दसण-सहिओ इदि केवली हु जोएण ।

जुत्तो त्ति सजोगो इदि अणाइ-णिहणारिसे उत्तो^१ ॥ १२५ ॥

, साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवग्रथित-
शब्दसन्दर्भ प्रवाहरूपतयानिधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलङ्कमुत्तरसूत्रं
पुष्पदन्तभट्टारकः प्राह—

अजोगकेवली ॥ २२ ॥

न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोग^२ : । केवलमस्यास्तीति केवली ।
अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली । केवलीत्यनुवर्तमाने पुनः केवलग्रहणं न
कर्तव्यमिति चेन्नैष दोषः, समनस्केषु ज्ञानं सर्वत्र सर्वदा मनोनिबन्धनत्वेन प्रतिपन्नं
प्रतीयते च । सति चैवं नायोगिनां केवलज्ञानमस्ति, तत्र मनसोऽस्तत्वादिति विप्रति-

हो गया है, और जिसने नव केवल-लब्धियोंके प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस संज्ञाको प्राप्त कर
लिया है, वह इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ऐसे असहाय ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके
कारण केवली और तीनों योगीसे युक्त होनेके कारण सयोगी कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन
आर्षसे कहा है । ॥ १२४-१२५ ॥

अब पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थानके स्वरूपके निरूपण करनेके लिये, अर्थरूपसे
अरहंत-परमेष्ठिके मुखसे निकले हुए, गणधरदेवके द्वारा गूँथे गये शब्द-रचनावाले, प्रवाहरूपसे
कभी भी नागको नहीं प्राप्त होनेवाले और सपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष ऐसे
आगेके सूत्रको कहते हैं—

सामान्यसे अयोगकेवली जीव हैं ॥ २२ ॥

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं । जिसके केवलज्ञान पाया जाता
है उसे केवली कहते हैं । जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं ।

शंका— पूर्वसूत्रसे केवली पदकी अनुवृत्ति होने पर इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका
ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके सर्व-देश और सर्व-
कालमें मनके निमित्तसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वीकार किया गया है और प्रतीत भी होता है,
इस प्रकारके नियमके होनेपर, अयोगियोंके केवलज्ञान नहीं होता है, क्योंकि, यहां पर मन नहीं
पाया जाता है, इसप्रकार विवादग्रस्त शिष्यको अयोगियोंमें केवलज्ञानके अस्तित्वके प्रतिपादनके लिये

१ प्रा प १, २९ । गो जी ६४

२ योग अस्यास्तीति योगी, न योगी अयोगी, 'अयोगी केवलजिन इत्यनुवर्तनात् अयोगी चासौ
केवलजिनश्च अयोगिकेवलजिन । गो जी, जी प्र, टी १०

पन्नस्य शिष्यस्य तदस्तित्वप्रतिपादनफलत्वात् । कथं वचनात्तदस्तित्वमवगम्यत इति चेच्चक्षुषा स्तम्भादेरस्तित्वं कथमवगम्यते ? तत्प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेश्चक्षुषा समुपलब्धमस्तीति चेत्तर्ह्यत्रापि वचनस्य प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः समस्ति वचने वाच्यमिति समानमेतत् । वचनस्य प्रामाण्यमसिद्धम्,^१ क्वचिद् विसंवाददर्शनादिति चेन्न, चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमसिद्धं तस्यापि^२ क्वचिद्विसंवाददर्शनत्वं प्रति ततोऽविशेषात् । यदविसंवादि चक्षुस्तत्प्रमाणमिति चेन्न, सर्वेषामपि चक्षुषां सर्वत्र सर्वदा अविसंवादस्यानुपलम्भात् । यत्र यदाविसंवादः^३ समुपलभ्यते चक्षुषस्तत्र तदा तस्य प्रामाण्यमिति चेद्यदि क्वचित्कदाचिदविसंवादिनश्चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमिष्यते दृष्टादृष्टविषये सर्वत्र

इस सूत्रमे फिरसे केवली पदका ग्रहण किया ।

शंका— इस सूत्रमें केवली इस वचनके ग्रहण करनेमात्रसे अयोगी-जिनके केवल-ज्ञानका अस्तित्व कैसे जाना जाता है ।

समाधान— यदि यह पूछते हो तो हम भी पूछते हैं कि चक्षुसे स्तम्भ आदिके अस्तित्वका ज्ञान कैसे होता है ? यदि कहा जाय, कि चक्षुज्ञानमे अन्यथा प्रमाणता नहीं आ सकती, इसलिये चक्षुद्वारा गृहीत स्तम्भादिकका अस्तित्व है, ऐसा मान लेते हैं । तो हम भी कह सकते हैं कि अन्यथा वचनमे प्रमाणता नहीं आ सकती है, इसलिये वचनके रहने पर उसका वाच्य भी विद्यमान है, ऐसा भी क्यों नहीं मान लेते हो, क्योंकि, दोनों बातें समान हैं ।

शंका— वचनकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, कहीं पर वचनमे भी विसंवाद देखा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस पर तो हम भी ऐसा कह सकते हैं, कि चक्षुकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, वचनके समान चक्षुमे भी कहीं पर विसंवाद प्रतीत होता है ।

शंका— जो चक्षु अविसंवादी होता है उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सभी चक्षुओंका सर्व-देश और सर्व-कालमें अविसंवादी-पना नहीं पाया जाता है ।

शंका— जिस देश और जिस कालमे चक्षुके अविसंवाद उपलब्ध होता है, उस देश और उस कालमे उस चक्षुमे प्रमाणता रहती है ?

समाधान— यदि किसी देश और किसी कालमे अविसंवादी चक्षुके प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयमे सर्व-देश और सर्व-कालमें अविसंवादी ऐसे विवक्षित वचनको प्रमाण क्यों नहीं मानते हो ।

१ मु मसिद्ध तस्य क्वचिन् ।

२ मु तस्य ।

३ तन्वप्रतिपादनमविसंवाद अ न ७५

सर्वदाविसंवादिनो वचनस्य प्रामाण्यं किमिति नेष्यते ? अदृष्टविषये क्वचिद्विसंवादो-
पलम्भान्न तस्य सर्वत्र सर्वदा प्रामाण्यमिति चेन्न, तत्र वचनस्यापराधाभावात्तत्स्वरूपान-
वगन्तुः पुरुषस्य तत्रापराधोपलम्भात् । न ह्यन्यदोषैरन्यः परिगृह्यते, अव्यवस्थापत्तेः ।
वक्तुरेव तत्रापराधो न वचनस्येति कथमवगम्यत इति चेन्न, तस्यान्यस्य वा तत एव
प्रवृत्तस्य पश्चादर्थप्राप्त्युपलम्भात् । अप्रतिपन्नविसंवादाविसंवादस्यास्य वचनस्य
प्रामाण्यं कथमवसीयत इति चेन्नैष दोषः, आर्षावयवेन प्रतिपन्नाविसंवादेन सहास्यार्षा-^१
वयवस्यावयविद्वारेणापन्नैकत्वतस्तत्सत्यत्वावगतेः । इक्षुदण्डवन्नानारसः किन्न

शंका— परोक्ष-विषयमे कहींपर विसंवाद पाया जाता है, इसलिये सर्व-देश और
सर्व-कालमे वचनमे प्रमाणता नहीं आ सकती है ?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उसमें वचनका अपराध नहीं
है, किंतु परोक्ष-विषयके स्वरूपको नहीं समझनेवाले पुरुषका ही उसमे अपराध पाया जाता है ।
कुछ दूसरेके दोषसे दूसरा तो पकड़ा नहीं जा सकता है, अन्यथा अव्यवस्था प्राप्त हो जायगी ।

शंका— परोक्ष-विषयमे जो विसंवाद उत्पन्न होता है, इसमे वक्ताका ही दोष है
वचनका नहीं, यह कैसे जाना ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उसी वचनसे पुनः अर्थके निर्णयमें प्रवृत्ति करनेवाले
उसी अथवा किसी दूसरे पुरुषके दूसरी बार अर्थकी प्राप्ति बराबर देखी जाती है । इससे ज्ञात
होता है कि जहां पर तत्त्व-निर्णयमे विसंवाद उत्पन्न होता है वहां पर वक्ताका ही दोष है,
वचनका नहीं ।

शंका— जिस वचनकी विसंवादिता या अविसंवादिताका निर्णय नहीं हुआ उसकी
प्रमाणताका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिसकी अविसंवादिताका निश्चय हो
गया है ऐसे इस आर्षके अवयवरूप वचनके साथ विवक्षित आर्षके अवयवरूप वचनके भी
अवयवीकी अपेक्षा एकपत्ता बन जाता है, इसलिये विवक्षित अवयवरूप वचनकी सत्यताका
ज्ञान हो जाता है ।

विशेषार्थ— जितने भी आर्ष-वचन हैं वे सब आर्षके अवयव हैं, इसलिये आर्षमे
प्रमाणता होनेसे उसके अवयवरूप सभी वचनोमे प्रमाणता आ जाती है ।

शंका— जिस प्रकार गन्ना नाना रसवाला होता है, उसके ऊपरके भागमे भिन्न
प्रकारका रस पाया जाता है, मध्यके भागमे भिन्न प्रकारका और नीचेके भागमे भिन्न प्रकारका
रस पाया जाता है, उसी प्रकार अवयवरूप आर्ष-वचनको भी अनेक प्रकारका मान

स्यादिति चेन्न, वाच्यवाचकभेदेन तस्य नानात्वाभ्युपगमात् । तद्वत्सत्यासत्यकृत-
भेदोऽपि तस्यास्त्विति चेन्न, अवयविद्वारेणैकस्य प्रवाहरूपेणापौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्व-
विरोधात् । अथवा न तावदयं वेदः स्वस्यार्थं स्वयमाचष्टे, सर्वेषामपि तदवगम-
प्रसङ्गात्^१ । न चैवं,^२ तथानुपलम्भात् ।

अथान्ये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा नेति विकल्पद्वयावतारः ?
न द्वितीयविकल्पः, तदर्थविगमरहितस्य व्याख्यातृत्वविरोधात् । अविरोधे वा सर्वः
सर्वस्य व्याख्यातास्तु, अज्ञत्वं प्रत्यविशेषात् । प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो
वा^३ ? न द्वितीयविकल्पः, ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातुर्वचनस्य
लेना चाहिये

समाधान— नही, क्योंकि, वाच्य-वाचकके भेदसे उसमे नानापना माना ही गया है ।

शंका— जिस प्रकार वाच्य-वाचकके भेदसे आर्ष-वचनोमे भेद माना जाता है, उसी
प्रकार वचनोमे सत्य-असत्यकृत भी भेद मान लेना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवयवीरूपसे प्रवाह-क्रमसे आये हुए अपौरुषेय एक
आगममें असत्यपना स्वीकार करनेमे विरोध आता है ।

अथवा, यह वेद (आगम) अपने वाच्यभूत अर्थको स्वयं नहीं कहता है । यदि वह
स्वयं कहने लगे तो सभीको उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जायगा, इसलिये भी वक्ताके
दोषसे वचनमे दोष मानना चाहिये । परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, इस प्रकारकी उपलब्धि नहीं
होती है ।

कोई लोग ऐसा व्याख्यान करते हैं कि वक्ताओको वेदके वाच्यभूत विषयका परि-
ज्ञान है या नहीं ? इस तरह दो विकल्प उत्पन्न होते हैं । इनमेसे दूसरा विकल्प तो बन नहीं
सकता है, क्योंकि जो वेदके अर्थ-ज्ञानसे रहित है, उसको वेदका व्याख्याता माननेमे विरोध
आता है । यदि कहो कि इसमे कोई विरोध नहीं है, तो सबको संपूर्ण शास्त्रोका व्याख्याता हो
जाना चाहिये, क्योंकि, अज्ञपना सभीके बराबर है । यदि प्रथम विकल्प लेते हो कि वक्ताको
वेदके अर्थका ज्ञान है तो वह वक्ता सर्वज्ञ है कि असर्वज्ञ ? इनमेंसे दूसरा विकल्प तो माना
नहीं जा सकता, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं प्रमाणताको प्राप्त
नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं ।

१ अकृत्रिमाम्नायो न स्वयं स्वार्थं प्रकाशयितुमीशान्तदर्थविप्रतिपत्त्यभावानुपगादिति तद्व्याख्याता-
नुमन्तव्य । न च यदि सर्वज्ञो वीतरागश्च म्यात्तदाम्नायस्य नत्परनत्रतया प्रवृत्ते किमकृत्रिमत्वकारण
पोष्यते । तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञत्वे रागिन्वे वाश्रीयमाणे तन्मूलस्य सूत्रस्य नैव प्रमाणता युक्ता तस्य विप्रलम्भनात् ।
त श्लो वा पृ ७

२ मु प्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न चैव ।

३ न पुरुषोऽसर्वज्ञो रागादिमाश्च यदि तदा तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयानुपपत्तिर्यथार्थाभिधानशक्यतात् ।
सर्वज्ञो वीतरागश्च न सोऽप्रेदानीमिष्टो वनस्तदर्थनिश्चय स्यादिति । त श्लो वा पृ ८

प्रामाण्याभावात् । भवतु तस्य तद्वचनस्य चाप्रामाण्यम्, नागमस्य, पुरुषव्यापार-
निरपेक्षत्वादिति चेन्न, व्याख्यातारमन्तरेण स्वार्थप्रतिपादकस्य तस्य व्याख्यात्रधीन-
वाच्यवाचकभावस्य पुरुषव्यापारनिरपेक्षत्वविरोधात् । तस्मादागमः पुरुषेच्छातोऽर्थ-
प्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम् । तथा च ' वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम् ' इति
न्यायादप्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थ आगमोऽप्रमाणतां कथं नास्कन्देत् ? तस्माद्
विगतदोषावरणत्वात्^१ प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोधस्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम्,
अन्यथास्यापौरुषेयस्यापि^२ पौरुषेयवदप्रामाण्यप्रसङ्गात् । असर्वज्ञानां व्याख्यातृत्वाभावे
आर्षसन्तर्तेविच्छेदः स्यात्, अर्थशून्याया^३ वचनपद्धतेरार्षत्वाभावादिति चेन्न, इष्टत्वात् ।
नाप्यार्षसन्तर्तेविच्छेदः, विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातार्थस्यार्षस्य चतुरमलबुद्धयति-
शयोपेतनिर्दोषगणभृदवधारितस्य ज्ञानविज्ञानसम्पन्नगुरुपर्वक्रमेणायातस्याविनष्ट-

शंका— असर्वज्ञ वक्ता और उसके वचनको अप्रमाणता भले ही मान ली जाय,
परंतु आगममे अप्रमाणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, आगम पुरुषके व्यापारकी अपेक्षासे
रहित है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, व्याख्याताके बिना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक
नहीं है, इसलिये उसका वाच्य-वाचकभाव व्याख्याताके आधीन है । अतएव वेदमे पुरुष
व्यापारकी निरपेक्षता नहीं बन सकती है । इसलिये आगम पुरुषकी इच्छासे अर्थका प्रतिपादक
है, ऐसा समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामे ' वक्ताकी प्रमाणतासे वचनमे प्रमाणता आती है '
इस न्यायके अनुसार अप्रमाणभूत पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अप्रमाणताको कैसे
प्राप्त नहीं होगा, अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा ? इसलिये जिसने, संपूर्ण दोष और आवरणको
दूर कर देनेसे संपूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है, वही आगमका व्याख्याता हो
सकता है, ऐसा समझना चाहिये । अन्यथा इस अपौरुषेय आगमको भी पौरुषेय आगमके समान
अप्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— असर्वज्ञको व्याख्याता नहीं मानने पर आर्षसन्ततिका विच्छेद हो जायगा,
क्योंकि अर्थशून्य वचन पद्धतिमे आर्षपना नहीं बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वैसा तो हम मानते ही हैं । अर्थात् अर्थशून्य वचन-
रचनाको हमारे यहां आगमरूपसे प्रमाण नहीं माना है ।

दूसरे हमारे यहां आर्ष-परंपराका विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि, जिसका दोष और
आवरणसे रहित अरहंत परमेष्ठीने अर्थरूपसे व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिरूप
अतिशयसे युक्त और निर्दोष गणधरदेवने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान संपन्न गुरुपरंपरासे
चला आ रहा है, जिसका पहलेका वाच्य-वाचकभाव अभीतक नष्ट नहीं हुआ है और जो
दोषावरणसे रहित तथा निःप्रतिपक्ष सत्य-स्वभाववाले पुरुषके द्वारा व्याख्यात होनेसे श्रद्धाके

प्राक्तनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरणनिष्प्रतिपक्षसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यातत्वेन श्रद्धाप्यमानस्योपलम्भात् । अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः, आरातीयपुरुषव्याख्या-
तार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्राप्तप्राप्ताप्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थ-
त्वात् । कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातृणां तदविरोधात् ।
प्रमाणीभूतगुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसीयत इति चेन्न, दृष्टविषये
सर्वत्राविसंवादात्, अदृष्टविषयेऽप्यविसंवादिनागमभागेनैकत्वे सति सुनिश्चितास-
म्भवद्वाधकप्रमाणत्वात्^१, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नभूयसामाचार्याणामुपदेशाद्वा

योग्य है ऐसे आगमकी आज भी उपलब्धि होती है ।

शंका— आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि, अर्वाचीन पुरुषोंने इसके अर्थका व्याख्यान किया है ?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे सहित होनेके कारण प्रमाणताको प्राप्त इस युगके आचार्योंके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है ।

शंका— छद्मोक्त्योके सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्योंके प्रमाणता माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

शंका— आगमका यह अर्थ प्रामाणिक गुरुपरंपराके क्रमसे आया हुआ है, यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह विसंवाद उत्पन्न नहीं होनेसे निश्चय किया जा सकता है । और परोक्ष विषयमें भी, जिसमें परोक्ष-विषयका वर्णन किया गया है वह भाग अविसंवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको प्राप्त होने पर, अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होनेसे उसका निश्चय किया जा सकता है अथवा, ज्ञान विज्ञानसे युक्त इस युगके अनेक आचार्योंके उपदेशसे उसकी प्रमाणता जानना चाहिये । और बहुतसे साधु इस विषयमें विसंवाद नहीं करते हैं, क्योंकि, इस तरहका विसंवाद कहीं पर भी नहीं पाया जाता है । अतएव आगमके अर्थके व्याख्याता प्रामाणिक पुरुष हैं इस बातके निश्चित हो जानेसे आर्ष-वचनकी प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है । और आर्ष-वचनकी प्रमाणताके सिद्ध हो जानेसे मनके अभावमें भी केवलज्ञान

१ मु भावेनैकत्वे ।

२ यथा बाधुनात्र चास्मदादीना प्रत्यक्षादिति न तद्वाधक तथान्यत्रान्यदान्येषा च विगेषाभावादिति सिद्ध मुनिश्चितानभवद्वाधकत्वमस्य तथ्यता साधयति । त श्लो वा पृ ७

तदवगतेः । न च भूयांसः साधवो विसंवदन्ते, तथान्यत्रानुपलम्भात् । प्रमाणपुरुष-
व्याख्यातार्थत्वात् स्थितं वचनस्य प्रामाण्यम् । ततो मनसोऽभावेऽप्यस्ति केवल-
ज्ञानमिति सिद्धम् । अथवा न केवलज्ञानं मनसः समुत्पद्यमानमुपलब्धं श्रुतं वा,
येनैषारेकोत्पद्येत । क्षायोपशमिको हि बोधः क्वचिन्मनस उत्पद्यते । मनसोऽभावा-
द्भवतु तस्यैवाभावः, न केवलस्य, तस्मात्तस्योत्पत्तेरभावात् । सयोगस्य केवलिनः
केवलं मनसः समुत्पद्यमानमुपलभ्यत^१ इति चेन्न, स्वावरणक्षयादुत्पन्नस्याक्रमस्य
पुनरुत्पत्तिविरोधात् । ज्ञानत्वान्मत्यादिज्ञानवत्कारकमपेक्षते केवलमिति चेन्न,
क्षायिकक्षायोपशमिकयोः साधर्म्याभावात् । प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि
केवलं कथं परिच्छिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमपरिवर्तिनः^२ केवलस्य तदविरोधात् ।

होता है यह बात भी सिद्ध हो जाती है ।

अथवा, केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ न तो किसीने उपलब्ध किया और न
किसीने सुना ही, जिससे कि यह शका उत्पन्न हो सके । क्षायोपशमिक ज्ञान अवश्य ही कहों
पर (संज्ञी पचेन्द्रियोमे) मनसे उत्पन्न होता है । इसलिये अयोगकेवलीके मनका अभाव होनेसे
क्षायोपशमिक ज्ञानका ही अभाव सिद्ध होगा, न कि केवलज्ञानका, क्योंकि, अयोगकेवलियोंको
मनसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— सयोगकेवलीके तो केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके
क्षयसे उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है ।

शंका— जिस प्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी
अपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी
अपेक्षा करनी चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया
जाता है ।

शंका— अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमें परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे
जानता है ?

समाधान— ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंके समान परिवर्तन
करनेवाले केवलज्ञानके उन पदार्थोंके जाननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— ज्ञेयकी परतन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उत्पत्ति क्यों
नहीं मानी जाय ?

समाधान— नहीं क्योंकि, केवल उपयोग-सामान्यकी अपेक्षा केवलज्ञानकी पुनः
उत्पत्ति नहीं होती है । विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय,

ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नोत्पत्तिरिति^१ चेन्न, केवलो-
पयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात् । विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोकमनोभ्यस्त-
दुत्पत्तिविगतावरणस्य तद्विरोधात् । केवलमसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्षते, स्वरूप-
हानिप्रसङ्गात्^२ । प्रमेयमपि मैक्षिष्ट, असहायत्वादिति^३ चेन्न, तस्य तत्स्वभावत्वात् । न
हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः, अव्यवस्थापत्तेरिति । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति
चेत् क्षीणाशेषघातिकर्मत्वान्निरस्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुणः । उक्तं च—

सेलेसि^४ सपतो णिरुद्ध-णिस्सेस-आसवो जीवो ।

कम्म-रय-विप्पमुक्को गय-जोगो केवली होई^५ ॥ १२६ ॥

मन और आलोकसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं
ऐसे केवलज्ञानकी इन्द्रियादिकसे उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकोकी
सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा स्वरूपकी हानिका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेयको भी मत जाने ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, पदार्थोंको जानना उसका स्वभाव है । और
वस्तुके स्वभाव दूसरोके प्रश्नोके योग्य नहीं हुआ करते हैं । यदि स्वभावमें भी प्रश्न होने लगे
तो फिर वस्तुओकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

शंका— पाच प्रकारके भावोमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

समाधान— सपूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे और थोड़े ही समयमें अघातिया
कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव है । कहा भी है—

जिन्होंने अठारह हजार शीलके स्वामीपनेको प्राप्त कर लिया है, अथवा जो मेरुके
समान निष्कम्प अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने सपूर्ण आलवका निरोध कर दिया है, जो
नूतन बँधनेवाले कर्म-रजसे रहित हैं, और जो मन, वचन तथा काय योगसे रहित होते हुए
केवलज्ञानसे विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली परमात्मा कहते हैं ॥ १२६ ॥

१ मु पुनर्नोत्पत्तिरिति । २ विशेषजिज्ञासुभि अष्टसहस्री पृ २३६-२३७ तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड-
पृ ११२-११६ द्रष्टव्य । ३ मु मैवमैक्षिष्टासहायत्वादिति ।

४ शिलाभिर्निर्वृत्त शिलाना वाऽयमिति शैलस्तेपामीश शैलेशो मेरु शैलेशस्येय, स्थिरतासाम्यात्
परमशुक्लव्याने वर्तमान शैलेगीमानभिधीयते, अभेदोपचारात् म एव शैलेगी, मेरुरिवाप्रकम्पो यस्यामवस्थाया
सा शैलेशवस्था । अथवा पूर्वमस्थिरतयाऽशैलेगी भूत्वा पञ्चात्स्थिरतयैव यस्यामवस्थाया शैलेशानुकारी भवति
स सा । अथवा सेलेसी होई × × सोऽतिथिरताए सेलोव्व इमीति म ऋपि स्थिरतया शैल इव भवति ।
अथवा मेलेसी भण्ड सेलेसी होइ मागवदेगीभापया से-नो अलेसीभवति तस्यामवस्थाया, अकारलोपात् ।
अथवा मेलेमो निश्चयत शील समाधान, स च सर्वसवरस्तस्येग, तस्य शैलेशस्य याऽवस्था सा शैलेशी
अवस्थोच्यते । वि मा को वृ पृ ८६६

५ प्रा प १,३० । गो जी ६५ तत्र 'सीलेसि' इति पाठ । शीलाना अष्टादशसहस्रसंख्याना
ऐश्वर्य ईश्वरत्व स्वामित्व संप्राप्त । म प्र टी

मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य संसारातीतगुणप्रति-
पादनार्थमाह—

सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या इति यावत् । निराकृता-
शेषकर्माणो बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निरुपलेपाः अविचलित-
स्वरूपाः सकलावगुणातीताः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात्किञ्चिन्न्यूनस्वदेहाः
कोशविनिर्गतसायकोपमाः लोकशिखरनिवासिनः सिद्धाः । उक्तं च—

अट्टविह-कम्म-विजडा^१ सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा ।

अट्ट-गुणा किदकिच्चा लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा^२ ॥ १२७ ॥

मोक्षके सोपानीभूत चौदह गुणस्थानोका प्रतिपादन करके अब संसारसे अतीत गुणके
प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सिद्ध जीव हैं ॥ २३ ॥

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं । जिन्होंने
समस्त कर्मोंका निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित, अनन्त,
अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुखको प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप हैं, अवल
स्वरूपको प्राप्त हैं, संपूर्ण अवगुणोंसे रहित हैं, सर्व गुणोंके निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात्
आत्माका आकार चरम शरीरसे कुछ न्यून है, जो कोशसे निकले हुए बाणके समान विनिःसग
हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं । कहा भी है—

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे सर्वथा मुक्त है, सब प्रकार दुःखोंसे मुक्त होनेसे
शांतिसुखमय है । निरजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्यावाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व
और अगुरुलघु इन आठ गुणोंसे युक्त है, कृतकृत्य हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं
उन्हे सिद्ध कहते हैं ॥ १२७ ॥

‘अत्थि मिच्छाद्दिट्ठ’ इस सूत्रसे लेकर ‘सिद्धा चेदि’ इस सूत्र पर्यन्त सब जगह
अस्ति’ पदका संवन्ध कर लेना चाहिये । ‘सिद्धा चेदि’ इस सूत्रमें आया हुआ ‘च’ शब्द

१ मु विजुदा ।

२ प्रा प १, ३१ । गो जी ६८ ‘अट्ठविहकम्मविजुदा’ अनेन ससारिजीवस्य मुक्तिर्नास्तीति
याज्ञिकमत, सर्वदा कर्ममलैरस्पृष्टत्वेन सदा मुक्त एव मद्वैश्वर इति सदाशिवमत च अपास्त । ‘सीदीभूदा’
अनेन मुक्तो आत्मन मुक्ताभाव वदन् साख्यमनमपाकृत । ‘णिरजणा’ अनेन मुक्तात्मन पुन कर्माजनससर्गेण
ससारोऽस्तीति वदन् मस्करीदर्शनं प्रत्याख्यात । ‘णिच्चा’ अनेन प्रतिक्षण विनश्वरचित्पर्याया एव
एकमतानवर्तिन परमार्थतो नित्यद्रव्य नेति वदतीति बौद्धप्रत्यवस्था प्रतिव्यूढा । ‘अट्टगुणा’ अनेन
ज्ञानादिगुणानामत्यन्तोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिरिति वदन्नैयायिकवैशेषिकाभिप्राय प्रत्युक्त । ‘किदकिच्चा’
अनेन ईश्वर सदा मुक्तोऽपि जगन्निर्माणे कृतादरत्वेनाकृतकृत्य इति वददीश्वरसृष्टिवादाकूतम् निराकृतम् ।
‘लोयग्गणिवासिणो’ अनेन आत्मन ऊर्ध्वगमनस्वाभाव्यात् मुक्तावस्थाया क्वचिदपि विश्रामाभावात् उपर्युपरि
गमनमिति वदन् माडलिकमत प्रत्यस्त । जी प्र टी

सव्वत्थ अत्थि त्ति संबंधो कायव्वो । 'च' सद्दो समुच्चयट्ठो । 'इदि' सद्दो एत्तियाणि चैव गुणट्ठाणाणि त्ति गुणट्ठाणाणं समत्ति-वाचओ ।

चोदसहं गुणट्ठाणाणं ओघ-परुवणं काऊण आदेस-परुवणट्ठं सुत्तमाह—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धिगदी^१ चेदि ॥ २४ ॥

आदेशग्रहणं सामर्थ्यलभ्यमिति न वाच्यमिति चेन्न स्पष्टीकरणार्थत्वात् । गति-स्वतलक्षणा, तस्याः वदनं वादः । प्रसिद्धस्याचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु पठ्याद्वादोऽनुवादः । गतेरनुवादो गत्यनुवादः, तेन गत्यनुवादेन । हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु व्यापृताः निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः । अथवा नरान् प्राणिनः कायति यातयति^२ खलीकरोति इति नरकः कर्म, तस्य नरकस्यापत्यं^३ नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः ।

समुच्चयरूप अर्थका वाचक है और 'इति' शब्द, गुणस्थान इतने ही होते हैं इससे कम या अधिक नहीं, इस प्रकार गुणस्थानोंकी समाप्तिका वाचक है ।

चौदह गुणस्थानोंका सामान्य प्ररूपण करके अब विशेष प्ररूपणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आदेश-प्ररूपणाकी अपेक्षा गत्यनुवादसे नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धिगति है ॥ २४ ॥

शंका— आदेश पदका ग्रहण सामर्थ्य-लभ्य है, इसलिये इस सूत्रमे उसको ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, स्पष्टीकरण करनेके लिये आदेश पदका सूत्रमे ग्रहण किया है ।

गतिका लक्षण पहले कह आये हैं । उसके कथन करनेको वाद कहते हैं । आचार्य-परंपरासे आये हुए प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना अनुवाद है । इस तरह गतिका आचार्य-परंपराके अनुसार कथन करना गत्यनुवाद है, उससे अर्थात् गत्यनुवादसे नरकगति आदि गतियां होती हैं । जो हिंसादिक असमीचीन कार्योंमें व्यापृत हैं उन्हें निरत कहते हैं, और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं । अथवा, जो नर अर्थात् प्राणियोंको काता है अर्थात् यातना देता है, पीसता है उमे नरक कहते हैं । नरक वह एक कर्म है । इससे जिनकी उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते हैं, और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं । अथवा, जिस गतिका उदय संपूर्ण अशुभ कर्मोंके उदयका सहकारी-कारण हैं उसे नरकगति कहते हैं । अथवा, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमे तथा परस्परमे रत नहीं हैं, अर्थात् प्रीति नहीं रखते

१ मु निद्धगदी ।

२ अग्नेतनसन्दर्भेण गो जीवकाण्डस्य गा १४७ तमस्य जी प्र टीका प्रायेण समाना ।

३ मु पातयति ।

४ मु नरकम्यापत्यानि ।

अथवा यस्या उदयः सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः ।
अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वन्योन्येषु^१ च विरताः नरताः, तेषां गतिर्नरतगतिः^२, उक्तं च—

ण रमति जदो णिच्च दब्बे खेत्ते य काल-भावे य ।

अण्णोण्णेहि य जम्हा तम्हा ते णारया भणिया^३ ॥ १२८ ॥

सकलतिर्यक्पर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यग्गतिः । अथवा तिर्यग्गतिकर्मोदया-
पादिततिर्यक्पर्यायकलापस्तिर्यग्गतिः । अथवा तिरो वक्रं कुटिलमित्यर्थः, तदञ्चन्ति
अजन्तीति तिर्यञ्चः । तिरश्चां गतिः तिर्यग्गतिः उक्तं च—

तिरियति कुडिल-भाव सुवियड-सण्णा णिगिट्ठमण्णाणा ।

अच्चत-पाव-वहुला तम्हा तेरिच्छया णाम^४ ॥ १२९ ॥

अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः । अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादित-
मनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारात्मननुष्यगतिः । अथवा मनसा निपुणाः मनसा

है उन्हे नरत कहते हैं, और उनकी गतिको नरतगति कहते हैं । कहा भी है—

यतः जिस कारणसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमे जो स्वयं तथा परस्परमे कभी भी
रमते नहीं, इसलिये उनको नारत कहते हैं ॥ १२८ ॥

समस्त जातिके तिर्यचोमे उत्पत्तिका जो कारण है उसे तिर्यग्गति कहते हैं । अथवा
तिर्यग्गति कर्मके उदयसे प्राप्त हुए तिर्यच-पर्यायोके समूहको तिर्यग्गति कहते हैं । अथवा, तिरस्
वक्र और कुटिल ये एकार्यवाची नाम हैं, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभावको प्राप्त
होते हैं उन्हे तिर्यच कहते हैं, और उनकी गतिको तिर्यग्गति कहते हैं । कहा भी है—

जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त है, जिनकी आहारादि संज्ञाएँ सुव्यक्त
हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पापकी बहुलता पाई जावे उनको तिर्यच
कहते हैं ॥ १२९ ॥

जो मनुष्यकी संपूर्ण पर्यायोमें उत्पन्न कराती है उसे मनुष्यगति कहते हैं । अथवा,
मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य-पर्यायोके समूहको कार्यमें कारणके उपचारसे
मनुष्यगति कहते हैं अथवा, जो मनसे निपुण हैं, या मनसे उत्कट अर्थात् सूक्ष्म-विचार आदि

१ नरकगतिसम्बन्धव्यन्नपानादिद्रव्ये तद्भूतलरूपक्षेत्रे समयादिस्वायुरवसानकाले चित्पर्यायरूपभावे ।
गो जी , जी प्र , टी १४७

२ अथवा निर्गतोऽयं पुण्य एम्यस्ते निरया तेषां गतिः निरयगतिः । गो जी , जी प्र , टी १४७

३ प्रा प १, ६० । गो जी १४७

४ प्रा प १, ६१ । गो जी १४८ यस्मात्कारणात् ये जीवाः सुविवृतसंज्ञा अगूढाहारादिप्रकट-
मज्ञायुता , प्रभावसुखद्युतिलेद्याविशुद्ध्यादिभिरलर्पीयस्त्वान्निकृष्टा हेयोपादेयज्ञानादिभिरविहीनत्वादज्ञाना ,
नित्यनिगोदविचक्षया जत्यन्तपापबहुला तस्मात् कारणात्ते जीवा तिरोभाव कुटिलभाव मायापरिणाम अचति
गच्छति इति तिर्यचो भणिता भवन्ति । गो प्र टी

उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः । उक्तं च—

मण्णंति जदो णिच्च मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा ।

मणु-उव्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिया^१ ॥ १३० ॥

^१अणिमाद्यष्टगुणावष्टम्भवलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । देवानां गतिर्देवगतिः । अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिवन्धन-पर्यायोत्पादको देवगतिः । देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात् । उक्तं च—

दिव्वति जदो णिच्च गुणेहि अट्टुहि य दिव्व-भावेहि^२ ।

भासत-दिव्व-काया तम्हा ते वण्णिया देवा^४ ॥ १३१ ॥

सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा सा एव गतिः सिद्धिगतिः ।

सातिशय उपयोगसे युक्त है उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं । कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय-उपादेय आदिका विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुण-दोषादिकका विचार करनेमें निपुण हैं, अथवा, जो मनसे उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म-विचार, चिरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त है, अथवा, जो मनुकी सन्तान हैं, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोकी प्राप्तिके बलसे क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, और देवोकी गतिको देवगति कहते हैं । अथवा, जो अणिमादि ऋद्धियोसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उदयको देवगति कहते हैं । अथवा, देवगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई पर्यायको कार्यमें कारणके उपचारसे देवगति कहते हैं । कहा भी है—

वयोक्कि वे दिव्वस्वरूप अणिमादि आठ गुणोके द्वारा निरन्तर क्रीड़ा करते हैं, और उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म-स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं । ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धिगति कहते हैं । कहा भी है—

१ प्रा प. १,६२ । गो जी १४९ द्वितीयो यस्माच्छब्दोऽनर्थक लब्धपर्याप्तकमनुष्याणां पूर्वोक्तमनुष्यलक्षणाभावेऽपि मनुष्यगतिनामायु कर्मोदयजनितत्वमात्रेणैव मनुष्यत्वमाचार्यस्येष्ट ज्ञापयति । अनर्थकानि वचनानि किंचिदिष्ट ज्ञापयन्त्याचार्यस्य इति न्यायात् । म प्र टी

२ अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । प्राप्ति प्राकाम्यमीशत्व वशित्व चाष्ट सिद्धय ॥

३ मु द्व्व-भावेहि ।

४ प्रा प १,६३ । गो जी १५१ तत्र 'द्व्वभावेहि' इति स्थाने 'दिव्वभावेहि' इति पाठ ।

उक्तं च—

जाइ-जरा-मरण-भया सजोय-वियोय-दुक्ख-सण्णाओ ।^१

रोगादिया य जिस्से ण सति सा होइ^२ सिद्धिगई^३ ॥ १३२ ॥

सर्वत्रास्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । प्रतिज्ञावाक्यत्वाद्धेतुप्रयोगः कर्तव्यः, प्रतिज्ञासात्रतः साध्यसिद्धचनुपपत्तेरिति चेन्नेदं प्रतिज्ञावाक्यं प्रमाणत्वात्, न हि प्रमाणं प्रमाणान्तरमपेक्षते, अनवस्थापत्तेः । नास्य प्रामाण्यमसिद्धम्, उक्तोत्तरत्वात् ।

साम्प्रतं मार्गणैकदेशगतेरस्तित्वमभिधाय तत्र जीवसमासान्वेषणाय सूत्रमाह—

णेइया चदुसुं ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी
सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि ति ॥ २५ ॥

जिसमे जन्म, जरा, मरण, भय, सयोग, वियोग, दुःख, आहारादि सजाएँ और रोगादिक नहीं पाये जाते हैं उसे सिद्धिगति कहते हैं ॥ १३२ ॥

सूत्रमे आये हुए अस्ति पदका प्रत्येक गतिके साथ सबन्ध कर लेना चाहिये ।

शंका—‘नरकगति है, तिर्यचगति है’ इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये हेतुका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि, केवल प्रतिज्ञा-वाक्यसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ‘नरकगति है’ इत्यादि वचन प्रतिज्ञावाक्य न होकर प्रमाणवाक्य (आगमप्रमाण) है । जो स्वयं प्रमाणस्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं । यदि स्वयं प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्थादोष आ जाता है । और इन वचनोंकी स्वयं प्रमाणता भी असिद्ध नहीं हैं, क्योंकि, इस विषयमे पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि यह उपदेश सर्वज्ञके मुख-कमलसे प्रगट होकर आचार्य-परंपरासे चला आ रहा है, इसलिये प्रमाण ही है ।

मार्गणाके एकदेशरूप गतिका सद्भाव बताकर अब उसमें जीवसमासोके अन्वेषणके लिये सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमे नारकी होते हैं ॥ २५ ॥

१ कर्मवशाज्जीवस्य भवे भवे स्वगरीरपर्यायोत्पत्तिर्जाति । जातस्य तथाविशरीरपर्यायस्य क्योहान्या विशरण जरा । स्वायु क्षयात्तथाविशरीरपर्यायिप्राणत्यागो मरण । अनर्थागक्रया अपकारकेभ्य पलायनेच्छा भय । क्लेशकारणानिष्टद्रव्यमगम सयोग । मुखकारणेष्टद्रव्यापायो वियोग । एतेभ्य समुत्पन्नानि आत्मनो निग्रहरूपाणि दुःखानि । शेपास्तिस्र आहारादिवाछारूपा मजा । गो जी, म प्र, टी १५२

२ प्रा ५ १, ६४ । गो. जी १५२

३ मु मिद्धगई ।

४ मु अ चउट्ठाणेसु

नारकग्रहणं मनुष्यादिनिराकरणार्थम् । चतुर्ग्रहणं पञ्चादिसंख्यापोहनार्थम् । अस्तिग्रहणं प्रतिपत्तिगौरवनिरासार्थम् । नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्तीत्यस्मात्सामान्य-वचनात्संशयो मा जनीति तदुत्पत्तिनिराकरणार्थं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः । अस्तु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्वम्, मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमिथ्यात्वस्य सत्त्वात् । नेतरेषु गुणेषु तेषां सत्त्वम्, तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वाविरतिकषायाणां^१ तत्रोत्पादनसामर्थ्याभावात् । न च बद्धस्यायुषः सम्यक्त्वान्निरन्वयविनाशः, आर्षविरोधात् । न हि बद्धायुषः सम्यक्त्वं संयममिव न प्रतिपद्यन्ते, सूत्रविरोधात्^२ । सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः, न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिः, तद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात्^३ । तर्हि कथं तद्वतां तत्र सत्त्वमिति चेन्न,

मनुष्यादिके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें नारक पदका ग्रहण किया है । पांच आदि संख्याओके निराकरण करनेके लिये 'चतुर' पदका ग्रहण किया है । जाननेमें कठिनाई न पड़े इसलिये 'अस्ति' पदका ग्रहण किया है । नारकी चार गुणस्थानोंमें होते हैं, इस सामान्य वचनसे संशय न हो जाय कि वे चार गुणस्थान कौन कौनसे हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोका नाम-निर्देश किया है ।

शंका— मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा आवे, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि उन नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है । किंतु दूसरे गुणस्थानोंमें नारकियोंका सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिये, क्योंकि, अन्य गुणस्थानसहित नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं माना गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, नरकायुके बन्ध विना मिथ्यादर्शन, अविरति और कषायकी नरकमें उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नहीं है । और पहले बन्धी हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनसे निरन्वय नाश भी नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर आर्षसे विरोध आता है । जिन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव जिस प्रकार संयमको प्राप्त नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर भी सूत्रसे विरोध होता है ।

शंका— जिन जीवोंने पहले नरकायुका बन्ध किया और जिन्हे पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसे बद्धायुक् सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति होती है, इसलिये नरकमें असंयतसम्यग्दृष्टि भले ही पाये जावे, परंतु सासादन गुणस्थानवालोंकी (मरकर) नरकमें उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है । इसलिये सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ?

१ अ व क मिथ्याविरति

२ चत्तारि वि खेत्ताड आउगवधेण होइ सम्मत्त । अणुवदमह्ववदाइ ण लहइ देवाउग मोत्तु ।

गो क ३३४

३ ण सासणो णारयापुण्णे गो जी १२८ णिरय सामणसम्मो ण गच्छदि ति । गो क ६२२-

पर्याप्तनरकगत्या सह सापर्याप्तिया^१ इव तस्य विरोधाभावात्^२ । किमित्यपर्याप्तिया विरोधश्चेत्स्वभावोऽयं, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः । तर्ह्यन्यास्वपि गतिष्वपर्याप्तिकालेऽस्य सत्त्वं मा भूत्तेन तस्य विरोधादिति चेन्न, नारकापर्याप्तिकालेनेव शेषापर्याप्तपर्यायैः सह विरोधासिद्धेः^३ । सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्य पुनः सर्वदा सर्वत्रापर्याप्ताद्वाभिर्विरोधस्तत्र^४ तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्षाभावात् । किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्वं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिसिद्धेः । तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न,

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार नरकगतिमे अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उस प्रकार पर्याप्त-अवस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है । अर्थात् नारकियोके पर्याप्त अवस्थामे दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है । यदि कहो कि नरकगतिमे अपर्याप्त अवस्थाके साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है ? तो उसका यह उत्तर है, कि यह नारकियोका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरेके प्रश्नके योग्य नहीं होते हैं ।

शंका— यदि ऐसा है, तो अन्य गतियोंके अपर्याप्त कालमे भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मत होओ, क्योंकि, अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है ?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि, जिसतरह नारकियोके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उस तरह शेष गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है । केवल सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका तो सदा ही सभी गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ विरोध है, क्योंकि, अपर्याप्त कालमे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका अस्तित्व बतानेवाले आगमका अभाव है ।

शंका— आगममे अपर्याप्त कालमे मिश्र गुणस्थानका सत्त्व क्यों नहीं बताया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है ।

शंका— तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनों गुणस्थानोंका नरकगतिमे सत्त्व कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, परिणामोके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थामें उनकी उत्पत्ति बन जाती है ।

शंका— तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसी प्रकार होते हैं, ऐसा मानना चाहिये ? अर्थात्

१ मु सहापर्याप्तिया ।

२ (णेरइया) सामणसम्माइट्ठिमम्मामिच्छाइट्ठिद्वाने णियमा पज्जत्ता । जी स मू ८०

३ तिरिक्खा × × मणुस्सा × × देवा मिच्छाइट्ठि-सासणमम्माइट्ठि-अमजदसम्माइट्ठिद्वाने सिया पज्जत्ता निया अपज्जत्ता । जी स मु ८४, ८९, ९४

४ मरण मरणतसमुग्धादो वि य ण मिस्मिम् । गो जी. २४.

इष्टत्वात् । सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेरपि तत्रोत्पत्तिर्मा भूदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात् । प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्ताद्वया सह विरोधात्^१ । नोपरिमगुणानां तत्र सम्भवः, तेषां संयमासंयमसंयमपर्यायेण सहात्र विरोधात् ।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तिरिक्खा पंचसु द्वाणेषु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मा।मिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति^२ ॥ २६ ॥

तिर्यग्ग्रहणं शेषगतिनिराकरणार्थम् । पञ्चसु स्थानेषु^३ सन्तीति वचनं षडादिसंख्याप्रतिषेधफलम् । मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः सामान्यवचनतः

नरकगतिमे पर्याप्त अवस्थामे सम्यग्दर्शनकी भी उत्पत्ति मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामे सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है ।

शंका— जिस प्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि मरकर नरकमे उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी मरकर नरकमे उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमे उत्पन्न होते हैं, इसका आगममे निषेध नहीं है ।

शंका— जिस प्रकार प्रथम पृथिवीमे सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमे सम्यग्दृष्टि जीव मरकर क्यो उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंके अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है, इसलिये सम्यग्दृष्टि मरकर द्वितीयादि पृथिवियोंमे उत्पन्न नहीं होते हैं ।

इन चार गुणस्थानोंके अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमे सद्भाव नहीं है, क्योंकि, संयमासयम और संयम-पर्यायके साथ नरकगतिमे रहनेका विरोध है ।

अब तिर्यच गतिमे गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और सयता-सयत इन पांच गुणस्थानोंमे तिर्यच होते हैं ॥ २६ ॥

शेष गतियोंके निराकरण करनेके लिये 'तिर्यग्' पदका ग्रहण किया है । छह संख्या आदिके निवारण करनेके लिये 'पांच गुणस्थानोंमे होते हैं' यह पद दिया है । 'तिर्यच'

१ हेट्टिमहत्तुपुट्टवीण जोडमिवणभवणसव्वडत्थीण । पुण्णिदरे ण हि मम्मो ॥ गो जी १२८

२ तिर्यग्गतौ तान्येव मयतासयतस्थानाधिकानि सन्ति । स मि १८

३ मु पञ्चसु गुणस्थानेषु ।

समृत्पद्यमानसंशयनिरोधार्थः । बद्धायुरसंयतसम्यग्दृष्टिसासादनानामिव न सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां च तत्रापर्याप्तकाले सम्भवः समस्ति, तत्र तेन तयोर्विरोधात् । अथ स्यात्तिर्यञ्चः पञ्चविधाः — तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरिश्च्यः पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च इति । तत्र न ज्ञायते क्वेमानि पञ्च गुणस्थानानि सन्तीति ? उच्यते, न तावदपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पञ्च गुणाः सन्ति, लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणा-सम्भवात् । तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत् ? 'पञ्चदिय-तिरिक्ख-अपज्जत्त-मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, असंखेज्जा' इदि, तत्रैकस्येव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्रति-

पाच गुणस्थानोमे होते है ' इस सामान्य वचनसे सशय उत्पन्न हो सकता है कि वे पांच गुणस्थान कौन कौन है, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोका नामनिर्देश किया है ।

जिस प्रकार बद्धायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोका तिर्यंचगतिके अपर्याप्तकालमे सद्भाव संभव है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सयतासंयतोंका तिर्यंचगतिके अपर्याप्तकालमे सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, तिर्यंचगतिमे अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतका विरोध है ।

शंका— तिर्यंच पांच प्रकारके होते हैं, सामान्य-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यंच, पंचेन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यंचिनी और पंचेन्द्रिय-अपर्याप्त-तिर्यंच । परंतु यह जाननेमे नहीं आया कि इन पाच भेदोंमेसे किस भेदमे पूर्वोक्त पांच गुणस्थान होते है ?

समाधान— उक्त शंका पर उत्तर देते है कि अपर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोमे तो पाच गुणस्थान होते नहीं है, क्योंकि, लब्ध्यपर्याप्तकोमे एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर शेष गुणस्थान ही असंभव है ।

शंका— यह कैसे जाना कि लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यंचोमे पहला ही गुणस्थान होता है ?

समाधान— 'पंचेन्द्रिय-तिर्यंच-अपर्याप्त-मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं' इस प्रकारकी शंका होने पर द्रव्यप्रमाणानुगममे उत्तर दिया कि 'असंख्यात' हैं । इस तरह द्रव्यप्रमाणानुगममे लब्ध्यपर्याप्तक-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोके एक ही मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाला आर्षवचन मिलता है । इससे पता चलता है कि लब्ध्यपर्याप्त-कोके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है । शेष चार प्रकारके तिर्यंचोमे पाचो ही गुणस्थान होते है । यदि शेषके चार भेदोमे पाच गुणस्थान न माने जाय, तो उन चार प्रकारके तिर्यंचोमे पांच गुणस्थानोकी संख्या आदिके प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यानुयोग आदि आगममे

णेदेसु समुप्पज्जइ समाइट्ठी दु जो जीवो^३ ॥ १३३ ॥ इत्यार्षात् ।

३ प्रा प १, १९३

मनुष्यगतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणुस्सा चोदससु ट्ठाणेषु अत्थि सिच्छाइट्ठी, सासण-
सम्माइट्ठी, सम्मासिच्छाइट्ठी, असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा,
पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु
अत्थि उवसमा खवा, अणियट्ठि-वादर-संपराय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु
अत्थि उवसमा खवा, सुहुम-संपराय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि
उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीण-कसाय-
वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवलि त्ति ॥ २७ ॥

एयस्य सुत्तस्स अत्थो पुव्वं उत्तो त्ति णेदाणि वुच्चदे, जाणिद-जाणावण-
फलाभावादो । पुव्वमवुत्तमुवसामण-खवण-विहि एत्थ संवद्धमुवसामग-खवण-सखव-
जाणावणट्ठं संखेवदो भणिस्सामो । तं जहा, तत्थ ताव उवसामण-विहि वत्तइस्सामो ।
अणंताणुबंधि-कोध-माण-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मासिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ
सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदो त्ति ताव एदेसु जो वा

इस आर्ष-वचनसे जानते हैं कि असंयतसम्यग्दृष्टि जीव तिर्यचनियोमे उत्पन्न नहीं
होते हैं ।

अब मनुष्यगतिमे गुणस्थानोके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासंयत,
प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-विशुद्धि-सयतोमे उपशमक और क्षपक, अनिवृत्ति-
वादरसांपराय-प्रविष्ट-विशुद्धि-सयतोमे उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-विशुद्धिसंयतोमे
उपशमक और क्षपक, उपशातकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली
और अयोगिकेवली इस तरह इन चौदह गुणस्थानोमे मनुष्य पाये जाते हैं ॥ २७ ॥

इस सूत्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है इसलिये अब नहीं कहते हैं, क्योंकि, जिसका
ज्ञान हो गया है उसका फिरसे ज्ञान करानेमे कोई विशेष फल नहीं है । पहले उपशमन और
क्षपणविधिका स्वरूप नहीं कहा है, इसलिये यहां पर संबन्ध-प्राप्त उपशमक और क्षपकके
स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये उपशमन और क्षपणविधिको संक्षेपसे कहते हैं । वह इस प्रकार है ।
उसमे भी पहले उपशमनविधिको कहते हैं—

अनन्तानुवन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा

सो वा उवसामेदि' । सरूवं छंडिय अण्ण-पयडि-सरूवेणच्छणमणंताणुवंधीणमुवससो' । दंसणतियस्स उदयाभावो उवससो', तेसिमुवसंताणं पि ओकड्डुवकड्डुण-पर-पयडि-संकमाणमत्थित्तादो । अपुव्वकरणे ण एक्कं पि कम्ममुवसमदि । किंतु अपुव्वकरणो पडिसमय मणंतगुण-विसोहीए वड्ढंतो अंतोमुहुत्तेणंतोमुहुत्तेण एक्केक्कं द्विदि-खंडयं घादंतो संखेज्जसहस्साणि द्विदि-खंडयाणि घादेदि, तत्तियमेत्ताणि द्विदि-बंधोसरणाणि

मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक इन चार गुणस्थानोमे रहनेवाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है । अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृतिरूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है । दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उदयमे नहीं आना ही उपशम है, क्योंकि, उपशान्त हुई, उन तीन प्रकृतियोंका उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूपसे सक्रमण पाया जाता है । अपूर्वकरण गुणस्थानमे एक भी कर्मका उपशम नहीं होता है । किंतु अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव प्रत्येक समयमे अनन्तगुणी विशुद्धिसे बढ़ता हुआ एक एक अन्तर्मुहूर्तमे एक एक स्थिति-खण्डका घात करता हुआ संख्यात हजार स्थिति-खण्डोका घात करता है । और उतने ही स्थिति-बंधापरणोको करता हैं । तथा

१ वेदगसम्माइट्ठी जीवो × × अणताणुवधी विसजोडय अतोमुहुत्त अघापवत्तो होदूण पुणो पमत्तगुण पडिवज्जिय असादवरदिसोगअजमगित्तिआदीणि कम्माणि अतोमुहुत्त वधिय दमणमोहणीयमुवसामेदि । घवला अ पृ ४३६ वेदयसम्मादिट्ठी अणताणुवधी अविसजोएदूण कमाए उवसामेदु णो उवट्ठादि । अविसजोडदाणताणुवधिवचउक्कस्स वेदयसम्माइट्ठस्स कमायोवसामणाणिवधणदसणमोहोवसामणादिकिरियासु पवुत्तीए असभवादो । जयव अ पृ १००२ उवसमचरियाभिमुहा वेदगसम्मो अण विजोइत्ता । अतोमुहुत्तकाल अघापवत्तो पमत्तो य ॥ ल क्ष २०५ णत्थि अण उवममगे । गो क ३९१ ' णिरयतिरियाउ दोणि वि पढमकसायाणि दसणतियाणि । हीणा एदे णेया भगे एक्केक्कगा होति ॥ गो क ३८४ ' इति वचनादुपशमश्रेण्या १४६ प्रकृतिमत्त्वस्थानम्य सद्भावादनन्तानुबन्धिवचतुष्कस्य सत्तापि विभाव्यते, ततो ज्ञायते यद् द्वितीयोपशम-सम्यक्त्वमनन्तानुबन्धिन उपशमेनापि भवति । अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसयतानामन्यतमोऽनन्तानु-बन्ध्युपशमना चिकीर्षु × × यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरण च करोति । क प्र पृ २६७ वेयगमम्महिट्ठी चरित्तमोहुवसमाए चिट्ठतो । अजउ देसजई वा विरतो वा विसोहिअद्धाए । क प्र उप २७ चारित्र-मोहनीयस्योपशमना क्षीणसप्तकस्य वैमानिकेण्वेव वद्धायुष्कस्य भवति । अवद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिमारोहति । यस्तु वेदकसम्यग्दृष्टि सन्नुपशमश्रेणि प्रतिपद्यते सोऽनियतो वद्धायुष्कोऽवद्धायुष्को वा । स च केपाञ्चिन्मते-नानन्तानुबन्धिनो विसयोज्य चतुर्विंशतिमत्कर्मा सन् प्रतिपद्यते । केपाञ्चित्पुनर्मतेनोपशमय्यापि, ततो विसयोजितानन्तानुबन्धिकपाय उपशमितानन्तानुबन्धिकपायो वा सन् दर्शनत्रितयमुपशमयति । अथवा × आदौ दर्शनमोहनीय क्षपयित्वा उपशमश्रेणि प्रतिपद्यते, अथवा दर्शनमोहनीय प्रथम मुपशमय्यापि प्रतिपद्यते । कथमुपशमय्येत्येत त आह—श्रामण्ये सयमे स्थित्वा । प स पृ १७६

२ तत एमिस्त्रिभिरपि करणैर्यथोक्तक्रमेणानन्तानुबन्धिन कपायानुपशमयति । × × एवमेकीयम-तेनानन्तानुबन्धिनमुपशमोऽभिहित, अन्ये त्वनन्तानुबन्धिना विसयोजनमेवाभिदधति । आ चा पृ २७१

३ करणपरिणामेहि निस्सत्तीकयस्स दसणमोहणीयम्य उदयपज्जाएण विणा अवट्ठाणमुवससो ति । जयघ अ पृ ९५४ दर्शनमोहस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामुपशमेन उदयायोग्यभावेन जीव उपशान्त-उपशमसम्यग्दृष्टिर्भवति । ल क्ष स टी १०२

करेदि । एक्केक्कं दिट्ठि-खंडय-कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि अणुभाग-खंडयाणि
 'धादेदि । पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए पदेस-णिज्जरं करेदि । जे अप्पसत्थ-
 कम्मसे ण बंधदि तेसि पदेसग्गमसंखेज्ज-गुणाए सेढीए अण्ण-पयडीसु बज्जमाणियासु
 संकामेदि । पुणो अपुव्वकरणं बोलेऊण अणियट्ठि-गुणट्ठाणं पविसिऊणंतोमुहुत्तमणेणव
 विहाणेणच्छिय वारस-कसाय-णव-णोकसायाणमंतरं^१ अंतोमुहुत्तेण करेदि । अंतरकद-
 पढम-समयादो^२ उवरि अंतोमुहुत्तं गंतूण असंखेज्ज-गुणाए सेढीए णउंसय-
 वेदमुवसामेदि । उवसमो णाम किं ? उदय उदीरण-ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिसंकम-
 ट्ठिदि-अणुभाग-खंडयधादेहि विणा अच्छणमुवसमो^३ । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण
 णवुंसयवेदमुवसमिद-विहाणेणित्थिवेदमुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेणव

एक एक स्थिति-खण्डके कालमे संख्यात हजार अनुभाग-खण्डोका घात करता है । और
 प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रदेशोकी निर्जरा करता है । तथा जिन अप्रशस्त
 प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, उनके प्रदेशोको उस समय बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमे
 असंख्यातगुणित श्रेणीरूपसे संक्रमण करता है । पुनः अपूर्वकरण गुणस्थानको उल्लंघन करके
 और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमे प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधिसे रहता है ।
 तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा बारह कषाय और नौ नोकषाय इनका अन्तर (करण)
 करता है । (विवक्षित कर्मप्रकृतियोंके नीचेके व ऊपरके निषेकोको छोड़कर बीचके कितने ही
 निषेकोके द्रव्यको अन्य निषेकोके द्रव्यमे निक्षेपण करके बीचके निषेकोके अभाव करनेको अन्तर-
 करण कहते हैं ।) अन्तरकरणविधिके हो जाने पर प्रथम समयसे लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर
 असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा नपुंसकवेदका उपशम करता है ।

शंका— उपशम किसे कहते हैं ?

समाधान— उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसंक्रमण, स्थिति-काण्डक-
 घात और अनुभाग-काण्डकघातके विना ही कर्मोंके सत्तामे रहनेको उपशम कहते हैं ।

तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसकवेदकी उपशमविधिसे ही स्त्रीवेदका

१ अ व पादेदि ।

२ अतर विरहो सुण्णभावो त्ति एयट्ठो तस्स करणमन्तरकरण । हेट्ठा उवरि च केत्तिधाओ
 ट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झिल्लाण ट्ठिदीण अतोमुहुत्तपमाणाण णिमेगे सुण्णत्तमादणमतरकरणमिदि । जयव
 अ प्र १००९ ३ मु अतरे कदे पढमसमयादो ।

४ आत्मनि कर्मण. स्वशक्ते कारणवशादनुद्भूतिरूपशम । यथा कतकादिद्रव्यसम्बन्धादम्भसि
 पङ्क्त्युपशम । स सि २ १ कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽव प्रापितपङ्क्तवत् । त रा. २ १ १
 अनुद्भूतस्वसामर्थ्यवृत्तितोपशमो मत । कर्मणा पुंसि तोयादावव प्रापितपङ्क्तवत् ॥ त श्लो वा २ १ २.
 उपशमिता नाम यथा रेणुनिकर सलिलविन्दुनिवहैरभिपिच्याभिपिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निष्पन्दो भवति
 तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोघिसलिलप्रवाहेण परिपिच्य परिपिच्यानिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टित सक्रमणोद-
 योदीरणानिवृत्तिनिकाचनाकरणानामयोग्यो भवति । क प्र पृ २६७

विहिणा छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि^१ । तदो उवरि समऊण-वे-आवलियाओ गंतूण पुरिसवेद-णवक-बंधमुवसामेदि । तत्तो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए^२ अपच्चक्खाण-पच्चक्खाणा-वरणसण्णिदे दोण्णि वि कोधे कोध-संजलण-चिराण-संतकम्मेण सह जुगवमुवसामेदि । तत्तो उवरि दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण कोध-संजलण-णवक-बंधमुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेसि चैव दुविहं माणमसंखेज्जाए गुणसेढीए माणसंजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि । तदो समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण माणसंजलणमुवसामेदि । तदो पडिसमयमसंखेज्जगुणाए सेढीए उवसामेतो अंतोमुहुत्तं गंतूण दुविघ मायं माया-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह जुगवं उवसामेदि । तदो दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण माया-संजलणमुवसामेदि । तदो समयं पडि असंखेज्जगुणाए सेढीए पदेसमुवसामेतो अंतोमुहुत्तं गंतूण लोभ-संजलण-चिराण-संत-कम्मेण सह पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरण-दुविहं लोभं लोभ-वेदगट्ठाए विदिय-ति-भागो

उपशम करता है । फिर एक अन्तर्मूर्त जाकर उसी विधिसे पुरुषवेदके (एक समय कम दो आवलीमात्र नवकसमयप्रवद्धको छोड़कर वाकीके संपूर्ण) प्राचीन सत्तामे स्थित कर्मके साथ छह नोकपायका उपशम करता है । इसके आगे एक समय कम दो आवली काल बिता कर पुरुषवेदके नवक समयप्रवद्धका उपशम करता है । इसके पश्चात् प्रत्येक समयमे असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनक्रोधके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रवद्धको छोड़कर पहलेके सत्तामे स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोधका एक अन्तर्मूर्तमे एकसाथ ही उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमे क्रोधसंज्वलनके नवक-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा संज्वलनमानके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामे स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानमानका एक अन्तर्मूर्तमे उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमे संज्वलनमानके नवक-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तदनंतर प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे उपशम करता हुआ, मायासंज्वलनके नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामे स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान मायाका अन्तर्मूर्तमे उपशम करता है । तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमे माया संज्वलनके नवक-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रत्येक समयमे असंख्यात-गुणी श्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोका उपशम करता हुआ, लोभवेदके दूसरे त्रिभागमे सूक्ष्मकृष्टिको करता हुआ संज्वलनलोभके नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामे स्थित कर्मके साथ प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान इन दोनों लोभोका एक अन्तर्मूर्तमे उपशम करता है । इस तरह

सुहुमकिट्ठीओ करेंतो उवसामेदि । सुहुमकिट्ठं मोत्तूण अवसेसो वादरलोभो फह्यं गदो सच्चो 'णवकबंधुच्छिट्ठावलिय-वज्जो अणियट्ठि-चरिम-समए उवसंतो' । णवुंसयवेदप्पहुडि जाव वादरलोभ-संजलणो त्ति ताव एदांसि पयडीणमणियट्ठी उवसामगो होदि । तदो णंतर-समए सुहुमकिट्ठि-सरूवं लोभं वेदंतो णट्ठ-अणियट्ठि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि । तदो [सो अप्पणो चरिम-समए लोह-संजलणं सुहुमकिट्ठि-सरूवं णिस्सेसमुवसामिय उवसंत-कसाय-वीदराग-छट्ठुमत्थो होदि' । एसा मोहणीयस्स उवसामण-विही ।

सूक्ष्मकृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रवद्ध तथा उच्छिष्टावली मात्रनिषेकोको छोड़कर शेष स्पष्टकगत संपूर्ण बादरलोभ अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें उपशान्त हो जाता है । इस प्रकार नपुसकवेदसे लेकर जब तक बादर-संज्वलन-लोभ रहता है तबतक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला होता है । इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्ति इस संज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है । तदनन्तर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मकृष्टिगत संपूर्ण लोभ-संज्वलनका उपशम करके उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ होता है । यह मोहनीयकी उपशसनविधि है ।

विशेषार्थ— लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अप्रमत्त-संयत गुणस्थानमें ही बतलाई है, किन्तु यहाँ पर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक किसी भी एक गुणस्थानमें बतलाई गई है । धवलामे प्रतिपादित इस मतका उल्लेख ज्वेताम्बर संप्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें देखनेमें आता है ।

तथा अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे सक्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोमें विसंयोजना कहा है, और यहाँ पर द्वितीयोपशमका प्रकरण होनेसे उसे उपशम कहा है । सो यहाँ केवल शब्द भेद है । स्वयं वीरसेन स्वामीको द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इष्ट है ।

उपशमन और क्षपण विधिमें सर्वत्र एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समय-प्रवद्धका उल्लेख आया है । और वहाँ पर यह भी बतलाया है कि इनका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ उपशमन या क्षपण न होकर अनन्तर उतने ही कालमें एक एक निषेकके

१ (यत्र) स्थितिसत्त्वमावलिमात्रमवशिष्यते तदुच्छिष्टावलिमज्जम् । ल क्ष ११३

२ ल क्ष २९५ मज्जलनवादरलोभस्य प्रथमस्थितौ उच्छिष्टावलिमात्रेऽवशिष्टे उपशमनावलि-चरमसमये लोभत्रयद्रव्य सर्वमप्युपशमिन भवति । तत्र सूक्ष्मकृष्टिगतद्रव्य समथोनद्वयावलिमात्रमयप्रवद्ध-नवकबन्धद्रव्य उच्छिष्टावलिमात्रनिषेकद्रव्य च नोपशमयति । एतद्द्रव्यत्रय मुक्त्वा लोभत्रयस्य सर्वमपि सत्त्वद्रव्यमुपशमितमित्यर्थ । म टी

३ विशेषजिज्ञामुभिर्गन्विमारस्य चारित्र्योपशमनविधिरवलोकनीय । ल क्ष २०५-३५१

खवण-विहि वत्तइस्सामो । खवणं णाम किं ? अट्ठण्हं कम्माणं मुलुत्तर-भेय-
भिण्ण-पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो तं खवणं णाम' ।
अणंताणुवंधि-कोध-माण-माया-लोभ-मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-सम्मत्तमिदि एदाओ
सत्तपयडीओ असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदो वा पमत्तसंजदो वा अप्पमत्तजदो वा
खवेदि' । किमक्कमेण किं कमेण खवेदि ? ण, पुच्चमणंताणुवंधि-चउक्कं तिण्णि वि

क्रमसे उपशम या क्षय होता है । इसका यह अभिप्राय है कि जिन कर्मप्रकृतियोंकी बन्ध, उदय
और सत्त्व-व्युच्छित्ति एकसाथ होती है, उनके बन्ध और उदय-व्युच्छित्तिके कालमे एक समय
कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रवद्ध रह जाते हैं, जिनकी सत्त्व-व्युच्छित्ति अनन्तर होती है ।
वह इस प्रकार कि विवक्षित (पुरुषवेद आदि) प्रकृतिके उपशमन या क्षपण होनेके दो आवली
काल अवशिष्ट रह जानेपर द्विचरमावलीके प्रथम समयमे बंधे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको
व्यतीत करके चरमावलीके प्रथम समयसे लेकर प्रत्येक समयमे एक एक फालिका उपशम या
क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमे संपूर्णरीतिसे उपशम या क्षय होता है । तथा द्विचर-
मावलीके द्वितीय समयमे जो द्रव्य बंधता है, उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त
समयतक उपशम या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिको छोड़कर सबका उपशम या क्षय होता
है । इसी प्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयसे बंधे हुए द्रव्यका बन्धावलीको व्यतीत करके
चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ क्रमसे दो
आदि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सबका उपशम या क्षय होता है । तथा चरमावलीके
प्रथमादि समयमे बंधे हुए द्रव्यका उपशम या क्षय नहीं होता है, क्योंकि, बंधे हुए द्रव्यका एक
आवली तक उपशम नहीं होता, ऐसा नियम है । इस प्रकार चरमावलीका संपूर्ण द्रव्य और
द्विचरमावलीका एक समयकम आवलीमात्र द्रव्य उपशम या क्षय रहित रहता है, जिसका प्राचीन
सत्तामे स्थित कर्मके उपशम या क्षय हो जानेके पञ्चात् ही उपशम या क्षय होता है ।

अब क्षपणविधिको कहते हैं—

शंका— क्षय किसे कहते हैं—

समाधान— जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रतिके भेदसे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध,
अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध अनेक प्रकारके हो जाते हैं, ऐसे आठ कर्मोंका जीवसे जो अत्यन्त
विनाश हो जाता है उसे क्षपण (क्षय) कहते हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ,
तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टि,
संयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव नाश करता है ।

शंका— इन सात प्रकृतियोंका क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे ?

१ क्षय आत्यन्तिकी निवृत्ति । यथा तस्मिन्नेवाम्भसि गुचिभाजनान्तरसक्रान्ते पङ्क्त्यात्यन्ताभाव ।
म मि २ १ न रा वा २ १ २ त ग्लो वा २ १ ३

२ पढमकसायचउक्क इत्तो मिच्छत्तमीसमम्मत्त । अविश्यसम्मे देमे पमत्ति अपमत्ति खीअत्ति ।

करणाणि काऊण अणियट्टि-करण-चरिम-समए अवकमेण खवेदि । पच्छा पुणो वि तिण्णि वि करणाणि काऊण अधापवत्त-अपुव्वकरणाणि दो वि वोलिय अणियट्टिकरणद्वाए संखेज्जे भागे गंतूण मिच्छत्तं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मामिच्छत्तं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मत्तं खवेदि^१ । तदो अधापवत्तकरणं कमेण काऊणंतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि । सो ण एकं पि कम्मं वखवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्ज-गुणसरूवेण पदेस-णिज्जरं करेदि । अंतोमुहुत्तेण एक्केकं द्विदि-खंडयं घादेतो^२ अप्पणो कालब्भंतरे संखेज्ज-सहस्साणि द्विदि-खंडयाणि घादेदि^३ । तत्तियाणि चेव द्विदि-बंधोसरणाणि वि करेदि । तेहिंतो संखेज्ज-सहस्स-गुणे अणुभाग-खंडय-घादे करेदि 'एक्काणुभाग-खंडय-उक्कीरण-कालादो एकं द्विदि-खंडय-उक्कीरण-कालो संखेज्ज-गुणो' ति सुत्तादो । एवं काऊण अणियट्टि-गुणट्ठाणं पविसिय तत्थ वि अणियट्टि-

समाधान— नहीं, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्तिकरणके चरम समयमे पहले अनन्तानुबन्धी चारका एक साथ क्षय करता है । तत्पश्चात् फिरसे तीनोंही करण करके, उनमें से अध करण और अपूर्वकरण इन दोनों को उत्लंघन करके अनिवृत्तिकरणके सख्यातबहुभाग व्यतीत हो जानेपर मिथ्यात्वका क्षय करता है । इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है । तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर सम्यक्प्रकृतिका क्षय करता है ।

इस तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त होकर जिस समय क्षणविधिका प्रारम्भ करता है, उस समय अध-प्रवृत्तकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहूर्तमे अपूर्वकरण गुणस्थानवाला होता है । वह एक भी कर्मका क्षय नहीं करता है, किंतु प्रत्येक समयमे असख्यातगुणितरूपसे कर्म-प्रदेशोकी निर्जरा करता है । एक एक अन्तर्मुहूर्तमे एक एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संख्यात-हजार स्थितिकाण्डकोका घात करता है । और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है । तथा उनसे संख्यात-हजार-गुणे अनुभागकाण्डकोका घात करता है, क्योंकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरण कालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरण-काल संख्यातगुणा है, ऐसा सूत्र-वचन है । इस प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थानसबन्धी क्रियाको करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमे प्रविष्ट होकर, वहा पर भी अनिवृत्तिकरण कालके संख्यात बहु भागको अपूर्वकरणके समान स्थितिकाण्डक-घात आदि विधिसे बिताकर अनिवृत्तिकरणके कालमे संख्यात भाग शेष रहने पर स्थानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति,

१ अयदचउक्क तु अण अणियट्टिकरणचरिमम्हि । जुगव सजोगिता पुणो वि अणियट्टिकरणवहुभाग ॥
वोलिय कमसो मिच्छ मिस्स सम्म खवेदि कमे । गो क ३६५, ३६६

२ मु कडय अ व पादेतो । ३ मु कडयाणि अ व पादेदि ।

अद्धाए संखेज्जे भागे अपुव्वकरण-विहाणेण गमिय अणियट्ठि-अद्धाए संखेज्जे भागे^१ सेसे थीणगिट्ठि-तियं णिरयगइ-तिरियगइ-एइंदिय-वीइंदिय-तीइंदिय-चउरिंदियजादि-णिरयगइ-तिरिय-गइपाओग्गाणुपुव्वि-आदावुज्जोव-थावर-सुहुम-साधारण^२ त्ति एदाओ सोलस पयडीओ खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण पच्चवखाणापच्चवखाणावरण-क्रोध-माण-माया-लोभे अक्कमेण खवेदि^३ । एसो संत-कम्म-पाहुड-उवएसो । कसाय-पाहुड-उवएसो पुण अट्ठ-कसाएसु खीणेषु पच्छा अंतोमुहुत्तं गंतूण सोलस-कम्माणि खवेज्जंति^४ त्ति । एदे दो वि उवएसो सच्चमिदि के वि भणंति, तण्ण घडदे, विरुद्धत्तादो सुत्तादो । दो वि पमाणा इति वयणमवि ण घडदे, 'पमाणेण पमाणा-विरोहिणा होद्वं' इदि णायादो । णाणा-जीवाणं णाणाविह-सत्ति-संभवाविरोहादो केसि चि जीवाणं णट्ठेसु अट्ठसु कसाएसु पच्छा सोलसकम्म-खवण-सत्ती समुप्पज्जदि

नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है । फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता हैं । यह सत्कर्मप्राभूतका उपदेश है । किंतु कषायप्राभूतका उपदेश तो इस प्रकार है कि पहले आठ कषायोंके क्षय होजाने पर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमे पूर्वोक्त सोलह कर्म प्रकृतियाँ क्षयको प्राप्त होती हैं । ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना हैं । किंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पडता है । तथा दोनों कथन प्रमाण है, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, 'एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये' ऐसा न्याय है ।

१ मु त संखेज्जदिमागे ।

२ पु साहारणा ।

३ णिरयतिरिक्खदु वियल थीणतिगुज्जोव ताव एइदी । साहरणसुहुमथावर सोल मज्झ कसायट्ठ ॥ गो क ३३८ अणियट्ठिवायरे थीणगिट्ठित्तिगे निरयतिरियनामाओ । संखेज्जइमे सेसे तप्पाउग्गाओ खीवति ॥ इत्तो हणइ कसायट्ठगपि X X क ग्र ७८, ७९

४ तदो अट्ठकमायट्ठिदिखडयपुघत्तेण सकामिज्जति । जयघ अ पृ. १०७८ तदो ट्ठिदिखडय-पुघत्तेण अपच्छिमे ट्ठिदिखडए उविकण्णे एदेसि सोलसण्ह कम्माण ट्ठिदिमतकम्ममावलियवभतर सेस । जयघ अ पृ १०७९ X X खवगा पुव्व खवित्तु अट्ठा य । पच्छा सोलादीण खवण इदि केहि णिट्ठि । गो क, ३९१. प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानाप्टकमन्तयेद् गुणे नवमे । तस्मिन्नवक्षपिते क्षपयेदिति षोडश प्रकृती ॥ X X X अवंदग्घेन्वनो वन्दिदेहत्प्राप्येन्वनान्तरम् । क्षपकोऽपि तथात्रान्त क्षपयेत्प्रकृती परा ॥ कपायाप्टकणेप च क्षपयित्वाज्जयेत् क्रमात् । क्लीवस्त्रीवेदहास्यादिषट्कपूरुषवेदकान् ॥ एष सूत्रादेश । अन्ये पुनराहु, षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कपायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति कर्मग्रन्थवृत्तौ ॥ लो प्र, प्र. भा पृ ६८,

त्ति तेण पच्छा सोलस-कम्म-क्खयो होदि, ' कारणकमाणुसारी' कज्जक्कमो ' त्ति णायादो । केँसि चि जीवाणं पुव्वं सोलस-कम्म-क्खवणसत्ती समुप्पज्जदि, पच्छा अट्ठ-कसाय-क्खवण-सत्ती उप्पज्जदि त्ति णट्ठेसु सोलस-कम्मेसु पच्छा अंतोमुहुत्ते अदिक्कंते अट्ठ कसाया णस्संति । तदो ण दोण्हं उवएसणं विरोहो त्ति के वि भणंति, तण्ण घडदे । किं कारणं ? जेण अणियट्ठिणो णाम जे के वि एग-समए वट्ठमाणा ते सव्वे वि अदीदाणागद-वट्ठमाण-कालेसु समाण-परिणामा, तदो चेय ते समाण-गुणसेढि-णिज्जरा वि । अह भिण्ण-परिणामा वुच्चंति तो वखाहि ण ते अणियट्ठिणो, भिण्ण-परिणामादो अपुव्वकरणा इव । ण च कम्म-क्खंधाण असंखेज्ज-गुणसेढीए खवण-हेट्ठु-परिणामे उज्झिऊणण्णे परिणामा ट्ठिदि-अणुभागखंडय-घादस्स कारणभूदा अत्थि, तेँसि णिरुवय-सुत्ताभावादो । ' कज्ज-णाणत्तादो कारण-णाणत्तमणुमाणिज्जदि ' इदि एदमवि ण घडदे, एयादो मोग्गरादो बहु-कोडि-कवालोवलंभा । तत्थ वि होट्ठु

शंका— नाना जीवोके नाना-प्रकारकी शक्तियाँ सभव हैं, इसमे कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये कितने ही जीवोके आठ कषायोके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलह कर्मोके क्षय करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है । अतः उनके आठ कषायोके क्षय हो जानेके पश्चात्, सोलह कर्मोका क्षय होता है । क्योंकि, ' जिस क्रमसे कारण मिलते है उसी क्रमसे कार्य होता है ' ऐसा न्याय है । तथा कितने ही जीवोके पहले सोलह कर्मोके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है, और तदनन्तर आठ कषायोके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है । इसलिये पहले सोलह कर्म-प्रकृतियाँ नष्ट होती हैं, और इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्तके व्यतीत होनेपर आठ कषायें नष्ट होती है । इसलिये पूर्वोक्त दोनो उपदेशोमे कोई विरोध नहीं आता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है ?

समाधान— परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जितने भी जीव हैं, वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी किसी एक समयमे विद्यमान होते हुए भी समान-परिणामवाले ही होते हैं, और इसीलिये उन जीवोंकी गुणश्रेणी-निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है । और यदि एकसमयस्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोको विसदृश परिणामवाला कहा जाता है, तो जिसप्रकार एक समयस्थित अपूर्वकरण गुणस्थानवालोके परिणाम विसदृश होते हैं, अतएव उन्हें अनिवृत्ति यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसी प्रकार इन परिणामोको भी अनिवृत्तिकरण यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी । और असख्यातगुण-श्रेणीके द्वारा कर्मस्कन्धोके क्षयणके कारणभूत परिणामोको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं हैं, क्योंकि, उन परिणामोका निरूपण करनेवाला सूत्र (आगम) नहीं पाया जाता है ।

णाम मोगारो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं, तदो एयक्खप्परुप्पत्ति-प्पसंगादो इवि चे ? तो व्वहि एत्थ वि भवदु णाम द्विदि-खंडयघाद-अणुभाग-खंडयघाद-द्विदिवंधोसरण-गुणसंकम-गुणसेढि-द्विदि-अणुभागबंध-परिणामाणं णाणत्तं तो वि एग-समय-संठिय-णाणा-जीवाणं सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्ठि-विसेसणाणुववत्तीदो । जइ एवं, तो सव्वेसिमणियट्ठीणमेय-समयम्हि वट्टमाणाणं द्विदि-अणुभागघादाणं सरिसत्तं पावेदि त्ति चे ? ण एस दोसो, इट्ठत्तादो । पढम-द्विदि-अणुभाग-खंडयाणं सरिसत्त-णियमो' णत्थि, तदो णेदं घडदि त्ति चे ? स दोसो ण दोसो, हद-सेस-द्विदि-

शंका—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है ? अर्थात् नववें गुणस्थानमे प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, स्थितिकाण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, इसलिये उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिये ।

समाधान—यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है ।

शंका—वहा भी मुद्गर एक भले ही रहा आवे, परंतु उसकी शक्तियोमे एकपना नहीं बन सकता है । यदि मुद्गरकी शक्तियोमे भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहा पर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिवन्धापसरण, गुणसक्रमण, गुणश्रेणी शुभप्रकृतियोंके स्थितिवन्ध और अनुभागबन्धके कारणभूत परिणामोमे नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमे स्थित नाना जीवोके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा उन परिणामोके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नहीं बन सकता है ।

शंका—यदि ऐसा है, तो एक समयमे स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातकी समानता प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो हमे इष्ट ही है ।

शंका—प्रथम-स्थितिकाण्डक और प्रथम-अनुभागकाण्डकोकी समानताका नियम तो नहीं पाया जाता है, इसलिये उक्त कथन घटित नहीं होता है ?

१ तिकालगोयराण सव्वेसिमणियट्ठिकरणाण समाणसमए वट्टमाणाण सरिसपरिणामत्तादो पढमद्विदिखंडय पि तेमि सरिसमेवेत्ति णावहारेयव्व किंतु तत्थ जहण्णुक्कस्सवियप्पमभवादो । जयध अ प्र. १०७४ बादरपढमे पढम ठिदिखड विसरिम तु विदियादि । ठिदिखडय समाण सव्वस्स समाणकालम्हि । पल्लस्स सखभाग अवर तु वर तु सखभागहिय । घादादिमट्ठिदिखडो सेसा सव्वस्स सरिसा हु ।

अणुभागानं एय-पमाण-णियम-दंसणादो । ण च थोव-ट्टिदि-अणुभाग-विरोहि-परिणामो तदो अब्भहिय-ट्टिदि-अणुभागानमविरोहित्तमल्लियइ^१, अण्णत्थ तह अदंसणादो । ण च अणियट्टिम्हि पदेस-बंधो एय-समयम्हि वट्टमाण-सव्व-जीवाणं सरिसो, तस्स जोग-कारणत्तादो । ण च तेसि सव्वेसि जोग^२-सरिसत्तणे णियमो अत्थि लोगपूरणम्हि द्विय-केवलीणं^३ व तहा पडिवायय-सुत्ताभावादो । तदो सरिस-परिणामत्तादो सव्वेसिमणियट्टीणं समाण-समय-संद्वियाणं ट्टिदि-अणुभाग-घाद-तव्वंधोसरणं^४-गुणसेट्ठिणिज्जरा-संकमाणं सरिसत्तणं सिद्धं । समाण-समय-संठिय-सव्वणिगट्टीणं ट्टिदि-अणुभागखंडएसु सरिसं णिवदंतेसु घादिदावसेस-ट्टिदि-अणुभागसु सरिसत्तणेण चिट्टमाणेसु अप्पणो पसत्थापसत्थत्तणं पयडीसु अछंडमाणीसु^५ कथं पयडि-विणासस्स विवज्जासो ? तम्हा दोण्हं वयणाणं मज्जे एक्कमेव सुत्तं होदि, जदो ' जिणा ण अण्णहा-वाइणो ' तदो ण तव्वयणाणं^६ विप्पडिसेहो इदि चे ? सच्चमेयं, किंतु ण तव्वयणाणि, एयाइं आइल्ल^७-आइरिय-वयणाइं, तदो एयाणं विरोहस्सत्थि-

समाधान— यह दोष कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथम समयमे घात करके शेष बचे हुए स्थितिकाण्डकोका और अनुभागकाण्डकोका एकप्रमाण नियम देखा जाता है । दूसरे, अल्प-स्थिति और अल्प-अनुभागका विरोधी परिणाम उससे अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोके अविरोधीपनेको प्राप्त नहीं हो संकता है, क्योंकि, अन्यत्र वैसा देखनेमे नहीं आता है । परंतु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमे स्थित संपूर्ण जीवोके प्रदेशबन्ध सदृश होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होता है । परंतु अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती उन सब जीवोके योगकी सदृशताका कोई नियम नहीं पाया जाता है । जिस प्रकार लोकपूरण समुद्धातमे स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणम है, उस प्रकार अनिवृत्तिकरणमे योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणमका अभाव है । इसलिये समान (एक) समयमे स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोके सदृश परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, तथा उनका बन्धापसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और सक्रमणमे भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

१ ' उपसर्पेरल्लिअ ' हैम ८, ४, १३९

२ मु जोगम्म सरिमत्तणे ।

३ ल क्ष ६२६ लोगे पुण्णे एक्का वग्गणा जोगस्स त्ति समजोगो त्ति णायव्वो । लोगपूरणसमुग्घादे वट्टमाणस्सेदस्स केवलिणो लोगमेत्तासेमजीवदेसेमु जोगाविभागपल्लिच्छेदा वडिडहाणीहि विणा सरिसा चेय होद्वण परिणमत्ति तेण मव्वे जीवपदेमा अण्णोण सरिसधणियमरूवेण परिणदा मत्ता एया वग्गणा जादा तदो समजोगो त्ति एसो तदवत्थाए णायव्वो । जोगमत्तीए सव्वजीवपदेमेसु सरिसभाव मोत्तूण विसरिस-भावाणुवलभादो त्ति वुत्त होइ । जयध अ पृ १२३९

४ मु घादत्तवधोसरण । ५ मु अ छट्टमाणेसु । ६ मु तदो तव्वयणाण । ७ मु आइल्ल

संभवो इदि । आइत्लाइरिय^१-कहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे? ण, तित्थयर-कहियत्थाणं गणहरदेव-कय-गंथरयणाणं दारहंगाणं आइरिय-परंपराए णिरंतरमागयाणं जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहट्टंतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाणं पुणो सुट्ठु-बुद्धीणं खयं दट्ठूण तित्थ-वोच्छेदभएण वज्ज-भीरुहि गिहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाणं असुत्तत्तण-विरोहादो । जदि एवं, तो एयाणं पि वयणाणं तदवयवत्तादो सुत्तत्तणं पावदि त्ति चे ? भवदु दोण्हं मज्झे एक्कस्स सुत्तत्तणं, ण दोण्हं पि, परोप्पर-विरोहादो । उस्सुत्तं लिहंता आइरिया कथं वज्ज-भीरुणो इदि चे ? ण एस दोसो, दोण्हं मज्झे एक्कस्सेव संगहे कीरमाणे वज्ज-

शंका— इस तरह समान समयमे स्थित सपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोके स्थितिखड और अनुभागखंडोके समानरूपसे पतित होने पर, घात करनेके पश्चात् शेष रहे हुए स्थिति और अनुभागोके समानरूपसे विद्यमान रहने पर और प्रकृतियोंके अपना अपना प्रशस्त और अप्रशस्तपनाके नहीं छोड़ने पर व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंके विनाशमे विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोके पहले आठ कषायोके नष्ट हो जाने पर सोलह प्रकृतियोंका नाश होता है, और किन्हीं जीवोके पहले सोलह प्रकृतियोंसे नष्ट हो जाने पर पश्चात् आठ कषायोका नाश होता है, यह बात कैसे संभव हो सकती है ? इसलिये दोनों प्रकारके वचनोमेसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि, जिन अन्यथावादी नहीं होते । अतः उनके वचनोमे विरोध नहीं होना चाहिये ।

समाधान— यह कहना सत्य है कि उनके वचनोमे विरोध नहीं होना चाहिये, परंतु ये जिनेन्द्रदेवके वचन न होकर इस युगके आचार्योंके वचन हैं, इसलिये उन वचनोमें विरोध होना संभव है ।

शंका— तो फिर इस युगके आचार्योंके द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभूत और कषाय-प्राभूतको सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिनका अर्थरूपसे तीर्थंकरोने प्रतिपादन किया है, और गणधरदेवने जिनकी ग्रन्थ-रचना की ऐसे वारह अंग आचार्य-परंपरासे निरन्तर चले आ रहे हैं । परंतु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होने पर और उन अंगोको धारण करनेवाले योग्य पात्रके अभावमे वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं । इसलिये जिन आचार्योंने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोका अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होने गुरु परम्परासे श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उस समय अविशिष्ट रहे हुए अग-संबन्धी अर्थको पोथियोमे लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता है ।

भीरुत्तं फिट्ठदि त्ति^१ ? दोण्हं पि संगहं करेताणमाइरियाणं वज्ज-भीरुत्ताविणासादो । दोण्हं वयणाणं मज्जे कं वयणं सच्चमिदि चे ? सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अण्णो, तहा णिणयाभावादो । वट्ठमाण-कालाइरिएहि वज्ज-भीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो, अण्णहा वज्जभीरुत्त-विणासादो त्ति ।

तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण चउसंजलण-णवणोकसायाणमंतरं करेदि । सोदयाण-मंतोमुहुत्त-मेत्ति पढम-ट्ठिदि अणुदयाणं समउणावलिय-मेत्ति पढम-ट्ठिदि^२ करेदि । तदो अंतरकरणं काउण पुणो अंतोमुहुत्ते गदे णवुंसय-वेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूणित्थिवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण छण्णोकसाए पुरिसवेद-चिराण-संत-

शंका— यदि ऐसा है, इन दोनों ही वचनोको द्वादशांगका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— दोनोमेसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किंतु दोनोको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उन दोनो वचनोमे परस्पर विरोध पाया जाता है ।

शंका— उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दोनो प्रकारके वचनोमेसे किसी एक ही वचनके संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छ्रंखलता आ जाती है । किन्तु दोनो प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है, अर्थात् बनी रहती है ।

शंका— दोनों प्रकारके वचनोमेसे किस वचनको सत्य माना जाय ?

समाधान— इस बातको केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता । क्योंकि, इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये पापभीरु वर्तमानकालके आचार्योंको दोनोंका ही संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा ।

तत्पश्चात् आठ कषाय या सोलह प्रकृतियोंके नाश होनेपर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर चार संज्वलन और नौ नो-कषायोका अन्तर करता है । अन्तरकरण करनेके पहले चार संज्वलन और नौ नो-कषायसंवन्धी तीन वेदोमेसे जिन दो प्रकृतियोका उदय रहता है उनकी प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है, और अनुदयरूप ग्यारह प्रकृतियोकी प्रथमस्थिति एक समयकम आवलीमात्र स्थापित करता है । तत्पश्चात् अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त जाने पर

१ मु णिवट्ठत्ति ।

२ मजलणाण एक्क वेदाणेक्क उदेदि तद्दोण्ह । मेसाण पढमट्ठिदि ठवेदि अतोमुहुत्तआवलिय । ल अ ४३४.

कस्मेण सह सवेद-दुचरिम-समए जुगवं खवेदि । तदो 'दो-आवलिय-मेत्त-कालं गंतूण पुरिसवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण कोध-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण माण-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण माया-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुम-सांपराइय-गुणट्टाणं पडिवज्जदि । सो वि सुहुम-सांपराइओ अप्पणो चरिमसमए लोभ-संजलणं खवेदि । तदो से काले खीण-कसाओ होदूण अंतोमुहुत्तं गमिय अप्पणो अट्ठाए दु-चरिम-समए णिद्धा-पयलाओ दो वि अक्कमेण खवेदि । तदो से काले पंचणाणावरणीय-चदुदंसणावरणीय-पंचअंतराइयमिदि चोदसपयडीओ अप्पणो चरिम-समए खवेदि । एदेसु सट्ठि-कस्मेसु खीणेसु सजोगिजिणो होदि । सजोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि । तदो कमेण विहरिय जोग-णिरोहं-काऊण अजोगकेवली' होदि । सो वि अप्पणो दु-चरिम-समए

नपुसकवेदका क्षय करता है । तदनंतर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर स्त्रीवेदका क्षय करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर सवेद-भागके द्विचरम समयमे पुरुषवेदके पुरातन सत्तारूप कर्मोंके साथ छह नो-कषायका एकसाथ क्षय करता है । तदनंतर दो आवलीमात्र कालके व्यतीत होने पर पुरुषवेदका क्षय करता है । तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर क्रोध-संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर मान संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर माया-संज्वलनका क्षय करता है । पुनः एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानको प्राप्त होता है । वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवाला जीव भी अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें लोभ-संज्वलनका क्षय करता है । उसके बाद तदनंतर समयमे क्षीणकषाय गुणस्थानको प्राप्त करके और अन्तर्मुहूर्त बिताकर अपने कालके द्विचरम समयमे निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है । इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमे पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है । इस तरह इन साठ कर्म-प्रकृतियोंका क्षय हो जानेपर यह जीव सयोगकेवली जिन होता है । सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नहीं करते हैं । इसके पीछे विहार करके और क्रमसे योगनिरोध करके वे अयोगिकेवली होते हैं । वे भी अपने कालके द्विचरम समयमे वेदनीयकी दोनों प्रकृतियोंमेसे अनुदयरूप कोई एक, देवगति, पांच शरीर, पांच शरीरोंके सघात, पांच शरीरोंके बन्धन, छह संस्थान, तीन आंगोपांग, छह संहनन,

१ ' ममऊण ' इत्यधिकेन पाठेन भाव्यम् । ममऊण दोणिआवलपमाणममयप्पवट्ठणववधो ।

२ अणियट्ठिगुणट्टाणे मायारहिद च ट्टाणमिच्छन्ति । ट्टाणा भगपमाणा कोई एव पल्लवेति ॥

३ मु अजोगिकेवली ।

अणुदयवेदणीय-देवगदि-पंचसरीर-पंचसरीरसंधाद-पंचसरीरबंधण-छस्संठाण-तिण्णि-
अंगोवंग-छस्संघडण-पंचवण-दोगंध-पंचरस-अट्टाफास-देवगदिपाओग्गाणुपुव्वि-अगुरुव-
लहुव-उवघाद-परघाद-उस्सास-दोविहायगदी-अप्पज्जत्त-पत्तेय-थिर-अथिर-सुभ-असुभ
दूभग-सुस्सर-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसगिति-णिमिण-णीचागोदाणि त्ति एदाओ बाहत्तरि
पयडीओ खवेदि । तदो से काले सोदय-वेदणीय-मणुसाउ-मणुसगइ-पाँचदिय-
जादि-मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वी-तस-बादर-पज्जत्त-सुभग-आदेज्ज-जसगिति-तित्थयर-
उच्चागोदाणि त्ति एदाओ तेरस पयडीओ खवेदि, अहवा मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वीए
सह तेहत्तरि पयडीओ दुचरिम-समए णट्टाओ बारह चरिमसमए^१, उप्पायाणुच्छे-
दादो^२ । तदो उवरिम-समए णीरओ णिम्मलो सिद्धो होदि । तत्थ जे कम्म-
क्खवणम्हि वावदा ते जीवा खवगा उच्चंति । जे पुण तेँस चैव उवसामणम्हि

पांच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात,
उच्छ्वास, प्रशस्त-विहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ,
अशुभ, दुर्भग, सुत्वर, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण और नीच-गोत्र, इन बहत्तर
प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । इसके बाद तदनन्तर समयमे दोनो वेदनीयमेसे उदयागत कोई एक
वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त,
सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर और उच्च-गोत्र, इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ।
अथवा, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वीके साथ अयोगि-केवलीके द्विचरम समयमे तेहत्तर प्रकृतियोंका
और चरम समयमे बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । यह क्षणका कथन उत्पाद अर्थात् भाव
ही अनुच्छेद अर्थात् अभाव है इसप्रकार द्रव्यार्थिकनयरूप व्यवहारकी मुख्यतासे किया है ।

१ बाहत्तरि पयडीओ दुचरिमगे तेरम च चरिमम्हि ल क्ष ३४४ × × द्विसप्तति कर्माणि
स्वरूपसत्तामविकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति, चरमसमये स्तिवुकसक्रमेणोदयवतीसु मध्ये नक्रम्यमाणत्वात् । चरमसमये
चान्यतरवेदनीयमनुष्यत्रिकपचेन्द्रियजातित्रससुभगादेययश कीर्तिपर्याप्तवादरतीर्थंकरोच्चगोत्ररूपाणां त्रयोदश-
प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेद । अन्ये त्वाहु - 'मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेद उदयाभावान्, उदयवतीनां हि
स्तिवुकसक्रमाभावात् स्वरूपेण चरमसमये दलिक दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेद ।
आनुपूर्वीणां च चतमृणामपि क्षेत्रविपाकतयाऽपान्तरालगतावेवोदय इति न भवस्थस्य तदुदयसंभव इत्ययोग्य-
वस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्या सत्ताव्यवच्छेद । तन्मते द्विचरमसमये त्रिसप्तते, चरमसमये च
द्वादशानां सत्ताव्यवच्छेद । क प्र य उ टी पृ ६४ × × त्रयोदशता प्रकृती क्षपयित्वान्तिमे क्षणे ।
अयोगिकेवली सिद्धचेन्निर्मूलगतकल्मष ॥ मतान्तरेऽजानुपूर्वी क्षिपत्युपान्तिमक्षणे । ततस्त्रिमसप्तति तत्र
द्वादशान्ये क्षणे क्षिपेत् ॥ लो प्र १, १२७५, १२७६

२ वोच्छेदो दुविहो उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि । उत्पाद सत्त्व, अनुच्छेदो विनाश
अभाव निरूपित इति यावत् । उत्पाद एव अनुच्छेद उत्पादानुच्छेद भाव एव अभाव इति यावत् । एनो
द्ववद्वियणयव्यवहारो । अनुत्पाद असत्त्व, अनुच्छेदो विनाश । अनुत्पाद एव अनुच्छेद असत् अभाव इति
यावत् । सत अमत्त्वविरोधात् । एमो पज्जवद्वियणयव्यवहारो । घवला अ पृ ५७७

वावदा ते उवसामगा ।

गदि-मग्गणावयव-देवगदिम्हि गुण-मग्गणट्ठं सुत्तमाह—

देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी
सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि ति ॥ २८ ॥

देवाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्ति । कानि तानीति चेन्मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिश्चेति । प्रागुक्तवार्तार्तान्नैतेषां गुणस्थानानामिह स्वरूपमुच्यते ।

तदनन्तर आगेके समयमे कर्मरजसे रहित निर्मलदशाको प्राप्त सिद्ध हो जाते हैं । इनमेंसे जो जीव कर्म-क्षणमे व्यापार करते हैं उन्हें क्षपक कहते हैं और जो जीव कर्मोंके उपशमन करनेमें व्यापार करते हैं उन्हें उपशामक कहते हैं ।

विशेषार्थ— चौदहवे गुणस्थानमे अधिकसे अधिक पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है । उनमेंसे बहत्तर प्रकृतियोंका उपान्त्य समयमे और उदयागत बारह तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी इसप्रकार तेरह प्रकृतियोंका अन्त समयमे क्षय होता है । सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोमट्टसार आदि ग्रन्थोमे इसी एक मतका उल्लेख मिलता है । किन्तु यहां मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उपान्त्य समयमे भी क्षय बतलाया गया है, जिसका उल्लेख कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोमे भी मिलता है । तथा उसकी पुष्टिके लिये इसप्रकार समर्थन भी किया गया है कि अनुदयप्राप्त प्रकृतियोंका स्तिबुकसंक्रमणके द्वारा उदयागत बारह प्रकृतियोंमे ही उपान्त्य समयमे सक्रमण हो जाता है । अतः मनुष्यगत्यानुपूर्वीका भी उपान्त्य समयमे ही सत्त्वनाश हो जाता है, क्योंकि, मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय केवल विग्रहगतिके गुणस्थानोमे ही होता है, शेषमे नहीं । इसप्रकार दूसरे आचार्योके मतानुसार उपान्त्य समयमे मनुष्यगत्यानुपूर्वी-सहित तेहत्तर और अन्त समयमे बारह प्रकृतियोंका सत्त्व नाश होता है ।

अब गतिमार्गणाके अवयवरूप देवगतिमे गुणस्थानोके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि, इन चार गुणस्थानोमे देव पाये जाते हैं ॥ २८ ॥

देव चार गुणस्थानोमे पाये जाते हैं । —

शंका— वे चार गुणस्थान कौनसे हैं ?

समाधान— मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि, इसप्रकार देवोंके चार गुणस्थान होते हैं ।

अथ स्याद्यासु याभिर्वा जीवाः मृग्यन्ते ताः मार्गणा इति प्राङ् मार्गणाशब्दस्य निरुक्तिरुक्ता, आर्षे चेत्यसु गुणस्थानेषु नारकाः सन्ति, तिर्यञ्चः सन्ति, मनुष्याः सन्ति, देवाः सन्तीति गुणस्थानेषु मार्गणा अन्विष्यन्ते,^१ अतस्तद्व्याख्यानमार्षविरुद्धमिति ? नैष दोषः, 'णिरय-गईए णेरईएसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया'^२ इत्यादि-भगवद्-भूतबलिभट्टारकमुखकमलविनिर्गतगुणसंख्यादिप्रतिपादकसूत्राश्रयेण तन्निरुक्ते-रवतारात् । कथमनयोर्भूतबलिपुष्पदन्तवाक्ययोर्न विरोध इति चेन्न विरोधः । कथमिदं तावत् ? निरूप्यते । न तावदसिद्धेन असिद्धे वासिद्धस्यान्वेषणं सम्भवति, विरोधात् । नापि सिद्धे सिद्धस्यान्वेषणम्, तत्र तस्यान्वेषणे फलाभावात् । ततः सामान्याकारेण सिद्धानां जीवानां गुणसत्त्वद्रव्यसंख्यादिविशेषरूपेणासिद्धानां त्रिकोटिपरिणामात्मकानादिवन्धनबद्धज्ञानदर्शनलक्षणात्मास्तित्वान्यथानुपपत्तितः सामान्याकारेणावगतानां गत्यादीनां मार्गणानां च विशेषतोऽनवगतानामिच्छातः आधाराधेयभावो भवतीति नोभयवाक्ययोर्विरोधः ।

इन गुणस्थानोका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये यहा पर उनका स्वरूप पुन. नहीं कहते हैं ।

शंका— जिनमे अथवा जिनके द्वारा जीवोका अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं । इस प्रकार पहले मार्गणा शब्दकी निरुक्ति कह आये हैं । और आर्षमे तो इतने गुण-स्थानोमे नारकी होते हैं, इतनेमे तिर्यञ्च होते हैं, इतनेमे मनुष्य होते हैं और इतनेमे देव होते हैं, इस प्रकार गुणस्थानोमे मार्गणाओका अन्वेषण किया जा रहा है । इसलिये उक्त प्रकारसे मार्गणाकी निरुक्ति करना आर्षविरुद्ध है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'नरकगतिमे नारकियोमे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणसे कितने हैं', इत्यादि रूपसे भगवान् भूतबलि भट्टारकके मुख-कमलसे निकले हुए गुणस्थानोका अवलम्बन लेकर संख्या आदिके प्रतिपादक सूत्रोके आश्रयसे उक्त निरुक्तिका अवतार हुआ है ।

शंका— तो भूतबलि और पुष्पदन्तके इन वचनोमे विरोध क्यों न माना जाय ?

समाधान— उनके वचनोमे विरोध नहीं है । यदि पूछो किस प्रकार ? तो आगे इसी वातका निरूपण करते हैं । असिद्धके द्वारा अथवा असिद्धमे असिद्धका अन्वेषण करना तो सभव नहीं है, क्योंकि, इसतरह अन्वेषण करनेमे तो विरोध आता है । उसीप्रकार सिद्धमे सिद्धका अन्वेषण करना भी उचित नहीं है, क्योंकि, सिद्धमे सिद्धका अन्वेषण करने पर कोई फल नहीं है । इसलिये स्वरूप-सामान्यकी अपेक्षासे सिद्ध, किन्तु गुण-सत्त्व अर्थात् गुणस्थान, द्रव्यसंख्या आदि विशेषरूपसे असिद्ध

अतीतसूत्रोक्तार्थविशेषप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया

त्ति ॥ २९ ॥

एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । प्रभृतिरादिः, एकेन्द्रियान् प्रभृति कृत्वा, अध्याहृतेन कृत्वेत्यनेनाभिसम्बन्धादस्य नपुंसकता । असंज्ञिनश्च ते पञ्चेन्द्रियाश्च असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । यत्परिमाणमस्येति यावत् । यावदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः शुद्धास्तिर्यञ्चः । किमित्येतदुच्यत इति चेन्न, अन्यथामुष्यां गतावेकेन्द्रियादयोऽसंज्ञि-पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः वर्तन्त इत्यवगमोपायाभावतस्तदवजिगमयिषायै एतत्प्रतिपादनात् ।

असाधारणतिरश्चः प्रतिपाद्य साधारणतिरश्चां प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

जीवोका तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिकोटिसे परिणमनशील अनादि-कालीन बन्धनसे बधे हुए, तथा ज्ञान और दर्शन लक्षण स्वरूप आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि अन्यथा हो नहीं सकती है, इसलिये सामान्यरूपसे जानी गई और विशेषरूपसे नहीं जानी गई ऐसी गति आदि मार्गणाओका इच्छासे आधार-आधेयभाव बन जाता है । अर्थात् जब गुणस्थान विवक्षित होते हैं तब वे आधार-भावको प्राप्त हो जाते हैं और मार्गणाएँ आधेयपनेको प्राप्त होती हैं । उसीप्रकार जब मार्गणाएँ विवक्षित होती हैं तब वे आधारभावको प्राप्त हो जाती हैं और गुणस्थान आधेय-पनेको प्राप्त होते हैं । इसलिये भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्योंके वचनोमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये ।

विशेषार्थ— वहाँ पर आचार्य पुष्पदन्तने गुणस्थानोंको आधार बनाकर मार्गणाओका प्रतिपादन किया है तथा आचार्य भूतबलिने आगे मार्गणाओका आधार बनाकर गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया है । अतः दोनोंके कथनमें कोई विरोध नहीं है ।

अब पूर्व सूत्रोंमें कहे गये अर्थके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यंच हैं ॥ २९ ॥

जिनके एक ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं । प्रभृतिका अर्थ आदि है । 'एकेन्द्रियको आदि करके' इस प्रकारके अर्थमें, अध्याहृत 'कृत्वा' इस पदके साथ 'एकेन्द्रिय-प्रभृति' इस पदका संबन्ध होनेसे इस पदको नपुंसक-लिंग कहा है । जो असंज्ञी होते हुए पंचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असंज्ञी-पंचेन्द्रिय कहते हैं । जिसका जितना परिमाण होता है, उसके उस परिमाणको प्रगट करनेके लिये 'यावत्' शब्दका प्रयोग होता है । इसप्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यंच होते हैं ।

शंका— इस प्रकारका सूत्र क्यों कहा ?

तिरिक्खा मिस्सा सण्णि-मिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव संजदा-
संजदा रि ॥ ३० ॥

संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत्संयतासंयतास्तावत्तिर्यञ्चो मिश्राः । न
तिरश्चामन्यैः सह मिश्रणमवगम्यते । कथं ? न तावत्संयोगोऽस्यार्थः, तस्योपरितन-
गुणेष्वपि सत्त्वात् । नैकत्वापत्तिरर्थः, द्वयोरेकस्याभावतो द्वित्वादिनिबन्धनमिश्रता-
नुपपत्तेरिति ? न प्रथमविकल्पः, अनभ्युपगमात् । न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि,
गुणकृतसादृश्यमाश्रित्य तिरश्चां 'मनुष्यगतिजीवैर्मिश्रभावाभ्युपगमात् । तद्यथा-
मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिगुणैर्गतित्रयगतजीव-
साम्यात्तैस्ते मिश्राः, संयमासंयमगुणेन मनुष्यैः सह साम्यात्तिर्यञ्चो मनुष्यैः सहैकत्व-

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि उक्त सूत्र नहीं कहते तो 'इस (तिर्यंच) गतिमे ही
एकेन्द्रियको आदि लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियतकके जीव होते हैं' इस बातके जाननेके लिये कोई
दूसरा उपाय नहीं था । अतः उक्त बातको जतानेके लिये ही उक्त सूत्रका प्रतिपादन किया
गया है ।

असाधारण (शुद्ध) तिर्यंचोका प्रतिपादन कर अब साधारण (मिश्र) तिर्यंचोके
प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

संज्ञी-पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत-गुणस्थानतक तिर्यंच मिश्र होते हैं ॥ ३० ॥

संज्ञी-मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक तिर्यंच मिश्र है ।

शंका— तिर्यंचोका किसी भी गतिवाले जीवोके साथ मिश्रण समझमे नहीं आता,
क्योंकि, इस मिश्रणका अर्थ संयोग तो हो नहीं सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ अन्य गतिवाले
जीवोके साथ संयोग ही लिया जाय, तो ऐसा संयोग तो छटवें आदि ऊपरके गुणस्थानोमें भी
पाया जाता है । और दो वस्तुओका एकरूप हो जाना भी इस मिश्रणका अर्थ नहीं हो सकता
है ? यदि मिश्रणका अर्थ दो वस्तुओका एकरूप हो जाना ही माना जाय, तो जब भिन्न भिन्न
सत्तावाले दो पदार्थ एकरूप होंगे, तब दोमेसे किसी एकका अभाव हो जानेसे द्वित्वादिके
निमित्तसे पैदा होनेवाली मिश्रता नहीं बन सकती है ?

समाधान— प्रथम विकल्पसंबन्धी दोष तो यहां पर लागू हो नहीं सकता, क्योंकि,
यहां पर मिश्र शब्दका अर्थ दो पदार्थोंके संयोगरूप स्वीकार नहीं किया है । उसीतरह दूसरे
विकल्पमे दिया गया दोष भी यहां पर लागू नहीं होता है, क्योंकि, यहां पर गुणकृत समानताकी
अपेक्षा तिर्यंचोका मनुष्यगतिके जीवोके साथ मिश्रभाव स्वीकार किया है । आगे इसीको स्पष्ट
करते हैं—

मापन्ना इति ततो न दोषः । स्यान्मतं, गतिनिरूपणायामियन्तो गुणाः अस्यां गतौ सन्ति न सन्तीति निरूपणायाम्' एव अवसीयते, अस्याः गत्याः अनया गत्या हस गुणद्वारेण योगोऽस्ति नास्तीति, ततः पुनरिदं निरूपणमनर्थकमिति ? न, तस्य दुर्मेधसामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात् । 'प्रतिपाद्यस्य बुभुत्सितार्थविषयनिर्णयोत्पादनं वक्तृवचसः फलम्' इति न्यायात् । अथवा न तिरश्चां मिथ्यात्वादिर्मनुष्यादि-मिथ्यात्वादिभिः समानः, तिर्यङ्मनुष्यादिव्यतिरिक्तमिथ्यात्वादेरभावात् । नापि तिर्यगादीनामेकत्वम्, चतुर्गतेरभावप्रसङ्गात् । न चाभावः, मनुष्येभ्यो व्यतिरिक्त-तिरश्चासुपलम्भादिति पर्यायनयैकान्तावष्टम्भनबलेन केचिद् विप्रतिपन्नाः । न मिथ्यात्वादयः पर्यायाः जीवद्रव्याद्भिन्नाः, कोषादसेरिव तेषां तस्मात्पृथगनुपलम्भादस्येमे

तिर्यचोकी मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और असंयतसम्यग्दृष्टि-रूप गुणोकी अपेक्षा तो तीन गतिमे रहनेवाले जीवोके साथ समानता है, इसलिये तीन गति-वाले जीवोके साथ तिर्यच जीव चौथे गुणस्थानतक मिश्र कहलाते हैं । और संयमासंयम गुणकी अपेक्षा तिर्यचोकी मनुष्योंके साथ समानता होनेसे तिर्यच मनुष्योंके साथ एकत्वको प्राप्त हुए हैं । इसलिये पाचवे गुणस्थानतक मनुष्योंके साथ तिर्यचोको मिश्र कहनेमे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

शका— गति-मार्गणाकी प्ररूपणा करने पर 'इस गतिमे इतने गुणस्थान होते हैं, और इतने नहीं' इसप्रकारके निरूपण करनेसे ही यह जाना जाता है कि इस गतिकी इस गतिके साथ गुणस्थानोकी अपेक्षा समानता है, इसकी इसके साथ नहीं । इसलिये फिरसे इसका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अल्पबुद्धिवाले शिष्योंको भी विषयका स्पष्टीकरण हो जावे, इसलिये इस कथनका यहा पर निरूपण किया है, क्योंकि, शिष्योंको जिज्ञासित-अर्थ संबन्धी निर्णय उत्पन्न करा देना ही वक्ताके वचनोका फल है, ऐसा न्याय है ।

अथवा, तिर्यचोके मिथ्यात्वादि भाव मनुष्यादि तीन गतिसंबन्धी जीवोके मिथ्यात्वादि भावोंके समान नहीं हैं, क्योंकि, तिर्यच और मनुष्यादिको छोड़कर मिथ्यात्वादि भावोका स्वतन्त्र सङ्भाव नहीं पाया जाता है । इसलिये जब कि तिर्यचादिकोमे परस्पर भेद है, तो तदाश्रित भावोमे भी भेद होना संभव है । यदि कहा जाय कि तिर्यचादिकोमे परस्पर एकता अर्थात् अभेद है, सो भी कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि, तिर्यचादिकोमे परस्पर अभेद माननेपर चारो गतियोंके अभावका प्रसंग आ जायगा । परंतु चारो गतियोंका अभाव माना नहीं जा सकता क्योंकि, मनुष्योंसे अतिरिक्त तिर्यचोकी उपलब्धि होती है । इसप्रकार पर्यायाधिकन्यको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग-विवादग्रस्त हैं । इसीप्रकार मिथ्यात्वादि पर्यायों जीवद्रव्यसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि, जिसप्रकार तरवार म्यानसे भिन्न

इति सम्बन्धानुपपत्तेश्च । ततस्तस्मात्तेषामभेदः । तथा च न गतिभेदो नापि गुणभेदः इति द्रव्यनयैकान्तावष्टम्भनवलेन केचिद्विप्रतिपन्नास्तदभिप्रायकदर्थनार्थं वास्य सूत्रस्यावतारः । नाभिप्रायद्वयं घटते, तथाप्रतिभासनात् । न च प्रमाणाननुसार्य-भिप्रायः साधुः, अव्यवस्थापत्तेः । न च जीवाद्वैते द्वैते वा प्रमाणमस्ति, कृत्स्नस्यैकत्वा-द्देशादेरिव सत्तातोऽप्यन्यतो भेदात् । न प्रमेयस्यापि सत्त्वम्, अपेक्षितप्रमाणव्यापारस्य तस्य प्रमाणाभावे सत्त्वायोगात् । प्रमाणं वस्तुनो न कारकमतो न तद्विनाशाद्वस्तु-विनाश इति चेन्न, प्रमाणाभावे वचनाभावतः सकलव्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात् । अस्तु

उपलब्ध होती है, उसप्रकार मिथ्यात्वादिककी जीवद्रव्यसे पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । और यदि भिन्न मान ली जावे तो ये मिथ्यात्वादिक पर्यायों इस जीव-द्रव्यकी हैं, इसप्रकार संबन्ध नहीं बनता है । इसलिये इन मिथ्यात्वादिक पर्यायोका जीव-द्रव्यसे अभेद हैं । इस प्रकार जब मिथ्यात्वादिक पर्यायोका जीवसे भेद सिद्ध नहीं होता है, तो गतियोका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है और न गुणस्थानोका भेद ही सिद्ध होता है । इसप्रकार केवल द्रव्यार्थिक नयको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग विवादमे पड़े हुए हैं । इसलिये इन दोनों एकान्तियोंके अभिप्रायके खण्डन करनेके लिये तिरिक्का मिस्सा ' इत्यादि प्रकृत सूत्रका अवतार हुआ है । उक्त दोनों प्रकारके एकान्तरूप अभिप्राय घटित नहीं होते हैं, क्योंकि, सर्वथा एकान्तरूपसे वस्तु-स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है । और प्रमाणसे प्रतिकूल अभिप्राय ठीक नहीं माना जा सकता, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था प्राप्त हो जावेगी । तथा जीवाद्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा अभेद), या जीव-द्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा भेद) के माननेमे कोई प्रमाण नहीं है । यदि जीव-अद्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो नरक तिर्यच आदि सभी पर्यायोंको एकताकी आपत्ति आ जाती है । और यदि जीव-द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो देशभेद आदिकी तरह सत्तासे वस्तुका भेद मान लेने पर वस्तुका सत्तासे भी भेद सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार द्वैतवाद या अद्वैतवादमे प्रमाण नहीं मिलनेसे प्रमेयका भी सत्त्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि, प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले प्रमेयका प्रमाणके अभावमे सद्भाव नहीं बन सकता है ।

शंका— प्रमाण वस्तुका कारक (उत्पादक) नहीं है, इसलिये प्रमाणके विनाशसे वस्तुका विनाश नहीं माना जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रमाणके अभाव होनेपर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और उसके विना सपूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है ।

शंका— यदि लोकव्यवहार विनाशको प्राप्त होता है, तो हो जाओ ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर वस्तु-विषयक विधि-प्रतिषेधका भी अभाव प्राप्त हो जायगा ।

चेन्न, वस्तुविषयविधिप्रतिषेधयोरप्यभावासञ्जनात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । ततो विधिप्रतिषेधात्मकं वस्त्वित्यङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथोक्तदोषानुषङ्गात् । ततः सिद्धं गुणद्वारेण जीवानां सादृश्यं विशेषरूपेणासादृश्यमिति । गुणस्थानमार्गणासु जीवसमासान्वेषणार्थं वा ।

इदानीं मनुष्याणां गुणद्वारेण सादृश्यासादृश्यप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा रि ॥३१॥

आदितश्चतुर्षु गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिर्गुणैस्त्रिगति-जीवैः समानाः, संयमासंयमेन तिर्यग्भिः ।

तेण परं सुद्धा मणुस्सा ॥ ३२ ॥

शेषगुणानां मनुष्यगतिव्यतिरिक्तगतिष्वसम्भवाच्छेषगुणा मनुष्येष्वेव सम्भवन्ति, उपरितनगुणैर्मनुष्याः न कैश्चित्समाना इति यावत् । देवनरकगत्यो

शका— यह भी हो जाओ ?

समाधान— ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, वस्तुका विधि-प्रतिषेधरूप व्यवहार देखा जाता है । इसलिये विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु स्वीकार कर लेना चाहिये । अन्यथा पूर्वमे कहे हुए सपूर्ण दोष प्राप्त हो जावेगे । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि गुणोकी मुख्यतासे जीवोके परस्पर समानता है, और विशेष (गुणभेद) की मुख्यतासे परस्पर भिन्नता है ।

अथवा, गुणस्थानों और मार्गणाओमे जीवसमासोके अन्वेषण करनेके लिये यह सूत्र रचा गया है ।

अब मनुष्योकी गुणस्थानोके द्वारा समानता और असमानताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टियोसे लेकर संयतासंयततकके मनुष्य मिश्र है ॥ ३१ ॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर चार गुणस्थानोमे जितने मनुष्य हैं वे मिथ्यात्वादि चार गुणस्थानोकी अपेक्षा तीन गतिके जीवोके साथ समान हैं और संयमासंयमगुणस्थानकी अपेक्षा तिर्यचोके साथ समान हैं ।

पांचवे गुणस्थानसे आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य हैं ॥ ३२ ॥

प्रारम्भके पांच गुणस्थानोको छोड़कर शेष गुणस्थान मनुष्यगतिके बिना अन्य तीन गतियोमे नहीं पाये जाते हैं, इसलिये शेष गुणस्थान मनुष्योमे ही संभव हैं । अतः छटवे आदि ऊपरके गुणस्थानोकी अपेक्षा मनुष्य अन्य तीन गतिके किन्हीं जीवोके साथ समानता नहीं रखते हैं । यह इस सूत्रका तात्पर्य समझना चाहिये ।

सादृश्यमसादृश्यं वा किमिति नोक्तमिति चेन्न, आभ्यामेव प्ररूपणाभ्यां मन्दमेधसामपि तदवगमोत्पत्तेरिति ।

इन्द्रियमार्गणायां गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया वीइंदिया तीइंदिया
चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥

इन्द्रनादिन्द्रः आत्मा, तस्येन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम्^१ । तद् द्विविधम्, द्रव्येन्द्रियं^२ भावेन्द्रियं^३ चेति । निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्,^४ निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः, कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्यपदिश्यते^५ ।

शंका— देव और नरकगतिके जीवोकी अन्य गतिके जीवोके साथ समानता और असमानताका कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान— अलग कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, तिर्यच और मनुष्यसंबन्धी प्ररूपणाओके द्वारा ही मन्दबुद्धि जनोको भी देव और नारकियोकी दूसरी गति-वाले जीवोके साथ सदृशता और असदृशताका ज्ञान हो जाता है ।

अब इन्द्रियमार्गणामे गुणस्थानोके अन्वेषणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव हैं ॥ ३३ ॥

इन्द्रन अर्थात् ऐश्वर्यशाली होनेसे यहां इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, और उस इन्द्रके लिंग (चिन्ह) को इन्द्रिय कहते हैं । अथवा जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची जावे उसे इन्द्रिय कहते हैं । वह इन्द्रिय दो प्रकारकी है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । जो निर्वृत्त होती है अर्थात् कर्मके द्वारा रची जाती है उसे निर्वृत्ति कहते हैं । बाह्य-निर्वृत्ति और आभ्यन्तर-निर्वृत्तिके भेदसे वह निर्वृत्ति दो प्रकारकी हैं । उनमे, प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियोके आकाररूपसे परिणत हुए लोकप्रमाण अथवा उत्सेधांगुलके असंख्यातवे भागप्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशोकी रचनाको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं ।

१ इन्द्रतीति इन्द्र आत्मा, तस्य जस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिनिमित्तं लिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते । अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिंगम् । आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाविगमे लिंगमिन्द्रियम् । अथवा 'इन्द्र' इति नामकर्मोच्यते, तेन सृष्टमिन्द्रियमिति ।

स सि १, १४

२ जातिनामकर्मोदयमहकारि देहनामकर्मोदयजनित निर्वृत्युपकरणरूप देहचिन्ह द्रव्येन्द्रियम् ।

गो जी, जी प्र, टी १६५

३ भाव चित्परिणाम, तदात्मकमिन्द्रिय भावेन्द्रियम् । गो जी, जी प्र, टी १६५

४ त सू २, १७

५ मु रित्युपदिश्यते । त रा वा पृ ९०

सा निर्वृत्तिर्द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र लोकप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानामुत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः^१ ।

आह, चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां क्षयोपशमो हि नाम स्पर्शनेन्द्रियस्येव किमु सर्वात्मप्रदेशेषु जायते, उत प्रतिनियतेष्विति ? किं चातः, न सर्वात्मप्रदेशेषु, स्वसर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । न प्रतिनियतात्मावयवेषु वृत्तिः,^२ ' सिया द्विया, सिया अद्विया, सिया द्वियाद्विया ' इति वेदनासूत्रे-तोऽवगतभ्रमणेषु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु सर्वजीवानामान्ध्यप्रसङ्गादिति । नैष दोषः,

शंका— जिस प्रकार स्पर्शन-इन्द्रियका क्षयोपशम संपूर्ण आत्मप्रदेशोमे उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोका क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्मप्रदेशोमे उत्पन्न होता है, या प्रतिनियत आत्मप्रदेशोमे ? आत्माके संपूर्ण प्रदेशोमें क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर आत्माके संपूर्ण अवयवोसे रूपादिककी उपलब्धिका प्रसंग आ जायगा । यदि कहा जाय, कि संपूर्ण अवयवोसे रूपादिककी उपलब्धि होती ही है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सर्वांगसे रूपादिका ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता । इसलिये सर्वांगमे तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता है । और यदि आत्माके प्रतिनियत अवयवोमे चक्षु आदि इन्द्रियोकी वृत्ति मानी जाय, तो भी कहना नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर ' आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं और चलाचल भी हैं ' इस प्रकार वेदनाप्राभृतके सूत्रसे आत्मप्रदेशोका भ्रमण अवगत हो जाने पर, जीवप्रदेशोकी भ्रमणरूप अवस्थामे संपूर्ण जीवोंको अन्धपनेका प्रसंग आ जायगा, अर्थात् उस समय चक्षु आदि इन्द्रियां रूपादिको ग्रहण नहीं कर सकेगी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके संपूर्ण प्रदेशोमें क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है । परंतु ऐसा मान लेने पर भी, जीवके संपूर्ण प्रदेशोके द्वारा रूपादिकी उपलब्धिका प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, रूपादिके ग्रहण करनेमे उसके सहकारी कारणरूप बाह्य-निर्वृत्ति जीवके संपूर्ण प्रदेशोमे नहीं पाई जाती है ।

१ उत्पन्नाङ्गुलसंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । स सि २, १७ त रा वा २ १७

२ मु वृत्ते ।

३ वे वे मू ५-७ स्थितास्थितवचनात् । × × तत्र सर्वकाल जीवाष्टमध्यमप्रदेशा निरपवादा सर्वजीवानां स्थिता एव । केवलिनामपि अयोगिना सिद्धानां च सर्वप्रदेशा स्थिता एव । व्यायामदु खपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमव्यप्रदेशवर्जितानां इतरे प्रदेशा अस्थिता एव । शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्चेति वचनात् । त रा वा ५ ८ १४

सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि, तत्सहकारिकारणवाह्यनिर्वृत्तेरशेषजीवावयवव्यापित्वाभावात् । कर्मस्कन्धैः सह सर्वजीवावयवेषु भ्रमत्सु तत्समवेतशरीरस्यापि तद्वद्भ्रमो भवेदिति चेन्न, तद्भ्रमणावस्थायां तत्समवायाभावात् । शरीरेण समवायाभावे मरणमाढौकत इति चेन्न, आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात् । पुनः कथं संघटत इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीवप्रदेशानां पुनः संघटनोपलम्भात्, द्वयोर्मूर्तयोः संघटने विरोधाभावाच्च, तत्संघटनहेतु-कर्मोदयस्य कार्यवैचित्र्यादवगतवैचित्र्यस्य सत्त्वाच्च । द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न

विशेषार्थ— यहाँ अभ्यन्तर-निर्वृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतला आये हैं । प्रथम, लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है । दूसरे, उत्सेधा-गुलके असंख्यातवे भागप्रमाण आत्मप्रदेशोकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है । इस प्रकार अभ्यन्तर निर्वृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतलानेका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि स्पर्शन-इन्द्रिय सर्वांग होती है, इसलिये स्पर्शनेन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति भी सर्वांग होगी । इस अपेक्षासे लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोकी इन्द्रियाकार रचना अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है, यह कथन बन जाता है । और शेष इन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवे भाग-प्रमाण बन जाती है । अथवा, 'सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्' अर्थात् जीवके संपूर्ण अवयवोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है, यहाँ कहे गये इस वचनके अनुसार प्रत्येक इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम सर्वांग होता है, इसलिये पांचो इन्द्रियोंकी अभ्यन्तर निर्वृत्ति सर्वांग होना संभव है । किंतु इतनी विशेषता समझ लेना चाहिये कि स्पर्शनेन्द्रियकी अभ्यन्तर निर्वृत्तिको छोड़कर शेष इन्द्रियसंबन्धी अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुलके असंख्यातवे भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंमें ही व्यक्त होती है ।

शंका— कर्मस्कन्धोके साथ जीवके संपूर्ण प्रदेशोके भ्रमण करने पर, जीवप्रदेशोसे समवायसंबन्धकी प्राप्त शरीरका भी जीवप्रदेशोके समान भ्रमण होना चाहिये ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवप्रदेशोकी भ्रमणरूप अवस्थामे शरीरका उनसे समवायसंबन्ध नहीं रहता है ।

शंका— भ्रमणके समय शरीरके साथ जीवप्रदेशोका समवायसंबन्ध नहीं मानने पर मरण प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आयु-कर्मके क्षयको मरणका कारण माना है ।

शंका— तो जीवप्रदेशोका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध कैसे बन जाता है ?

समाधान— इसमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने नाना अवस्थाओंका उपसहार कर लिया है, ऐसे जीवोके प्रदेशोका शरीरके साथ फिरसे समवायसंबन्ध उपलब्ध होता हुआ देखा ही जाता है । तथा, दो मूर्त पदार्थोंके संबन्ध होनेमें कोई विरोध भी नहीं आता है । अथवा, जीवप्रदेश और शरीर संघटनके हेतुरूप कर्मोदयके कार्यकी विचित्रतासे यह

भ्रमणमिति किञ्चेष्यत इति चेन्न, तद्भ्रमणमन्तरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्या-
दिदर्शनानुपपत्तेः इति । तेष्व्वात्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो
नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स बाह्या निर्वृत्तिः' । मसूरिकाकारा
अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य बाह्या निर्वृत्तिः । यवनालिकाकारा
अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य बाह्या निर्वृत्तिः । अतिमुक्तकपुष्पसंस्थाना
अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्तिः । अर्धचन्द्राकारा क्षुरप्राकारा बाङ्गुलस्य

सब होता है । और जिसके अनेक प्रकारके कार्य अनुभवमें आते हैं ऐसे कर्मका सत्त्व पाया ही
जाता है ।

शंका— द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं
मान लेते हो ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोका भ्रमण नहीं माना
जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान
नहीं हो सकता है । इसलिये आत्मप्रदेशोके भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशोका
भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिये ।

इस तरह इन्द्रिय-व्यपदेशको प्राप्त होनेवाले उन आत्मप्रदेशोंमें, जो प्रतिनियत
आकारवाला और नामकर्मके उदयसे अवस्था-विशेषको प्राप्त पुद्गलप्रचय है उसे बाह्य-निर्वृत्ति
कहते हैं । मसूरके समान आकारवाली और घनाङ्गुलके असंख्यातवेभाग-प्रमाण चक्षु इन्द्रियकी
बाह्य-निर्वृत्ति होती है । यवकी नालीके सामान आकारवाली और घनाङ्गुलके असंख्यातवे
भाग-प्रमाण श्रोत्र-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है । कदम्बके फूलके समान आकारवाली और
घनाङ्गुलके असंख्यातवे भाग-प्रमाण घ्राण-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है । अर्ध-चन्द्र अथवा
खुरपाके समान आकारवाली और घनाङ्गुलके असंख्यातवे भागप्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य-
निर्वृत्ति होती है । स्पर्शन-इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति अनियत आकारवाली होती है । वह जघन्य-
प्रमाणकी अपेक्षा घनाङ्गुलके असंख्यातवे भाग-प्रमाण सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके (तीन
मोडेसे-ऋजुगतिसे उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पाई जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी
अपेक्षा संख्यात घनाङ्गुल-प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवोके शरीरमें पाई जाती है । चक्षु-
इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम है । उनसे सख्यातगुणे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश है । उनसे
अधिक घ्राण-इन्द्रियके प्रदेश है । उनसे असंख्यात गुणे जिह्वा-इन्द्रियमें प्रदेश है । और उनसे
सख्यातगुणे स्पर्शन-इन्द्रियमें प्रदेश है ।

विशेषार्थ— यहाँ इन्द्रियोकी अवगाहना बतला कर जो चक्षु आदि इन्द्रियोके
प्रदेशोका प्रमाण बतलाया गया है, वह इन्द्रियोकी अवगाहनाके तारतम्यका ही बोधक जानना
चाहिये । अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अपनी अवगाहनासे जितने आकाश-प्रदेशोको रोकती है, उससे

संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः । स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियतसंस्थाना । सा जघन्येन अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता सूक्ष्मशरीरेषु, उत्कर्षेण संख्येयघनाङ्गुलप्रमिता महा-
मत्स्यादित्रसजीवेषु^१ । सर्वतः स्तोकाश्चक्षुषः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः,
घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येयगुणाः^२ ।
उक्तं च—

जव-णालिया मसूरी चदद्वइमुत्त-फुल्ल-तुल्लाइ ।

इदिय-सठाणाइ पस्स पुण णेय-सठाण^३ ॥ १३४ ॥

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् । तद्
द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम् । बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्म-
द्वयादि । एवं शेषेण्विन्द्रियेषु^४ ज्ञेयम्^५ । लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्^६ । इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः

संख्यातगुणे आकाश-प्रदेशोको व्याप्त कर श्रोत्रेन्द्रिय रहती है । उससे विशेष अधिक आकाश-
प्रदेशोको घ्राण-इन्द्रिय व्याप्त करती है । उससे असंख्यातगुणे आकाशप्रदेशोको व्याप्त कर
जिह्वा-इन्द्रिय रहती है और उससे संख्यातगुणे आकाश-प्रदेशोको व्याप्त कर स्पर्शन इन्द्रिय
रहती है । गोमट्टसार जीवकाण्डकी 'अगुलअसंखभाग' इत्यादि गाथासे इसी कथनकी पुष्टि
होती है । अवगाहनाके समान इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामे भी यह क्रम लागू हो सकता
है । परंतु राजवार्तिकमे 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए रसना-
इन्द्रियसे स्पर्शन-इन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं । यह कथन इन्द्रियोकी अव-
गाहना और इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोकी रचनामे किसी भी प्रकारसे घटित नहीं होता है,
क्योंकि, एक जीवके अवगाहनरूप क्षेत्र और आत्मप्रदेश अनन्तप्रमाण या अनन्तगुणे सभव ही
नहीं हो सकते । सभव है वहां पर बाह्यनिर्वृत्तिके प्रदेशोकी अपेक्षासे उक्त कथन किया गया हो ।
कहा भी है—

श्रोत्र-इन्द्रियका आकार यवकी नालीके समान है, चक्षु-इन्द्रियका मसूरके समान,
रसना-इन्द्रियका आघे चन्द्रमाके समान, घ्राण-इन्द्रियका कदम्बके फूलके समान आकार है और
स्पर्शन-इन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ १३४ ॥

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, अर्थात् जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे
उपकरण कहते हैं । वह बाह्य-उपकरण और अभ्यन्तर-उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है । उनमेसे
कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र-इन्द्रियका अभ्यन्तर-उपकरण है, और दोनों पलके तथा दोनों

१ सुहुमणिगोदअप ज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयन्हि । अगुलअसंखभाग जहण्णमुक्कस्सय
मच्छे ॥ गो जी १७३ २ 'स्पर्शनेऽनन्तगुणा' इति पाठ त रा वा २ १९ ५

३ प्रा प १, ६६ । चक्खू सोद घाण जिब्भायार मसूरजवणाली । अतिमुत्तखुरप्पसम फास तू
अण्येयसठाण ॥ गो जि १७१ ४ मु शेषेन्द्रियेषु ।

५ पाठोऽथ त रा वा २ १७ वा ५-७ व्याख्यया समान । ६ त सू २ १८.

क्षयोपशमविशेषो लब्धिः^१ । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते । तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमानः आत्मनः परिणामः उपयोग^२ इत्यपदिश्यते । तदेतदुभयं भावेन्द्रियम् । उपयोगस्य^३ तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः । कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं, यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति । तथेन्द्रियनिर्वृत्त

नेत्ररोम (बरोनी) आदि उसके बाह्य-उपकरण हैं । इसी प्रकार शेष इन्द्रियोमे जानना चाहिये ।

लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं । इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम-विशेष है उसे लब्धि कहते हैं । अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामे व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषको लब्धि कहते हैं । और उस पूर्वोक्त निमित्तके आलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं । इसप्रकार लब्धि और उपयोग ये दोनो भावेन्द्रियां हैं ।

शंका— उपयोग इन्द्रियोका फल है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कारणमे रहनेवाले धर्मकी कार्यमे अनुवृत्ति होती है । अर्थात् कार्य लोकमे कारणका अनुकरण करता हुआ देखा जाता है । जैसे, घटके आकारसे परिणत हुए ज्ञानको घट कहा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियोसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी इन्द्रिय संज्ञा दी गई है ।

इन्द्र (आत्मा) के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । या जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं । इस प्रकार जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ किया जाता है, वह क्षयोपशममे प्रधानतासे पाया जाता है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा देना उचित है ।

उक्त प्रकारकी इन्द्रियकी अपेक्षा जो अनुवाद, अर्थात् आगमानुकूल कथन किया जाता है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं । उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव है । जिनके एक ही इन्द्रिय पाई

१ अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धि । लघी स्व वि १ ५ । गो जी, जी प्र, टी. १६५ लम्भन लब्धि । क पुनरमी ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेष । स सि २ १८ इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतु क्षयोपशमविशेषो लब्धि । त. रा वा २ १८ १ स्वार्थसविद्योग्यतैव च लब्धि । त ग्लो वा २ १८. आवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपा अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धि । म्या रत्ना पृ ३४४

२ अर्थग्रहणव्यापार उपयोग । गो जी, जी प्र, टी १६५ उपयोग पुन अर्थग्रहणव्यापार । लघी स्व वि १ ५ यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मन परिणाम उपयोग । स सि २ १८ । त रा वा २ १८ २ उपयोग प्रणिधानम् । त भा २ १९ उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापार । स्या रत्ना पृ ३४४

३ उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्ते । त रा-वा. २ १८ ३

उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपदिश्यते^१ । इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा य इन्द्रिय-
शब्दार्थः स क्षयोपशमे प्राधान्येन विद्यत इति तस्येन्द्रियव्यपदेशो न्याय्य इति । तेन
इन्द्रियेण अनुवादः इन्द्रियानुवादः, तेन सन्ति एकेन्द्रियाः । एकमिन्द्रियं येषां त
एकेन्द्रियाः । किं तदेकमिन्द्रियम् ? स्पर्शनम् । वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमा-
ङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात्स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं^२ करणकारके । इन्द्रियस्य स्वातन्त्र्य-
विवक्षायां कर्तृत्वं च भवति । यथा पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति स्पृशतीति स्पर्शनम् ।
कोऽस्य विषयः ? स्पर्शः । कोऽस्यार्थः ? उच्यते, यदा^३ वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा

जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका— वह एक इन्द्रिय कौनसी है ?

समाधान— वह एक इन्द्रिय स्पर्शन समझना चाहिये ।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके
उदयरूप आलम्बनसे जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं । यह लक्षण
करण-कारककी अपेक्षामें (परतन्त्र विवक्षामे) वनता है । और इन्द्रियकी स्वातन्त्र्यविवक्षामे
कर्तृ-साधन होता है । जैसे, पूर्वोक्त साधनोके रहने पर जो स्पर्श करता है उसे स्पर्शन-इन्द्रिय
कहते हैं ।

शंका— स्पर्शन-इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान— स्पर्शन-इन्द्रियका विषय स्पर्श है ।

शंका— स्पर्शका क्या अर्थ है ? अर्थात् स्पर्शसे किसका ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित
होती है, उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, वस्तुको छोड़कर
स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते हैं । इसलिये इस विवक्षामे जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श
कहते हैं, और वह स्पर्श वस्तुरूप ही पड़ता है । तथा जिस समय पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे
पर्याय विवक्षित होती है, उस समय पर्यायका द्रव्यसे भेद हीनेके कारण उदासीनरूपसे अवस्थित
भावका कथन किया जाता है । इसलिये स्पर्शमे भावसाधन भी वन जाता है । जैसे, स्पर्शना
ही स्पर्श है ।

शंका— यदि ऐसा है, तो सूक्ष्म परमाणु आदिमे स्पर्श व्यवहार नहीं वन सकता
है, क्योंकि, उसमे स्पर्शनरूप क्रियाका अभाव है ?

१ सन्दर्भोय त रा वा. २ १८ वा १-३ व्याख्यया समान ।

२ स सि २ १९ त रा वा २ १९

३ 'नैवान्तो जन्म सतो न नाशो' वृ स्व स्तो २४ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

इन्द्रियेण वस्त्वेव विषयीकृतं भवेद्, वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात् । एतस्यां विवक्षायां स्पृश्यत इति स्पर्शो वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा तस्य ततो भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वमप्यविरुद्धम्, यथा स्पर्शनं स्पर्श इति । यद्येवम्, सूक्ष्मेषु परमाण्वादिवु स्पर्शव्यवहारो न प्राप्नोति, तत्र तदभावात् ? नैष दोषः, सूक्ष्मेष्वपि परमाण्वादिव्वस्ति स्पर्शः, स्थूलेषु तत्कार्येषु तद्दर्शनान्यथानुपपत्तेः । नह्यत्यन्तासतां प्रादुर्भावोऽस्ति अतिप्रसङ्गात् । किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति । ग्रहणायोग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न तस्य सर्वदा अयोग्यत्वाभावात् । परमाणुगतः सर्वदा न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतो योग्यत्वो-

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म परमाणु आदिमे भी स्पर्श है, अन्यथा, परमाणुओके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमे स्पर्शकी उपलब्धि नहीं हो सकती थी । किन्तु स्थूल पदार्थोंमे स्पर्श पाया जाता है, इसलिये सूक्ष्म परमाणुओमे भी स्पर्शकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि, न्यायका यह सिद्धान्त है, कि जो अत्यंत (सर्वथा) असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है । यदि सर्वथा असत्की उत्पत्ति मानी जावे, तो अतिप्रसंग हो जायगा । (अर्थात् वांझके पुत्र, आकाशके फूल आदि अविद्यमान बातोंका भी प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा) इसलिये यह समझना चाहिये कि परमाणुओमे स्पर्शादिक पाये तो अवश्य जाते हैं, किन्तु वे इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं ।

शंका— जब कि परमाणुओमे रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तो फिर उसे स्पर्श संज्ञा कैसे दी जा सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण करनेकी अयोग्यताका सदैव अभाव नहीं है ।

शंका— परमाणुमे रहनेवाला स्पर्श तो इन्द्रियोद्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल कार्यरूपसे परिणत होते हैं, तब तद्गत धर्मोंकी इन्द्रियोद्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पाई जाती है ।

शंका— वे एकेन्द्रिय जीव कौन कौनसे हैं ?

समाधान— पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये पांच एकेन्द्रिय जीव हैं ।

शंका— इन पांचोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रियां नहीं होतीं, यह कैसे जाना ?

पलम्भात् । के त एकेन्द्रियाः ? पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतयः । एतेषां स्पर्शनमेकमेवेन्द्रिय-
मस्ति, न शेषाणीति कथमवगम्यत इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एत इति प्रतिपादका-
र्षोपलम्भात् । क्व तत्सूत्रमिति चेत् कथ्यते—

जाणदि पस्सदि भुजदि सेवदि पासिदिण्ण एक्केण ।

कुणदि य तस्सामित्थावरु एइदिओ तेण' ॥ १३५ ॥

‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इति तत्त्वार्थसूत्राद्वा । अस्यार्थः— ‘अयमन्तशब्दोऽन्ते-
कार्यवाचकः— क्वचिदवयवे, यथा वस्त्रान्तो वसनान्त इति । क्वचित्सामीप्ये, यथा
उदकान्तं गत, उदकसमीपं गत इति । क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः,
संसारवसानं गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसानार्थो वेदितव्यः, वनस्पत्यन्तानां
वनस्पत्यवसानानामिति । सामीप्यार्थः किन्न गृह्यते ? न, वनस्पत्यन्तानां वनस्पति-
समीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायानां त्रसकायानां च सम्प्रत्ययः प्रसज्येत ‘पृथि-

समाधान— नहीं, क्योंकि, पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन-इन्द्रियवाले होते
हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आर्ष-वचन पाया जाता है ।

शंका— यह आर्ष-वचन कहाँ पाया जाता है ?

समाधान— वह आर्ष-वचन यहाँ कहा जाता है—

क्योंकि, स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, भोगता
है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिये उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव
कहा है ॥ १३५ ॥

अथवा, ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ तत्त्वार्थसूत्रके इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक
स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है । अब इस सूत्रका अर्थ करते हैं, अन्त शब्द अनेक अर्थोंका वाचक है ।
कहीं पर अवयवरूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘वस्त्रान्तः’ अर्थात् वस्त्रका अवयव । कहीं पर
समीपताके अर्थमें आता है, जैसे ‘उदकान्तं गतः’ अर्थात् जलके समीप गया । कहीं पर अवसान-
रूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘संसारान्तं गतः’ अर्थात् संसारके अन्तको प्राप्त हुआ । उनमेंसे यहाँ
पर विवक्षासे अन्त शब्दका अवसानरूप अर्थ जानना चाहिये— वनस्पत्यन्त जीवोंके अर्थात्
वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है ।

शंका— ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इसमें आये हुए अन्त पदका ‘वनस्पतिके समीपवर्ती
जीवोंके एक स्पर्शन-इन्द्रिय होती है’ इस प्रकार सामीप्य-वाचक अर्थ क्यों नहीं लेते ?

समाधान— यदि ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इस सूत्रमें आये हुए अन्त शब्दका समीप

व्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः' इत्यत्र तयोरेव सामीप्यदर्शनात् । अयमन्तशब्दः सम्बन्धि-
शब्दत्वात् कांश्चित्पूर्वानपेक्ष्य वर्तते ततोऽर्थादादिसम्प्रत्ययो भवति तस्मादयमर्थोऽव-
गम्यते पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । एवमपि पृथिव्यादीनां
वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिष्वन्यतममेकमिन्द्रियं प्राप्नोत्यविशेषादिति चेन्नैष दोषः,
अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनः^१ 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि'^२ इत्यत्रतनप्राथम्य-
माश्रित इति । वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये
चैकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

द्वे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः । के ते ? शंखशुक्तिकृम्यादयः । उक्तं च—

कुक्खिकिम्-सिपि-सखा गंडूलारिट्ठ-अक्ख-खुल्ला य ।

तह य वराडय जीवा णेया वीइदिया एदे^३ ॥ १३६ ॥

— -- —

अर्थ लिया जाय तो उससे वायुकायिक और त्रसकायिकका ही ज्ञान होगा, क्योंकि, 'पृथिव्यप्ते-
जोवायुवनस्पतित्रसाः' इस वचनमे वायुकायिक और त्रसकायिक ही वनस्पतिके समीप दिखाई
देते हैं । यह अन्त शब्द संबन्धी शब्द होनेसे अपनेसे पूर्ववर्ती कितने ही शब्दोंकी अपेक्षा करके
प्रवृत्ति करता है, और इससे अर्थवश आदिका ज्ञान हो जाता है । उससे यह अर्थ मालूम पड़ता
है कि पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।

शंका— ऐसा मान लेने पर भी पृथिवीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके स्पर्शन
आदि पांच इन्द्रियोमेसे कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है, क्योंकि, 'वनस्पत्यान्तानामेकम्' इस
सूत्रमे आया हुआ एक पद स्पर्शन-इन्द्रियका बोधक तो है नहीं, वह तो सामान्यसे संख्यावाची
है, इसलिये पांच इन्द्रियोमेसे किसी एक इन्द्रियका ग्रहण किया जा सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह एक शब्द प्राथम्यवाची है, इसलिये
उससे 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' इस सूत्रमें आई हुई सबसे प्रथम स्पर्शन-इन्द्रियका ही
ग्रहण होता है ।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर, रसना आदि शेष
इन्द्रियावरणके सर्वधाती स्पर्धकोके उदय होनेपर तथा एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी
वशवर्तिताके होनेपर स्पर्शन एक इन्द्रिय उत्पन्न होती है ।

जिनके दो इन्द्रियां होती हैं उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका— वे द्वीन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान— शंख, शुक्ति और कृमि आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

के ते द्वे इन्द्रिय इति चेत् ? स्पर्शनरसने । स्पर्शनमुक्तलक्षणम् । भेदविवक्षायां वीर्यान्तरायरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाद्रसयत्यनेनेति रसनं करणकारके । इन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यविवक्षायां पूर्वोक्तहेतुसन्नियाने सति रसयतीति रसनं कर्तृकारके भवति । कोऽस्य विषयः ? रसः । कोऽस्यार्थः ? यदा वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा वस्तुव्यतिरिक्तपर्यायाभावाद्वस्त्वैव रसः । एतस्यां विवक्षायां

कुक्षि-कृमि अर्थात् पेटके कीड़े, सीप, शंख, गण्डोला अर्थात् उदरमें उत्पन्न होनेवाली बड़ी कृमि, अरिष्ट नामक एक जीवविशेष, अज अर्थात् चन्दनक नामका जलचर जीवविशेष, क्षुल्लक अर्थात् छोटा शंख और कौड़ी आदि द्वेन्द्रिय जीव हैं ॥ १३६ ॥

शंका— वे दो इन्द्रियां कौनसी हैं ?

समाधान—स्पर्शन और रसना । उनमेंसे स्पर्शनका स्वरूप कह आये हैं । अब रसना-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

भेद-विवक्षाकी प्रधानता अर्थात् करणकारककी विवक्षा होनेपर, वीर्यान्तराय और रसनेन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे जिसके द्वारा स्वादका ग्रहण होता है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं । तथा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य-विवक्षा अर्थात् कर्तृ-कारककी विवक्षामें पूर्वोक्त साधनोंके मिलनेपर जो आस्वाद ग्रहण करती है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका— रसना इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान— इस इन्द्रियका विषय रस है ।

शंका— रस शब्दका क्या अर्थ है ?

वा जीवा कुक्षिकृमय । गण्डोलका उदरान्तर्बृहत्कृमयः । जलचरजीवविशेषा चन्दनका, ते तु समयमापयाञ्छन्नेन प्रतीक्षा । वराट्क कपर्दकः, कौडीति मापयाम् । (गम्यान्तरेषु निम्नांकितनामानो जीवा अपि द्वेन्द्रियत्वेन प्रसिद्धाः) सख-वड्डय-गण्डोल-जलोय-चन्दणा-रस-लहगाई । मेहर-किमि-पूयरगा वेडदिय माइवाहाई । जलोय-जलौकस । छलसा भूनागा, छेज्जेल्यात्ये नानौ जलववृष्टी सत्या समुत्पद्यन्ते । लहको जीवविशेषो विषयप्रसिद्ध (उपितान्नोत्पन्नजीवः, देशीयव्योष्य) मेहरकः काष्ठकीटविशेष । पूयरगा-पूयरा जलान्तर्गतो रक्तवर्णः । वृषामृदा जीवाः । माइवाही-मातृवाहिना गुर्जरदेशप्रसिद्धा चुहेलीति आदिग्रहणा-नीलिम्बान्योन्मुक्ता अपि द्वेन्द्रिया ग्राह्या । जी वि प्र. पृ १०. निमिषो सोमगला चैव बलसा माइवाह्या । वासीमृदा य सिप्पिया सख सखणा तथा ॥ वल्लोयापुल्लया चैव तहेव य वराडगा । जलूगा चैव चन्दणा य तहेव य ॥ उक्त २८ १२१-१३० से कि व वेडदिया ? वेडदिया अोगविहा पत्रता । तं जहा, पुलकिमिया, कुच्छिनिमिया, गंडूपलगा, गोलोना, पटरा, सोमगला, वंसीमृदा, नुडमृदा गोलोया, जलोया, जालाडया, सखा, सन्दगा, बुल्ला, छुल्ला, गुल्लया, खवा, वराडा, सोत्तिया, मुत्तिया, ल्लूयावासा, एगओवत्ता, दुहओवत्ता, नंदियावत्ता संधुक्का माइवाहा, सिप्पिसंधुडा, चंदणा, समुद्धलिक्का, जे यावन्ने तहप्पगारा । प्रज्ञा १ ४४,

कर्मसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रसः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षित-
स्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं रसस्य, रसनं रस इति ।
न सूक्ष्मेषु परमाण्वादेषु रसाभावः, उक्तोत्तरत्वात् । कुत एतयोरुत्पत्तिरिति चेत्,
वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति^१ शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये
चाङ्गोपाङ्गनामलाभावपटम्भे द्वीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां
स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः ।

त्रीणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः । के ते ? कुन्थुमत्कुणादयः^२ । उक्तं च—

समाधान— जिस समय प्रधानरूपसे वस्तु विवक्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये वस्तु ही रस है । इस विवक्षामे रसके कर्मसाधन-पना है । जैसे, जो चखा जाय, वह रस है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये जो उदासीनरूपसे अवस्थित भाव है उसीका कथन किया जाता है । इस प्रकार रसके भावसाधनपना भी बन जाता है । जैसे, आत्वादनरूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं । सूक्ष्म परमाणु आदिमें रसका अभाव हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं ।

शंका— स्पर्शन और रसना इन दोनों इन्द्रियोकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन व रसनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने-पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोके उदय होनेपर, आंगोपांग नामकर्मका आल-म्बन होनेपर तथा द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता होनेपर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं ।

जिनके तीन इन्द्रियां होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका— वे तीन इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान— कुन्थु और खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ प्रवन्धोऽयं त रा वा २ १९-२०, वा १-१ व्याख्याभ्यां समान ।

२ से किं त तेइदिय-ससार-समावन्न-जीवपन्नवणा ? तेइदिय ससारसमावन्न-जीवपन्नवणा अणेगविहा पन्नत्ता । त जहा, ओवइया, रोहिणिया, कुथू, पिपीलिया, उद्दसगा, उद्देहिया, उक्कलिया, उप्पाया, उप्पाडा, तणाहारा, कट्ठाहारा, मालुया, पत्ताहारा, तणवेटिया, पत्तवेटिया, पुप्फवेटिया, फलवेटिया वीयवेटिया, तेवुरणमिजिया, तवोसिमिजिया, कप्पासट्ठिमिजिया, हिल्लिया, झिल्लिया, झिगिरा, किगिरिडा, बाहुया, लहुया, सुभगा, नोवत्थिया, सुयवेटा, इदकाइया, इदगोवया, तुरतुवगा, कुच्छलवाहगा, जूया, हालाहला,

कुंथु-पिपीलिक मंकुण-विच्छिन्न-जू इंदगोव-गोम्ही य ।

उत्तिगणद्वियादी^१ णेया तीइदिया जीवा^२ ॥ १३७ ॥

कानि तानि त्रीणीन्द्रियाणीति चेत्? स्पर्शनरसनघ्राणानि । स्पर्शनरसने उक्त-
लक्षणे । किं घ्राणमिति चेत् करणसाधनं घ्राणम् । कुतः ? पारतन्त्र्यादिन्द्रियाणाम् ।
ततो वीर्यान्तरायघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाज्जिघ्रत्यनेना-
त्मेति घ्राणम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायामिन्द्रियाणाम् । दृश्यते
चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, यथेदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु

कुंथु, पिपीलिका, खटमल, विच्छू, जू, इन्द्रगोप, कनखजूरा, गर्दमाकार कीटविशेष
तथा नट्टियादिक कीटविशेष, ये सब त्रीन्द्रिय जीव हैं ॥ १३७ ॥

शंका— वे तीन इन्द्रियाँ कौन कौन हैं ?

समाधान— स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं । इनमेसे स्पर्शन और
रसनाका लक्षण कह आये । अब घ्राण-इन्द्रियका लक्षण कहते हैं—

शंका— घ्राण किसे कहते हैं ?

समाधान— घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि, पारतन्त्र्यविवक्षामे इन्द्रियोंके करण-
साधन होता है । इसलिये वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग
नामकर्मके उदयके आलम्बनसे जिसके द्वारा सूँघा जाता है उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं । अथवा,
इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षामे घ्राण शब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी
स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है; यह मेरा
कान अच्छी तरह सुनता है । अतः पहले कहे हुए हेतुओंके मिलनेपर जो सूँघता है उसे
घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं ।

पिसूया, सयवाइया, गोम्ही, हत्थिसोडा, जे यावन्ने तहप्पगारा । प्रज्ञा १ ४५

१ मु उत्तिरगणद्वियादी ? णेया ।

२ प्रा ५ १, ७१। कुंथुपिपीलिके प्रतीते । मत्कुणवृश्चिकयूकेन्द्रगोपाश्चापि प्रसिद्धा एव ।
गोमीति गुल्मि कर्णशृंगाली (कनखजूरा इति हिन्दीभाषायाम्) विशेषपरिज्ञानायान्येऽपि त्रीन्द्रियजीवा
उल्लिख्यन्ते । गोमीमकुणजूआपिपीलउद्देहिया य मक्कोडा । इल्लियवयमिल्लीओ सावय गोकीडजाईओ ॥
गद्दहयचोरकीडागोमयकीडा य धन्नकीडा य । कुंथु गु (गो) वालिय डलिया तेइदिय इंदगोवाई ॥ उद्देहिया-
उपदेहिका वाल्मीक्य । इल्लिका धान्यादिपूत्पन्ना । ' धयमिल्लि ' ति घृतेल्लिका । ' सावयेति ' लोकभाषया
सावा, ते मनुष्याणामशुभोदकं प्राग् भाविनि कण्ठे शरीरकेशेषूत्पद्यन्ते । गोकीटका प्रतीता एव । जातिग्रहणेन
सर्वतिरश्चा कर्णाद्यवयवेषूत्पन्नाश्च जम्बुकचिच्चडादयो ग्राह्या । गद्दहय-गर्दभका (गोशालोत्पन्नजन्तव)
चोरकीटा, (विष्टोत्पन्नजन्तव) गोमयकीटाच्छगणोत्पन्ना । धान्यकीटा घुणत्वेन प्रसिद्धा । शेपाश्च स्वनाम-
सिद्धा । जी वि प्र पृ ११ कुंथुपिपीलउड्डसा उक्कलुद्देहिया तहा । तणहारकट्ट हारा य मालुरा पत्तहारगा ॥
कप्पासट्ठिमि जायति दुगा तउसमिजगा । सदावरी य गुम्पनी य वोवन्वा इन्दगाइया ॥ इन्दगोवगमाईया णेगहा
एवमायओ । उक्त ३६, १३८-१४०

शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति जिघ्रतीति घ्राणम् । कोऽस्य विषयः ? गन्धः । अयं गन्धशब्दः कर्मसाधनः । कुतः ? यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदा न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति । एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, गन्ध्यत इति गन्धो वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते, गन्धनं गन्ध इति । कुत एतेषामुत्पत्तिरिति चेत् ? वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे त्रीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाण्याविर्भवन्ति ।

चत्वारि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः । के ते ? मशकमक्षिकादयः ।
उक्तं च—

शंका— घ्राण-इन्द्रियका विषय क्या हैं ?

समाधान— इस इन्द्रियका विषय गन्ध है ।

यह गन्ध शब्द कर्मसाधन है, क्योंकि, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय द्रव्यसे भिन्न स्पर्शादिक कुछ भी नहीं रहते हैं, इसलिये इस विवक्षामे स्पर्शादिकके कर्मसाधन समझना चाहिये । जैसे, 'जो सूँघा जाय' इस प्रकारकी निरुक्ति करनेपर गन्ध द्रव्यरूप ही पड़ता है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, वही कहा जाता है । इस तरह स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है । जैसे सूँघनेरूप क्रियाधर्मको गन्ध कहते हैं ।

शंका— इन तीनों इन्द्रियोकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण-इन्द्रियावरणके क्षयोपशमके होनेपर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वधाती स्पर्धकोके उदय होनेपर, आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बन होने पर और त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं ।

जिनके चार इन्द्रियां पाई जाती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं ।

शंका— वे चतुरिन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान— मच्छर, मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ प्रदन्धोऽयं त. रा. वा २. १९-२०, वा १-१ व्याख्याभ्यां समान ।

२ से किं त चउरिदिद-मनारनमावन्न-जीवपन्नवणा ? २ अणेगविहा पन्नत्ता । त जहा, अधिय-पत्तिय-मच्छिय-मसगा कीडे तथा पयगे य । ढकुण-कुवकड-कुवकुह-नदावत्ते य सिगिरडे ॥ किण्हपत्ता, नीलपत्ता, छोटियपत्ता, हालिहपत्ता, सुविक्लपत्ता, चित्तपक्खा, विचित्तपक्खा, ओहजलिया, जलचारिया, गभीरा,

मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पदगा य सलह-गोमच्छी ।

मच्छी सदस कीडा णेया चर्छरिदिया जीवा' ॥ १३८ ॥

कानि तानि चत्वारिन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि । स्पर्शनरसन-
घ्राणानि उक्तलक्षणानि । चक्षुषः स्वरूपमुच्यते । तद्यथा-करणसाधनं चक्षुः । कुतः ?
चक्षुषः पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते आत्मनः
स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । यथानेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति ।
ततो वीर्यान्तरायचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाच्चष्टरने-
कार्यत्वाद्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः । कर्तृसाधनं च भवति
स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा दृश्यते च, यथेदं मेऽक्षि

मकड़ी, भोंरा, मधु-मक्खी, मच्छर, पतंग, शलभ, गोमक्खी, मक्खी, और दंशसे
दशनेवाले कीड़ोको चतुरिन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३८ ॥

शंका— वे चार इन्द्रियाँ कौन कौन हैं ?

समाधान— स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ हैं । इसमेसे स्पर्शन,
रसना और घ्राणके लक्षण कह आये । अब चक्षु-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं । वह इस प्रकार
है-चक्षु-इन्द्रिय करणसाधन है, क्योंकि, उसकी पारतन्त्र्यविवक्षा है । जिस समय आत्माकी
स्वातन्त्र्यविवक्षा होती है, उस समय लोकमे इन्द्रियोकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे,
इस चक्षुसे अच्छी तरह देखता हूँ, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूँ । इसलिये वीर्यान्तराय
और चक्षु इन्द्रियावरणके क्षयोपशम और आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयके लाभसे 'चक्षिड' धातु
अनेकार्थक होनेसे यहां पर दर्शनरूप अर्थकी विवक्षा होनेपर ' जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है-
वह चक्षु है । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामे चक्षु इन्द्रियके कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, इन्द्रियोंकी
लोकमे स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, मेरी यह आँख अच्छी तरह देखती है, यह
मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो देखती है
उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं ।

णीणिया, तनवा, अच्छिरोडा, अच्छिवेहा, मारगा, नेऊरा, दोला, भमरा, भरिली, जहला, तोड्डा, विठुया,
पत्तविच्छुया, छाणविच्छुया, जलविच्छुया, पियगाला, कणगा, गोमयकीडा, जे यावन्ने तहप्पगारा ।
प्रज्ञा १ ४६

१ प्रा प १, ७२ पाठभेद अविद्या पोत्तिया चेव मच्छिया मयगा तहा । भमरे कीडपयगे य
ढकुणे उक्कुडो तहा ॥ कुक्कुडे भिगिरीडी य नदावत्ते य विच्छुए । टोले भिगारी य वियडी अच्छिवेहए ॥
अच्छिले माहए अच्छिरोडए विचित्ते चित्तपत्तए । उहिजलिया जलकारी य नोया ततवयाइया ॥ इय चउ-
रिदिया एएऽण्णेगहा एवमायओ ॥ उक्त ३६, १४७, १५०

२ मु वट्टम्माच्चक्षु । अनेकार्थ । ३ मु चक्षुष कर्तृसाधन च ।

४ मु विवक्षा च दृश्यते यथेद ।

सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति चण्ड इति चक्षुः । कोऽस्य विषयश्चेद्वर्णः । अयं वर्णशब्दः कर्मसाधनः । यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः सन्तीत्ये-
तस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्णः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शा-
दीनां युज्यते वर्णनं वर्णः । कुत एतेषामुत्पत्तिश्चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुरा-
वरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावण्डस्मभे
चतुरिन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां चतुर्णामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत्^१ ।

पञ्च इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः । के ते ? जरायुजाण्डजादयः ।

उक्तं च—

शंका— इस इन्द्रियका विषय क्या है ।

समाधान— वर्ण इस इन्द्रियका विषय है । यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है । जैसे, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्यका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्शादिक पर्यायों नहीं पाई जाती है । इसलिये इस विवक्षामे स्पर्शादिकके कर्म-
साधन जाना जाता है । उस समय जो देखा जाय उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करनी चाहिये । तथा जिस समय पर्याय प्रधानरूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है । अतएव स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है । उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति होती है ।

शंका— इन चारो इन्द्रियोकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम, शेष इन्द्रियावरण सर्वधाती स्पर्द्धकोंका उदय, आंगोपांग नामकर्मके उदयका आल-
म्बन और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होनेपर चार इन्द्रियोकी उत्पत्ति होती है ।

जिनके पाच इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका— ये पंचेन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान— जरायुज और अण्डज आदिक पंचेन्द्रिय जीव है । कहा भी है—

स्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्धिज्ज, औपपादिक, रसज, पोत, अंडज और जरायुज, ये सब पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३९ ॥

स्कन्धसम्बन्धतो मूर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति । तेषामुपगतानां पुद्गल-
स्कन्धानां खलरसपर्यायैः 'परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः । सा च
नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समयेनैकेनैवोपजायते, आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावात् ।
शरीरोपादानप्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यत इति यावत् । तं
खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसा-
शुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणमनशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः
शरीरपर्याप्तिः । साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते । योग्यदेशस्थितरूपादि-
विशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः' । सापि ततः
पश्चादन्तर्मुहूर्तद्विपजायते । न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषय-
विज्ञानमुत्पद्यते, तदा तदुपकरणाभावात् । उच्छ्वासनिस्सारणशक्तेर्निष्पत्तिर्निमित्त-
पुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः । एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत् ।
भाषावर्गणायाः' स्कन्धानुचतुर्विधभाषाकारेण 'परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गल-

पुद्गलस्कन्ध, कर्मस्कन्धके संबन्धसे कथञ्चित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए आत्माके साथ समवायरूपसे
संबन्धको प्राप्त होते हैं, उनको खल और रसभाग पर्यायरूप परिणमन करनेरूप शक्तिको निमित्त-
भूत आगत पुद्गलस्कन्धोकी प्राप्तिको आहारपर्याप्ति कहते हैं । वह आहारपर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तके
बिना केवल एक समयमे उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि, आत्माका एकसाथ उस प्रकारका
परिणाम नहीं हो सकता है । शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमे
आहारपर्याप्ति निष्पन्न होती है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । तिलकी खलीके समान उस
खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूपसे और तिलके तैलके समान रसभागको रस, रुधिर,
वसा, वीर्य आदि द्रव अवयवरूपसे परिणमन करनेवाले औदारिक आदि तीन शरीरोंकी शक्तिसे
युक्त पुद्गलस्कन्धोकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं । वह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्तिके
पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमे पूर्ण होती है । योग्य देशमे स्थित रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण
करनेरूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयको प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । यह
इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमे पूर्ण होती है । परन्तु इन्द्रिय
पर्याप्तिके पूर्ण हो जानेपर भी उसी समय बाह्य पदार्थसंबन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है,
क्योंकि, उस समय उसके उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है । उच्छ्वास और निःश्वास-

१ परिणमनशक्तेर्निष्पत्तिराहारपर्याप्ति ।

२ आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते × × × आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तो विग्रहगता-
वेवोत्पद्यते नोपपातक्षेत्रमागतोऽपि, उपपातक्षेत्रमागतस्य प्रथमसमय एवाहारकत्वात् । तत एकसामयिकी
आहारपर्याप्तिर्निवृत्ति । न सू १७ टी ३ मु परिणाम

४ परिणमनशक्तेर्निष्पत्ति शरीरपर्याप्ति ।

५ विशिष्टार्थग्रहणशक्तेर्निष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्ति ।

६ मु नि सरण

७ मु स्कन्धान्चतु

८ परिणमनशक्तेर्निष्पत्ति भाषापर्याप्ति ।

प्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः । एषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते । मनोवर्गणास्कन्ध-
निष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः^१ । एतासां
प्रारम्भोऽक्रमेण, जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात् । निष्पत्तिस्तु पुनः
क्रमेण^२ । एतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः ।

पर्याप्तिप्राणयोः को भेद इति चेन्न, अनयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात् ।
यत आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः । प्राणिति
एभिरात्मेति प्राणाः पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायानापानार्थं^३ इति । भवन्तिवन्द्रिया-
युष्कायाः प्राणव्यपदेशभाजः, तेषामाजन्मन आमरणाद्भवधारणत्वेनोपलम्भात् ।

रूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिकी आनापान पर्याप्ति कहते हैं । यह
पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्तिके अनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होनेपर पूर्ण होती है ।
भाषावर्गणाके स्कन्धोके निमित्तसे चार प्रकारकी भाषारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके
निमित्तभूत नोकर्म पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिकी भाषा पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी आनापान
पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमे पूर्ण होती है । अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिके निमित्तभूत
मनोवर्गणाके स्कन्धोसे निष्पन्न पुद्गलप्रचयको मनःपर्याप्ति कहते हैं अथवा, द्रव्यमनके आलम्बनसे
अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिकी मनःपर्याप्ति कहते हैं । इन छहो पर्याप्तियोंका
प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि, जन्म-समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है । परंतु
पूर्णता क्रमसे होती है । तथा इन पर्याप्तियोंकी अपूर्णताकी अपर्याप्ति कहते हैं ।

शंका— पर्याप्ति और प्राणमे क्या भेद है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इनमे हिमवान् और विन्ध्याचल पर्वतके समान भेद पाया
जाता है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णताके
कारणको पर्याप्ति कहते हैं । और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हे प्राण
कहते हैं । यही इन दोनोंमे भेद है । वे प्राण पांच इन्द्रियां मनोबल, वचनबल, कायबल, आनापान
और आयुके भेदसे दश प्रकारके हैं ।

शंका— पाँचो इन्द्रियां आयु और कायबल ये प्राण संज्ञाको प्राप्त होवे, क्योंकि, वे
जन्मसे लेकर मरणतक भव (पर्याय) को धारण करनेरूपसे पाये जाते हैं । और उनमेसे किसी
एकके अभाव होनेपर मरण भी देखा जाता है । परंतु उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल
इनको प्राण संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि, इनके बिना भी अपर्याप्ति अवस्थामें जीवन
पाया जाता है ?

१ गो जी गा ११९ न सू १७ अनयोप्टीका विशेषानुसन्धानाय द्रष्टव्या ।

मु मन पर्याप्ति (द्रव्यमनोवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मन पर्याप्तिर्वा ।) एतासां

२ पज्जत्तीपट्टवण जुगव तु क्रमेण होदि णिट्टवण । अतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥

गो जी १२० ३ गो जी १२९ टीकानुसन्धेया ।

तत्रैकस्याप्यभावतोऽसुमतां मरणसंदर्शनाच्च । अपि तच्छ्वासमनोवचसां न प्राण-
व्यपदेशो युज्यते, तान्यन्तरेणापि अपर्याप्तावस्थायां जीवनोपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना
पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतस्तेषामपि प्राणत्वाविरोधात् । उक्तं च—

बाहिर-पाणेहि जहा तहेव अब्भतरेहि पाणेहि ।

जीवति जेहि जीवा पाणा ते होति बोद्धवा^१ ॥ १४१ ॥

पर्याप्तिप्राणानां नाम्नि विप्रतिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्,
पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनोवागुच्छ्वासप्राणानामपर्याप्तिकालेऽसत्त्वाच्च तयोर्भेदात् ।
तत्पर्याप्तियोग्यपर्याप्तिकाले न सन्तीति तत्र तदसत्त्वमिति चेन्न, अपर्याप्तिरूपेण तत्र
तासां सत्त्वात् । किमपर्याप्तिरूपमिति चेन्न, पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः,
ततोऽस्ति तेषां भेद इति । अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं

समाधान— नहीं, क्योंकि, उच्छ्वास, मनोबल और वचनबलके विना अपर्याप्त
अवस्थाके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामे जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्राण माननेमें
कोई विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिस प्रकार नेत्रोका खोलना, वन्द करना, वचनप्रवृत्ति, आदि बाह्य प्राणोसे जीव जीते
हैं, उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमे जीवितपनेका
व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ॥ १४१ ॥

शंका— पर्याप्ति और प्राणके नाममे अर्थात् कहनेमात्रमें विवाद है, वस्तुमे कोई
विवाद नहीं है, इसलिये दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कार्य और कारणके भेदसे उन दोनोंमे भेद पाया जाता
है तथा पर्याप्तियोंमे आयुका सद्भाव नहीं होनेसे और मनोबल, वचनबल, तथा उच्छ्वास इन
प्राणोके अपर्याप्ति कालमे नहीं पाये जानेसे पर्याप्ति और प्राणमे भेद समझना चाहिये ।

शंका— वे पर्याप्तियां भी अपर्याप्त कालमे नहीं पाई जाती हैं, इसलिये अपर्याप्त
कालमे उनका सद्भाव नहीं रहेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त कालमे अपर्याप्तिरूपसे उनका सद्भाव पाया
जाता है ।

शंका— अपर्याप्तिरूप इसका क्या तात्पर्य है ?

१ प्रा. प १, ४५ । गो जी १२९ तत्र 'जीवति' इति स्थाने 'प्राणति' इति पाठ । पौद्गलि-
कद्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपा द्रव्यप्राणा । तन्निमित्तभूतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमादिविजृमितचेतनव्यापार-
रूपा भावप्राणा । जी प्र टी

पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा-इति तयोर्भेदः^१ ।

एकेन्द्रियाणां भेदमभिधाय साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकाम उत्तर-
सूत्रमाह—

बीइंदिया दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता । तीइंदिया दुविहा-
पज्जत्ताअपज्जत्ता । चउरिंदिया दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता । पंचिंदिया
दुविहा-सण्णी असण्णी । सण्णी दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता ।
असण्णी दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रियादय उक्तार्था इति पुनरुक्तभयात्पुनस्तेषां नेहार्थ उच्यते । अथ
स्यादेतस्य एतावन्त्येवेन्द्रियाणीति कथमवगम्यते इति चेन्न, आर्षात्तदवगतेः ।
किं तदार्षमिति चेदुच्यते—

समाधान— पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं, इसलिये पर्याप्ति,
अपर्याप्ति और प्राण इनमे भेद सिद्ध हो जाता है । अथवा, इन्द्रियादिमे विद्यमान जीवनके
कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादिरूप शक्तिकी पूर्णतामात्रको पर्याप्ति कहते हैं और जो
जीवनके कारण हैं उन्हे प्राण कहते हैं । इस प्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये ।

इस प्रकार एकेन्द्रियोंके भेद प्रभेदोका कथन करके अब द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भेदोंका
कथन करनेके इच्छुक आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्तिक और अपर्याप्तिक । त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके
हैं— पर्याप्तिक और अपर्याप्तिक । चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्तिक और अपर्याप्तिक ।
पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं— संज्ञी और असंज्ञी । संज्ञी जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्तिक और
अपर्याप्तिक । असंज्ञी जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्तिक और अपर्याप्तिक ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्त दूषणके भयसे
फिरसे यहां नहीं कहते हैं ।

शंका— इस जीवके इतनी ही इन्द्रियां होती हैं, यह कैसे जाना ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आर्षसे इस बातको जाना ।

शंका— वह आगम कौनसा है ?

१ आहारमायामनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धाना खलरसभागशरीरावयवरूपद्रव्येन्द्रियरूपोच्छ्वासनिश्वा-
सत्पमाधारूपद्रव्यमनोरूपपरिणमनकारणात्मकशक्तिनिष्पत्तय पर्याप्तय, स्वार्थग्रहणव्यापारकायवागव्यापारो-
च्छ्वासनिश्वासप्रवृत्तिभवनधारणरूपजीवद्रव्यवहारकारणात्मकशक्तिविशेषा प्राणा इति भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्पर्या-
प्तिप्राणयोर्भेदप्रसिद्धे ॥ गो जी, म प्र, टी १३१

एइदियस्य फुसण एक च य होइ सेस-जीवाणं ।

होति कम-वडिढयाइ जिब्भा-घाणक्खि-सोत्ताइ' ॥ १४२ ॥

अस्य सूत्रस्यार्थ—उच्यते स्पर्शनमेकमेव एकेन्द्रियस्य भवति^१, स्पर्शनरसने द्वीन्द्रियस्य, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाणि त्रीन्द्रियाणाम्, तानि सचक्षूषि चतुरिन्द्रियाणाम्, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणामिति । अथवा 'कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि^३' इति अस्मात्तत्त्वार्थसूत्राद्वावसीयते । अस्यार्थ उच्यते— एकैकं वृद्धं येषां तानीमानि एकैकवृद्धानि । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इत्येतस्मात्सूत्रात्स्पर्शनमित्यनुवर्तते । तत एवमभिसंबध्यते—स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम् तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनामिति^५ ।

समनस्काः संज्ञिनः, अमनस्का असंज्ञिन इति^५ । मनो द्विविधम्—द्रव्यमनो

समाधान—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, और शेष जीवोंके क्रमसे बढ़ती हुई जिह्वा, घ्राण, अक्षि और श्रोत्र इन्द्रियाँ होती हैं ॥ १४२ ॥

अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ, चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ और पञ्चेन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । अथवा तत्त्वार्थसूत्रके कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' इस सूत्रसे यह जाना जाता है कि किस जीवके कितनी इन्द्रियाँ होती हैं । अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—

एक एक इन्द्रियका बढ़ता हुआ क्रम जिन इन्द्रियोंका पाया जावे, ऐसी एक एक इन्द्रियके बढ़ते हुए क्रमरूप पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमेसे स्पर्शन पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये ऐसा सबन्ध कर लेना चाहिये कि क्रमि आदि द्वीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनके साथ रसना इन्द्रिय और अधिक होती है । पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसनाके साथ घ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है । भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राणके साथ चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है । मनुष्य आदि पञ्चेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके साथ श्रोत्र इन्द्रिय और अधिक होती है ।

मनसहित जीवोंको संज्ञी कहते हैं । मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन । उनमे पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्यमन है । तथा

१ प्रा प १, ६७ । गो जी १६७ २ वनस्पत्यन्तानामेकम् । त सू २ २२

३ त सू २ २३ ४ पाठोऽयं त रा वा २ २३ वा २-४ व्याख्यया समान ।

५ मु समनस्का संज्ञिन इति ।

भावमन इति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः^१ । वीर्यान्तरायनोऽन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षात्मनो विशुद्धिर्भावमनः^२ । तत्र भावेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्तिकालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यद्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । पर्याप्तिनिरूपणतस्तदस्तित्वं^३ सिद्धयेदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तेः पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः । न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वम् योगस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक् सत्त्वविरोधात् । ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वानिरूपणमिति सिद्धम् । मनस इन्द्रियव्यपदेशः किन्न कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य

वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे आत्मामे जो विशुद्धि पैदा होती है वह भावमन है ।

शंका— जीवके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भावेन्द्रियोंकी तरह भावमनका भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिस प्रकार अपर्याप्त कालमे भावेन्द्रियोंका सद्भाव कहा जाता है उसी प्रकार वहां पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा जिसके द्रव्यका ग्रहण नहीं होता ऐसे मनका अपर्याप्तिरूप अवस्थामे अस्तित्व स्वीकार लेनेपर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायगा ।

शंका— पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थकी स्मरणशक्तिकी निष्पत्तिकी पर्याप्ति संज्ञा होनेसे द्रव्यमनके अभावमे भी पर्याप्तिका निरूपण बन जाता है । बाह्य पदार्थोंकी स्मरणकी शक्तिके पहले द्रव्यमनका सद्भाव बन जायगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्यमनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमे विरोध आता है । अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका ज्ञापक है यह सिद्ध होता है ।

शंका— मनको इन्द्रिय संज्ञा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । जिसके

१ न. नि २ ११ । त रा वा २ ११ द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्ग-
लाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादिप्राप्येवानस्याभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहका पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति
पीद्गलिकम् । स नि. ५ ११ । त रा वा ५ ११

२ स नि २ ११ । त रा वा. २ ११, भावमनस्तावल्लव्युपयोगलक्षण पुद्गलावलम्बनत्वा-
त्पीद्गलिकम् । स नि ५ १९ । त रा वा. ५ १९ ३ मु निरूपणात्तदस्तित्व ।

लिङ्गमिन्द्रियम्^१ । उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्र-
व्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते^२ । न च
मनः^३ उपयोगोपकरणमस्ति । द्रव्यमन उपयोगोपकरणमस्तीति चेन्न, शेषेन्द्रियाणामिव
बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावतस्तस्येन्द्रलिङ्गत्वानुपपत्तेः^४ । अथ स्यादर्थालोकमनस्कार-
चक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तमानं रूपज्ञानं समनस्केषूपलभ्यते, तस्य कथममनस्केषाविर्भाव इति
नैव दोषः, भिन्नजातित्वात् ।

इन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्ताप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदिया वीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असणिणपंचिंदिया

एकम्मि चैव मिच्छाडिट्ठि-ट्ठणो^५ ॥ ३६ ॥

कर्मोका संवन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेश्वररूप शक्तिके संवन्धसे इन्द्र संज्ञाको धारण करता
है, परंतु जो स्वतः पदार्थोको ग्रहण करनेमें असमर्थ है ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके
उपकरणको लिङ्ग कहते हैं । परंतु मन उपयोगका उपकरण नहीं है, इसलिये मनको इन्द्रिय संज्ञा
नहीं दी गई ।

शंका— उपयोगका उपकरण द्रव्यमन तो है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार शेष इन्द्रियोका बाह्य इन्द्रियोसे ग्रहण होता
है उस प्रकार मनका नहीं होता है, इसलिये उसे इन्द्रका लिङ्ग नहीं कह सकते हैं ।

शंका— पदार्थ, प्रकाश, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप-ज्ञान समनस्क
जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है । परंतु अमनस्क जीवोंमें उस रूप-ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे
हो सकती है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके रूप-ज्ञानसे अमनस्क
जीवोंका रूप-ज्ञान भिन्न जातीय है ।

अब इन्द्रियोमें गुणस्थानोंकी निश्चित संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक
प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ३६ ॥

१ स सि १, १४

२ इन्द्र आत्मा, तस्य कर्ममलीममस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्यार्थोपलम्भने यल्लिङ्ग तदिन्द्रिय-
मित्युच्यते । त रा. वा १ १४ १ ३ मु मनस ।

४ न सि १. १४ । त. रा वा १. १४ २ अनयोर्ध्याख्या विशेषपरिज्ञानायानुसन्वेया ।

५ इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । अमजिषु एकमेव
मिथ्यादृष्टिस्थानम् । स सि १ ८ २ अ व प्रती मिच्छाडिट्ठिणो ॥

एकस्मिन्नेवेति विशेषणं द्वयादिसंख्यानिराकरणार्थम् । शेषगुणस्थाननिरसनार्थं मिथ्यादृष्ट्युपादानम् । एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि, तं कधं घडदे ? ण, एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो^१ । विरुद्धत्थाणं कधं दोण्हं पि सुत्तत्तणमिदि ण, दोण्हे एक्कदरस्स सुत्तत्तादो^२ । दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिदं च ण भवदीदि कधं णव्वदि ? उवदेसमंतरेण तदवगमाभावादो दोण्हं पि संगहो कायव्वो । दोण्हं संगहं करेत्तो संसय-मिच्छाइट्ठी होदि त्ति, तण्ण, सुत्तुद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्वहंतस्स संदेहाभावादो । उत्तं च—
सुत्तादो तं सम्म दरिसिज्जत जदा ण सद्वहदि ।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो^३ ॥ १४३ ॥

दो, तीन आदि संख्याके निराकरण करनेके लिये सूत्रमे एक पदका ग्रहण किया है । तथा अन्य गुणस्थानोके निराकरण करनेके लिये मिथ्यादृष्टि पदका ग्रहण किया है ।

शंका— एकेन्द्रिय जीवोमे सासादन गुणस्थान भी सुननेमे आता है, इसलिये उनके केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके कथन करनेसे वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस खंडागम-सूत्रमे उनके सासादन गुणस्थानका निषेध है ।

शंका— जब कि दोनो वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दोनो वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किंतु उन दोनों वचनोमेसे किसी एक वचनको ही सूत्रप प्राप्त हो सकता है ।

शंका— दोनो वचनोमे यह वचन सूत्ररूप है, और यह नहीं, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— उपदेशके बिना दोनोमेसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा सकता है, इसलिये दोनो वचनोका संग्रह करना चाहिये ।

शंका— दोनो वचनोका संग्रह करनेवाला संशय-मिथ्यादृष्टि हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संग्रह करनेवालेके 'यह सूत्रकथित ही है' इस प्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके सदेह नहीं हो सकता है । कहा भी है—

सूत्रसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जानेपरभी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयसे वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ॥ १४३ ॥

१ येपा मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते × × स सि १ ८ जे पुण देवसासणा एइंदिएसुप्पज्जती ति मणति तेसिमहिप्पाएण वारहचोदसभागा देसूणा उववादफोसण होदि, एद पि वक्खाण सतदव्वसुत्तविरुद्ध ति ण घेत्तव्व । धवला अ पृ २६० २ अ व सुत्तादो ।

३ गो जी २९

ससेदिम^१ सम्मुच्छिम-उव्वेदिम-ओववादिमा^२ चेव ।

रस-पोतंडजजरजा^३ पंचिदिमा जीवा^४ ॥ १३९ ॥

कानि तानि पञ्चापीन्द्रियाणीति^५ चेत् ? स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि । इमानि स्पर्शनादीनि करणसाधनानि । कुतः ? पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके दृश्यते च पारतन्त्र्यविवक्षा आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्, अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति । ततो वीर्यान्तरायश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमः। आङ्गोपाङ्ग-नामलाभावष्टम्भाच्छृणोत्यनेनेति श्रोत्रम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति शृणोतीति श्रोत्रम् । कोऽस्य विषयः ? शब्दः । यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य

शंका— वे पाँचोही इन्द्रियाँ कौन कौन हैं ?

समाधान— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र । ये स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ करण-साधन हैं, क्योंकि, वे परतन्त्र देखी जाती हैं, । लोकमे आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होनेपर इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, मैं इस आँखसे अच्छी तरह देखता हूँ, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूँ । इसलिये वीर्यान्तराय और श्रोत्र इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके आलम्बनसे जिसके द्वारा सुना जाता है, उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामे कर्तृसाधन होता है, क्योंकि, लोकमे इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो सुनती है उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका— इसका विषय क्या है ?

समाधान— शब्द इसका विषय है । जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है । उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज

१ मु सस्सेदिम । २ अ व प्रती ओपमादिमा चेव ।

३ मु रस-पोदडजरजुज ।

४ प्रा प १, ७३ पाठनेद से. वेमि नत्तिमे तसा पाणा, त जहा, अडया पोयया जराउवा रसया ससेयया नमुच्छिमा उव्विमयया उववाइया, एस नसारेत्ति पवुच्चड । आचा सु ४९ उपैत्युपपद्यतेऽस्मिन्नि-त्युपपाद । न रा वा. पृ ९८ उपपाताज्जाता उपपातजा । अथवा उपपाते भवा औपपातिका देवा नारकाश्च । आचा नि पृ ६३. सम्पूर्णविवय परिस्पदादिसामर्थ्योपलक्षित. पोत । शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्य नस्तत्कनदृश परिमड्ढमड्ड, अडे जाता अडजा । जालवत्प्राणिपरिवरण विततमासशोणित जगयु, जरायो जाता जराजजा । त ग वा पृ १००, १०१ ५ मु पञ्चेन्द्रियाणीति ।

युज्यत इति, शब्द्यत इति शब्दः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनः^१ शब्दः, शब्दनं शब्द इति^२ । कुत एतेषामाविर्भाव इति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे पञ्चेन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां पञ्चानामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत्^३ । नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम्, 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया भवन्ति' इति भावसूत्रेण सह विरोधात् । ततः एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः, एषोऽर्थोऽत्र प्रधानम्, निरवद्यत्वात् ।

नहीं हैं । इस विवक्षामे शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है । जैसे, 'शब्द्यते' अर्थात् जो ध्वनिरूप हो वह शब्द है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध हो जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जानेसे शब्द भावसाधन भी है । जैसे, 'शब्दनम् शब्द' अर्थात् ध्वनिरूप क्रियाधर्मको शब्द कहते हैं ।

शंका— इन पांचो इन्द्रियोकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

समाधान— वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, आंगोपांग नामकर्मके आलम्बन होने पर, तथा पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर पांचो इन्द्रियोकी उत्पत्ति होती है । फिर भी वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरण आदिके क्षयोपशमसे एकेन्द्रिय आदि जीव होते हैं, यह व्याख्यान यहां पर प्रधान नहीं है, क्योंकि, 'एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव होते हैं' भावानुगमके इस कथनसे पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है । इसलिये एकेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, यही अर्थ यहां पर प्रधान है, क्योंकि, यह कथन निर्दोष है ।

जिनके इन्द्रियाँ नहीं पाई जाती हैं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका— वे कौन हैं ?

१ मु साधन ।

२ प्रवन्वोऽयं त रा वा २ १९-२० वा १-१ व्याख्याभ्यां समान ।

३ म भवेदिति ।

न सत्तोन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः । के ते ? अशरीराः सिद्धाः । उक्तं च—

ण वि इदिय-करण-जुदा अवग्गहादीहि गाहया अत्थे ।

णव य इन्दिय-सोक्खा अण्णिदियाणत्त-णाण-सुहा^१ ॥ १४० ॥

तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियस्योपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशम-जनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात् । न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति, तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्वात् ।

एकेन्द्रियविकल्पप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइन्दिया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रियाः द्विविधाः— वादराः सूक्ष्मा इति । वादरशब्दः स्थूलपर्यायः, स्थूलत्वं चानियतम् ततो न ज्ञायते के स्थूला इति । चक्षुर्ग्राह्याश्चेन्न, अचक्षुर्ग्राह्याणां स्थूलानां सूक्ष्मतापत्तेः^२ । अचक्षुर्ग्राह्याणामपि वादरत्वे सूक्ष्मवादराणामविशेषः स्यादिति चेन्न,

समाधान— शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय हैं । कहा भी हैं—

वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं । उनके इन्द्रिय-सुख भी नहीं है, क्योंकि, उनका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय हैं ॥ १४० ॥

शंका— उन सिद्धोमे भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिये वे इन्द्रियसहित हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए उपयोगको इन्द्रिय कहते हैं । परंतु जिनके संपूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धोमे क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योंकि, वह क्षायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है ।

अब एकेन्द्रिय जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं— वादर और सूक्ष्म । वादर एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं— पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं— पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिय जीव वादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं ।

शंका— वादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची है, और स्थूलता नियत नहीं है, इसलिये यह मालूम नहीं पड़ता है, कि कौन कौन जीव स्थूल हैं । जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे स्थूल हैं, यदि ऐसा कहा जावे सो भी नहीं वनता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर, जो

आर्षस्वरूपानवगमात् । वादरशब्दोऽयं स्थूलपर्यायः, अपि तु वादरनाम्नः कर्मणो वाचकः । तदुदयसहचरितत्वाज्जीवोऽपि वादरः । शरीरस्य स्थूलनिर्वर्तकं कर्म वादरमुच्यते । सूक्ष्मनिर्वर्तकं कर्म सूक्ष्मम्^१ । तथा च चक्षुषाऽग्राह्यं^२ सूक्ष्मशरीरम्, तद्ग्राह्यं वादरमिति तद्वतां तद्वचपदेशो हठादास्कन्देत् । ततश्चक्षुर्ग्राह्या वादराः, अचक्षुर्ग्राह्याः सूक्ष्मा^३ इति तेषामेताभ्यामेव भेदः समापतेदन्यथा^४ तेषामविशेषतापत्तेरिति चेन्न स्थूलाश्च भवन्ति चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्ति, को विरोधः स्यात् ? सूक्ष्मजीवशरीरादसंख्येयगुणं शरीरं वादरम्, तद्वन्तो जीवाश्च वादराः । ततोऽसंख्येयगुणहीनं शरीरं सूक्ष्मम्, तद्वन्तो जीवाश्च सूक्ष्मा उपचारादित्यपि कल्पना न साध्वी, सर्व-

स्थूल जीव चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं उन्हें सूक्ष्मपनेकी आपत्ति प्राप्त होती है । और जिनका चक्षु इन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता है ऐसे जीवोकोभी वादर मान लेनेपर सूक्ष्म और वादरोमे कोई भेद नहीं रह जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह आशंका आर्षके स्वरूपकी अनभिज्ञताकी द्योतक है । यह वादर शब्द स्थूलका पर्यायवाची नहीं है, किंतु वादर नामक नामकर्मका वाचक है, इसलिये उस वादर नामकर्मके उदयके संबन्धसे जीव भी वादर कहा जाता है ।

शंका— शरीरकी स्थूलताको उत्पन्न करनेवाले कर्मको वादर और सूक्ष्मताको उत्पन्न करनेवाले कर्मको सूक्ष्म कहते हैं । ऐसी अवस्थामे जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है वह सूक्ष्म शरीर है, और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह वादर शरीर है, अतः सूक्ष्म और वादर कर्मके उदयवाले सूक्ष्म और वादर शरीरसे युक्त जीवोको सूक्ष्म और वादर संज्ञा हठात् प्राप्त हो जाती है । इसमे यह सिद्ध हुआ कि जो चक्षुसे ग्राह्य हैं वे वादर हैं, और जो चक्षुसे अग्राह्य हैं वे सूक्ष्म हैं । सूक्ष्म और वादर जीवोंके इन पूर्वोक्त लक्षणोंसे ही भेद प्राप्त हो जाता है । यदि पूर्वोक्त लक्षण न माने जायं, तो सूक्ष्म और वादरोमे कोई भेद नहीं रह जाता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्थूल तो हों और चक्षुसे ग्रहण करने योग्य न हों, इस कथनमें क्या विरोध है ।

शंका— सूक्ष्म जीव शरीरसे असंख्यातगुणी अधिक अवगाहनाले शरीरको वादर कहते हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोको उपचारसे वादर कहते हैं । अथवा, वादर शरीरसे असंख्यात गुणी हीन अवगाहनावाले शरीरको सूक्ष्म कहते हैं और उस शरीरसे युक्त जीवोको उपचारसे सूक्ष्म कहते हैं ?

१ यदुदयादन्यवावाकरशरीरं भवति तद् वादरनाम । सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम । गो क, जी प्र, टी ३३ न नि ८-११ २ मु तथापि चक्षुषोऽग्राह्य ।

३ यदुयाद् जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं वादरत्वं भवति तद् वादरनाम, पृथिव्यादेरेकैकशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावेऽपि वादरत्वपरिणामविशेषाद् बहूनां समुदाये चक्षुषा ग्रहणं भवति । तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् बहूनां समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यानां न भवति । क प्र पृ ७

४ मु समापतद ।

जघन्यवादराङ्गात्सूक्ष्मकर्मनिर्वर्तितस्य सूक्ष्मशरीरस्यासंख्येगुणत्वतोऽनेकान्तात् । ततो वादरकर्मोदयवन्तो वादराः, सूक्ष्मकर्मोदयवन्तो सूक्ष्मा इति सिद्धम् । कोऽनयोः कर्मणोरुदययोर्भेदश्चेत्? मूर्तरन्यैः प्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तको वादरकर्मोदयः, अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकः सूक्ष्मकर्मोदय इति तयोर्भेदः^१ । सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मजीवानां शरीरमन्यैर्न मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तदप्रतिघातः^२ सूक्ष्मकर्मणो विपाकादिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेशभाजः सूक्ष्मशरीरादसंख्येयगुणहीनस्य वादरकर्मोदयतः प्राप्तवादरव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वं प्रत्यविशेषतोऽप्रतिघाततापत्तेः । अस्तु चेन्न, सूक्ष्मवादरकर्मोदययोरविशेषतापत्तेः । सूक्ष्मशरीरोपादायकः सूक्ष्मकर्मोदयश्चेन्न,

समाधान— यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जघन्य वादर शरीरसे सूक्ष्म नामकर्मके द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना असंख्यातगुणी होनेसे उक्त कथनमे अनेकान्त दोष आता है । इसलिये जिन जीवोके वादर नामकर्मका उदय पाया जाता है वे वादर हैं, और जिनके सूक्ष्म नामकर्मका उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— सूक्ष्म नामकर्मके उदय और वादर नामकर्मके उदयमे क्या भेद है ?

समाधान— वादर नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोसे आघात करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है । और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोके द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है । यही उन दोनोंमे भेद है ।

शंका— सूक्ष्म जीवोका शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योके द्वारा आघातको प्राप्त नहीं होता है, इसलिये मूर्त द्रव्योके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे नहीं मानना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर दूसरे मूर्त पदार्थोके द्वारा आघातको नहीं प्राप्त होनेसे सूक्ष्म संज्ञाको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म शरीरसे असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले, और वादर नामकर्मके उदयसे वादर संज्ञाको प्राप्त होनेवाले वादर शरीरकी सूक्ष्मताके प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थोसे प्रतिघात नहीं होगा ऐसी आपत्ति आजायगी ।

शंका— आजाने दो ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर सूक्ष्म और वादर नामकर्मके उदयमे फिर कोई विशेषता नहीं रह जायगी ।

शंका— सूक्ष्म नामकर्मका उदय सूक्ष्म शरीरको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उन दोनोंके उदयमे भेद है ?

१ वादरमुहुमुदयेण य वादरमुहुमा हवति तद्देहा । वादरशरीरं थूलं अवाद्देहं हवे सुहुम ॥
गो जी १८३ २ मु तत्प्रतिघात

तस्मादप्यसंख्येयगुणहीनस्य वादरकर्मनिर्वर्तितस्य शरीरस्योपलम्भात् । तत्कुतोऽवसीयत इति चेद्वेदनाक्षेत्रविधानसूत्रात् । तद्यथा—

‘सर्ववत्थोवा सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा । सुहुम-
वाउ-सुहुमतेउ-सुहुमआउ-सुहुमपुढवि-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखे-
ज्जगुणा । वादरवाउ-वादरतेउ-वादरआउ-वादरपुढवि-वादरणिगोदजीव-’वादरवण-
प्फदिकाइयपत्तेयसरीर-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । बेइंदिय-
तेइंदिय-चउरिंदिय-पिंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ।
सुहुम-णिगोदपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स
उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा
विसेसाहिया । सुहुमवाउकाइय-सुहुमतेउकाइय-सुहुमआउकाइय-सुहुमपुढदिकाइय-

समाधान— नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीरसे भी असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले और वादर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए वादर शरीरकी उपलब्धि होती है ।

शंका— यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान— वेदना नामक चौथे खण्डागमके क्षेत्रानुयोगद्वारसंबन्धी सूत्रोंसे जाना जाता है । वे इस प्रकार हैं—

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना सबसे स्तोका (थोड़ी) है । सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म जलकायिक और सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे वादर वायुकायिक, वादर अग्निकायिक, वादर जलकायिक, वादर पृथिवीकायिक, वादरनिगोद और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष

पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । वादरवाउकाइय-वादरतेउकाइय-वादरआउकाइय-वादरपुढविकाइय-वादरणिगोदजीव-पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । वादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीरपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । वेइंदिय-पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदिय-पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तेइंदिय-चउरिंदिय-वेइंदिय-वादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-पंचिंदिय-अपज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तेइंदिय-चउरिंदिय-वेइंदिय-वादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीर-पंचिंदिय पज्जत्तयस्स उक्कसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा' ति ।

परैमूर्तद्वयैरप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वृत्तकं सूक्ष्मकर्म । तद्विपरीतशरीरनिर्वृत्तकं वादरकमेति स्थितम् । तत्र वादराः सूक्ष्माश्च द्विविधाः पर्याप्ताः अपर्याप्ता इति ।

अधिक है । इसी तरह सूक्ष्म वायुकायिकसे सूक्ष्म अग्निकायिक, उससे सूक्ष्म जलकायिक, उससे सूक्ष्म पृथिवीकायिक संबन्धी प्रत्येककी क्रमसे, पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसंबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझ लेना चाहिये । इसी तरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे वादर वायुकायिक, उससे वादर अग्निकायिक, उससे वादर जलकायिक उससे वादर पृथिवीकायिक, उससे वादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसंबन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसंबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझना चाहिये । सप्रतिष्ठित प्रत्येककी उत्कृष्ट अवगाहनासे वादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है । इससे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, वादर वनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर और पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, वादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर सख्यातगुणी है ।

इस पूर्वोक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होता है ऐसे शरीरको निर्माण करनेवाला सूक्ष्म नामकर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघातको प्राप्त होनेवाले शरीरको निर्माण करनेवाला वादर नामकर्म है ।

पर्याप्तिकर्मोदयवन्तः पर्याप्तिः। तदुदयवतामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तिष्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्ति-
नामकर्मोदयसहचाराद्वा । यदि पर्याप्तिशब्दो निष्पत्तिवाचकः, कैस्ते निष्पन्ना इति
चेत्पर्याप्तिभिः । कियत्यस्ता इति चेत्सामान्येन षड् भवन्ति-आहारपर्याप्तिः शरीर-
पर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति ।

तत्राहारपर्याप्तिरर्थ उच्यते— शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहार-
वर्गणागतपुद्गलस्कन्धः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्म-

विशेषार्थ— यहाँ जो सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तिककी जघन्य अवगाहनासे लेकर
पचेन्द्रिय पर्याप्तितक जीवोकी उत्कृष्ट अवगाहनाका क्रम बतला आये है, उसे देखते हुए यह
सिद्ध होता है कि सूक्ष्म जीवोकी मध्यम अवगाहना बादरोसे भी अधिक होती है । इसलिये
छोटी बड़ी अवगाहनासे स्थूलता और सूक्ष्मता न मानकर स्थूल और सूक्ष्म कर्मके उदयसे
सप्रतिघात और अप्रतिघातवाले शरीरको वादर और सूक्ष्म कहते हैं । तथा यहाँ जो वेदनाखण्डके
सूत्र उद्धृत किये हैं उनमे सप्रतिष्ठित वादर वनस्पतिसे अप्रतिष्ठित वादर वनस्पतिका स्थान
स्वतंत्र माना है । फिर भी यहाँ 'सव्वत्थोवा' इत्यादि उद्धृत सूत्रमे सप्रतिष्ठितके स्थानको
अप्रतिष्ठितके स्थानमे अन्तर्भूत करके सप्रतिष्ठित वनस्पतिका स्वतन्त्र स्थान नहीं बतलाया है ।

इनमे, वादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रत्येक दो दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ।
उनमेसे जो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहते हैं ।

शंका— पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं
हुआ है तब तक उन्हें पर्याप्त कैसे कह सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोके, होनेवाले
कार्यमे यह कार्य हो गया, इस प्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा करनेमे कोई विरोध
नहीं आता है । अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है ।

शंका— यदि पर्याप्त शब्द निष्पत्ति वाचक है तो यह बतलाइये कि ये पर्याप्तजीव
किनसे निष्पन्न होते हैं ।

समाधान— पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं ।

शंका— ये पर्याप्तियां कितनी हैं ?

समाधान— सामान्यकी अपेक्षा छह हैं — आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय-
पर्याप्ति, आनापानपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति । इनमेसे, पहले आहारपर्याप्तिका
अर्थ कहते हैं— शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओके सबन्धसे उत्पन्न हुए हैं,
और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमे स्थित हैं ऐसे पुद्गलविपाकी आहारवर्गणासंबन्धी

पञ्चेन्द्रियप्रतिपादितार्थभूतारम्भमाह—

पञ्चिन्द्रिया असंनिपञ्चिन्द्रिय-पृष्ठि जाव अजोगिकेवलि
ति ॥ ३७ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्यानसंख्यानप्रतिपाद्य निमित्ति असंनिपञ्चतयः पञ्चेन्द्रिया इति प्रतिपादितमिति चेन्नप दोषः, असंज्ञादयोऽजोगिकेवलिर्यन्ताः पञ्चेन्द्रिया इत्यभिहितेऽपि पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्यानानामित्यावगतेः । अथ स्यादसंज्ञादयोऽजोगिकेवलिर्यन्ताः किन्तु पञ्चद्रव्येन्द्रियवन्त उत भावेन्द्रियवन्त इति ? न तावदादिविकल्पः, अपर्याप्तजीवव्यभिचारात् । न द्वितीयविकल्पः, केवलनिर्व्यभिचारादिति ? नप दोषः, भावेन्द्रियतः पञ्चेन्द्रियत्वान्युपगमात् । न पूर्वोक्तदोषोऽपि, केवलितां निर्मूलतो विनष्टान्तरङ्गेन्द्रियाणां ग्रहणवाह्येन्द्रियव्यापाराणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वा-

पञ्चेन्द्रियोऽसंख्यानानां संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असंज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-निर्व्यावृष्टि गुणस्यानमे लेकर अजोगिकेवली गुणस्यानतक पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका— पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें गुणस्यानोंकी संख्याका प्रतिपादन नहीं करके असंज्ञी आदिक पञ्चेन्द्रिय होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, असंज्ञीको आदि लेकर अजोगिकेवली पर्यन्त पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं ऐसा कथन कर देनेपरही पञ्चेन्द्रियोऽसंख्यानानां संख्याका ज्ञान हो जाता है ।

शंका— असंज्ञीसे लेकर अजोगिकेवलीतक पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं यह ठीक है, परन्तु वे क्या पांच द्रव्येन्द्रियोऽसि युक्त होते हैं या पांच भावेन्द्रियोऽसि युक्त होते हैं ? इनमें से प्रथम विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि, उसके मान लेनेपर अपर्याप्त जीवोंके साथ व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् अपर्याप्त जीव पञ्चेन्द्रिय होते हुए भी उनके द्रव्येन्द्रियाँ नहीं पाई जाती, इसलिये व्यभिचार दोष आता है । इसी प्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, क्योंकि, उसके मान लेनेपर केवलियोऽसि व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् केवली पञ्चेन्द्रिय होते हुए भी उनके भावेन्द्रियाँ नहीं पाई जाती हैं, इसलिये व्यभिचार दोष आता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहाँपर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रियपक्षा स्वीकार किया है । और ऐसा मान लेनेपर पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, केवलियोंके यद्यपि भावेन्द्रियाँ समूल नष्ट हो गई हैं, और बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो गया है, तो भी (उद्यत् अवस्थामें) भावेन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियोंके

पेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्, भूतपूर्वगतिन्यायसमाश्रयणाद्वा । सर्वत्र निश्चयनय-
माश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहारनयः किमित्यवलम्ब्यते इति चेन्नैष दोषः, मन्दमेध-
सामनुग्रहार्थत्वात् । अथवा नेदं व्याख्यानं समीचीनम् दुरधिगमत्वात्, इन्द्रियप्राणैरस्य
पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । किमपरं व्याख्यानमिति चेदुच्यते । एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदया-
देकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् त्रीन्द्रियः,
चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् पञ्चेन्द्रियः ।
समस्ति च केवलानामपर्याप्तजीवानां च पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयः । निरवद्यत्वाद्
व्याख्यानमिदं समाश्रयणीयम् । पञ्चेन्द्रियजातिरिति किं ? यस्याः पारापतादयो
जातिविशेषाः, समानप्रत्ययग्राह्याः सा पञ्चेन्द्रियजातिः पञ्चेन्द्रियक्षयोपशमस्य
सहकारित्वमादधाना ।

अतीन्द्रियजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तेण परमणिंदिया इदि ॥ ३८ ॥

सद्भावकी अपेक्षा उन्हें पंचेन्द्रिय कहा गया है । अथवा भूतपूर्वका ज्ञान करानेवाले न्यायके
आश्रयसे उन्हें पचेन्द्रिय कहा है ।

शंका— सब जगह निश्चय नयका आश्रय लेकर वस्तु-स्वरूपका प्रतिपादन करनेके
पश्चात् फिर यहां पर व्यवहार नयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिये
उक्तप्रकारसे कथन किया है । अथवा, उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना, क्योंकि, मन्दबुद्धि
शिष्योंके लिये यह व्याख्यान दुरवबोध है । दूसरे इन्द्रिय प्राणोंके साथ इस कथनका पुनरुक्त-
दोष भी आता है ।

शंका— तो फिर वह दूसरा कौनसा व्याख्यान है जिसे ठीक माना जाय ?

समाधान— एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मके
उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे
चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पचेन्द्रिय जीव होते हैं । इस व्याख्यानके
अनुसार केवली और अपर्याप्त जीवोंके भी पचेन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय होता ही है । अतः
यह व्याख्यान निर्दोष है । अतएव इसका आश्रय करना चाहिये ।

शंका— पचेन्द्रियजाति किसे कहते हैं ?

समाधान— जिससे कबूतर आदि जाति-विशेष 'ये पंचेन्द्रिय हैं' इस प्रकार समान
प्रत्ययसे ग्रहण करने योग्य होते हैं और जिससे पचेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके सहकारी-
पनेकी अपेक्षा रहती है उसे पचेन्द्रिय जाति कहते हैं ।

अब अतीन्द्रिय जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

उन एकेन्द्रियादि जीवोंसे परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३८ ॥

तेनेति एकवचनं जातिनिवन्धनम् । परमूर्ध्वम् । अग्निन्द्रियाः एकेन्द्रियादि-
जात्यतीताः, सकलकर्मकलङ्घातीतत्वात् ।

कायमार्गणाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायाणुवादेण अस्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया
वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि ॥ ३९ ॥

अनुवदनमनुवादः । कायानामनुवादः कायानुवादः, तेन कायानुवादेन ।
पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः, स एवामस्तीति पृथिवीकायिकाः । न कर्मणशरीरमात्र-
स्थितजीवानां पृथिवीकायत्वाभावः, भाविनि भूतवृष्टुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशोप-
पत्तेः । अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृताः पृथिवीकायिकाः । एवमप्कायिका-
दीनामपि वाच्यम् । पृथिव्यादीनि कर्माण्यसिद्धानीति चेन्न, पृथिवीकायिकादिकार्या-
न्ययानुपपत्तितस्तदस्तित्वसिद्धेः । एते पञ्चापि स्यावराः, स्यावरनामकर्मोदयजनित-

सूत्रमें 'तेण' यह एक वचन जातिका सूचक है । 'परं' शब्दका अर्थ ऊपर है ।
जिससे यह अर्थ हुआ कि एकेन्द्रियादि जातिभेदोंसे रहित अग्निन्द्रिय जीव होते हैं, क्योंकि, उनके
संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाये जाते हैं ।

अब कार्यमार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

कायानुवादकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक,
वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और कायरहित जीव हैं ॥ ३९ ॥

सूत्रके अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं । कायोंके अनुवादको कायानुवाद
कहते हैं, उसकी अपेक्षा पृथिवीकायिक आदि जीव हैं । पृथिवीही काय पृथिवीकाय है, वह
जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं । पृथिवीकायिकका इस प्रकार लक्षण
करनेपर कर्मण काययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकायपना नहीं हो सकता है, यह बात नहीं
है, क्योंकि, जिस प्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें यह हो चुका इस प्रकार उपचार
किया जाता है, उसीप्रकार कर्मण काययोगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक
यह मंजा बन जाती है । अथवा, जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके वशवर्ती हैं उन्हें
पृथिवीकायिक कहते हैं । इसी प्रकार जलकायिक आदि शब्दोंकी भी निरुक्ति कर लेना चाहिये ।

शंका— पृथिवी आदि कर्म असिद्ध हैं, अर्थात् उनका सद्भाव किसी प्रमाणसे सिद्ध
नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि कार्योंका होना अन्यथा बन नहीं
सकता, इसलिये पृथिवी आदि नामकर्मोंके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

स्यावर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई विशेषताके कारण ये पांचों ही स्यावर
कहलाते हैं ।

विशेषत्वात् । स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वायुतेजोऽम्भसां देशान्तरप्राप्ति-
दर्शनादस्थावरत्वप्रसङ्गात् । स्थानशीलाः स्थावरा इति व्युत्पत्तिमात्रमेव,
नार्थः प्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दस्येव । त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः । त्रसेरुद्वेजन-
क्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेन्न, गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तेषु तदभावादत्रसत्व-
प्रसङ्गात् । ततो न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वम् । आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः
कायः इत्यनेनेदं व्याख्यानं विरुद्धयत इति चेन्न, जीवविपाकित्रसपृथिवीकायिकादि-
कर्मोदयसहकार्यौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतस्तद्व्यपदेशार्हत्वा-
विरोधात् । त्रसस्थावरकायिकनामकर्मबन्धातीताः अकायिकाः सिद्धाः । उक्तं च—

शंका— स्थानशील अर्थात् ठहरना ही जिनका स्वभाव हो उन्हे स्थावर कहते हैं,
ऐसी व्याख्याके अनुसार स्थावरोका स्वरूप क्यो नहीं कहा ?

समाधान— नहीं, क्योकि, वैसा लक्षण मानने पर, वायुकायिक, अग्निकायिक और
जलकायिक जीवोंकी एक देशसे दूसरे देशमे गति देखी जानेसे उन्हे अस्थावरत्वका प्रसंग प्राप्त
हो जायगा ।

स्थानशील स्थावर होते हैं, यह निरुक्ति व्युत्पत्तिमात्र ही है, इसमें गो शब्दकी
व्युत्पत्तिकी तरह प्रधानतासे अर्थका ग्रहण नहीं है ।

त्रस नामकर्मके उदयसे जिन्होंने त्रसपर्यायको प्राप्त कर लिया है उन्हें त्रस कहते हैं ।

शंका— 'त्रसि उद्वेगे' इस धातुसे त्रस शब्दकी सिद्धि हुई है, जिसका यह अर्थ
होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान— नहीं, क्योकि, गर्भमे स्थित, अण्डमे वन्द, मूर्च्छित और सोते हुए जीवोंमे
उक्त लक्षण घटित नहीं होनेसे उन्हे अत्रसत्वका प्रसंग आजायगा । इसलिये चलने और ठहरनेकी
अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिये ।

शंका— आत्म-प्रवृत्ति अर्थात् योगसे संचित हुए पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं, इस
व्याख्यानसे पूर्वोक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योकि, जिसमे जीवविपाकी त्रस नामकर्म और पृथिवीकायिक
आदि नामकर्मके उदयकी सहकारिता है ऐसे औदारिक-शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए
शरीरको उपचारसे कायपना बन जाता है, इसमे कोई विरोध नहीं आता है ।

त्रस और स्थावर-कायिक नामकर्मके बन्धसे अतीत सिद्धोको अकायिक कहते हैं ।
कहा भी है—

जिस प्रकार अग्निको प्राप्त हुआ सोना, कीट और कालिमारूप बाह्य और अभ्यन्तर
दोनों प्रकारके मलसे रहित हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव काय और कर्मरूप

जह कच्चणमग्गि-नाय मुच्चइ किट्टेण कालियाए य ।

तह काय^१-वध-मुक्का अकाइया ज्ञाण-जोएण^२ ॥ १४४ ॥

पुढवि-काइयादीणं भेद-पदुप्पायणद्वमुत्तर-सुत्तं भणइ—

पुढविकाइया दुविहा-वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा-पज्जत्ता
अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता । आउकाइया दुविहा-
वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा-
पज्जत्ता अपज्जत्ता । तेउकाइया दुविहा-वादरा सुहुमा । वादरा
दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता ।
वाउकाइया दुविहा-वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता ।
सुहुमा दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४० ॥

वादरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः वादराः, सूक्ष्मनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः
सूक्ष्माः । को विशेषश्चेत् ? सप्रतिघाताप्रतिघातरूपः^३ । पर्याप्तनामकर्मोदयजनित-

बन्धसे मुक्त होकर कायरहित हो जाता है ॥ १४४ ॥

अब पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं— वादर और सूक्ष्म । वादर पृथिवीकायिक जीव दो
प्रकारके हैं— पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्त और
अपर्याप्त । जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं— वादर और सूक्ष्म । वादर जलकायिक जीव दो
प्रकारके हैं— पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्त और
अपर्याप्त । अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं— वादर और सूक्ष्म । वादर अग्निकायिक जीव दो
प्रकारके हैं— पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्त और अप
र्याप्त । वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं— वादर और सूक्ष्म । वादर वायुकायिक जीव दो प्रकारके
हैं— पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४० ॥

जिनमे वादर नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें वादर कहते हैं ।
तथा जिनमे सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें सूक्ष्म कहते हैं ।

शंका— वादर और सूक्ष्ममे क्या विशेषता है ?

समाधान— वादर प्रतिघात सहित होते हैं— और सूक्ष्म प्रतिघात रहित होते हैं,
यही इन दोनोंमे विशेषता है । अर्थात् निमित्तके मिलनेपर वादर शरीरका प्रतिघात हो सकता

१ क प्रती कालिय

२ प्रा प १, २७ । गो जी २०३ किट्टेण वहिर्मलेन कालिकया च वैवर्ण्यरूपातरगमलेन ।
जी प्र टी ३ मु रुना ।

शक्त्याविर्भावितवृत्तयः पर्याप्ताः । अपर्याप्तिनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः ।

वनस्पतिकायिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

वणप्फइकाइया दुविहा—पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा । पत्तेय-सरीरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता । साधारणसरीरा दुविहा—वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा—पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ४१ ॥

प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतयः पृथिवी-कायिकादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् ।

है, परंतु सूक्ष्मशरीरका कभी भी प्रतिघात नहीं होता है ।

पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण करनेरूप अवस्था-विशेष प्रगट हो गई है उन्हें पर्याप्ति कहते हैं । तथा अपर्याप्ति नामकर्मके [उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी शरीर-पर्याप्ति पूर्ण न करके मरनेरूप अवस्था-विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें अपर्याप्ति कहते हैं ।

अब वनस्पति-कायिक जीवोंके भेद-प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं— प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर । प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं— पर्याप्ति और अपर्याप्ति । साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं— वादर और सूक्ष्म । वादर दो प्रकारके हैं— पर्याप्ति और अपर्याप्ति । सूक्ष्म दो प्रकारके हैं— पर्याप्ति और अपर्याप्ति ॥ ४१ ॥

जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक् पृथक् शरीर होता है उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं, जैसे, खैर आदि वनस्पति ।

शंका— प्रत्येकशरीरका इस प्रकार लक्षण करने पर पृथिवीकायिक आदि पांचोंको भी प्रत्येकशरीर संज्ञा प्राप्त हो जायगी ?

समाधान— यह आशंका कोई आपत्ति-जनक नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदिको प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है ।

शंका— तो फिर पृथिवीकायिक आदिके साथभी प्रत्येकशरीर विशेषण लगा लेना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वनस्पतियोंसे प्रत्येक वनस्पतिसे निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पाई जाती है, उस प्रकार पृथिवी आदिसे प्रत्येक शरीरसे भिन्न निराकरण करने योग्य कोई भेद नहीं पाया जाता है, इसलिये पृथिवी आदिसे अलग विशेषण देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

तर्हि तेषामपि प्रत्येकशरीरविशेषणं विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिष्विव व्यवच्छेद्याभावात् । वादरसूक्ष्मोभयविशेषणाभावादनुभयत्वमनुभयस्य चाभावात्प्रत्येकशरीर-वनस्पतीनामभावः समापतेदिति चेन्न, वादरत्वेन सतामभावानुपपत्तेः । अनुक्तं कथमवगम्यत इति चेन्न, सत्त्वान्यथानुपपत्तितस्तत्सिद्धेः । सौक्ष्म्यविशिष्टस्यापि जीवसत्त्वस्य सम्भवः^१ समस्तीति अनैकान्तिको हेतुरिति चेन्न, वादरा इति लक्षण-मुत्सर्गरूपत्वादशेषप्राणिव्यापि । ततः प्रत्येकशरीरवनस्पतयो वादरा एव, न सूक्ष्माः, साधारणशरीरेष्विव उत्सर्गविधिवाधकापवादविधेरभावात् । तदुत्सर्गत्वं कथमवगम्यत इति चेन्न प्रत्येकवनस्पतित्रसेषूभयविशेषणानुपादनात् सूक्ष्मत्वमुत्सर्गः आर्षमन्तरेण प्रत्यक्षादिनानवगतेरप्रसिद्धस्य वादरत्वस्येवोत्सर्गत्वविरोधात् ।

शंका— प्रत्येक वनस्पतिमे वादर और सूक्ष्म दो विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये प्रत्येक वनस्पतिको अनुभयपना प्राप्त हो जाता है । परंतु वादर और सूक्ष्म इन दो भेदोंको छोड़कर अनुभयरूप कोई तीसरा विकल्प पाया नहीं जाता है, इसलिये अनुभयरूप विकल्पके अभावमे प्रत्येकशरीर वनस्पतियोंका भी अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका वादररूपसे अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता है ।

शंका— प्रत्येक वनस्पतिको वादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति वादर ही होती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका दूसरे रूपसे अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये वादररूपसे उसके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

शंका— सूक्ष्मता-विशिष्ट जीवोंकी सत्ता संभव है, इसलिये यह सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूप हेतु अनैकान्तिक है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप (व्यापक) होनेसे संपूर्ण प्राणियोंमे पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक शरीर वनस्पति जीव वादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार साधारण शरीरोमे उत्सर्गविधिकी वाधक अपवादविधि पाई जाती है, अर्थात् साधारण शरीरोमे वादर भेदके अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उस प्रकार प्रत्येक वनस्पतिमे अपवादविधि नहीं पाई जाती है, अर्थात् उनमे सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है ।

शंका— प्रत्येक वनस्पतिमे वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाता है ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पति और त्रसोमे वादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि, आगमके विना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सूक्ष्मत्वका ज्ञान नहीं होता है, अनएव प्रत्यक्षादिसे अप्रसिद्ध सूक्ष्मको वादरकी तरह उत्सर्गरूप माननेमे विरोध आता है ।

साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः । प्रतिनियतजीवप्रतिवद्धैः पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिकनोक्तर्मस्कन्धैः कथं भिन्नजीवफलदातृभिरेकं शरीरं निष्पाद्यते, विरोधादिति चेन्न पुद्गलानामेकदेशावस्थितानामेकदेशावस्थितमित्यः समवेतजीवसमवेतानां तत्स्याशेषप्राणिस्सम्बन्धेकशरीरनिष्पादनं न विरुद्धम् साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात् । कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेद्धं पार्यते, सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात् । उक्तं च—

साहारणमाहारो साहारणमाणपाण-नहण च ।

साहारण-जीवाण साहारण लक्खण भणियं^१ ॥ १४५ ॥

जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरण हवे अणताणं ।

वक्कमदि जत्थ एक्को वक्कमण तत्थ णताणं^२ ॥ १४६ ॥

विशेषार्थ— वादरत्त्व पाचो स्यावर और त्रसोमे पाया जाता है, परंतु सूक्ष्मत्व प्रत्येकवनस्पति और त्रसोमे नहीं पाया जाता है । इसलिये वादर उत्सर्ग विधि है, सूक्ष्मत्व नहीं ।

जिन जीवोका साधारण अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर न होकर समानरूपसे एक शरीर पाया जाता है उन्हें साधारणशरीर जीव कहते हैं ।

शंका— जीवोंसे अलग अलग वधे हुए पुद्गलविपाकी होनेसे आहार वर्गणाके स्कन्धोको शरीरके आकाररूपसे परिणमन करानेमे कारणरूप और भिन्न-भिन्न जीवोको भिन्न-भिन्न फल देनेवाले औदारिक नोक्तर्मस्कन्धोके द्वारा अनेक जीवोके एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेमे विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो एकदेशमे अवस्थित हैं और जो एकदेशमे अवस्थित तथा परस्पर सबद्ध जीवोके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहां पर स्थित संपूर्ण जीवसंबन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं इसमे कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है । कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेधभी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात संपूर्ण नैयायिक लोगोमे प्रसिद्ध है । कहा भी है—

साधारण जीवोका साधारण ही आहार होता है और साधारण ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है । इस प्रकार परमागममे साधारण जीवोका साधारण लक्षण कहा है ॥ १४५ ॥

साधारण जीवोमे जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनन्त जीवोका मरण होता है । और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ पर अनन्त जीवोका उत्पाद होता है ॥ १४६ ॥

१ प्रा प १ ९२ । गो जी १९२ च शब्देन शरीरेन्द्रियपर्याप्तिद्वय समुच्चयीकृतम् । जी प टी । आचा नि १३६

२ प्रा प १ २३ । गो जी १९३ एकनिगोदशरीरे प्रतिसमयमनन्तानन्तजीवास्तावत् सहैव म्रियते सहैवोत्पद्यन्ते यावदसख्यातसागरोपमकोटिमात्री अमस्यातलोकमात्रसमयप्रमिता उत्कृष्टनिगोदकायस्थिति-

एय-णिगोद-सरीरे जीवा दव्व-प्पमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धेहि अणत्त-गुणा सव्वेण वितीद-कालेण^१ ॥ १४७ ॥

अत्थि अणत्ता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।

भाव-कलंकइपउरा णिगोद-वास ण मुचत्ति^२ ॥ १४८ ॥

ते तादृक्षाः सन्तीति कथमवगम्यत इति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशितार्थावगतिः प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते, स्वरूपविलोपप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रामाण्यमसिद्धम् सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणस्यासिद्धत्वविरोधात् । बादर-निगोदप्रतिष्ठिताश्चार्थान्तरेषु श्रूयन्ते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् ? प्रत्येकशरीरवनस्पति-ष्विति ब्रूमः । के ते ? स्नुगार्द्रकमूलकादयः ।

द्रव्य-प्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशि और सपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद-शरीरमे देखे गये हैं ॥ १४७ ॥

नित्य निगोदमे ऐसे अनन्तानन्त जीव है जिन्होंने अभीतक त्रस जीवोंकी पर्याय नहीं पाई है, और जो भाव अर्थात् निगोद पर्यायके योग्य कषायके उदयसे उत्पन्न हुई दुर्लेश्यारूप परिणामोसे अत्यन्त अभिभूत रहते हैं, इसलिये निगोद-वासको कभी नहीं छोड़ते ॥ १४८ ॥

शंका— साधारण जीव उक्त लक्षणवाले होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान— ऐसी शका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है । एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा प्रमाणके स्वरूपका अभाव प्राप्त हो जायगा । तथा आगमकी प्रमाणता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, जिसके बाधक प्रमाणोंकी असभावना अच्छी तरह निश्चित है उसको असिद्ध माननेमें विरोध आता है । अर्थात् बाधक प्रमाणोंके अभावमें आगमकी प्रमाणताका निश्चय होता ही है ।

शंका— बादर निगोदोसे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति दूसरे आगमोमे सूनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमे होगा ?

समाधान— प्रत्येक शरीर वनस्पतिमे उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं ।

शंका— जो बादरनिगोदसे प्रतिष्ठित हैं वे कौन हैं ?

समाधान— थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित है ।

परिसमाप्यते । अत्र विशेषश्च टीकातोऽवसेय । जी प्र टी ।

१ प्रा प १, ८४ । गो जी १९६ ननु अष्टसमयाधिकपण्मासाभ्यन्तरे अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु कर्मक्षय कृत्वा सिद्धेषु सत्सु सिद्धराशेर्वृद्धिदर्शनात् ससारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्योऽनन्त-गुणत्व एकशरीरनिगोदजीवानाम् सर्वजीवराश्यनन्तगुणकालसमयसमूहस्य तद्योग्यानन्तभागे गते सति ससारि-जीवराशिक्षयस्य सिद्धराशिवहुत्वस्य च सुघटत्वात् ? इति चेत्तन्न, केवलज्ञानदृष्ट्या केवलभि, श्रुतज्ञानदृष्ट्या श्रुतकेवलभिश्च सदा दृष्टस्य भव्यससारिजीवराशिक्षयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तर्कविषयत्वाभावात् । प्रत्यक्षागमबाधि-तस्य च तर्कस्याप्रमाणत्वात् । जी प्र टी

२ प्रा प १, ८५ । गो जी १९७ नित्यनिगोदलक्षणमनेन ज्ञातव्य । × × × एकदेशाभावविशिष्ट-सकलार्थावाचना प्रचुरशब्देन कदाचिदष्टसमयाधिकपण्मासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु अष्टोत्तर-

त्रसकायानां भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तसकाइया दुविहा-पज्जत्ता अपज्जत्ता ॥ ४२ ॥

गतार्थत्वान्नास्यार्थ उच्यते । किं त्रसाः सूक्ष्मा उत वादरा इति ? वादरा एव न सूक्ष्माः । कुतः ? तत्सौक्ष्म्यविधायकार्षाभावात् । वादरत्वविधायकार्षाभावे कथं तदवगम्यत इति चेन्न, उत्तरसूत्रतस्तेषां वादरत्वसिद्धेः । के ते पृथिवीकायादय इति चेदुच्यते—

पुढवी य सक्करा वालुअ उवले सिलादि छत्तीसा^१ ।

पुढवीमया हु जीवा णिहिट्ठा जिणर्वरिदेहि^२ ॥ १४९ ॥

अब त्रसकायिक जीवोके भेदोके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

त्रसकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४२ ॥

गतार्थ होनेसे इस सूत्रका अर्थ नहीं कहने है ।

शंका— त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा वादर ?

समाधान— त्रस जीव वादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते ।

शंका— यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— द्योकि त्रस जीव सूक्ष्म होते हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आगम प्रमाण नहीं पाया जाता है ।

शंका— त्रस जीवोके वादरपनेका प्रतिपादन करनेवाले आगम प्रमाण का अभाव होनेपर यह कैसे जाना जाता है कि वे वादर ही होते हैं ?

समाधान— नहीं, द्योकि, आगे आनेवाले सूत्रसे त्रस जीवोका वादरपना सिद्ध हो जाता है ।

शंका— वे पृथिवीकाय आदि जीव कौनसे हैं ?

समाधान— जिनेन्द्र भगवान्ने पृथिवी, शर्करा बालुका उपल और शिला आदिके भेदसे पृथिवीरूप छत्तीस प्रकारके जीव कहे हैं ॥ १४९ ॥

विशेषार्थ— यहा पर जो पृथिवीके अवान्तर भेदोकी अपेक्षा पृथिवीकायिक जीव छत्तीस प्रकारके कहे हैं, वे इस प्रकार हैं, मट्टीरूप पृथिवी, गगा आदि नदियोसे उत्पन्न होनेवाली रुक्ष बालुका, तीक्ष्ण और चौकोर आदि आकारवाली शर्करा, गोल पत्थर, बड़ा पत्थर, समुद्रादिमे उत्पन्न होनेवाला नमक, लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चादी, सोना, वज्र (हीरा), हरिताल, इंगुल, मैनसिल, हरे रगवाला सस्यक, अंजन, मूंगा, भोड़ल, चिकनी और चमकती हुई रेती, पट्णनजीवेपु मुक्कि गतेपु तावनो जीवा नित्गनिगोवभाव त्यक्त्वा चतुर्गतिभव प्राप्नुवतीत्ययमर्थ प्रतिपादितो बोद्धव्यम् । जी प्र टी

१ पुढवी य वालुगा सक्करा य उवले मिला य लोणे य । अय तव तड य सीसय रूप्प सुवण्णे य वडरे य ॥ हरिदाले हिंगुलए मणोमिला नत्सगजण पवाले य । अब्भपडलव्भवालु य वादरकाया मणिविधीया ॥ गोमज्जणे य रज्जणे अके फलहे य लोहिदके य । चदप्पभ वेरुलए जलकते सूरकते य ॥ गेरुय चदण वव्वग वगमोए तह ममारगल्लो य । ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ मूलाचा २०६-२०९ । आचा नि ७३-७६ । उन्न ३६-७४-७७ । प्रजा १ १७ २ प्रा प १, ७७ ।

ओसा हिमो य धूमरि हरदणु सुद्धोदवो घणोदो य^१ ।
 एदे तु आउकाया जीवा जिण-सासणुद्धि^२ ॥ १५० ॥
 इगाल-जाल-अच्ची मुम्मुर-मुद्धागणी तथा अगणी^३ ।
 अण्णे वि एवमाई तेउक्काया समुद्धि^४ ॥ १५१ ॥
 वाउव्भामो उक्कलि-मडलि-गुजा महा घणो य तणू ।
 एदे तु वाउकाया जीवा जिण-इद-णिद्धि^५ ॥ १५२ ॥
 मूलग-पोर-वीया कदा तह खघ-वीय-वीयरुहा ।
 सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणतकाया य^६ ॥ १५३ ॥

ककेंतनमणि, राजवर्तकरूप मणि, पुलकवर्णमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चद्रकान्तमणि, वैडूर्यमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गेरुवर्ण रघिराक्षमणि, चन्दनगन्धमणि, अनेक प्रकारका मरकतमणि, पुखराज, नीलमणि और विद्रुमवर्णवाली मणि ये सब पृथिवीके भेद हैं, इसलिये इनके भेदसे पृथिवीकायिक जीव भी छत्तीस प्रकारके हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

ओस, वर्ष, कुहरा, स्थूल बिन्दुरूप जल, सूक्ष्म बिन्दुरूप जल, चद्रकान्तमणिसे उत्पन्न हुआ शुद्ध जल, झरना आदिसे उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाब और घनवात आदिसे उत्पन्न हुआ घनोदक अथवा हरदणु अर्थात् तालाब और समुद्र आदिसे उत्पन्न हुआ जल तथा घनोदक अर्थात् मेघ आदिसे उत्पन्न हुआ जल ये सब जिन शासनमे जलकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५० ॥

अंगार, ज्वाला, अग्नि अर्थात् अग्निकिरण, मुर्मुर अर्थात् भूसा अथवा कण्डाकी अग्नि, गुद्धाग्नि अर्थात् विजली और सूर्यकान्त आदिसे उत्पन्न हुई अग्नि और धूमादिसहित सामान्य अग्नि, ये सब अग्निकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५१ ॥

सामान्य वायु, उद्भ्राम अर्थात् घूमता हुआ ऊपर जानेवाला वायु (चक्रवात), उत्कलि अर्थात् नीचेकी ओर बहनेवाला या जलकी तरंगोंके साथ तरंगित होनेवाला वायु, मण्डलि अर्थात् पृथिवीसे स्पर्श करके घूमता हुआ वायु, गुजा अर्थात् गुंजायमान वायु, महावात अर्थात् वृक्षादिकके भगसे उत्पन्न होनेवाला वायु, घनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव जिनेन्द्र भगवानने कहे हैं ॥ १५२ ॥

मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह और संमूर्छिम, ये सब

१ प्रा १ प १, ७८ । ओसा य हिमग महिगा हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य । ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ मूलाचा २१० । आचा नि १०८ । उक्त ३६ ८६ । प्रज्ञा १२०

२ प्रा प १, ७९ । मूलाचा २११ । आचा नि ११८ । उक्त ३६ ११०-१११ । प्रज्ञा १२३

३ प्रा प १, ८० । मूलाचा २१२ उक्कलिया मडलिया गुजा घणवाय सुद्धवाया य । वादर वाउविहाणा पचविहा वणिया एए ॥ आचा नि १६६ । उक्त ३६ ११९-१२० । प्रज्ञा १२६

४ प्रा प १, ८१ । गो जी १८६ । मूलाचा २१३ मूल मूलबीजा जीवा येपा मूल प्रादुर्भवति ते च हरिद्रादय । अग-अग्रबीजा जीवा कोरटकमल्लिका कुब्जकादयो येपामग्र प्रारोहति । पोरबीया पौरबीज-

विहि तीहि चउहि पचहि सहिया जे इदिएहि लोयम्मि ।

ते तसकाया जीवा णेया वीरोवएसेण^१ ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायादीनां^२ स्वरूपमभिधाय साम्प्रतं तेषु गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तर-
सूत्रमाह—

पुढाविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइ-
काइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे^३ ॥ ४३ ॥

आह, आप्तागमविषयश्रद्धारहिता मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते । श्रद्धाभावश्चाश्रद्धेय-
वस्तुपरिज्ञानपूर्वकः । तथा च पृथिवीकायादीनामाप्तागमविषयपरिज्ञानोज्झितानां कथं

वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे दोनो प्रकारकी कही गई
हैं ॥ १५३ ॥

लोकमे जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रियोंसे युक्त हैं
उन्हे वीर भगवानके उपदेशसे त्रसकायिक जीव जानना चाहिये ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिक आदि जीवोके स्वरूपका कथन करके अब उनमे गुणस्थानोंका निरूपण
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव
मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमे ही होते हैं ॥ ४३ ॥

शंका— शंकाकार कहता है कि आप्त, आगम और पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित जीव
मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं, और श्रद्धान करने योग्य वस्तुमे विपरीत ज्ञानपूर्वक ही अश्रद्धा अर्थात्
मिथ्याभिनिवेश हो सकता है । ऐसी अवस्थामें आप्त, आगम और पदार्थके परिज्ञानसे रहित
पृथिवीकायिक आदि जीवोके मिथ्यादृष्टिपना कैसे संभव है ?

जीवा इक्षुवेत्तादयो येपा पोरप्रदेश प्रारोहति । कदा कन्दजीवा कदलीपिण्डालुकादयो येपा कन्ददेश
प्रादुर्भवति । तह तथा । खववीया स्कन्ववीजजीवा शल्लकीपालिभद्रकादयो येपा स्कन्वदेशो रोहति । वीजवीया
वीजवीजा जीवा यवगोधूमादयो येपा धेत्रोदकादिसामग्या प्ररोह । सम्मुच्छिमा य सम्मुच्छिमाश्च मूलाद्य-
भावेऽपि येपा जन्म । × × पत्तेया प्रत्येकजीवा पूगफलनालिकेरादय । अणतकाया य अनन्तकायाश्च
स्नुहीगुड्यादय , ये छिन्ना भिन्नाश्च प्ररोहन्ति । × × स टी अग्वीया मूलवीया खववीया चेव पोरवीया
य । वीयरुहा सम्मुच्छिम समासओवणसई जीवा ॥ आचा नि १३० । उत्त. ३६ ९३-१०० । प्रज्ञा १ १९-४४.

१ प्रा प १, ८६ । गो जी १९८

२ मु पृथिवीकायिकादीना ।

३ कायानुवादेन पृथिवीकायादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । स सि १ ८.

मिथ्यादृष्टित्वमिति ! नैष दोषः, परिज्ञाननिरपेक्षमूलमिथ्यात्वसत्त्वस्य^१ तत्राविरोधात् । अथवा ऐकान्तिकसांशयिकमूढव्यूद्ग्राहितवैनयिकस्वाभाविकविपरीतमिथ्यात्वानां सप्तानामपि तत्र सम्भवः समस्ति । अत्रतनजीवानां सप्तविधमिथ्यात्वकलङ्काङ्कित-हृदयानामविनष्टमिथ्यात्वपर्यायेण सह स्थावरत्वमुपगतानां तत्सत्त्वाविरोधात् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च सर्वे मिथ्यादृष्टय इत्यभाणि, ततस्तेनैव गतार्थत्वान्नारम्भणीयमिदं सूत्रमिति ? नैष दोषः, पृथिवीकायिकादीनामियन्तीन्द्रियाणि भवन्ति न भवन्तीति अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नवशादस्य सूत्रस्यावतारात् ।

त्रसजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवालि त्ति ॥४४॥

एते त्रसनामकर्मोदयवशवर्तिनः । के पुनः स्थावराः इति चेत् ? एकेन्द्रियाः

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें परिज्ञानकी अपेक्षारहित मूल मिथ्यात्वका सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, व्यूद्ग्राहित, वैनयिक, स्वाभाविक और विपरीत इन सातों प्रकारके मिथ्यात्वोका भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें सद्भाव संभव है, क्योंकि, जिनका हृदय सात प्रकारके मिथ्यात्वरूपी कलकसे अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिसंबन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्वपर्यायको न छोड़कर जब स्थावर पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं, तो उनके सातों ही प्रकारका मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— इन्द्रियानुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय ये सब जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, ऐसा कह आये हैं, इसलिये उसीसे यह ज्ञान हो जाते हैं कि पृथिवीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं । अतः इस सूत्रको पृथक् रूपसे बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंके इतनी इन्द्रियाँ होती हैं, अथवा इतनी इन्द्रियाँ नहीं होती हैं, इस प्रकार जिस शिष्यको ज्ञान नहीं है, अथवा जो भूल गया है, उस शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे इस सूत्रका अवतार हुआ है ।

अब त्रस जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

द्वीन्द्रियसे आदि लेकर अयोगिकेवलीतक त्रसकायिक जीव होते हैं ॥ ४४ ॥

इन सब जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय पाया जाता है, इसलिये इन्हें त्रसकायिक कहते हैं ।

शंका— स्थावर जीव कौन कहलाते हैं ?

समाधान— एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

कथमनुवतमवगम्यते चेत्परिशेषात् । स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्था-
पकत्वम् । तेजोवाय्वप्कायिकानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न,
स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणव्यतिरिक्त-
शरीरत्वतस्तेषां गमनाविरोधात् ।

वादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वादरकाइया वादरेइंदिय प्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति॥४५॥

वादरः स्थूलः सप्रतिघातः कायो येषां ते वादरकायाः । पृथिवीकायिकादिषु
वनस्पतिपर्यन्तेषु पूर्वमेव वादराणां सूक्ष्माणां च सत्त्वमुक्तं ततोऽत्र वादरैकेन्द्रियग्रहण-
मनर्थकमिति चेन्नानर्थकम्, प्रत्येकशरीरवनस्पत्युपादानार्थम् तदुपादानात्प्रत्येकशरीर-

शंका— सूत्रमे एकेन्द्रिय जीवोको स्थावर तो कहा नहीं है, फिर कैसे जाना जाय
कि एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं ?

समाधान— सूत्रमे जब द्वीन्द्रियादिक जीवोको त्रसकायिक कहा है, तो परिशेष-
न्यायसे यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

शंका— स्थावरकर्मका क्या कार्य है ?

समाधान— एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावरकर्मका कार्य है ।

शंका— ऐसा मानने पर, गमन स्वभाववाले अग्निकायिक, वायुकायिक और जल-
कायिक जीवोका अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वृक्षमे लगे हुए पत्ते वायुके प्रयोगसे हिला
करते हैं और टूटने पर इधर उधर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार अग्निकायिक और जलकायिकके
गमन होनेमे कोई विरोध नहीं आता है । तथा वायुके गतिपर्यायसे परिणत शरीरको छोड़कर
कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है । इसलिये उसके गमन करनेमे भी कोई विरोध नहीं
आता है ।

अब वादर जीवोके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वादर एकेन्द्रिय जीवोसे लेकर अयोगिकेवलीपर्यन्त जीव वादरकायिक होते हैं ॥४५॥

जिन जीवोका शरीर वादर, स्थूल अर्थात् प्रतिघातसहित होता है उन्हे वादरकाय
कहते हैं ।

शंका— पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोमे वादर और सूक्ष्म दोनों
प्रकारके जीवोका सद्भाव पहले ही कह आये हैं, इसलिये इस सूत्रमे वादर एकेन्द्रिय पदका
ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान— अनर्थक नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकशरीर वनस्पतिके ग्रहण करनेके लिये

वनस्पतिप्रभृतयो वादरा इति यावत् । न विधातव्यमेतेषां वादरत्वं प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति चेन्न, सौक्ष्म्याभावप्रतिपादनफलत्वात् ।

द्विविधकायातीतजीवास्तित्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तेण परमकाइया चेदि ॥ ४६ ॥

तेन द्विविधकायात्मकजीवराशेः परं वादरसूक्ष्मशरीरनिबन्धनकर्मातीतत्व-
तोऽशरीराः सिद्धाः अकायिकाः । जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात्सिद्धा अपि सकाया इति
चेन्न, तेषामनादिबन्धनवद्धजीवप्रदेशात्मकत्वात् । अनादिप्रचयोऽपि कायः किन्न
स्यादिति चेन्न, मूर्तानां पुद्गलानां कर्मनोर्कर्मपर्यायपरिणतानां सादिसान्तप्रचयस्य

वादर एकेन्द्रिय पद सूत्रमे ग्रहण किया गया है । इस पदके ग्रहण करनेसे प्रत्येकशरीर वनस्पति
आदि सभी जीव वादर ही होते हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

शंका— इस सूत्रमे इन जीवोके वादरपनेका कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि, ये
जीव वादर ही होते हैं यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन जीवोके केवल वादरत्वके प्रतिपादन करनेके लिये
यह सूत्र नहीं रचा गया है, किन्तु इन जीवोके सूक्ष्मताके अभावका प्रतिपादन करना ही इस
सूत्रके बनानेका फल है ।

अब त्रस और स्थावर इन दोनों कार्योंसे रहित जीवोके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके
लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

स्थावर और त्रस कायसे परे कायरहित अकायिक जीव होते हैं ॥ ४६ ॥

जो उस त्रस और स्थावररूप दो प्रकारकी कायरराशिसे परे हैं वे सिद्ध जीव वादर
और सूक्ष्म शरीरके कारणभूत कर्मसे रहित होनेके कारण अशरीर होते हैं, अतएव अकायिक
कहलाते हैं ।

शंका— जीवप्रदेशोके प्रचयरूप होनेके कारण सिद्ध जीव भी सकाय है, फिर उन्हें
अकाय क्यों कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सिद्ध जीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे वद्ध जीव
प्रदेशस्वरूप हैं, इसलिये उसकी अपेक्षा यहाँ कायपना नहीं लिया गया है ।

शंका— अनादिकालीन आत्म-प्रदेशोके प्रचयको काय क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहाँ पर कर्म और नोर्कमरूप पर्यायसे परिणत मूर्त
पुद्गलोके सादि और सान्त प्रदेश प्रचयको ही कायरूपसे स्वीकार किया है ।

विशेषार्थ— यद्यपि पाच अस्तिकायोमे सिद्ध जीवोका भी ग्रहण हो जाता है । फिर
भी यहाँ पर अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे वद्ध जीव-प्रदेशोके प्रचयरूप कायकी

कायत्वाभ्युपगमात् । 'इति' शब्द एक एवास्तु सूत्रपरिसमाप्त्यर्थत्वात्, न 'च' शब्दः, तस्य फलाभावादिति चेन्न, तस्य कायमार्गणपरिसमाप्तिप्रतिपादनफलत्वात् ।

योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि ॥ ४७ ॥

अत्र 'इति' शब्दः सूत्रसमाप्तिप्रतिपादनफलः । 'च' शब्दश्च त्रय एव योगाः सन्ति नान्ये इति योगसंख्यानियमप्रतिपादनफलः समुच्चयार्थो वा । योगस्य लक्षणं प्रागुक्तमिति नेदानीमुच्यते । मनसा योगो मनोयोगः । अथ स्यान्न द्रव्यमनसा सम्बन्धो मनोयोगः, मनोयोगस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरकालस्थितिप्रसङ्गात् । न सक्रियावस्था योगः, योगस्याहोरात्रमात्रकालप्रसङ्गात् । न भावमनसा सम्बन्धो

अपेक्षा न होकर कर्म और नोर्कर्मके निमित्तसे होनेवाले सादि और सान्त प्रदेशप्रचयरूप कायकी अपेक्षा है । इसलिये इस विवक्षासे सिद्ध जीव अकायिक होते हैं, क्योंकि, उनके कर्म और नोर्कर्मके निमित्तसे होनेवाले प्रदेशप्रचयरूप कायका अभाव हो गया है ।

शंका— सूत्रमें 'इति' यह एक ही शब्द रहा आवे, क्योंकि, उसका फल सूत्रकी परिसमाप्ति है । परंतु 'च' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, प्रकृतमें उसका कोई प्रयोजन नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कायमार्गणाकी परिसमाप्तिका प्रतिपादन करना ही यहां पर 'च' शब्दका फल है ।

अब योगमार्गणाके द्वारा जीव द्रव्यके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं— योगमार्गणाके अनुवादकी अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव है ॥४७॥

इस सूत्रमें जो 'इति' शब्द आया है उसका फल सूत्रकी समाप्तिका प्रतिपादन करना है । तथा जो 'च' शब्द दिया है उसका फल, योग तीन ही होते हैं, अधिक नहीं, इस प्रकार योगकी सख्याके नियमका प्रतिपादन करना है । अथवा 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला समझना चाहिये ।

योगका लक्षण पहले कह आवे हैं, इसलिये यहां पर नहीं कहते हैं । मनके द्वारा होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं ।

शंका— यदि ऐसा है, तो द्रव्यमनसे संबन्ध होनेको तो मनोयोग कह नहीं सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर मनोयोगकी कुछ कम तेतीस सागर प्रमाण स्थितिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । प्रियामहित अवस्थाको भी योग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर गौर्गणी दिन-रात्रिमात्र कालका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । अर्थात्, कोई कोई क्रिया दिन-रात

मनोयोगः, तस्य ज्ञानरूपत्वतः उपयोगान्तर्भावात् इति ? न त्रितयविकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् । कः पुनः मनोयोग इति चेद्भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः । तथा वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः । कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः । त्रयाणां योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति ? नाक्रमेण, त्रिष्वक्रमेणैकस्यात्मनो योगविरोधात्^१ । मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिः, दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिः, तथोपदेशाभावादिति । अथ स्यात्प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च सिद्धो रहती है, इसलिये एक योगकी स्थिति भी अहोरात्र प्रमाण माननी पड़ेगी । किंतु आगममे तो एक योगकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं मानी है । अतः क्रियासहित अवस्था भी योग नहीं हो सकता है । इसी प्रकार भावमनके साथ सबध होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, भावमन ज्ञानरूप होनेके कारण उसका उपयोगमे अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान— इस प्रकार तीनों विकल्पोंके द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, उक्त तीनों ही विकल्पोंको स्वीकार नहीं किया है ।

शंका— तो फिर मनोयोगका क्या स्वरूप है ?

समाधान— भावमनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं । उसी प्रकार वचनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं ।

शंका— तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं ?

समाधान— युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् मानने पर योगके विरोधका प्रसंग आजायगा । अर्थात् किसी भी आत्माके योग नहीं बन सकेगा ।

शंका— कहीं पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ युगपत् देखी जाती हैं ?

समाधान— यदि देखी जाती है, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ । परंतु इससे, मन वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि, आगममे इस प्रकार उपदेश नहीं मिलता है ।

विशेषार्थ— तीनों योगोंकी प्रवृत्ति एकसाथ हो सकती है, प्रयत्न नहीं ।

शंका— प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है, और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है । ऐसी परिस्थितिमे मनोयोग शेष योगोंका अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जाना चाहिये ? अर्थात् अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जायगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमे उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

मनोयोगः शेषयोगाविनाभावीति ? न, कार्यकारणयोरेककाले समुत्पत्तिविरोधात् । तदस्यास्त्यस्मिन्निति इति सति सिद्धं मनोयोगी वाग्योगी काययोगीति ।

योगातीतजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अजोगी चेदि ॥४८॥

न योगी अयोगी । उक्तं च—

जेसि ण सन्ति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पाव सज्जणया ।

ते होति अजोगिजिणा अणोवमाणत-वल-कलिया' ॥ १५५ ॥

मनोयोगस्य सामान्यतः एकविधस्य भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो चउव्विहो-सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोस-
मणजोगो असच्चमोसमणजोगो ॥४९॥

सत्यमवितथसमोघमित्यनर्थान्तरम् । सत्ये मनः सत्यमनः, तेन योगः सत्यमनोयोगः । तद्विपरीतो मोषमनोयोगः । तदुभययोगात्सत्यमोषमनोयोगः । उक्तं च—

वह मनोयोग जिसके या जिस जीवमे होता है उसे मनोयोगी कहते हैं । यहां पर मनोयोग शब्दसे ' इन् ' प्रत्यय कर देने पर मनोयोगी शब्द बन जाता है । इसी प्रकार वाग्योगी और काययोगी शब्द भी बन जाते हैं ।

अब योग रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अयोगी जीव हैं ॥ ४८ ॥

जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी हैं । कहा भी है—

जिन जीवोंके पुण्य और पापके उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते हैं वे अनुपम और अनन्त-बल सहित अयोगीजिन कहलाते हैं ॥ १५५ ॥

सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके मनोयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग चार प्रकारका है, सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषामनोयोग ॥ ४९ ॥

सत्य, अवितथ और अमोघ ये एकार्थवाची शब्द हैं । सत्यके विषयमे होनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं, और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । जो योग सत्य और मृषा इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न होता है उसे सत्यमृषामनोयोग कहते हैं । कहा भी है—

सवभावो सच्चमणो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।

तव्विवरीदो भोसो जाणुभय सच्चमोस ति^१ ॥ १५६ ॥

ताभ्यां सत्यमोषाभ्यां व्यतिरिक्तोऽसत्यमोषमनोयोगः । तद्वर्चुभयसंयोग-
जोऽस्तु ? न, तस्य तृतीयभङ्गेऽन्तर्भावात् । कोऽपरश्चतुर्थो मनोयोग इति चेदुच्यते ।
समनस्केषु मनःपूर्विका वचसः प्रवृत्तिः अन्यथानुपलम्भात् । तत्र सत्यवचननिबन्धन-
मनसा योगः सत्यमनोयोगः । तथा मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः ।
उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमोषमनोयोगः । त्रिविधवचनव्यतिरिक्ता-
मन्त्रणादिवचननिबन्धनमनसा योगोऽसत्यमोषमनोयोगः । नायमर्थो मुख्यः, सकलमन-
सामव्यापकत्वात् । कः पुनर्निरवद्योऽर्थश्चेद्यथावस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः ।

सद्भाव अर्थात् सत्यार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं और उससे जो
योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं ।
उभयरूप योगको सत्यमृषामनोयोग जानो ॥ १५६ ॥

सत्यमनोयोग और मृषामनोयोगसे व्यतिरिक्त योगको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।

शंका— तो असत्यमृषामनोयोग (अनुभय) उभयसंयोगज रहा आवे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उभयसंयोगजका तीसरे भेदमे अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका— तो फिर इनसे भिन्न चौथा अनुभय मनोयोग कौनसा है ?

समाधान— समनस्क जीवोमे वचनप्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके
बिना उनमे वचनप्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । इसलिये उन चारोमेसे सत्यवचननिमित्तक मनके
निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य वचन-निमित्तक मनसे होनेवाले
योगको असत्यमनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा इन दोनोरूप वचननिमित्तक मनसे होनेवाले
योगको उभय मनोयोग कहते हैं । उक्त तीनो प्रकारके वचनोसे भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभय-
रूप वचन-निमित्तक मनसे होनेवाले योगको अनुभयमनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका
कथन मुख्य नहीं है, क्योंकि, इसकी संपूर्ण मनके साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती है । अर्थात् उक्त
कथन उपचरित है, क्योंकि, वचनकी सत्यादिकतासे मनमे सत्य आदिका उपचार किया गया है ।

शंका— तो फिर यहाँ पर निर्दोष अर्थ कौनसा लेना चाहिये ?

१ प्रा प १, ८९ । गो जी २१८ सद्भाव सत्यार्थ. तद्विषय मन सत्यमन, सत्यार्थज्ञानजन-
नशक्तिरूप भावमन इत्यर्थ । × × तद्विपरीत अमत्यार्थविषयज्ञानजनितशक्तिरूपभावमनसा जनितप्रयत्न-
विशेष मृषा असत्यमनोयोग । उभय सत्यमृषार्थज्ञानजननशक्तिरूपभावमनोजनितप्रयत्नविशेष उभयमनोयोग ।
जी प्र टी

विपरीतमसत्यमनः । द्व्यात्मकमुभयमनः । संशयानध्यवसायज्ञाननिबन्धनमसत्यमोषमन
इति । अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनोऽप्यर्थः समीचीन एव । उक्तं च—

ण य सच्च-मोस-जुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।

जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो^१ ॥ १५७ ॥

मनसो भेदमभिधाय साम्प्रतं गुणस्थानेषु तत्सत्त्व^२निरूपणार्थमुत्तरसूत्र-
द्वयमाह^३—

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णि-
मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति ॥ ५० ॥

मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोगः क्व लब्धश्चेन्नैष दोषः, चतसृणां
मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पञ्चमत्वोपपत्तेः । किं तत्सामान्यमिति चेन्मनसः सादृश्यम् ।

समाधान— जहां जिस प्रकारकी वस्तु विद्यमान हो, वहां उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करने
वाले मनको सत्यमन कहते हैं । इससे विपरीत मनको असत्यमन कहते हैं । सत्य और असत्य
इन दोनोंरूप मनको उभयमन कहते हैं । तथा जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका कारण
है उसे अनुभय मन कहते हैं । अथवा मनमे सत्य, असत्य आदि वचनोको उत्पन्न करनेरूप
योग्यता है, उसकी अपेक्षासे चिरन्तन अर्थभी समीचीन है । कहा भी है—

जो मन सत्य और मृषासे युक्त नहीं होता है उसको असत्यमृषामन कहते हैं, और
उससे जो योग अर्थात् प्रयत्नविशेष होता है उसे असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥ १५७ ॥

मनोयोगके भेदोका कथन करके अब गुणस्थानोमे उसके सत्त्वका निरूपण करनेके
लिये आगेके दो सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे मनोयोग और विशेषरूपसे सत्यमनोयोग तथा असत्यमृषामनोयोग संज्ञी
मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं ॥ ५० ॥

शंका— चार मनोयोगोके अतिरिक्त मनोयोग इस नामका पांचवाँ मनोयोग कहाँसे
आया ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भेदरूप चार प्रकारके मनोयोगोमे
रहनेवाले सामान्य योगके पांचवी संख्या बन जाती है ।

शंका— वह सामान्य क्या है जो चार प्रकारके मनोयोगोमे पाया जाता है ?

समाधान— यहां पर सामान्यसे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिये ।

मनसः समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिर्दृश्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्त-प्रयत्नसम्बन्धस्य विवक्षितत्वात्^१ ।

भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वम् तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोषमनोयोगस्य सत्त्वम्, तत्र संशयानध्यवसाययोरभावादिति ? न, संशयानध्यवसायनिबन्धनवचनहेतुमनसोऽप्यसत्यमोषमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात् । किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेन्न, 'स्वार्थानित्याच्छ्रोतुरावरणक्षयोपशमातिशयाभावात् । तीर्थकरवचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपम्, तत एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्व-

मनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

शंका— पूर्व-प्रयोगसे प्रयत्नके बिना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान— यदि प्रयत्नके बिना भी मनकी प्रवृत्ति होती है तो होने दो, क्योंकि, ऐसे मनसे होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहाँ पर विवक्षित नहीं है । किंतु मनके निमित्तसे जो प्रयत्नविशेष होता है, वह यहाँ पर योगरूपसे विवक्षित है ।

शंका— केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा आवे, क्योंकि, वहाँ पर वस्तुके यथार्थ ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है । परंतु उनके असत्यमूषामनोयोगका सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, वहाँ पर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है । अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोतके आवरणकर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोके निमित्तसे संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है ।

शंका— तीर्थकरके वचन अनक्षररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादिरूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है ।

तस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वासिद्धेः । साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्टवर्णात्मकभूयःपङ्क्तिवत्कदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात् । तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः^१ । अतीन्द्रियज्ञानत्वाच्च केवलीनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात् । भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने

शंका— केवलीकी ध्वनिकी साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषारूप नहीं हो सकेगे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्रमविशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पक्तियोंके समुच्चयरूप और अलग अलग प्रत्येक श्रोतामे प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि संपूर्ण भाषारूप होती है ऐसा मान लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— जब कि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके वचन इसी भाषारूप है, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परंतु वहा पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान— द्रव्यमनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे, परंतु उसके उत्पन्न करनेमे प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, उसका प्रयत्न कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उससे आत्माका जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

१ वयणेण विणा अत्थपदुप्पायण ण सभवइ, सुहुमत्थाण सण्णाए परूवणाणुववत्तीदो । ण चाणएए (चाणक्खराए ?) झुणीए अत्थपदुप्पायण जुज्जदे, अणक्खरभासत्तिरिक्खे मोत्तूण अण्णेसि तत्तो अत्थावगमाभावादो । ण च दिव्वज्झुणी अणक्खरप्पिया चेव, अट्टारससत्तसयभासकुभासप्पियत्तादो । घवला अ पृ ६९३ सूत्रपौरुपीपु भगवत्तस्तीर्थकरस्य तात्वोष्ठपुटविचलनमतरेण सकलभाषास्वरूपदिव्यध्वनिधर्मकथनविधानं × × कथ्यते । घवला अ पृ ७०६ सा वि य ण भगवओ अट्टमागहा भासा भासिज्जमाणी तेसि सव्वेसि आयरियमणायरियाण दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसिरीसिवाण अप्पणो भासत्ताए परिणमइ । सम सू ३४ अष्टादशमहाभाषासप्तशतक्षुल्लकभाषासन्धक्षरानक्षरभाषात्मकत्यक्ततालुदतोष्ठकठव्यापारभव्यजनानन्दकयुगपत्सर्वोत्तरप्रतिपादकदिव्यध्वन्युपेत । गो जी, जी प्र, टी १ × × सारयनवत्थणियमहुरगभीरकोचणिगघोसदुदुभिस्सरे उरे वित्थडाए कठेज्वट्ठियाए सिरे समाइण्णाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सहए जोजयणी-

प्रयत्नोऽस्त्येव, तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात् । तेनात्मनो योगः मनोयोगः । विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोप-
शमाभावात् । असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः
समुत्पत्तिविधानात् ।

शेषमनसोर्गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि
जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था रि ॥ ५१ ॥

भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोषस्य च सत्त्वं नेतरयोः,

शंका— केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने
कार्यको क्यों नहीं करता है ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोप-
शमका अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है ।

शंका— जब कि केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है,
तो उनके सत्य और अनुभय इन दो प्रकारकी वचनोकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोकी
उत्पत्तिका विधान किया गया है ।

अब शेष दो मनोयोगोके गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-
वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५१ ॥

शंका— क्षपक और उपशमक जीवोके सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोगका सद्भाव

हारिणा सरेण अद्धमागहाए भासाए भासति अरिहा घम्म परिकहेइ । X X सा वि य ण अद्धमागहा भासा
तेसि सव्वेसि आरियमणारियाण अप्पणो भासाए परिणामेण परिणमइ । औप सू ३४ व्याप्नोत्यायोजन वाणी
सर्वभापानुगा प्रभो ॥ तथाहु श्री हेमसूरय काव्यानुशामने, अकृत्रिमस्वादुपदा परमार्थाभिधायिनीम् । सर्व-
भापापरिणता जैनी वाचमुपास्महे ॥ देवा दैवी नरा नारी श्वराश्चापि शायरीम् । तिर्यञ्चोऽपि च तैरश्ची
मेनिरे भगवद्गिरम् ॥ यथा जलवरस्याम्भ आश्रयाणा विशेषत । नानारस भवत्येव वाणी भगवतामपि ॥
स्यात्प्रभोर्मूलभापा च स्वभावादधर्मागवी । स्याता द्वे लक्षणे ह्यस्या मागव्या प्राकृतस्य च ॥ येनैकेनैव वचमा
भूयसामपि सगया । छिद्यन्ते वक्ति तत्मावो जाताशेयवचोविधि ॥ क्रमच्छेदे मगयानामसत्यत्वाद्वपुष्मताम् ।
असत्येनापि कालेन भवेन् कथमनुग्रह ॥ शब्दशक्तेर्विचित्रत्वात् सन्तीदृशि वचासि च । प्रयुक्तैरुत्तर यत्स्या-
द्युगपद्भूयमामपि ॥ सर शरस्वरार्थेन भिल्लेन युगपद्यथा । 'मरो नत्वि' ति वाक्येन प्रियान्तिस्त्रोऽपि
वोधिता ॥ लो प्र ३०, ६३४-६४२ सर्वाधर्मागवीया भापा भवति, कोऽर्थ ? अर्थ भगवद्भापाया मगवदेश-
भापात्मके, अर्थ च सर्वभापात्मक । कथमेव देवोपनीतत्वं तदतिगम्येति चेत् ? मगवदेवसन्निधाने तथा-
पिरिणतया भापया मस्कृतभापया प्रवर्तते । पट्प्रा. ४ ३२ (स टी)

अप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वादिति ? न, रजोजुषां विपर्ययानध्यवसायज्ञानकारण-
मनसः^१ सत्त्वाविरोधात् । न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते, प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात् ।

वाग्योगभेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्च-
मोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तत्तद्व्यपदेशं^२ प्रतिलभन्ते
तथा प्रतीयते च । उक्तं च--

दसविह-सच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।

तव्विवरीदो मोसो जाणुभय सच्चमोस ति^३ ॥ १५८ ॥

जो णेव सच्च-मोसो त जाण असच्चमोसवचिजोग^४ ।

अमणाण जा भासा सण्णीणामतणीयादी^५ ॥ १५९ ॥

रहा आवे, परंतु वाकीके दो अर्थात् असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो
सकता है, क्योंकि, इन दोनोंमें रहनेवाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका
विरोधी है ? अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमादरहित होते हैं, इसलिये उनके असत्यमनोयोग
और उभयमनोयोग नहीं पाये जा सकते हैं ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय ज्ञान और
अनध्यवसाय ज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परंतु इसके
संबन्धसे क्षपक या उपशमक जीव प्रसन्न नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी
पर्याय है ।

अब वचनयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

वचनयोग चार प्रकारका है, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग उभयवचनयोग और
अनुभय वचनयोग ॥ ५२ ॥

चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उस उस संज्ञाको प्राप्त होते
हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है । कहा भी है--

दश प्रकारके सत्यवचनमे वचनवर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचन-
योग कहते हैं । उससे विपरीत योगको मृषावचनयोग कहते हैं । सत्यमृषारूप वचन योगको
उभयवचनयोग कहते हैं । १५८ ॥

जो न तो सत्य रूप है और न मृषारूप ही है वह असत्यमृषावचनयोग है । असंज्ञी

वचसो भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रत्रितयमाह—
वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव
सजोगिकेवलि ति ॥ ५३ ॥

असत्यमोषमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति ? नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति, मनोरहितकेवलानां वचनाभावासंजनात्^१ । विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः । ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात् । भावे वा न शेषेन्द्रियेभ्यो^२ ज्ञानसमुत्पत्तिः, मनसः समुत्पन्नत्वात् । नैतदपि, दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात् । न चक्षुरादीनां सहकार्यपि,^३ सप्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात् ।

जीवोकी भाषा और संज्ञी जीवोकी आमन्त्रणी आदि भाषाएं इसके उदाहरण हैं ॥ १५९ ॥

इस प्रकार वचनयोगके भेद कहकर अब गुणस्थानोमे उसके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेके तीन सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोसे लेकर संयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५३ ॥

शंका— अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभयवचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है । ऐसी हालतमे मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोके अनुभयवचन कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— यह कोई एकान्त नहीं है कि संपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं । यदि संपूर्ण वचनोकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके वचनोका अभाव प्राप्त हो जायगा ।

शंका— विकलेन्द्रिय जीवोके मनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके विना वचनोकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है । यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है, तो वाकीके इन्द्रियोसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि, संपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो । अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोमे रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानकी अन्यत्र वृत्ति माननेमे विरोध आता है । यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोका सहकारी कारण माना जावे तो भी नहीं बनता है, क्योंकि, प्रयत्न सहित आत्मके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है ।

शंका— समनस्क जीवोमे तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है ?

समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न, केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकज्ञानं^१ तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाद्वचनमुत्पद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञां विधायोक्तत्वात् । कथं विकलेन्द्रियवचसोऽसत्यमोषत्वमिति चेदन्ध्यवसायहेतुत्वात् । ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्त्र-भिप्रायं^२ विषयाध्यवसायाभावस्य विवक्षितत्वात् ।

सत्यवचसो गुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सच्चवचिजोगो सपिणमिच्छाइटि-प्पहुडि जाव सजोगि-
केवलि त्ति ॥ ५४ ॥

दशविधानामपि^३ सत्यानामेतेषु गुणस्थानेषु सत्त्वस्य विरोधासिद्धेः तत्र भवन्ति

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है ।

शंका— तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवोके जो क्षायोपशमिक ज्ञान उत्पन्न होता है वह मनोयोगसे होता है ?

समाधान— यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है ।

शंका— मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे घटित होगा ?

समाधान— यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहां पर मानस ज्ञानकी 'मन' यह संज्ञा उपचारसे रखकर कथन किया है ।

शंका— विकलेन्द्रियोके वचनोमे अनुभयपना कैसे आ सकता है ?

समाधान— विकलेन्द्रियोके वचन अनध्यवसायरूप ज्ञानके कारण हैं, इसलिये उन्हें अनुभयरूप कहा है ।

शंका— उनके वचनोमे ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उन्हें अनध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्रायविषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है ।

अब सत्यवचनयोगका गुणस्थानोमे निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्यवचनयोग सज्जी मिथ्यादृष्टीसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५४ ॥

दशो ही प्रकारके सत्यवचनोके सूत्रोक्त तेरह गुणस्थानोमे पाये जानेमे कोई विरोध

१ मु शमिक ज्ञान । २ मु वक्तुरभिप्राय ।

३ जणपदमम्मदिठवणाणामे रुवे पडुच्च ववहारे । मभावणे य भावे उवमाए दसविह सच्च ॥ भत्त देवी चदप्पहपडिमा तह य होदी जिणदत्तो । सेदी दिग्घो रज्ज्जदि करो त्ति य ज हवे वयण ॥ गो जी २२२, २२३

दशपि सत्यानीति ।

शेषवचसोः गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सणिणमिच्छाइट्टिप्पहुडि
जाव खीण-कसाय-वीयराय-छुदुमत्था त्ति ॥ ५५ ॥

क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात् । तत एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति । वाच्यमस्य क्षीणकषायस्य कथं वाग्योगश्चेन्न, तत्राप्यन्तर्जल्पस्य' सत्त्वाविरोधात् ।

काययोगसंख्याप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो सत्तविहो-ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्स-
कायजोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकाय-
जोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ॥ ५६ ॥

औदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पन्दनिबन्धनप्रयत्नः औदारिक-
नहीं आता है, इसलिये उनमें दशों प्रकारके सत्यवचन होते हैं ।

शेष वचनयोगोका गुणस्थानोमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग सत्ती मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-
छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शंका— जिसकी कषायें क्षीण हो गई हैं ऐसे जीवके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं?

समाधान— ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्यवचनका कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहाँ पर असत्यवचनके सद्भावका प्रतिपादन किया है । और इसीलिये उभयसंयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थानतक होता है, इस कथनमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— वचनगुप्तिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायरहित जीवोंमें भी अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब काययोगकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग सात प्रकारका है— औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिक-
काययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कर्मणकाय-
योग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीरद्वारा (औदारिक वर्गणाओसे) उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें

काययोगः । कर्मणौदारिकस्कन्धाभ्यां जनितवीर्यत्तित्परिस्पन्दनार्थः प्रयत्नः औदारिक-
मिश्रकाययोगः । उदारः पुरुः महानित्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकम् । अथ स्यान्न
महत्त्वमौदारिकशरीरस्य ? कथमेतदवगम्यते ? वर्गणासूत्रात् । किं तद्वर्गणासूत्रमिति
चेदुच्यते 'सर्व्वत्थोवा ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा, वेउव्विय-सरीर-दव्व-
वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, तेया-
सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, भासा-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, मण-
दव्व-वग्गणा-पदेसा अनंतगुणा, कम्मइय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा त्ति ' ।
न, अवगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः । यथा ' सर्व्वत्थोवा कम्मइय-
सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा, मण-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, भासा-
दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा
असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, वेउव्विय-
सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणाए
परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । कर्मण और
औदारिक वर्गणाओके द्वारा उत्पन्न हुए वीर्यसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिये जो प्रयत्न होता
है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं । उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थके वाचक शब्द
हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं ।

शंका— औदारिक शरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है ?

प्रतिशंका— यह कैसे जाना ?

शंकाका समर्थन— वर्गणासूत्रसे यह बात मालूम पड़ती है ।

प्रतिशंका— वह वर्गणासूत्र कौनसा है ?

शंकाका समर्थन— जिससे औदारिक शरीरकी महानता सिद्ध नहीं होती है वह
वर्गणासूत्र इसप्रकार है— 'औदारिकशरीर द्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश सबसे थोड़े हैं । उससे
असंख्यातगुणे वैक्रियकशरीरद्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे असंख्यातगुणे आहारकशरीर-
द्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे तैजसशरीरद्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे
अनन्तगुणे भाषाद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे मनोद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं, और उससे
अनन्तगुणे कर्मणशरीरद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं ' ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी स्थूलता बन
जाती है । जैसे कि कहा भी है—

'कर्मणशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना सबसे सूक्ष्म है । मनोद्रव्यवर्गणाकी
अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । भाषाद्रव्यवर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है ।
तैजसशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । आहारशरीरसंबन्धी
द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । वैक्रियकशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी
अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । औदारिकशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे

ओगाहणा असंखेज्जगुणा त्ति । ' उत्तं च—

पुरुमहुमुदारुराल एयट्ठो त विजाण तम्हि भव ।

ओरालिय ति वुत्त ओरालियकायजोगो सो^१ ॥ १६० ॥

ओरालियमुत्तत्थं विजाण मिस्स च अपरिपुण्ण ति ।

जो तेण सपजोगो ओरालियमिस्सको जोगो^२ ॥ १६१ ॥

अणिमादिविक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते । तत्र भवं शरीरं वैक्रियिकम् । तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियिककाययोगः । कर्मण-वैक्रियिकस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः वैक्रियिकमिश्रकाययोगः । उक्तं च—

विविह-गुण-इडिड-जुत्त वेउव्वियमहव विकिरिया चेव ।

तिस्से भव च णेय वेउव्वियकायजोगो सो^३ ॥ १६२ ॥

असंख्यातगुणी है । कहा भी है—

पुरु, महत्, उदार और उराल, ये शब्द एकार्थवाचक हैं । उदारमे जो होता है उसे औदारिक कहते हैं, और उसके निमित्तसे होनेवाले योगको औदारिककाययोग कहते हैं ॥ १६० ॥

औदारिकका अर्थ ऊपर कह आये है । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है, और उसके द्वारा होनेवाले संप्रयोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६१ ॥

अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको विक्रिया कहते हैं । उन ऋद्धियोंके सपर्कसे पुद्गल भी ' विक्रिया ' इस नामसे कहे जाते हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियकशरीर कहते हैं । उस शरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्दद्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियककाययोग कहते हैं । कर्मण और वैक्रियक वर्गणाओके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिये प्रयत्न होता है उसे वैक्रियकमिश्रकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त शरीरको वैगूविक अथवा वैक्रियक शरीर

१ प्रा प १, ९३ । गो जी २३० सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणशरीराणा स्थूलत्वाभावात् कथमौदारिकत्व ? इति चेन्न, तत् सूक्ष्मतरवैक्रियकादिशरीरापेक्षया तेषा महत्त्वेन परमागमरूढ्या वा औदारिकत्वमभावात् । म प्र टी

२ प्रा प १, ९४ । गो जी २३१ प्रागुक्तलक्षणमौदारिकशरीर तदेवान्तर्मुहूर्तपर्यन्तमपूर्ण अपर्याप्त तावन्मिश्रमित्युच्यते अपर्याप्तकालसवधिमयत्रयसंभविाकर्मणकाययोगाकृष्टकर्मणवर्गणासयुक्तत्वेन परमागमरूढ्या वा अपर्याप्त अपर्याप्तशरीरमिश्रमित्यर्थः । जी प्र टी । तत्रौदारिकादय शुद्धा मुवोवा । औदारिकमिश्रस्तु औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्र दधि न गुडतया नापि दधिया व्यपदिश्यते तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वात् । एवमौदारिक मिश्र कर्मणेन । नौदारिकतया नापि कर्मणतया व्यपदेष्टु शक्यम अपरिपूर्णत्वादिति तस्यौदारिकमिश्रव्यपदेशः । एव वैक्रियकाहारकमिश्रावपीति शतकटीकालेग । प्रज्ञापना-व्याख्यानाशस्त्वेवम्, औदारिकाद्या शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । स्या सू पृ १०१

३ प्रा प १, ९५ । गो जी २३२

वेउव्वियमुत्तथ विजाण मिसस च अपरिपुण्ण च ।

जो तेण सपजोगो वेउव्वियमिस्सको जोगो^१ ॥ १६३ ॥^२

आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः । तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोगः । कथमौदारिकस्कन्धसम्बद्धानां जीवावयवानां अन्यशरीरेण हस्तमात्रेण शङ्खध्वलेन शुभसंस्थानेन योग इति चेन्नैष दोषः, अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः । तत एव न पुनः सङ्घटनमपि विरोधमास्कन्देत् । अथ स्याज्जीवस्य शरीरेण सम्बन्धकृदायुस्तयोर्वियोगो मरणम् । न च गलितायुषस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिः, विरोधात् । ततो न तस्यौदारिकशरीरेण पुनः सङ्घटनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगो मरणम्, तयोः संयोग-

कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूविककाययोग कहते हैं । ॥ १६२ ॥

वैगूविकका अर्थ पहले कह ही चुके हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे वैगूविकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करता है, अर्थात् आत्मसात् करता है उसे आहारकशरीर कहते हैं और उसे आहारकशरीरसे जो योग होता है उसे आहारककाययोग कहते हैं ।

शंका— औदारिकस्कन्धोसे सबन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशोका हस्तप्रमाण, शङ्खके समान ध्वल वर्णवाले, और शुभ अर्थात् समचतुरत्न सस्थानसे युक्त अन्य शरीरके साथ कैसे सबन्ध हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके प्रदेश आनादिकालीन बन्धनसे बद्ध होनेके कारण मूर्त है, अतएव उनका मूर्त आहारकशरीरके साथ संबन्ध होनेमे कोई विरोध नहीं आता है । और इसीलिये उनका फिरसे औदारिक शरीरके साथ सघटनका होना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

शंका— जीवका शरीरके साथ सबन्ध करनेवाला आयुकर्म है, और जीव तथा शरीरका परस्परमे वियोग होना मरण है । इसलिये जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे जीवकी फिरसे उसी शरीरमे उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा माननेमे विरोध आता है । अतः जीवका औदारिक शरीरके साथ पुनः सघटन नहीं बन सकता है । अर्थात् एकवार जीवप्रदेशोका आहारक शरीरके साथ सबन्ध हो जानेके पश्चात् पुनः उन प्रदेशोका पूर्व औदारिक शरीरके साथ सबन्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगममे जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं

स्योत्पत्तिप्रसङ्गत् । अस्तु चेन्न, 'छिन्नपूर्वायुषामुदयप्राप्तोत्तरभवसम्बन्ध्यायुःकर्मणां परित्यक्तानुपात्तपूर्वोत्तरशरीराणामपि जीवानामुत्पत्त्युपलम्भात् । भवतु 'तथोत्पत्ति-
मरणं पुनर्जीवशरीरवियोग एवेति चेदस्तु सर्वात्मना तयोर्वियोगो मरणं नैकदेशेन,
आगलादप्युपसंहृतजीवावयवानां मरणानुपलम्भात् जीविताच्छिन्नहस्तेन व्यभि-
चाराच्च । न च पुनरस्यर्थः^३ सर्वावयवैः पूर्वशरीरपरित्यागः समस्ति येनास्य मरणं
जायेत । न चैतच्छरीरं गच्छत्पर्वतादिना प्रतिहन्यते^४ शस्त्रैश्छिद्यतेऽग्निना दह्यते वा,
सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियकशरीरवत् । "आहारकर्मणस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहार-
मिश्रकाययोगः । उक्तं च—

कहा है, अन्यथा उनके सयोगको उत्पत्ति मानना पड़ेगा ।

शंका— जीव और शरीरका सयोग उत्पत्ति रहा आवे, इसमे क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि जिनकी पूर्व आयु छिन्न हो गई है और जिन्होंने उत्तर
भवसम्बन्धी आयुको प्राप्त कर लिया है, फिर भी जिन्होंने पूर्व शरीर तो छोड़ दिया है, किन्तु
उत्तर शरीर अभी प्राप्त नहीं किया है ऐसे भी जीवोकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिए जीव
शरीरके सयोगको उत्पत्ति नहीं कह सकते ।

शंका— उत्पत्ति इसप्रकारकी भली ही रही आवे, फिर भी मरण तो जीव और
शरीरके वियोगको ही मानना पड़ेगा ?

समाधान— यह कहना ठीक है, तो भी जीव और शरीरका संपूर्णरूपसे वियोग ही
मरण हो सकता है । उनका एकदेशरूपसे वियोग मरण नहीं हो सकता, क्योंकि, जिनके
कण्ठपर्यन्त जीवप्रदेश संकुचित हो गये हैं ऐसे जीवोका भी मरण नहीं पाया जाता है । यदि
एकदेश वियोगको भी मरण माना जावे, तो जीवित शरीरसे छिन्न होकर जिसका हाथ अलग
हो गया है उसके साथ व्यभिचार दोष आ जायगा । और आहारक शरीरको धारण करनेवाले
इस ऋषिके संपूर्णरूपसे पूर्व (औदारिक) शरीरका त्याग नहीं होता, जिससे इसका मरण होवे ?

विशेषार्थ— छटवें गुणस्थानमे जब साधु आहारक शरीरको उत्पन्न करता है, उस
समय उसका औदारिक शरीरसे सर्वथा सबन्ध भी नहीं छूट जाता है और भुज्यमान आयुका
अन्त भी नहीं होता है, इसलिये ऐसी अवस्थाको मरण नहीं कहते हैं । केवल वहां कुछ
जीवप्रदेशोका आहारक शरीरके साथ सबन्ध होता है ।

यह आहारक शरीर सूक्ष्म होनेके कारण गमन करते समय वैक्रियक शरीरके समान
न तो पर्वतोसे टकराता है, न शस्त्रोसे छिद्यता है और न अग्निसे जलता है । आहारक और
कर्मणकी वर्गणाओसे उत्पन्न हुए वीर्यके द्वारा जो योग होता है वह आहारकमिश्रकाययोग है ।

१ मु पूर्वायुषा । २ मु तत्परित्यक्त । ३ मु न पुनरस्यार्थ ।

४ अवाधादी अतोमुहुत्तकालद्विदी जहण्णिदरे । पञ्जतीमपुण्णे मरण पि कदाचि सभवइ ॥

गो जी २३८

५ तत्प्राक्कालभाव्यौदारिकशरीरवर्गणामिश्रत्वेन ताभि सह वर्तमानो य सप्रयोग अपरिपूर्णशक्ति-

आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स सदेहे^१ ।
 गत्ता केवलि-पास तम्हा आहारको जोगो^२ ॥ १६४ ॥
 आहारयमुत्तत्थं वियाण मिस्स च अपरिपुण्ण ति ।
 जो तेण सपजोगो आहारयमिस्सको जोगो^३ ॥ १६५ ॥

विशेषार्थ— मिश्रयोग तीन हैं, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियकमिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग । इनमेसे औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यचके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक और केवली समुद्धातकी कपाटद्वयरूप अवस्थामे होता हैं । वैक्रियकमिश्र देव और नारकियोंके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्ततक होता है । आहारकमिश्र छटे गुणस्थानवर्ती जीवके आहारकसमुद्धात निकलते समय अपर्याप्त अवस्थामे होता है । इन तीनों मिश्रयोगोमे केवल विवक्षित शरीरसंबन्धी वर्गणाओके निमित्तसे आत्मप्रदेश-परिस्पन्द नहीं होता है, किंतु कर्मणशरीरके संबन्धसे युक्त होकर ही औदारिक आदि शरीरसंबन्धी वर्गणाओके निमित्तसे योग होता है, इसलिये इन्हे मिश्रयोग कहा है । परंतु इतनी विशेषता है कि गोम्मटसार जीवकाण्डकी टीकामे आहारकसमुद्धातके पहले होनेवाले औदारिकशरीरकी वर्गणाओके मिश्रणसे आहारकमिश्रकाययोग कहा है और यहां पर कर्मणस्कन्धके मिश्रणसे आहारकमिश्रकाययोग कहा है । इन दोनों कथनों पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी टीकाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगतक औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाए आती रहती हैं और धवलाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगके प्रारंभ होते ही औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाओंका आना बन्द हो जाता है । कहा भी है—

छटवे गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको सदेह होने पर जिस शरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं, इसलिये उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ॥ १६४ ॥

आहारकका अर्थ कह आये है । वह आहारकशरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक उसको आहारकमिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा जो सप्रयोग होता है उसे आहारकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६५ ॥

यक्तात्म प्रदेशपरिस्पन्द स आहारककायमिश्रयोग । गो जी, जी प्र, टी २४०

१ ऋद्धिप्राप्तस्यापि प्रमत्तमयतस्य श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशममाद्ये सति यदा धर्म्यध्यान-विरोधी श्रुतार्थसदेह स्यात्तदा तत्सदेहविनाशार्थं च आहारकशरीरमुत्तिष्ठतीत्यर्थं । गो जी, जी प्र, टी २३५-

२ प्रा प १, ९७ । गो जी २३९ णियखेत्ते केवलदुगविरहे णिवकमणपहुदिकल्लाणे । परखेत्ते सवित्ते जिणजिणघरवदणट्ठ च ॥ उत्तमअगग्निह्वे घाडुविहीण सुह असहणण । सुहसठाण धवल हत्थपमाण पसत्थुदय ॥ गो जी २३९, २३७

३ प्रा प १, ९८ पाठभेद । गो जी २४०

कर्मैव कर्मणं शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत् । अथवा कर्मणि भवं कर्मणं शरीरम्, नामकर्मविवयवस्य कर्मणो ग्रहणम् । तेन योगः कर्मणकाययोगः । केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सह योगः इति यावत् । उक्तं च—

कम्मैव च कम्म-भव कम्मइय तेण जो दु सजोगो ।

कम्मइयकायजोगो एग-विग-तिगेसु समएसु^१ ॥ १६६ ॥

केष्वौदारिककाययोगो^२ भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणु-
स्साणं ॥ ५७ ॥

देवनारकाणां किमित्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्याद्,

कर्म ही कर्मणशरीर है, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोको कर्मणशरीर कहते हैं । अथवा कर्ममे जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कर्मण शरीर कहते हैं । इससे नामकर्मके अवयवरूप कर्मणशरीरका ग्रहण होता है । उस शरीरके निमित्तसे जो योग होता है उसे कर्मणकाययोग कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर-वर्गणाओके बिना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है उसे कर्मण-काययोग कहते हैं । कहा भी है—

ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्कन्धको ही कर्मणशरीर कहते हैं । अथवा, नामकर्मसे जो उत्पन्न होता है उसे कर्मणशरीर कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कर्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक, दो अथवा तीन समयतक होता है ॥ १६६ ॥

औदारिककाययोग किन जीवोके होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच और मनुष्योके औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५७ ॥

शंका— देव और नारकियोके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, स्वभावमे ही उनके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय

१ प्रा प १, ९९ । गो जी २४१ स कर्मणकाययोग एकद्वित्रिसमयविशिष्टविग्रहातिकालेषु केवलिसमुद्धातमवधिप्रतरद्वयलोकपूरणे समयत्रये च प्रवर्तते शेषकाले नास्तीति विभाग तु शब्देन सूच्यते । अनेन शेषयोगानामव्याघातविषय अन्तर्मुहूर्त्तकालो व्याघातविषये एकसमयादियथासम्भवात्मुहूर्त्तपर्यंतकालश्च एकजीव प्रति भणितो भवति । नानाजीवापेक्षया उवसमसुहमेत्याद्यष्टसातरमार्गणावजितशेषनिरतरमार्गणाना सर्वकाल इति विशेषो ज्ञातव्य । जी प्र टी

२ मु को ह्यौदारिक ।

देवतरङ्गगतिकर्मोदयेन सह औदारिककर्मोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरश्चां मनुष्याणां औदारिककाययोग एवेति नियमोऽस्ति, तत्र कर्मणकाययोगादीनामभावापत्तेः । किं तु औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्याणामेव ।

केषु वैक्रियिककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइ-
याणं ॥ ५८ ॥

तिरश्चां मनुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत् ? न, तिर्यङ्मनुष्यगति-
कर्मोदयेन सह वैक्रियिकोदयस्य विरोधात्स्वभावाद्वा । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः
अतिप्रसङ्गात् । तिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियिकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न,
औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकसविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्वै-

नहीं होता है । अथवा, देवगति और नरकगति नामकर्मके उदयके साथ औदारिकशरीर नामकर्मके
उदयका विरोध है, इसलिये उनके औदारिकशरीरका उदय नहीं पाया जाता है । फिर भी
तिर्यञ्च और मनुष्योके औदारिक और औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है,
क्योंकि, इस प्रकारके नियम करने पर तिर्यञ्च और मनुष्योमे कर्मणकाययोग आदिके अभावकी
आपत्ति आ जायगी । किन्तु औदारिक और औदारिकमिश्र तिर्यञ्च और मनुष्योके ही होता है,
ऐसा नियम जानना चाहिये ।

वैक्रियिक काययोग किन जीवोमे होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका
सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंके वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५८ ॥

शंका— तिर्यञ्च और मनुष्योके वैक्रियिकशरीरका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति कर्मोदयके साथ वैक्रियिक
नामकर्मके उदयका विरोध आता है, अथवा, तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें वैक्रियिक नामकर्मका
उदय नहीं होता है, यह स्वभाव ही है । और स्वभाव दूसरेके प्रश्नोके योग्य नहीं होते हैं,
अन्यथा, अतिप्रसंग दोष आ जायगा । इसलिये तिर्यञ्च और मनुष्योके वैक्रियिक और वैक्रियिक-
मिश्रकाययोग नहीं होता है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका— तिर्यञ्च और मनुष्य भी वैक्रियिकशरीरवाले सुने जाते हैं, इसलिये यह बात
कैसे घटित होगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, औदारिकशरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और
अविक्रियात्मक । उनमे जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मनुष्य और तिर्यञ्चोके

क्रियिकमिति तत्रोक्तम्, न तदत्र परिगृह्यते, विविधगुणद्वयभावात् । अत्र विविध-
गुणद्वयात्मकं परिगृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव ।

आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजडाणमिद्धिपत्ताणं

॥ ५९ ॥

आहारद्विप्राप्तेः किमु संयताः ऋद्धिप्राप्ता उत वैक्रियिकद्विप्राप्तेस्ते' ऋद्धि-
प्राप्ता इति । किं चातः, नाद्यः पक्ष आश्रयणयोग्यः, इतरेतराश्रयदोषासंजनात् ।
कथम् ? यावन्नाहारद्विरुत्पद्यते न तावत्तेषामृद्धिप्राप्तत्वम्, यावन्नद्विप्राप्तत्वं न
तावत्तेषामाहारद्विरिति । न द्वितीयविकल्पोऽपि, ऋद्धेरुपर्यध्वदयभावात्^१ । भावे वा
आहारशरीरवतां मनःपर्ययज्ञानमपि जायेत, विशेषाभावात् । न चैवम्, आर्षेण^२ सह

वैक्रियिकरूपसे कहा गया है । उसका यहा पर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, उसमे नाना गुण
और ऋद्धियोका अभाव है । यहां पर नाना गुण और ऋद्धियुक्त वैक्रियिकशरीरका ही ग्रहण
किया है, और वह देव और नारकियोके ही होता है ।

अब आहारकशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त छडे गुणस्थानवर्ती संयतोके
ही होते हैं ॥ ५९ ॥

शंका— यहा पर क्या आहारक ऋद्धिकी प्राप्तिसे संयतोको ऋद्धिप्राप्त समझना
चाहिये, या वैक्रियिक ऋद्धिकी प्राप्तिसे उन्हे ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये ? इन दोनो पक्षोमेसे
प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि, प्रथम पक्षके ग्रहण करने पर इतरेतराश्रय
दोष आता है । वह कैसे आता है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं, जबतक आहारक ऋद्धि उत्पन्न
नहीं होती है तबतक उन्हे ऋद्धिप्राप्त नहीं माना जा सकता, और जबतक वे ऋद्धिप्राप्त न हो
तबतक उनके आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है । इसी प्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं
वनता है, क्योंकि, एक ऋद्धिके उपयोग करते समय दूसरी ऋद्धियोकी उत्पत्तिका अभाव है ।
इतने पर भी यदि एक ऋद्धिके रहते हुए दूसरी ऋद्धिका सद्भाव माना जाता है, तो आहारक
ऋद्धिवालोके मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्ति भी माननी चाहिये, क्योंकि, दूसरी ऋद्धियोके समान इसके
होनेमे कोई विशेषता नहीं है । परंतु आहारक ऋद्धिवालोके मन.पर्यय ज्ञान माना नहीं जा सकता
है, क्योंकि, ऐसा मानने पर आगमसे विरोध आता है ?

समाधान— प्रथम पक्षमे जो इतरेतराश्रय दोष दिया है, वह तो आता नहीं है,

१ मु वैक्रियिकद्विप्राप्तास्ते २ मु ऋद्धेरुपर्यध्वभावात् ।

३ मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा । एदेसु एक्कपगदे णत्थि त्ति असेसय जाणे ॥

विरोधादिति ? नादिपक्षोक्तदोषः समादौकते, यतो नाहारद्विरात्मानमपेक्ष्योत्पद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अपि तु संयमातिशयापेक्षया तस्याः समुत्पत्तिरिति । ऋद्धिप्राप्तसंयतानामिति विशेषणमपि घटते । तदनुत्पत्तावपि ऋद्धिहेतुसंयमः ऋद्धिः, कारणे कार्योपचारात् । ततश्च ऋद्धिहेतुसंयमप्राप्ताः यतयः ऋद्धिप्राप्तास्तेषामाहारद्विरिति सिद्धम् । संयमविशेषजनिताहारशरीरोत्पादनशक्तिराहारद्विरिति वा नेतरेतराश्रय-दोषः । न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि, अनभ्युपगमात् । नैष नियमोऽप्यस्त्येकस्मिन्नक्रमेण नर्द्धयो भूयस्यो भवन्तीति, गणभृतसु सप्तानामपि ऋद्धीनामक्रमेण सत्त्वोपलम्भात् । आहारर्द्ध्या सह मनःपर्ययस्य विरोधो दृश्यत इति चेद्भूवतु नाम दृष्टत्वात् । न चानेन विरोध इति सर्वाभिर्विरोधो वक्तुं पार्यते, अव्यवस्थापत्तेरिति ।

कार्मणशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं ॥ ६० ॥

क्योकि, आहारक ऋद्धि स्वतःकी अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योकि, अपनेमे क्रियाके होनेमे विरोध आता है । किंतु संयमातिशयकी अपेक्षा आहारक ऋद्धिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये 'ऋद्धिप्राप्तसंयतानाम्' यह विशेषण भी बन जाता है । यहां पर दूसरी ऋद्धियोंके उत्पन्न नहीं होने पर भी कारणमे कार्यके उपचारसे ऋद्धिके कारणभूत संयमकी ही ऋद्धि कहा गया है, इसलिये ऋद्धिके कारणरूप संयमकी प्राप्त संयमको ऋद्धिप्राप्त संयत कहते हैं, और उनके आहारक ऋद्धि होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है । अथवा, संयमविशेषसे उत्पन्न हुई आहारकशरीरके उत्पादनरूप शक्तिको आहारक ऋद्धि कहते हैं, इसलिये भी इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है । इसी प्रकार दूसरे विकल्पमे दिया गया दोष भी नहीं आता है, क्योकि, एक ऋद्धिके साथ दूसरी ऋद्धियां नहीं होती हैं, यह हम मानते ही नहीं हैं । एक आत्मामे युगपत् अनेक ऋद्धियां उत्पन्न नहीं होती हैं, यह कोई नियम नहीं है, क्योकि, गणधरोके एकसाथ सातो ही ऋद्धियोंका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका तो विरोध देखा जाता है ?

समाधान— यदि आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका विरोध देखनेमे आता है तो रहा आवे । किंतु मनःपर्ययके साथ विरोध है, इसलिये आहारक ऋद्धिका दूसरी संपूर्ण ऋद्धियोंके साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । अन्यथा अव्यवस्थाकी आपत्ति आ जायगी ।

अब कार्मणशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

विग्गहगतिको प्राप्त चारो गतियोंके जीवोके तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्धातको प्राप्त केवलीजिन के कार्मणकाययोग होता है ॥ ६० ॥

विग्रहो देहः, तदर्थं गतिः विग्रहगतिः । औदारिकादिशरीरनामोदयात्स्व-
निर्वर्तनसमर्थान् विविधान् पुद्गलान् गृह्णाति विग्रह्यतेऽसौ संसारिणा इति वा विग्रहो
देहः । विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः । अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः व्याघातः पुद्गलादान-
निरोध इत्यर्थः । विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः विग्रहगतिः । अथवा विग्रहो
व्याघातः कौटिल्यमित्यनर्थान्तरम् । विग्रहेण कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः^१ । तां
सम्प्रगापन्नाः प्राप्ताः विग्रहगतिसमापन्नाः, तेषां विग्रहगतिसमापन्नानाम् । शरीराणि
यतः प्ररोहन्ति तद्वीजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते । वाङ्मनःकायवर्गणा-
निमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति । कार्मणकायकृतो योगः कार्मणकाययोगः ।
स विग्रहगतौ वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति । एतदुक्तम्—गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां
प्राणिनां चतस्रो गतयो भवन्ति इषुगतिः पाणिमुक्ता लाङ्गलिका गोमूत्रिका चेति ।
तत्राविग्रहा प्राथमिकी, शेषाः विग्रहवत्यः । ऋज्वी गतिरिषुगतिरैकसमयिकी । यथा
पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा
गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी । यथा लाङ्गलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका

विग्रह देहको कहते हैं । उसके लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । यह
जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्मके उदयसे अपने अपने शरीरकी रचना करनेमें समर्थ नाना
प्रकारके पुद्गलोको ग्रहण करता है, अथवा संसारी जीवके द्वारा शरीरका ग्रहण किया जाता है,
इसलिये देहको विग्रह कहते हैं । ऐसे विग्रह अर्थात् शरीरके लिये जो गति होती है उसे
विग्रहगति कहते हैं अथवा, ' वि ' शब्दका अर्थ विरुद्ध और ' ग्रह ' शब्दका अर्थ घात होनेसे
विग्रह शब्दका अर्थ व्याघात है जिसका अर्थ पुद्गलोके ग्रहण करनेका निरोध होता है । इसलिये
विग्रह अर्थात् पुद्गलोके ग्रहण करनेके निरोधके साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते
हैं । अथवा, विग्रह व्याघात और कौटिल्य ये पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये विग्रहसे अर्थात्
कुटिलता (मोड़ो) के साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । उसको भली प्रकारसे
प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न कहलाते हैं । उनके अर्थात् विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके कार्मण-
काययोग होता है । जिससे संपूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं, उस बीजभूत कार्मणशरीरको कार्मणकाय
कहते हैं । वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे जो आत्मप्रदेशोका परिस्पन्द
होता है उसे योग कहते हैं । कार्मणकायसे जो योग उत्पन्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते
हैं । वह विग्रहगति अर्थात् वक्रगतिमें विद्यमान जीवोंके होना है । आगममें ऐसा कहा है कि एक
गतिसे दूसरी गतिको गमन करनेवाले जीवोंके चार गतियां होती हैं, इषुगति, पाणिमुक्तागति,
लाङ्गलिकागति और गोमूत्रिकागति । उनमें पहली गति विग्रहरहित होती है और शेष गतियां
विग्रहसहित होती हैं । सरल अर्थात् धनुषसे छुटे हुए बाणके समान मोड़ारहित गतिको इषुगति

त्रैसमयिकी । यथा गोमूत्रिका बहुवक्का तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी^१ । तत्र कर्मणकाययोगः स्यादिति । स्वस्थितप्रदेशादार^२भ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते । तथैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण । ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति ।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत् । कथमनुवृत्तमनधिकृतं चावगम्यत इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः । उपरि घातः उद्धातः, समीचीन उद्धातः समुद्धातः^३ । कथमस्य घातस्य समीचीनत्वमिति चेन्न, भूयः कालनिष्पाद्यमान-

कहते हैं । इस गतिमे एक समय लगता है । जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़ेवाली गति होती है, उसी प्रकार ससारी जीवोके एक मोड़ेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं । यह गति दो समयवाली होती है । जैसे हलमे दो मोड़े होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़ेवाली गतिको लागलिका गति कहते हैं । यह गति तीन समयवाली होती है । जैसे गायका चलते समय मूत्रका करना अनेक मोड़ोवाला होता है, उसी प्रकार तीन मोड़ेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते हैं । यह गति चार समयवाली होती है । इन तीनों विग्रहगतियोमे प्रत्येक गतिके अन्तिम समयको छोड़कर कर्मणकाययोग होता है ।

जो प्रदेश जहां स्थित हैं वहासे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोकी पक्वितको श्रेणी कहते हैं । इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोका गमन होता है, श्रेणीको उल्लघन करके नहीं होता है । इसलिये विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोड़ेवाली गति विरोधको प्राप्त नहीं होती है । अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां पर पहुँचनेके लिये चार मोड़े लग सके ।

घातनेरूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमे अर्थ कर्मोकी स्थिति और अनुभागका विनाश होता है ।

शंका— कर्मोकी स्थिति और अनुभागके घातका अभी तक कथन नहीं किया है, अथवा, उसका अधिकार भी नहीं है, इसलिये यहां पर कर्मोकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रकरणके वशसे यह जाना जाता है कि केवलिसमुद्धातमे कर्मोकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है ।

उत्तरोत्तर होनेवाले घातको उद्धात कहते हैं, और समीचीन उद्धातको समुद्धात कहते हैं ।

१ त रा वा २ २८ वा ४

२ लोकमव्यादारम्य स सि २ २६ । त रा वा २ २६ । अट्ठणमो रुयगो तिरिय लोयस्स मज्झयारम्मि । एस पभवो दिसाण एसेव भवे अणुदिसाण । आचा नि ४२

३ मूलसरीरमच्छडिय उत्तरदेहस्स जीवपिडस्स । णिग्गमण देहादो होदि समुग्धादणाम तु ॥

गो जी ६६८

घातेभ्योऽस्यैकसमयिकस्य समीचीनत्वाविरोधात् । समुद्धातं गताः समुद्धातगताः । कथमेकस्मिन् गम्यगमकभावश्चेन्न, पर्यायपर्यायिणां कथंचिद् भेदविवक्षायां तदविरोधात् । तेषां समुद्धातगतानां केवलानां कार्मणकाययोगो भवेत् । वा शब्दः समुच्चय-प्रतिपादकः ।

अथ स्यात्केवलानां समुद्धातः^१ सहेतुको निहेतुको वा ? न द्वितीयविकल्पः, सर्वेषां समुद्धातगमनपूर्वकं मुक्तिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, लोकव्यापिनां केवलानां विंशतिसंख्यावर्षपृथक्त्वानन्तरनियमानुपपत्तेः । न प्रथमपक्षोऽपि, तद्वैतनुपलम्भात् । न

शंका— इस घातमे समीचीनता है, यह कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बहुत कालमे संपन्न होनेवाले घातोसे एक समयमे होनेवाले इस घातमे समीचीनताके मान लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

समुद्धातको प्राप्त जीवोको समुद्धातगत जीव कहते हैं ।

शंका— एक ही पदार्थमे गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है, अर्थात् जब पर्यायीसे पर्याय अभिन्न है, तब केवली समुद्धातको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार समुद्धात और केवलीमे गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पर्याय और पर्यायीकी कथञ्चित् भेदविवक्षा होने पर एक ही पदार्थमे गम्य-गमकभाव बन जाता है, इसमे कोई विरोध नहीं आता है ।

उन समुद्धातगत केवलियोंके कार्मणकाययोग होता है । यहां सूत्रमे आया हुआ 'वा' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादक है ।

शंका— केवलियोंके समुद्धात सहेतुक होता है या निहेतुक ? निहेतुक होता है, यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि, ऐसा मानने पर सभी केवलियोंको समुद्धात करनेके अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । यदि यह कहा जावे कि सभी केवली समुद्धातपूर्वक ही मोक्षको जाते हैं, ऐसा मान लिया जावे इसमे क्या हानि है ? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर लोकपूरण समुद्धात करनेवाले केवलियोंकी वर्ष-पृथक्त्वके अनन्तर बीस संख्या होती है यह नियम नहीं बन सकता है । केवलियोंके

हृतेर्गमिक्रियात्वात्सभूयात्मप्रदेशानां च बहिरद्गमनं समुद्धात । त रा वा-पृ ५३ उद्गमनमुद्धात, जीवप्रदेशानां विसर्पणमित्यर्थः । समीचीन उद्धात समुद्धात, केवलानां समुद्धात केवलिसमुद्धात । अघातिकर्मस्थितिसमीकरणार्थं केवलजीवप्रदेशानां समयाविरोधेन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च विसर्पणं केवलिसमुद्धात इत्युक्तं भवति । जयव अ पृ १२३८

१ वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुपो नाभोगपूर्वकमायु समकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुदबुदाविर्भावोपशमनवृद्धेह्यात्मप्रदेशानां वहि समुद्धातनं केवलिसमुद्धात । त रा वा पृ ५३

तावदघातिकर्मणां स्थित्यायुष्यस्थितेरसमानता हेतुः, क्षीणकषायचरमावस्थायां सर्व-
कर्मणां समानत्वाभावात् सर्वेषामपि तत्प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यतिवृषभोपदेशात्सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये
स्थितेः साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्धाताः सन्तो निर्वृतिमुपढौकन्ते । येषामाचार्याणां
लोकव्यापिकेवल्लिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्धातयन्ति, केचिन्न समु-
द्धातयन्ति । के न समुद्धातयन्ति ? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना ते न
समुद्धातयन्ति, शेषाः समुद्धातयन्ति । अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति
स्थित्योर्वैषम्यम् ? न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुष्वनिवृत्तिपरिणामेषु समानेषु सत्सु
संसृतेस्तत्समानत्वविरोधात् । संसारविच्छित्तेः किं कारणम् ? द्वादशाङ्गावगमः
तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्धातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च । न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति,

समुद्धात सहेतुक होता है यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि, केवलिसमुद्धातका कोई
हेतु नहीं पाया जाता है । यदि यह कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिसे
आयुर्कर्मकी स्थितिकी असमानता ही समुद्धातका कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि,
क्षीणकषाय गुणस्थानकी चरम अवस्थामे संपूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं, इसलिये सभी
केवलियोंके समुद्धातका प्रसंग आजायगा ।

समाधान— यतिवृषभाचार्यके उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमे
संपूर्ण अघातिया कर्मोंकी स्थिति समान नहीं होनेसे सभी केवली समुद्धात करके ही मुक्तिको
प्राप्त होते हैं परंतु जिन आचार्योंके मतानुसार लोकपूरण समुद्धात करनेवाले केवलियोंकी बीस
संख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्धात करते हैं और कितने नहीं
करते हैं ।

शंका— कौनसे केवली समुद्धात नहीं करते हैं ?

समाधान— जिनकी ससार— व्यक्ति अर्थात् संसारमे रहनेका काल वेदनीय आदि
तीन कर्मोंकी स्थितिसे समान है वे समुद्धात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्धात करते हैं ।

शंका— अनिवृत्ति आदि परिणामोके समान रहने पर संसारव्यक्ति स्थिति और
शेष तीन कर्मोंकी स्थितिमे विषमता क्यों रहती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, व्यक्तिस्थितिके घातके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परि-
णामोके समान रहने पर ससारको उसके अर्थात् तीन कर्मोंकी स्थितिसे समान मान लेनेमे
विरोध आता है ।

शंका— ससारके विच्छेदका क्या कारण है ?

समाधान— द्वादशाङ्गका ज्ञान, उनमे तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्धात और अनिवृत्तिरूप
परिणाम ये सब संसारके विच्छेदके कारण हैं । परंतु ये सब कारण समस्त जीवोमे सभव
नहीं हैं, क्योंकि, दश पूर्व और नौ पूर्वके धारी जीवोंका भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता

श्रेण्यारोहणदर्शनात् । न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्धातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पत्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलिकायतानि च निपातयन्तः आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति । अपरे समुद्धातेन समानयन्ति^१ । न चैष संसारघातः केवलिनि प्राक् सम्भवति, स्थितिकाण्डघात-वत्समानपरिणामत्वात् । परिणामातिगयाभावे पश्चादपि सा भूतद्धात इति चेन्न, वीतरागपरिणामेषु समानेषु सत्स्वन्येभ्योऽन्तर्मुहूर्तादुरपेक्ष्य आत्मनः समुत्पन्नेभ्यस्तद्धा-तोपपत्तेः । अन्यैराचार्यैर्व्याख्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः ? न, वर्षपृथक्त्वान्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात् ।

छम्मासाउवसेसे उप्पणं जस्स केवल णाणं ।

स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए^२ ॥ १६७ ॥

है । अतः वहां पर संसार— व्यक्तिके समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है । इस प्रकार अन्त-र्मुहूर्तमे नियमते निपतन स्वभाववाले ऐसे पत्योपमके असख्यातवे भागप्रमाण या संख्यात आवली-प्रमाण स्थिति काण्डकोका निपतन करते हुए कितने ही जीव समुद्धातके विना ही आयुके समान शेष कर्मोंको कर लेते हैं । तथा कितने ही जीव समुद्धातके द्वारा शेष कर्मोंको आयुकर्मके समान करते हैं । परंतु यह संसारका घात केवलीमे पहले संभव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थितिकाण्डकके घातके समान सभी जीवोंके समान परिणाम पाये जाते हैं ।

शंका— जब कि परिणामोमे कोई अतिशय नहीं पाया जाता है, अर्थात् सभी केवलियोंके परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसारका घात मत होओ ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वीतरागरूप परिणामोके समान रहने पर भी अन्त-र्मुहूर्तप्रमाण आयुकर्मकी अपेक्षासे आत्माके उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामोसे संसारका घात बन जाता है ।

शंका— अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थका इस प्रकार व्याख्यान करनेवाले आचार्य सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वर्षपृथक्त्वके अन्तरालका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त कथनसे विरोध आता है ।

शंका— छह माह प्रमाण आयुकर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्धातको करके ही मुक्त होता है । शेष जीव समुद्धात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ॥ १६७ ॥

१ ठिदिनतकम्मसमकरणत्थ सव्वेसि तेसि कम्माण । अतोमुहूर्तमेने जति समुग्घादमाउम्मि ॥ उल्ल सत वत्थ विरल्लिद जह लहु विणिव्वाइ । सवेद्विय तु ण तया तवेव कम्म पि णादव्व ॥ मूलारा २१०८, २१०९ जह उल्ला साडीया आमु मुक्कड विरेल्लिया मती । तह कम्मलहुयसमए वच्चति जिणा समुग्घाय ॥

वि भा ३६५०

२ प्रा प १, २०० । उक्कम्मएण छम्मानाउगनेनम्मि केवली जादा । वच्चति समुग्घाद सेसा

एदिस्से गाहाए उवएसो किण्ण गहिओ ? ण, भज्जत्ते कारणणुवलंभादो ।

जेसि आज-समाइ णामा गोदाणि वेयणीय च ।

ते अकय-समुग्घाया वच्चतियरे समुग्घाए^१ ॥ १६८ ॥

णदं भज्जत्ते कारणम्, सच्च-जीवेषु समेहि अणियट्ठि-परिणामेहि पत्त-घादाणं
ट्ठिदीणमाउ-समाणत्त-विरोहादो, अघाइ-तियस्स खीण-कसाय-चरिम-समए जहण्ण-
ट्ठिदिसंतस्स वि पल्लिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-पमाणत्तुवलंभादो । नागमस्तर्कगोचर
इति चेन्न, एतयोर्गाथयोरगमत्वेन निर्णयाभावाद् । भावे वास्तु गाथयोरेवोपादानम् ।

इदानीं काययोगस्याध्वानज्ञापनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

इस गाथाका उपदेश क्यो नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस प्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिये पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नहीं ग्रहण किया है ।

जिन जीवोंके नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुर्कर्मके समान होती है वे समुद्धात नहीं करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं । दूसरे जीव समुद्धात करके ही मुक्त होते हैं ॥ १६८ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त गाथामें कहे गये अभिप्रायको तो किन्हीं जीवोंके समुद्धात होनेमें और किन्हीं जीवोंके समुद्धातके नहीं होनेमें कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि, संपूर्ण जीवोंमें समान अनिवृत्तिरूप परिणामोंके द्वारा कर्मस्थितियोंका घात पाया जाता है, अतः उनका आयुके समान होनेमें विरोध आता है । दूसरे, क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमें तीन अघातिया कर्मोंका जघन्य स्थितिसत्त्व पल्योपमके असख्यातवे भाग सभी जीवोंके पाया जाता है, इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है ।

शंका— आगम तो तर्कका विषय नहीं है, इसलिये इस प्रकार तर्कके बलसे पूर्वोक्त गाथाओंके अभिप्रायका खण्डन करना उचित नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय नहीं हुआ है । अथवा, यदि इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय हो जानेपर इनका ही ग्रहण रहा आवे ।

अब काययोगका गुणस्थानोंमें ज्ञान करानेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

भज्जा समुग्घादे ॥ मूलारा २१०५ पण्मासायुपि जेवे स्यादुत्पन्न यस्य केवलम् । समुद्धातमसौ याति केवली नापर पुन ॥ पचस ३२७ पण्मासाविकायुष्को लभते केवलोद्गमम् । करोत्यसौ समुद्धातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ गुण क्र प्र ९४

१ मूलारा २१०६ पर च तत्र चतुर्यचरणे पाठभेदोऽयम्—' जिणा उवणमति सेलेसि ' । जेसि हवति विममाणि णामगोदाइ वेदणीयाणि । ते अकदममुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसि ॥ मूलारा २१०७

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो
एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६१ ॥

काययोग एवेत्यवधारणाभावान्न बाडमानसयो^१रभावः । एवं शेषाणामपि वाच्यमिति । एकेन्द्रियप्रभृत्यासयोगकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगिनः इति प्रतिपाद्यमाने देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि तदस्तित्वं प्राप्नुयादिति चेन्न, प्रभृतिशब्दोऽयं व्यवस्थायां प्रकारे च वर्तते । अत्र प्रभृतिशब्दः प्रकारे परिगृह्यते, यथा सिंहप्रभृतयो मृगा इति । ततो न तेषां ग्रहणम् । व्यवस्थावाचिनोऽपि ग्रहणे न दोषः, 'ओरालिय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताणं^३' ति बाधकसूत्रसम्भवाद्वा ।

वैक्रियिककाययोगाधिपतिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छा-
इट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ ६२ ॥

सामान्यसे काययोग और विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्र काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ ६१ ॥

काययोग ही होता है, इस प्रकार अवधारण नहीं होनेसे पूर्वोक्त गुणस्थानोमे वचनयोग और मनोयोगका अभाव नहीं समझना चाहिये । इसी प्रकार शेष योगोका भी कथन करना चाहिये ।

शंका—एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवलीतक औदारिकमिश्रकाययोगी होते हैं ऐसा कथन करने पर देशविरत आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानोमे भी औदारिकमिश्रयोगका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह प्रभृति शब्द व्यवस्था और प्रकाररूप अर्थमे रहता है । उनमेसे यहा पर प्रभृति शब्द प्रकाररूप अर्थमे ग्रहण किया गया है । जैसे, सिंह प्रभृति मृग हैं । इसलिये औदारिकमिश्रयोगमे देशविरत आदि क्षीणकषायतकके गुणस्थानोका ग्रहण नहीं होता है । अथवा, व्यवस्थावाची भी प्रभृति शब्दके ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं आता है । अथवा, 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण' अर्थात् औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोके होता है, इस बाधक सूत्रके संभव होनेके कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

अब वैक्रियिककाययोगके स्वामीका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग सज्जी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत-
सम्यग्दृष्टितक होते हैं ॥ ६२ ॥

१ ओराल पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगो त्ति । तम्मिस्समपज्जत्ते चटुगुण्ठाणेसु णियमेण ॥
गो जी ६८०

२ मु मनसो । ३ जी स सू ७६

४ वेगुव्व पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्स तु । सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से ण हि मिस्सजोगो हु ॥
गो जी ६८२.

अत्र 'च' शब्दः कर्तव्योऽन्यथा समुच्चयावगमानुपपत्तेरिति ? न, च-शब्द-मन्तरेणापि समुच्चयार्थावगतेः, यथा पृथिव्यप्तेजोवायुरित्यत्र । सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरपि वैक्रियिकमिश्रकाययोगः प्राप्नुयादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । 'सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता', वेउव्विय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताणं ' इत्याभ्यां वा सूत्राभ्या-सवसीयते यथा न सम्यङ्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियिकमिश्रकाययोगः समस्तीति ।

आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कमिह चेव पमत्त-संजद-ट्ठाणे ॥ ६३ ॥

अप्रमादिनां संयतानां किमित्याहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात् । तदुत्थापने किं निमित्तमिति चेदाज्ञाकनिष्ठतायाः समुत्पन्नप्रसादः

शंका— इस सूत्रमे च शब्द और अधिक जोड़ देना चाहिये, अन्यथा समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, च शब्दके बिना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है । जैसे, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावरा' इस सूत्रमे च शब्दके नहीं रहने पर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है ।

शंका— सूत्रके कथनानुसार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालेके भी वैक्रियिकमिश्रकाय योगका सद्भाव प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इसका उत्तर औदारिकमिश्रकाययोग प्रकरणमे दे आये-हैं । अर्थात् यहां पर प्रभृति शब्द व्यवस्था या प्रकारवाची होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है । अथवा, 'सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' 'वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' अर्थात् 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे जीव नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं, अथवा, वैक्रियिकमिश्र-काययोग अपर्याप्तकोके ही होता है, इन दोनों सूत्रोंसे भी जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टिके वैक्रियिकमिश्रकाययोग नहीं पाया जाता है ।

आहारककाययोगके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्त संयत गुणस्थानमे ही होते हैं ॥ ६३ ॥

शंका— प्रमादरहित सयतोके आहारककाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान— प्रमादरहित जीवोंके आहारककाययोग उत्पन्न करानेमें निमित्त-कारणका अभाव है ।

शंका— आहारककाययोगके उत्पन्न करानेमे निमित्तकारण क्या है ?

१ जी स सू ८३

२ आहारो पज्जत्तो इदरे खड्डु होदि तस्स मिस्सो दु । अतोमुहुत्त काले छट्ठगुणे होदि आहारो ॥

असंयमवहुलतोत्पन्नप्रमादश्च । न च प्रमादनिबन्धनोऽप्रमादिनि भवेदतिप्रसङ्गात् ।
अथवा स्वभावोऽयं यदाहराकाययोगः प्रमादिनामेवोपजायते, नाप्रमादिनामिति ।

काम्मणकाययोगाधारजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कम्मइयकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि
रिं ॥ ६४ ॥

देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि काम्मणकाययोगस्यास्तित्वं प्राप्नोत्यस्मा-
त्सूत्रादिति चेन्न, 'संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' इत्येतस्मात्सूत्रात्तत्र
तदभावावगतेः । न च समुद्धातादृते पर्याप्तानां काम्मणकाययोगोऽस्ति । किमिति स
तत्र नास्तीति चेत् ? विग्रहगतेरभावात् । देवविद्याधरादीनां पर्याप्तानामपि वक्रा
गतिरूपलभ्यते चेन्न, पूर्वशरीरं परित्यज्योत्तरशरीरमादातुं व्रजतो वक्रगतेर्विवक्षितत्वात् ।

समाधान— आज्ञाकनिष्ठता अर्थात् आप्तवचनमे सन्देहजनित शिथिलताके होनेसे
उत्पन्न हुआ प्रमाद और असंयमकी बहुलतासे उत्पन्न प्रमाद आहारककायकी उत्पत्तिका निमित्त-
कारण है । जो कार्य प्रमादके निमित्तसे उत्पन्न होता है वह प्रमादरहित जीवमे नहीं हो सकता
है अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आता है । अथवा, यह स्वभाव ही है कि आहारककाययोग प्रमत्त
गुणस्थानवालोके ही होता है, प्रमादरहित जीवोके नहीं ।

अब काम्मणकाययोगके आधारभूत जीवोके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं—

काम्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोसे लेकर सयोगिकेवल्ली तक होता है ॥ ६४ ॥

शंका— इस सूत्रके कथनसे देशविरत गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक
भी काम्मणकाययोगका अस्तित्व प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'संजदासंजद-सजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' अर्थात्
सयतासंयत और सयत गुणस्थानमे जीव नियमसे पर्याप्त होते हैं, इस सूत्रके अनुसार यहा पर
काम्मणकाययोगका अभाव ज्ञात हो जाता है । दूसरे समुद्धातको छोड़कर पर्याप्तक जीवोके
काम्मणकाययोग नहीं पाया जाता है ।

शंका— पर्याप्तक जीवोमे काम्मणकाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान— विग्रहगतिका अभाव होनेसे उनके काम्मणकाययोग नहीं होता है ।

शंका— देव और विद्याधर आदि पर्याप्तक जीवोके भी वक्रगति पाई जाती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको छोड़कर आगेके शरीरको ग्रहण करनेके
लिये जाते हुए जीवके जो एक, दो या तीन मोडेवाली गति होती है, वही गति यहा पर
वक्रगतिरूपसे विवक्षित है ।

१ ओरालियमिस्स वा चउगुणट्ठाणेसु होदि कम्मइय । चदुगदिविग्गहकाले जोगिस्स पदलोगपूरणने ॥
गो जी ६८४

२ जी म सू ९० मु मज्जदामजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ।

योगत्रयस्य स्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि
जाव सजोगिकेवल्लि त्ति ॥ ६५ ॥

चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः, तज्जनितवीर्येण परिस्पन्दलक्षणेन योगो मनोयोगः । चतुर्णां वचसां सामान्यं वचः, तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः । सप्तानां कायानां सामान्यं कायः, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेश-परिस्पन्दलक्षणेन योगः काययोगः । एते त्रयोऽपि योगाः क्षयोपशमापेक्षया त्र्यात्मकैक-रूपमापन्नाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य आ सयोगकेवलिन इति क्रमेण सम्भवपेक्षया वा स्वामित्वमुक्तम् । काययोग एकेन्द्रियेष्वप्यस्तीति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामविनाभाविनः काययोगस्य विवक्षितत्वात् । तथा वचसोऽप्यभिधातव्यम् ।

अब तीन योगोके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं ॥ ६५ ॥

सत्यादि चार प्रकारके मनमे जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य मन कहते हैं । उस मनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं । चार प्रकारके वचनोमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य वचन कहते हैं । उस वचनसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं । सात प्रकारके कायोमे जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य काय कहते हैं । उस कायसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे काययोग कहते हैं । ये योग तीन होते हुए भी क्षयोपशमकी अपेक्षा त्र्यात्मक एकरूपताको प्राप्त होकर संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं । अथवा क्रमसे संभव होनेकी अपेक्षा स्वामित्वका प्रतिपादन किया ।

शंका— काययोग एकेन्द्रिय जीवोके भी होता है, फिर यहां उसका संज्ञी पचेन्द्रियसे कथन क्यों किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर वचनयोग और मनोयोगसे अविनाभाव रखने-वाले काययोगकी विवक्षा है । इसी प्रकार वचनयोगका भी कथन करना चाहिये । अर्थात्, यद्यपि वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोसे होता है, फिर भी यहां पर मनोयोगका अविनाभावी वचनयोग विवक्षित है, इसलिये उसका भी संज्ञी पचेन्द्रियसे कथन किया ।

द्विसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो कायजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचि-
दिया चि ॥ ६६ ॥

अत्र सामान्यवाक्काययोर्विवक्षितत्वात् द्वीन्द्रियादिर्भवत्यसंज्ञिनश्च पर्यवसानम् । विशेषे तु पुनरवलम्ब्यमाने तुरीयस्यैव वचसः सत्त्वमिति । तदाद्यन्तव्यवहारो न घटामटेत्, उपरिष्ठादपि वाक्काययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञिनः पर्यवसानमिति चेन्न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात् । अस्तु चेन्न, निरुद्धद्विसंयोगस्य त्रिसंयोगेन सह विरोधात् ।

एकसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो एइंदियाणं ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रियाणामेकः काययोग एव, द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां वाक्काययोगौ द्वावेव, शेषास्त्रयोगाः ।

अब द्विसंयोगी योगोके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवो तक होते हैं ॥ ६६ ॥

यहां पर सामान्य वचन और काययोगकी विवक्षा होनेसे द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय तक सामान्यसे दोनो योग पाये जाते हैं । किंतु विशेषके अवलम्बन करने पर तो द्वीन्द्रियसे असंज्ञीतक वचनयोगके चौथे भेद (अनुभयवचन) का ही सत्त्व समझना चाहिये ।

शंका— इन दोनो योगोका द्वीन्द्रियसे आदि लेकर असंज्ञीपर्यन्त जो सद्भाव बताया है, यह आदि और अन्तका व्यवहार यहां पर घटित नहीं होता है, क्योंकि, इन जीवोसे आगेके जीवोके भी वचन और काययोग पाये जाते हैं । इसलिये असंज्ञीतक ये योग होते हैं, यह बात नहीं बनती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगेके जीवोके तीनो योगोका सत्त्व पाया जाता है ।

शंका— यदि ऊपर तीन योगोका सत्त्व है तो रहा आवे, फिर भी इन दो योगोके कथन करनेमे क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विवक्षित द्विसंयोगका त्रिसंयोगके साथ कथन करनेमे विरोध आता है । इसलिये द्विसंयोगी योगका असंज्ञीतक ही कथन किया है ।

अब एक संयोगी योगके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग एकेन्द्रिय जीवोके होता है ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रिय जीवोके एक काययोग ही होता है । द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञीतक जीवोके वचन और काय ये दो योग होते हैं । तथा, शेष जीवोके तीनो ही योग होते हैं ।

प्राक् सामान्येन योगस्य सत्त्वमभिधायेदानीं व्यवच्छेद्येऽमुष्मिन् कालेऽस्य सत्त्वमर्मुष्मिश्च न सत्त्वमिति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥६८॥

क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमास्कन्देदिति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामनिष्पन्नस्य तद्योगानुपपत्तेः । पर्याप्तानामपि विरुद्धयोगमध्यासितावस्थाया नास्त्येवेति चेन्न, सम्भवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिसत्त्वापेक्षया वा । सर्वत्र समुच्चयार्थविद्योतक-च-शब्दाभावेऽपि समुच्चयार्थः पदैरेवावद्योत्यत इत्यवसेयः ।

काययोगसामान्यस्य सत्त्वप्रदेशप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो पज्जत्ताणं वि अत्थि, अपज्जत्ताणं वि अत्थि ॥६९॥

पहले सामान्यसे योगका सत्त्व कहकर, अब व्यवच्छेद योग्य इस कालमे इस योगका सत्त्व है, और इस कालमे इस योगका सत्त्व नहीं है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोके ही होते हैं, अपर्याप्तकोके नहीं होते ॥ ६८ ॥

शंका— क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमे भी वचनयोग और मनोयोगका पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोगरूपसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है ।

शंका— पर्याप्तक जीवोके भी विरुद्ध योगको प्राप्त होनेरूप अवस्थाके होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है ?

विशेषार्थ— शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामे मनोयोग और वचनयोगका अभाव बतलाया गया है, उसी प्रकार पर्याप्त अवस्थामे भी किसी एक योगके रहने पर शेष दो योगोका अभाव रहता है, इसलिये उस समय भी उन दो योगोके अभावका कथन करना चाहिये ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामे किसी एक योगके रहने पर शेष योग संभव है, इसलिये इस अपेक्षासे वहां पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है । अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस अपेक्षासे उनका अस्तित्व कहा जाता है ।

इन सभी सूत्रोमे समुच्चयरूप अर्थको प्रगट करनेवाला च शब्द नहीं होने पर भी सूत्रोक्त पदोसे ही समुच्चयरूप अर्थ प्रगट हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये ।

अब सामान्य काययोगकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग पर्याप्तकोके भी होता है, और अपर्याप्तकोके भी होता है ॥ ६९ ॥

‘अपि’ शब्दः समुच्चयार्थे द्रष्टव्यः । कः समुच्चयः ? एकस्य निर्दिष्ट-प्रदेशद्विप्रभृतेरुपनिपातः समुच्चयः । द्विरस्ति-शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तर-रुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । संक्षेपरुचयो नानुग्रहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभावित्वात् ।

पर्याप्तिस्यैव एते योगाः भवन्ति, एते चोभयोरिति वचनमाकर्ण्य पर्याप्ति-विषयजातसंशयस्य शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्राण्यभाणीत्

छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ ॥ ७० ॥

पर्याप्तिनिःशेषलक्षणोपलक्षणार्थं तत्संख्यामेव प्रागाह । आहारशरीरेन्द्रियो-च्छ्वासनिःश्वासभाषामनसां निष्पत्तिः पर्याप्तिः^१ । तान्च षट् भवन्ति-आहारपर्याप्तिः

सूत्रमे जो अपि शब्द आया है वह समुच्चयार्थक जानना चाहिये ।

शंका— समुच्चय किसे कहते हैं ?

समाधान— किसी एक शब्दके निर्दिष्ट स्थानमे दो आदि बार प्राप्त होनेको समुच्चय कहते हैं ।

शंका— सूत्रमे दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण करना निरर्थक है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिये सूत्रमे दो बार अस्ति पदका ग्रहण किया ।

शंका— तो इस सूत्रमे संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुग्रहीत नहीं किये गये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोका अनुग्रह संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोके अनुग्रहका अविनाभावी है । अर्थात्, विस्तारसे कथन कर देने पर संक्षेपरुचि शिष्योंका काम चल ही जाता है, इसलिये यहां पर विस्तारसे कथन किया है ।

ये योग पर्याप्तिकके ही होते हैं और ये योग दोनोंके होते हैं, इस वचनको सुनकर जिन शिष्योंके पर्याप्तिकके विषयमे संशय उत्पन्न हो गया है, उनके सदेहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा गया है—

छह पर्याप्तियां और छह अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७० ॥

पर्याप्तियोंके संपूर्ण लक्षणको बतलानेके लिये उनकी संख्या ही पहले कही गई है । आहार, शरीर, इन्द्रिय उच्छ्वासनिश्वास, भाषा और मन, इनकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं । वे पर्याप्तियां छह होती हैं— आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-

१ उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथम ये गृहीता पुद्गलास्तेषा तथान्येषामपि प्रतिसमय गृह्यमाणाना तत्सम्पर्कतस्तद्रूपतया जाताना य शक्तिविशेष आहारादिपुद्गलखलरसरूपतापादनहेतुर्यथोदरान्तर्गताना पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलखलरसरूपतापरिणमनहेतु सा पर्याप्ति । जी १ प्रति (अभि रा को, पज्जत्ति)

शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति ।
 एतासामेवानिष्पत्तिरपर्याप्तिः । ताश्च षड् भवन्ति--आहारापर्याप्तिः शरीरापर्याप्तिः
 इन्द्रियापर्याप्तिः आनापानापर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनोऽपर्याप्तिरिति । एतासां
 तदशानामपि पर्याप्तीनां स्वरूपं प्रागुक्तमिति पौनरुक्तिभयादिह नोच्यते ।

इदानीं तासामाधारप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्

सपिणमिच्छाद्दृष्टि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माद्दृष्टि त्ति ॥७१॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामपि षडपर्याप्तयो^१ भवन्तीति चेन्न, तत्र गुणेऽपर्याप्त-
 कालाभावात् । देशविरताद्युपरितनगुणानां किमिति षट् पर्याप्तयो न सन्तीति चेन्न,
 पर्याप्तिर्नाम षण्णां पर्याप्तीनां समाप्तिः, न सोपरितनगुणेष्वस्ति अपर्याप्तिचरमा-
 वस्थायामैकसमयिकया उपरि सत्त्वविरोधात्

षट्पर्याप्तिश्रवणात् षडेव पर्याप्तयः सन्तीति समुत्पन्नप्रत्ययस्य शिष्यस्याव-
 धारणात्मकप्रत्ययनिराकरणार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्—

पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति । इन छह पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको ही अपर्याप्ति कहते
 हैं । अपर्याप्तियां भी छह ही होती हैं— आहार-अपर्याप्ति, शरीर-अपर्याप्ति, इन्द्रिय-अपर्याप्ति,
 आनापान-अपर्याप्ति, भाषा-अपर्याप्ति और मन-अपर्याप्ति । इन बारह पर्याप्तियोंका स्वरूप
 पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दूषणके भयसे उनका स्वरूप फिरसे यहां नहीं कहते हैं ।

अब उन पर्याप्तियोंके आधारको बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

ये सभी पर्याप्तियां सज्जी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक
 होती हैं ॥ ७१ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालोके भी छह अपर्याप्तियां होती हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उस गुणस्थानमें अपर्याप्त काल नहीं पाया जाता है ।

शंका— देशविरतादिक ऊपरके गुणस्थानवालोके छह पर्याप्तियां क्यों नहीं होती हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, छह पर्याप्तियोंकी समाप्तिका नाम ही पर्याप्ति है और
 यह समाप्ति चौथे गुणस्थान तक ही होनेसे पाचवे आदि ऊपरके गुणस्थानोमें नहीं पायी
 जाती, क्योंकि, अपर्याप्तिकी अन्तिम अवस्थावर्ती एक समयमें पूर्ण हो जानेवाली पर्याप्तिकी
 आगेके गुणस्थानोमें सत्त्व होनेमें विरोध आता है ।

छह पर्याप्तियोंके सुननेसे जिस शिष्यको यह निश्चय हो गया कि पर्याप्तियां छह
 ही होती हैं, हीनाधिक नहीं, उस शिष्यके ऐसे धारणारूप निश्चयको दूर करनेके लिये आगेका
 सूत्र कहा है—

पंच पर्याप्तीओ पंच अपर्याप्तीओ ॥ ७२ ॥

पर्याप्तीनामपर्याप्तीनां च लक्षणमभाषीति नेदानौ भण्यते । षण्णां पर्याप्तीनामन्तः पञ्चापि सन्तीति पृथक् पर्याप्तिपञ्चकोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न, क्वचिज्जीव-विशेषे षडेव पर्याप्तयो भवन्ति, क्वचित्पञ्चैव भवन्तीति प्रतिपादनफलत्वात् । काः पञ्च पर्याप्तय इति चेन्मनोवर्जाः शेषाः पञ्च ।

ताः केषां भवन्तीति संशयानस्य शिष्यस्यारेकानिराकरणार्थमुत्तरसूत्रं वक्ष्यति—

वीइन्दिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिदिया त्ति ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रियेष्वस्ति मनः, तत्कार्यस्य विज्ञानस्य तत्र सत्त्वान्मनुष्येष्वेवेति न प्रत्यवस्थातुं युक्तम्, तत्रतनस्य विज्ञानस्य तत्कार्यत्वासिद्धेः । मनुष्येषु विज्ञानस्य

पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७२ ॥

पर्याप्तियोका और अपर्याप्तियोका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये अब फिरसे नहीं कहते हैं ।

शंका— पांच पर्याप्तियां छह पर्याप्तियोके भीतर आ ही जाती हैं, इसलिये अलग-रूपसे पांच पर्याप्तियोका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, किन्हीं जीव-विशेषोमे छहो पर्याप्तियां पाई जाती है, और किन्हीं जीवोमे पांच ही पर्याप्तियां पाई जाती हैं इस बातका प्रतिपादन करना इस सूत्रका फल है ।

शंका— वे पांच पर्याप्तियां कौनसी हैं ?

समाधान— मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्तियां यहा पर ली गई हैं ।

वे पांच पर्याप्तियां किनके होती हैं, इस प्रकार संशयापन्न शिष्यकी शंका दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वे पांच पर्याप्तियां द्विन्द्रिय जीवोसे लेकर असज्जी पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रिय जीवोमे भी मन है, क्योंकि, मनका कार्य जो विज्ञान मनुष्योमे है वही विकलेन्द्रिय जीवोमे भी पाया जाता यह बात निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि, विकलेन्द्रियोमें रहनेवाला विज्ञान मनका कार्य है, यह बात असिद्ध है ।

शंका— मनुष्योमे जो विशेष ज्ञान होता है वह मनका कार्य है, यह बात तो देखी जाती है ?

समाधान— मनुष्योका विशेष विज्ञान यदि मनका कार्य है तो रहा आवे, क्योंकि,

तत्कार्यत्वं दृश्यत इति चेदस्तु, क्वचिद् दृष्टत्वात् । मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रत्यविशेषान्मनोनिबन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजाति-स्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः । न प्रत्यक्षेणाप्येष आगमो बाध्यते, तत्र प्रत्यक्षस्य वृत्त्यभावात् । विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभावः कुतोऽवसीयत इति चेदार्थात् । कथमार्षस्य प्रामाण्यमिति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव ।

पुनरपि पर्याप्तिसंख्यासत्त्वभेदप्रदर्शनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ॥ ७४ ॥

केषुचित्प्राणिषु चतस्र एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति । कास्ताश्चतस्र इति चेदाहारशरीरेन्द्रियानापानपर्याप्तयः इति । शेषं सुगमम् ।

चतुर्णामपि पर्याप्तीनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एइंदियाणं ॥ ७५ ॥

वह क्वचित् देखा जाता है ।

शंका— मनुष्योमे मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोमे होनेवाले विज्ञानकी ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं हैं, इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोका विज्ञान भी मनसे होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भिन्न जातीमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातीमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बन सकती है । 'विकलेन्द्रियोके मन नहीं होता है' यह आगम प्रत्यक्षसे भी बाधित नहीं है, क्योंकि, वहां पर प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है ।

शंका— विकलेन्द्रियोमें मनका अभाव है यह बात किस प्रमाणसे जानी जाती है ?

समाधान— आगम प्रमाणसे जाना जाता है कि विकलेन्द्रियोके मन नहीं होता है ।

शंका— आर्षको प्रमाण कैसे माना जाय ?

समाधान— जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है ।

फिर भी पर्याप्तियोकी सख्याके अस्तित्वमे भेद बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—
चार पर्याप्तिया और चार अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७४ ॥

किन्हीं जीवोमे चार पर्याप्तियां अथवा किन्हींमे चार अपर्याप्तिया होती हैं ।

शंका— वे चार पर्याप्तिया कौनसी हैं ?

समाधान— आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और आनापानपर्याप्ति ।
शेष कथन सुगम है ।

चारो पर्याप्तियोके अधिकारी जीवोके प्रतिपादन करनेके लिय आगेका सूत्र कहते हैं—
उक्त चारो पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोके होती हैं ॥ ७५ ॥

ताश्चतस्रोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव, नान्येषाम् । एकेन्द्रियाणां नोच्छ्वास-
मुपलभ्यते चेन्न, आर्षात्तदुपलम्भात् । प्रत्यक्षेणागमो बाध्यत इति चेद्भवत्वस्य बाधा
प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षीकृताशेषप्रमेयात् । न चेन्द्रियजं प्रत्यक्षं समस्तवस्तुविषयं येन तदविषयी-
कृतस्य वस्तुनोऽभावो विधीयते^१ ।

एवं पर्याप्तिपर्याप्तीरभिधाय साम्प्रतममुष्मिन्नयं योगो भवत्यमुष्मिश्च न
भवतीति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओरालिकायजोगो पञ्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो
अपञ्जत्ताणं^२ ॥ ७६ ॥

षड्भिः पञ्चभिश्चतसृभिर्वा पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठितास्तिर्यञ्चो
मनुष्याश्च पर्याप्ताः । किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्तः उत साकल्येन निष्पन्न

वे चारो पर्याप्तिया एकेन्द्रिय जीवोंके ही होती है, दूसरोंके नहीं ।

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंके उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंके श्वासोच्छ्वास होता है यह बात आगम
प्रमाणसे जानी जाती है ।

शंका— प्रत्यक्षसे यह आगम बाधित है ?

समाधान— जिसने संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे यदि
बाधा संभव हो तो वह प्रत्यक्षबाधा कही जा सकती है । परंतु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो संपूर्ण पदार्थोंका
विषय ही नहीं करता है, जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्षकी विषयताको नहीं प्राप्त होनेवाले पदार्थोंका
अभाव किया जाय ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंका कथन करके अब इस जीवमें यह योग होता
है और इस जीवमे यह योग नहीं होता है, इसका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

औदारिककाययोग पर्याप्तिकोके और औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तिकोके होता
है ॥ ७६ ॥

शंका— छह पर्याप्ति, पांच पर्याप्ति अथवा चार पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुए
तिर्यच और मनुष्य पर्याप्तिक कहलाते हैं । तो क्या उनमेसे किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त
हुआ पर्याप्तिक कहलाता है या संपूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तिक कहलाता है ?

१ मु भेदीयते ।

२ ओराल पञ्जत्ते यात्रकायादि जाव जोगो ति । तम्मिस्समपञ्जत्ते चटुगुणठाणेषु गियमेण ॥

इति? शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रौदारिककाययोगः निष्पन्न-
शरीरावष्टम्भवलेनोत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिककाययोगः । अपर्याप्ता-
वस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगः । कर्मणौदारिकस्कन्धनिबन्धनजीवप्रदेशपरिस्पन्देन
योगः औदारिकमिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्तावस्थायां कर्मणशरीरस्य सत्त्वा-
त्तत्राप्युभयनिबन्धनात्मप्रदेशपरिस्पन्द इति औदारिकमिश्रकाययोगः किमु न स्यादिति
चेन्न, तत्र तस्य सतोऽपि जीवप्रदेशपरिस्पन्दस्याहेतुत्वात् । न पारम्पर्यकृतं तद्वेतुत्वम्,
तस्योपचारिकत्वात् । न तदपि, अविवक्षितत्वात् । अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे
संचरदभ्राणामपि कर्मबन्धः प्रसजतीति, न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यात्त्रवहेतु-
त्वेन विवक्षितत्वात् । न चाभ्रपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन तद्वेतुतामास्कन्देत् ।

वैक्रियिककाययोगस्य सत्त्वोद्देशप्रतिपादनार्थमाह—

समाधान— सभी जीव शरीरपर्याप्तिके निष्पन्न होने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं ।

उनमेसे पहले औदारिककाययोगका लक्षण कहते हैं । पर्याप्तिको प्राप्त हुए शरीरके
आलम्बनद्वारा उत्पन्न हुए जीवप्रदेश-परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे औदारिककाययोग कहते
हैं । और अपर्याप्त अवस्थामे औदारिकमिश्रकाययोग होता है । जिसका तात्पर्य इसप्रकार है कि
कर्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोके निमित्तसे जीवके प्रदेशोमे उत्पन्न हुए परिस्पन्दसे जो
योग होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ।

शंका— पर्याप्त अवस्थामे कर्मणशरीरका सद्भाव होनेके कारण वहां पर भी कर्मण
और औदारिकशरीरके स्कन्धोके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोमे परिस्पन्द होता है, इसलिये वहां
पर भी औदारिकमिश्रकाययोग क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामे यद्यपि कर्मणशरीर विद्यमान है फिर
भी वह जीव-प्रदेशोके परिस्पन्दका कारण नहीं है । यदि पर्याप्त-अवस्थामे कर्मणशरीर
परंपरासे जीवप्रदेशोके परिस्पन्दका कारण कहा जावे, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मण-
शरीरको परंपरासे निमित्त मानना उपचार है । यदि कहे कि उपचारका भी यहां पर ग्रहण
कर लिया जावे, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे परंपरारूप निमित्तके ग्रहण करनेकी
यहां विवक्षा नहीं है ।

शंका— परिस्पन्दको बन्धका कारण मानने पर सचार करते हुए मेघोके भी
कर्मबन्ध प्राप्त हो जायगा, क्योंकि, उनके भी परिस्पन्द पाया जाता है ?

समाधान— नही, क्योंकि, कर्मजनित चैतन्यपरिस्पन्द ही आत्त्रवका कारण है, यह
अर्थ यहां पर विवक्षित है । मेघोका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिससे वह कर्मबन्धके
आत्त्रवका हेतु हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है ।

अब वैक्रियिककाययोगके सत्त्वोद्देशके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेउवियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउवियमिस्सकायजोगो
अपज्जत्ताणं^१ ॥ ७७ ॥

पर्याप्तावस्थायां वैक्रियिककाययोगे सति तत्र शेषयोगाभावः स्यादिति चेन्न,
तत्र वैक्रियिककाययोग एवास्तीत्यवधारणाभावात् । अवधारणाभावेऽपर्याप्तावस्थायां
शेषयोगानामपि सत्त्वमापतेदिति चेत्सत्यम् कर्मणकाययोगस्य सत्त्वोपलम्भात् । न
तद्वत्तत्र वाङ्मनसयोरपि सत्त्वमपर्याप्तानां तयोरभावस्योक्तत्वात् ।

आहारकाययोगसत्त्वप्रदेशप्रतिपादनायाह—

आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो
अपज्जत्ताणं^२ ॥ ७८ ॥

आहारशरीरोत्थापकः पर्याप्तः, संयतत्वान्यथानुपपत्तेः । तथा चाहारमिश्रकाय-

वैक्रियिककाययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७७ ॥

शंका— पर्याप्त अवस्थामे वैक्रियिककाययोगके होने पर वहां शेष योगोका अभाव
प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामे वैक्रियिककाययोग ही होता है ऐसा
निश्चयरूप (अवधारणरूप) कथन नहीं किया है ।

गंका— जब कि उक्त कथन निश्चयरूप नहीं है तो अपर्याप्त अवस्थामें भी उसी
प्रकार शेष योगोका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— यह कहना किसी अपेक्षासे ठीक है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामे
वैक्रियिकमिश्रके अतिरिक्त कर्मणकाययोगका भी सद्भाव पाया जाता है । किंतु कर्मणकाययोगके
समान अपर्याप्त अवस्थामे वचनयोग और मनोयोगका सद्भाव नहीं माना जा सकता है,
क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामे इन दोनों योगोका अभाव रहता है, यह बात पहले कही जा
चुकी है ।

अब आहारकाययोगके अस्तित्वका आधार बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—
आहारकाययोग पर्याप्तकोंके और आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता
है ॥ ७८ ॥

गंका— आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु पर्याप्तक ही होता है, अन्यथा
उसके संयतपना नहीं बन सकता है । ऐसी हालतमे आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकके होता

१ वेगुव्व पज्जने इदरे जलु होदि तस्म मिस्स तु । गो जी ६८१

२ आहारो पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्म मिस्सो दु । गो जी ६८३

योगोऽपयोप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसूत्राभिप्रायत्वात् । तद्यथा-
भवत्वसौ पर्याप्तकः औदारिकशरीरगतषट्पर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्ति-
निष्पत्त्यभावापेक्षया त्वपर्याप्तकोऽसौ । पर्याप्तापर्याप्तत्वयोर्नैकत्राक्रमेण संभवः
विरोधादिति चेन्न, पर्याप्तापर्याप्तियोगयोरक्रमेणैकत्र न सम्भवः इतीष्टत्वात् । कथं न
पूर्वोऽभ्युपगमः इति विरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगतिन्यायापेक्षया, विरोधासिद्धेः ।
विनष्टौदारिकशरीरसम्बन्धषट्पर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्याप्तेरपर्याप्तकस्य
कथं संयम इति चेत् ? न, संयमस्यास्त्रवनिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः ।
विरोधे वा न केवलिनोऽपि समुद्धातगतस्य संयमः, तत्राप्यपर्याप्तकयोगास्तित्वं

है यह कथन नहीं बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा कहनेवाला आगमके अभिप्रायको ही नहीं समझा
है । आगमका अभिप्राय तो इस प्रकार है कि आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु औदारिक
शरीरगत छह पर्याप्तियोंकी अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारकशरीरसबन्धी
पर्याप्तियोंके पूर्ण होनेकी अपेक्षा वह अपर्याप्तक है ।

शंका— पर्याप्त और अपर्याप्तपना एकसाथ एक जीवमे संभव नहीं है, क्योंकि,
एकसाथ एक जीवमे इन दोनोंके रहनेमे विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमे पर्याप्त और अपर्याप्तसंबन्धी योग
संभव नहीं हैं, यह बात हमे इष्ट ही है ।

शंका— तो फिर हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाय, अतः आपके कथनमे
विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व का ज्ञान करानेवाले न्यायकी अपेक्षा विरोध
असिद्ध है । अर्थात् औदारिक शरीरसंबन्धी पर्याप्तपनेकी अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्थामे भी
पर्याप्तपनेका व्यवहार किया जा सकता है ।

शंका— जिसके औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं, और
आहारक शरीरसंबन्धी पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधुके संयम कैसे
हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आस्त्रवका निरोध करना है ऐसे समयका
मन्दयोग (आहारकमिश्रयोग) के साथ होनेमे कोई विरोध नहीं आता है । यदि इस मन्द-
योगके साथ संयमके होनेमे विरोध आता ही है ऐसा माना जावे, तो समुद्धातको प्राप्त हुए
केवलीके भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि, यहां पर भी अपर्याप्तकसंबन्धी योगका सद्भाव
पाया जाता है इसमे कोई विशेषता नहीं है ।

प्रत्यविशेषात् । 'संजदासंजद-संजदट्टाणे' णियमा पज्जत्ता' इत्यनेनार्षेण सह कथं न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनयापेक्षया प्रवृत्तसूत्रस्यास्या^१भिप्रायेणाहारशरीरा-निष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तीनां सत्त्वाविरोधात् । कर्मणकाययोगः पर्याप्तेष्वपर्या-प्तेषूभयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्निश्चयः कुतो भवेत् ? 'कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं'^२ इत्येतस्मात्सूत्रादपर्याप्तेष्वेव कर्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

पर्याप्तिष्वपर्याप्तिषु च योगानां सत्त्वमसत्त्वं चाभिधायेदानीं गतिषु तत्र गुण-स्थानानां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता
सिया अपज्जत्ता ॥ ७९ ॥

नारका इत्यनेन बहुवचनेन स्यादित्येतस्य एकवचनस्य न सामानाधिकरण्य-

शंका— 'संयतासंयत और संयतके सभी गुणस्थानोमे जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं' इस आर्षवचनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस सूत्रके अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामे भी औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके होनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— कर्मणकाययोग पर्याप्त होने पर होता है, या अपर्याप्त रहने पर होता है, अथवा दोनों अवस्थाओंमें होता है, यह कुछ भी नहीं कहा, इसलिये इसका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान— 'विग्रहगतिको प्राप्त चारो गतिके जीवोके और समुद्धातगत केवलियोंके कर्मणकाययोग होता है' इस सूत्रके कथनानुसार अपर्याप्तकोंके ही कर्मणकाययोग होता है, इस कथनका निश्चय हो जाता है ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमे योगोके सत्त्व और असत्त्वका कथन करके अब चार गतिसंबन्धी पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमे गुणस्थानोके सत्त्व और असत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं ॥ ७९ ॥

शंका— सूत्रमे आये हुए 'नारकाः' इस बहुवचनके साथ 'स्यात्' इस एक वचनका सामानाधिकरण नहीं बन सकता है ?

मिति चेन्न, एकस्य नानात्मकस्य नानात्वाविरोधात् । विरुद्धयोः कथमेकमधिकरण-
मिति चेन्न, दृष्टत्वात् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नता^१ । नारकाः मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्य-
ग्दृष्टयश्च पर्याप्ताश्चापर्याप्ताश्च भवन्ति । समुच्चयावगतये चशब्दोऽत्र वक्तव्यः ?
न, सामर्थ्यलभ्यत्वात् ।

तत्रतनशेषगुणद्वयप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

सासणसम्माइडि-सम्मामिच्छाइडि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥८०

नारकाः निष्पन्नषट्पर्याप्तयः सन्तः एताभ्यां^२ गुणाभ्यां परिणमन्ते नापर्याप्ता-
वस्थायाम् । किमिति तत्र तौ नोत्पद्येते इति चेत्तयोस्तत्रोत्पत्तिनिमित्तपारिणामा-

समाधान— नहीं, क्योंकि, एक भी नानात्मक होता है, इसलिये एकको नानारूप
होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— विरुद्ध दो पदार्थोंका एकाधिकरण कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो पदार्थोंका भी एकाधिकरण देखा जाता है ।
और देखे गये कार्यमें यह नहीं बन सकता यह कहा नहीं जा सकता है । अतः सिद्ध हुआ कि
मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नारकी पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं ।

शंका— समुच्चयका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें च शब्दका कथन करना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वह सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाता है ।

अब नारकसंवन्धी शेष दो गुणस्थानोंके आधारके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका
सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानद्वे नियमसे पर्याप्तक
होते हैं ॥ ८० ॥

जिनकी छह पर्याप्तियां पूर्ण हो गई हैं ऐसे नारकी ही इन दो गुणस्थानोंके साथ
परिणत होते हैं, अपर्याप्त अवस्थामें नहीं ।

शंका— नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें इन दो गुणस्थानोंकी
उत्पत्तिके निमित्तभूत परिणामोका अभाव है, इसलिये उनकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान
नहीं होते हैं ।

भावात् । सोऽपि किमिति तयोर्न स्यादिति चेत्स्वाभाव्यात् । नारकाणामग्निसम्बन्धा-
द्भस्मसाद्भावमुपगतानां पुनर्भस्मनि समुत्पद्यमानानामपर्याप्ताद्धायां गुणद्वयस्य
सत्त्वाविरोधान्नियमेन पर्याप्ता इति न घटत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात् । भावे
वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते, 'णिरयादो णेरइया उव्वट्ठिदसमाणा' १ णो णिरयगदि जंति णो
देवगदि जंति, तिरिक्खगदि मणुसगदि च जंति २ इत्यनेनार्षेण निषिद्धत्वात् ।
आयुषोऽवसाने म्रियमाणानामेष नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरसत्त्वात् । भस्मसाद्भाव-
मुपगतदेहानां तेषां कथं पुनरमरणमिति ३ चेन्न देहविकारस्यायुर्विच्छित्यनिमित्तत्वात् ।
अन्यथा बालावस्थातः प्राप्तयौवनस्यापि मरणप्रसङ्गात् ।

शंका— इस प्रकारके परिणाम उन दो गुणस्थानोमे क्यो नहीं होते हैं ?

समाधान— क्योंकि, ऐसा स्वभाव ही है ।

शंका— अग्निके संबन्धसे भस्मीभावको प्राप्त हुए और फिर भी उसी भस्ममे
उत्पन्न होनेवाले नारकियोके अपर्याप्त कालमे इन दो गुणस्थानोके होनेमे कोई विरोध नहीं
आता है, अर्थात् छेदन भेदन आदिसे नष्ट हुए शरीरके पश्चात् पुनः उन्हीं अवयवोमे उत्पन्न
होनेवाले जीवोके सासादन और मिश्र गुणस्थान माननेमे कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये
इन गुणस्थानोमे नारकी नियमसे पर्याप्तक होते हैं, यह नियम नहीं बनता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तोसे नारकियोका मरण नहीं होता
है । यदि नारकियोका मरण हो जावे, तो पुनः वे वहीँ पर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि,
'जिनकी आयु पूर्ण हो गई है ऐसे नारकी जीव नरकगतिसे निकलकर पुनः नरकगतिको नहीं
जाते हैं, देवगतिको नहीं जाते हैं । किंतु तिर्यचगति और मनुष्यगतिको जाते हैं' इस आर्ष
वचनके अनुसार नारकियोका पुनः नरकगतिमे उत्पन्न होना निषिद्ध है ।

शंका— आयुके अन्तमे मरनेवाले नारकियोके लिये ही यह सूत्रोक्त नियम लागू
होना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकी जीवोके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।
अर्थात् नारकियोका आयुके अन्तमें ही मरण होता है, बीचमे नहीं ।

शंका— यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती है, तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त
हो गया है ऐसे नारकियोका मरण नहीं होता यह कैसे बनेगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुर्कर्मके विनाशका
निमित्त नहीं है । अन्यथा जिसने बाल-अवस्थाके पश्चात् यौवन-अवस्थाको प्राप्त कर लिया है
ऐसे जीवके भी मरणका प्रसंग आ जायगा ।

१ मु उव्वट्ठिदसमाणा । २ मु 'जन्ति' स्थाने सर्वत्र 'जादि' इति ।

३ मु पुनर्मरणमिति ।

नारकाणामोघमभिधायादेशप्रतिपादनार्थमाह—

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ॥८१॥

प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषां नारकाणां^१ सामान्योक्तरूपेण भवन्ति, ततो^२ विशेषाभावात् । यदि सामान्यप्ररूपणया प्रथमपृथिवीगतनारका एव निरूपिता भवेयुरलं तथा, विशेषनिरूपणतयैव तदवगतेरिति ? न, द्रव्यार्थिकसत्त्वानुग्रहार्थ^३ तत्प्रवृत्तेः । विशेषप्ररूपणमन्तरेण न सामान्यप्ररूपणतोऽर्थावगतिर्भवतीति तथा निरूपणमनर्थकमिति चेत् ? न, बुद्धीनां वैचित्र्यात् । तथाविधबुद्धयो नेदानीमुपलभ्यन्त इति चेन्न, अस्यार्षस्य त्रिकालगोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात् ।

शेषपृथिवीनारकाणां प्रतिपादनार्थमाह—

इस प्रकार सामान्यरूपसे नारकियोका कथन करके अब विशेषरूपसे कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमे नारकी होते हैं ॥ ८१ ॥

प्रथम पृथिवीमे जो नारकी रहते हैं उनकी पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां नरकगतिके सामान्य कथनके अनुसार होती हैं, क्योंकि, नरकगतिसंबन्धी सामान्य कथनमें और प्रथम पृथिवीसंबन्धी कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

शंका— यदि सामान्यप्ररूपणाके द्वारा प्रथम पृथिवीसंबन्धी नारकी ही निरूपित किये गये हैं, तो सामान्यप्ररूपणाके कथन करनेसे रहने दो, क्योंकि, विशेषप्ररूपणासे ही उसका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सामान्य प्ररूपणाकी अपेक्षा रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहके लिये सामान्यप्ररूपणाकी प्रवृत्ति होती है ।

शंका— विशेषप्ररूपणाके बिना केवल सामान्यप्ररूपणासे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसी हालतमें सामान्यप्ररूपणाका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, श्रोताओकी बुद्धि अनेक प्रकारकी होती है, इसलिये विशेष प्ररूपणाके कथनके समान सामान्यप्ररूपणाका कथन करना भी निष्फल नहीं है ।

शंका— जो सामान्यसे पदार्थको समझ लेते हैं ऐसे बुद्धिमान् पुरुष इस कालमें तो नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह आगम त्रिकालमें होनेवाले अनन्त प्राणियोंकी अपेक्षा प्रवृत्त हुआ है ।

शेष पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकियोंके विशेष कथनके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ मु तेपा नारकाणा । २ मु कुतो ? ।

३ मु द्रव्यार्थिकनयात् सत्त्वा ।

विदियादि^१ जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठि-
ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८२ ॥

अधस्तनीषु षट्सु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टीनामुत्पत्तेः सत्त्वात् । पृथिवीशब्दः
प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः । सुगममन्यत् ।

शेषगुणस्थानानां तत्र क्व सत्त्वं क्व च न भवेदिति जातारेकस्य भव्यस्यारेका-
निरसनार्थमाह—

सासणसम्माइट्ठि — सम्मामिच्छाइट्ठि — असंजदसम्माइट्ठि
णियमा पज्जत्ता ॥ ८३ ॥

भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः, सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामम-
धिष्ठितस्य जीवस्य मरणाभावात्^२ । भवति च तस्य मरणं गुणान्तरमुपादाय । न च
तत्र स गुणोऽस्तीति । किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति ?

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवी पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे
पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८२ ॥

प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंमे मिथ्यादृष्टि जीवोंकी ही उत्पत्ति पाई
जाती है, इसलिये यहां पर प्रथम गुणस्थानमे पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थायें बतलाई
गई हैं । सूत्रमे आया हुआ पृथिवी शब्द प्रत्येक नरकके साथ जोड़ लेना चाहिये । शेष व्याख्यान
सुगम है ।

उन पृथिवीयोंकी किस अवस्थामे शेष गुणस्थानोंका सद्भाव है और किस अवस्थामे
नहीं, इस प्रकार जिसको शका उत्पन्न हुई है उस भव्यकी शंकाके दूर करनेके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक रहनेवाले नारकी सासादनसम्यग्दृष्टि
सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८३ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंकी मरकर शेष छह पृथिवियोंमे उत्पत्ति मत होओ,
क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण नहीं होता । परन्तु उसका
दूसरे गुणस्थानको प्राप्त होकर मरण होता है । परन्तु मरणकालमे वह गुणस्थान नहीं होता, यह
सब ठीक है । किन्तु शेष (दूसरे, चौथे) गुणस्थानवाले जीव मरकर वहा पर उत्पन्न नहीं होते,
यह कहना नहीं बनता ?

समाधान— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, कारण कि सासादन गुणस्थानवाला तो
नरकमे उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानवालेके नरकायुका बन्ध नहीं होता ।

नैवं वक्तव्यम्, कुतः ? न तावत्^१ सासादनस्तत्रोत्पद्यते, तस्य नरकायुषो बन्धाभावात् । नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते, तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात् । नासंयतसम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते, तत्रोत्पत्तिनिमित्ताभावात् । न तावत्कर्मस्कन्धबहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, क्षपितकर्माशानामपि जीवानां तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि कर्मस्कन्धाणुत्वं तत्रोत्पत्तेः कारणम्, गुणितकर्माशानामपि तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि नरकगतिकर्मणः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, तत्सत्त्वं प्रत्यविशेषतः सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात् । नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणा त्रसेषूत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाशुभलेश्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणम्, मरणावस्थायामसंयतसम्यग्दृष्टेः षट्पृथिवीषूत्पत्तिनिमित्ताशुभलेश्याभावात्^२ । न नरकायुषः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, सम्यग्दर्शनासिना छिन्नपट्पृथिव्यायुष्कत्वात् । न च तच्छेदोऽसिद्धः, आर्षात्तत्सिद्धचुपलम्भात् । ततः स्थितमेतत् न सम्यग्दृष्टिः षट्सु पृथिवीषूत्पद्यते इति ।

जिसने पहले नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसा जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोमे नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि, नरकायुका बन्ध करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमे मरण नहीं होता । असंयतसम्यग्दृष्टि जीव भी मरकर द्वितीयादि पृथिवियोमे उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोके शेष छह पृथिवियोमे उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते । यदि कर्मस्कन्धोकी अधिकता असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके शेष छह नरकोमे उत्पत्तिका कारण कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, क्षपित कर्माशिक जीवोकी भी नरकमे उत्पत्ति देखी जाती है । कर्मस्कन्धोकी अल्पता भी नरकमे उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि गुणित कर्माशिक जीवोकी भी वहा पर उत्पत्ति देखी जाती है । नरकगतिका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नरकमे उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, नरकगतिके सत्त्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पञ्चेन्द्रिय जीवोको नरकगतिकी प्राप्तिका प्रसंग आजायगा । तथा नित्यनिगोदिया जीवोके भी त्रसकर्मकी सत्ता विद्यमान रहती है, इसलिये उनकी भी त्रसोमे उत्पत्ति होने लगेगी । अशुभ लेश्याके सत्त्वको नरकमे उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, मरणके समय असंयत-सम्यग्दृष्टि जीवके नीचेकी छह पृथिवियोमे उत्पत्तिकी कारणरूप अशुभ लेश्याएं नहीं पाई जाती हैं । नरकायुका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नीचेकी छह पृथिवियोमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दर्शनरूपी खड्गसे नीचेकी छह पृथिवीसंवन्धी आयु काट दी जाती है । और नीचेकी छह पृथिवीसंवन्धी आयुका कटना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि नीचेकी छह पृथिवियोमे सम्यग्दृष्टी जीव मर कर उत्पन्न नहीं होता है ।

तिर्यंगतौ गुणस्थानानां सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्त्वा मिच्छादृष्टि-सासणसम्मादृष्टि-असंजदसम्मादृष्टि-
ट्टाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ॥ ८४ ॥

भवतु नाम मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां तिर्यक्षु पर्याप्तापर्याप्तद्वयोः सत्त्वं, तयोस्तत्रोत्पत्त्यविरोधात् । सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते, तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विरोधादिति ? न विरोधः, अस्यापस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । क्षायिक-सम्यग्दृष्टिः सेविततीर्थकरः क्षपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्सूतपद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखाधिकाभावात् । नारकेष्वपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां तत्रोत्पत्तिप्रतिपादकार्षोपलम्भात्^१ । किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राङ् मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां दृष्टतिर्यङ्तरकायुष्कत्वात् ।

अब तिर्यचगतिमे गुणस्थानोके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—
तिर्यच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८४ ॥

मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोकी तिर्यचोसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें भले ही सत्ता रही आवे, क्योंकि, इन दो गुणस्थानोकी तिर्यचसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामे उत्पत्ति होनेमे कोई विरोध नहीं आता है । परंतु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यचोमे उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यचोकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है ?

समाधान— विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जावे तो यह सूत्रवचन अप्रमाण हो जायगा ।

शंका— जिसने तीर्थकरकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दुःखबहुल तिर्यचोमे कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यचोके नारकियोंसे अधिक दुःख नहीं पाये जाते हैं ।

शंका— तो फिर नारकियोंमे भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारकियोंमे उत्पत्तिका प्रतिपादन करने-वाला आनन-प्रमाण पाया जाता है ।

शंका— सम्यग्दृष्टि जीव नारकियोंमे क्यों उत्पन्न होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि अवस्थामे तिर्यचायु और नरकायुका बन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहा पर उत्पत्ति होनेमे कोई आपत्ति नहीं आती है ।

सम्यग्दर्शनेन तत् किमिति न छिद्यते इति चेत् ? किमिति तन्न छिद्यते ? अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः । तदपि कुतः ? स्वाभाव्यात् ।

तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिस्वरूपनिरूपणार्थमाहुः—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥८५॥

मनुष्याः मिथ्यादृष्टचवस्थायां बद्धतिर्यगायुपः पश्चात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ता-प्रत्याख्यानाः क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किन्नोत्पद्यते इति चेत् ? किंचातोऽप्रत्याख्यान-गुणस्य तिर्यगपर्याप्तेषु सत्त्वापत्तिः ? न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसम्बद्धायुषोपल-क्षितानामणुव्रतोपादानबुद्धचनुत्पत्तेः । उक्तं च^१—

चत्तारि वि छेत्ताइ आउग ववेण^२ होइ सम्मत्त ।

अणुवद-महव्वदाइ ण लहइ देवायुग मोत्तु^३ ॥ १६९ ॥

शंका— सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यो नहीं हो जाता है ?

समाधान— उसका छेद क्यो नहीं होता है ? अवश्य होता है, किंतु उसका समूल नाश नहीं होता है ।

शंका— समूल नाश क्यो नहीं होता ?

समाधान— बांधे हुए आयुकर्मका समूल नाश नहीं होता है इस प्रकारका स्वभाव ही है ।

अब तिर्यचोमे सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यच्च सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासयत गुणस्थानमे नियमसे पर्याप्तिक होते हैं ॥ ८५ ॥

शंका— जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्थामे तिर्यचायुका बन्ध करनेके पश्चात् सम्यग्दर्शनके साथ देशसंयमको ग्रहण कर लिया है और मोहकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यचोमे क्यो नहीं उत्पन्न होते ? यदि होते हैं तो इससे तिर्यच-अपर्याप्तोमे देशसंयमके प्राप्त होनेकी आपत्ति आती है ?

समाधान— नहीं, क्योकि, देवगतिको छोड़कर शेष तीन गतिसंबन्धी आयुबन्धसे युक्त जीवोके अणुव्रतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है । कहा भी है—

चारो गतिसंबन्धी आयुकर्मके बन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता

१ अ प्रती 'उक्त च' प्रभृति 'चत्तारि वि छेत्ताइ' इत्यादिगाथा नास्ति ।

२ मु ववे वि ।

३ प्रा प १, २०१ । गो जी ६५३ गो क ३३४ ।

न तिर्यक्षूत्पन्ना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुव्रतान्याददते', भोगभूमावुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः । ये निर्दानास्ते कथं तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात् । न च पात्रदानेऽननुमोदिनः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, तत्र तदनुपपत्तेः ।

तिरश्चामोघमभिधायदेशस्वरूपनिरूपणार्थं वक्ष्यति—

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ ८६ ॥

एतेषामोघप्ररूपणमेव भवेद्विवक्षितं प्रति विशेषाभावात् ।

स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

हैं, परंतु देवायुके बन्धको छोड़कर शेष तीन आयुक्रमके बन्ध होने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रतको ग्रहण नहीं करता है ॥ १६९ ॥

तिर्यंचोमे उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यंचोमे उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमे ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमिमे उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतको ग्रहण करना वन नहीं सकता है ।

शंका— जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमिमे कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमे उत्पत्तिका कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहा उत्पन्न होनेमे कोई विरोध नहीं आता है । तथा पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते हैं, क्योंकि, उनमे पात्रदानकी अनुमोदनाका अभाव नहीं बन सकता है ।

विशेषार्थ— क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मनुष्य पर्यायमे ही होती है । अतः जिस मनुष्यने पहले तिर्यंचायुका बन्ध कर लिया है और अनन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवके उत्तम भोगभूमिमे उत्पत्तिका मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिये, पात्रदान नहीं । फिर भी वह पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित नहीं होता है ।

इस प्रकार तिर्यंचोकी सामान्य प्ररूपणाका कथन करके अब उनके विशेष स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंचसंबन्धी सामान्यप्ररूपणाके समान पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंच भी होते हैं ॥ ८६ ॥

पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोकी प्ररूपणा तिर्यंचसंबन्धी सामान्य-प्ररूपणाके समान ही होती है, क्योंकि, विवक्षित विषयके प्रति इन दोनोंके कथनमे कोई विशेषता नहीं है ।

अब स्त्रीवेदयुक्त तिर्यंचोमे विशेषका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-
ट्टाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ८७ ॥

सासादनो नारकेण्विव तिर्यक्वपि मोत्पादीति^१ चेन्न, द्वयोः साधर्म्यभावतो
दृष्टान्तानुपपत्तेः ।

तत्र शेषगुणानां स्वरूपमभिधातुमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठिणे
णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥

कुतः ? तत्रैतासामुत्पत्तेरभावात् । बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु
नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यत इति चेन्न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात् । यत्र

पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च योनिनी जीव मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते
हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८७ ॥

शंका— सासादन गुणस्थानवाला जीव मरकर जिस प्रकार नारकियोमे उत्पन्न नहीं
होता है, उसी प्रकार तिर्यचोमे भी मत उत्पन्न होओ ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यचोमे साधर्म्य नहीं पाया जाता है,
इसलिये नारकियोका दृष्टान्त तिर्यचोको लागू नहीं हो सकता है ।

इनमे शेष गुणस्थानोके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनी जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और
संयतासंयत गुणस्थानमे नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८८ ॥

शंका— ऐसा क्यों होता है ?

समाधान— क्योंकि, पूर्वोक्त गुणस्थानोमे मरकर ये उत्पन्न नहीं होते हैं ।

शंका— जिस प्रकार बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारकसंबन्धी नपुंसकवेदमे
उत्पन्न होता है उसी प्रकार यहा पर स्त्रीवेदमे क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकमे एक नपुंसकवेदका ही सद्भाव है । जिस किसी
गतिमे उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसंबन्धी विशिष्ट वेदादिकमे ही उत्पन्न होता
है यह अभिप्राय यहां पर ग्रहण करना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव
मरकर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनी जीवोमे नहीं उत्पन्न होता है ।

वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यत इति गृह्यताम् ।
तिर्यगपर्याप्तेषु किञ्च निरूपितमिति नाशङ्कनीयम्, तत्र प्रतिपक्षाभावतो गतार्थत्वात् ।

मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे
सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सुगममेतत् ।

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता
॥ ९० ॥

भवतु सर्वेषामेतेषां पर्याप्तित्वम्, नाहारशरीरमुत्थापयतां प्रमत्तानामनिष्पन्ना-
हारगतषट्पर्याप्तीनाम् । न पर्याप्तिकर्मोदयापेक्षया पर्याप्तोपदेशः, तदुदयसत्त्वा-

शंका— तिर्यच-अपर्याप्तोमे गुणस्थानोका निरूपण क्यो नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योकि, अपर्याप्त तिर्यचोमे एक मिथ्यात्व गुणस्थानको छोड़कर
प्रतिपक्षरूप और कोई दूसरा गुणस्थान नहीं पाया जाता है, अतः विना कथन किये ही इसका
ज्ञान हो जाता है ।

विशेषार्थ— यहां अपर्याप्त तिर्यचोसे लब्ध्यपर्याप्त तिर्यचोका ग्रहण करना चाहिये ।
और लब्ध्यपर्याप्तकोके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । अतः उनके विषयमे यहां पर
अधिक नहीं कहा गया है ।

अब मनुष्यगतिके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानोमे पर्याप्त
भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सरल है ।

मनुष्योमे शेष गुणस्थानोके सद्भावरूप अवस्थाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और सयत गुणस्थानोमे नियमसे पर्याप्तक
होते हैं ॥ ९० ॥

शंका— सूत्रमे बताया गये इन सभी गुणस्थानवालोको पर्याप्तपना प्राप्त होओ, परंतु
जिनकी आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे आहारक शरीरको उत्पन्न
करनेवाले प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोके पर्याप्तपना नहीं बन सकता है । यदि पर्याप्त नामकर्मके
उदयकी अपेक्षा आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्तसयतोको पर्याप्तक कहा जावे, सो

विशेषतोऽसंयतसम्यग्दृष्टीनामपि अपर्याप्तत्वस्याभावापत्तेः । न च संयमोत्पत्त्यवस्था-
पेक्षया तदवस्थायां प्रमत्तस्य पर्याप्तत्वं घटते, असंयतसम्यग्दृष्टावपि तत्प्रसङ्गादिति ?
नैष दोषः, अवलम्बितद्रव्यार्थिकनयत्वात् । सोऽन्यत्र किमिति नावलम्ब्यत इति चेन्न,
तत्र निमित्ताभावात् । किमर्थमत्रावलम्ब्यत इति चेत्पर्याप्तैरस्य साम्यदर्शनं
तदवलम्बनकारणम् । केन साम्यमिति चेद् ? दुःखाभावेन । उपपातगर्भसम्मूर्च्छज-
शरीराण्याददानानामिव' आहारशरीरमाददानानां न दुःखमस्तीति पर्याप्तत्वं
प्रमत्तस्योपचर्यत इति यावत् । पूर्वभ्यस्तवस्तुविस्मरणमन्तरेण शरीरोपादानाद्वा
दुःखमन्तरेण पूर्वशरीरपरित्यागाद्वा प्रमत्तस्तदवस्थायां पर्याप्त इत्युपचर्यते ।

भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, पर्याप्तकर्मका उदय प्रमत्तसंयतोके समान असंयत सम्यग्दृष्टियोके
भी निर्वृत्त्यपर्याप्त अवस्थामे पाया जाता है, इसलिये वहा पर भी अपर्याप्तपनेका अभाव मानना
पड़ेगा । सयमकी उत्पत्तिरूप अवस्थाकी अपेक्षा प्रमत्तसयतके आहारककी अपर्याप्त अवस्थामे
पर्याप्तपना बन जाता है यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि, इस प्रकार असंयत
सम्यग्दृष्टियोके भी अपर्याप्त अवस्थामे (सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा) पर्याप्तपनेका प्रसंग
आ जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनकी अपेक्षा
प्रमत्तसंयतोको आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तयोके पूर्ण नहीं होने पर भी पर्याप्त कहा है ।

शंका— उस द्रव्यार्थिक नयका दूसरी जगह (विग्रहगतिसंबन्धी गुणस्थानोमे)
आलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहा पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनके निमित्त नहीं
पाये जाते हैं ।

शंका— तो फिर यहा पर द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन किस लिये लिया जा रहा है ।

समाधान— आहारकसंबन्धी अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त हुए प्रमत्तसयतकी
पर्याप्तकोके साथ समानताका दिखाना ही यहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनका कारण है ।

शंका— इसकी दूसरे पर्याप्तकोके साथ किस बातसे समानता है ?

समाधान— दुःखाभावकी अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकोके साथ समानता है ?
जिस प्रकार उपपातजन्म, गर्भजन्म या समूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न हुए शरीरोको धारण करनेवालोके
दुःख होता है, उस प्रकार आहारशरीरको धारण करनेवालोके दुःख नहीं होता है, इसलिये
उस अवस्थामें प्रमत्तसंयत पर्याप्त है इस प्रकारका उपचार किया जाता है । अथवा, पहले
अभ्यास की हुई वस्तुके विस्मरणके विना ही आहारक शरीरका ग्रहण होता है, या दुःखके
विना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परित्याग होता है, अतएव प्रमत्तसंयत अपर्याप्त

निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तिः^१ । एवं समुद्धातगतकेवलिनामपि वक्तव्यम् ।

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह—

एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति, विरोधात् । ततः 'एवं पज्जत्ता' इति कथमेतद्वदत इति ? नैष दोषः, शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः । कथं तस्य पर्याप्तत्वं ? न, द्रव्यार्थिकनयाश्रयणात् । ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामेवौदनव्यपदेशस्तथाऽपर्याप्तावस्थायामप्यत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुद्धयत इति । पर्याप्तिनामकर्मोदयापेक्षया वा पर्याप्तिता । एवं तिर्यक्ष्वपि वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

अवस्थामे भी पर्याप्ति है, इस प्रकारका उपचार किया जाता है । निश्चयनयका आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्ति ही है । इसी प्रकार समुद्धातगत केवलीके संबन्धमे भी कथन करना चाहिये ।

अब मनुष्यके भेदोके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य-सामान्यके कथनके समान मनुष्य पर्याप्ति होते हैं ॥ ९१ ॥

शंका— पर्याप्तिकोमे अपर्याप्तपना तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, इन दोनों अवस्थाओका परस्पर विरोध है । इसलिये 'इसीप्रकार पर्याप्ति होते हैं' यह कथन कैसे घटित होगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीरकी अनिष्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तिकोमे भी अपर्याप्तपना बन जाता है ।

शंका— जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसके पर्याप्तपना कैसे बनेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना बन जाता है । भात पक रहा है, यहां पर जिस प्रकार चावलोको भात कहा जाता है, उसी प्रकार जिसके सभी पर्याप्तियां पूर्ण होनेवाली हैं ऐसे जीवके अपर्याप्ति अवस्थामे भी पर्याप्तपनेका व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है । अथवा पर्याप्ति नामकर्मके उदयकी अपेक्षा उनके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार तिर्यचोमे भी कथन करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ— मनुष्य पर्याप्तिकोमे पर्याप्ति और निर्वृत्यपर्याप्ति इन दोनों प्रकारके

१ औदारिकाद्या शुद्धान्तपर्याप्तिकस्य, मिथ्यान्त्वपर्याप्तिकस्येति । तत्रोत्पत्तावौदारिकाय कर्मणेन, औदारिकगरीणिग्वच वैक्रियकाहारककणकाले वैक्रियकाहारकाम्या मिथो भवतीति । एवमौदारिकमिथो । तथा वैक्रियकमिथो देवाद्युत्पत्ती कर्मणेन, कृतवैक्रियस्य औदारिकप्रवेशाद्वायामौदारिकेण । आहारकमिथस्तु साधिताहारककायप्रयोजन पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति । स्या ३ का १३ (अभि रा को जोग)

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइटि-सासणसम्माइटि-द्वाने सिया
पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । अथवा स्यादित्ययं
निपातः कथञ्चिदित्येतस्मिन्नर्थे' वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयाच्छरीर-
निष्पत्त्यपेक्षया वा । स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

तत्रैव शेषगुणविषयारेकापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइटि-असंजदसम्माइटि-संजदासंजद-संजद-द्वाने
णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत् ? नोत्पद्यन्ते ।

पुरुषवेदी मनुष्योका अन्तर्भाव होता है, वयोकि, आगममे जो मनुष्योके चार भेद किये हैं
उनमेसे जिनके पर्याप्त नामकर्मका उदय विद्यमान है ऐसे पुरुषवेदी मनुष्योको मनुष्य पर्याप्त
कहा है । इस पर शंकाकारका कहना है कि जिनके पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्त-
कोका पर्याप्तकोमे अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है । इसी शंकाको ध्यानमे रखकर यहाँ
समाधान किया गया है ।

अब मनुष्यनियोमे गुणस्थानोके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

मनुष्यनियाँ मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पर्याप्त भी होती है और
अपर्याप्त भी होती हैं ॥ ९२ ॥

यहाँ पर भी पर्याप्त मनुष्योके समान निर्वृत्यपर्याप्तकोमे पर्याप्तपनेका व्यवहार कर
लेना चाहिये । अथवा, 'स्यात्' यह निपात कथञ्चित् अर्थमे रहता है । इसके अनुसार कथञ्चित्
पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा अथवा शरीर-
पर्याप्तकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते हैं । और कथञ्चित् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह
तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब मनुष्यनियोमे ही शेष गुणस्थानविषयक शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—
मनुष्यनियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत और संयत गुणस्थानोमे
नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

शंका— हुण्डावसर्पिणी कालके दोषसे स्त्रियोमे सम्यग्दृष्टि जीव क्यो नहीं उत्पन्न
होते हैं ?

समाधान— उनमे सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते हैं ।

शंका— यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

कुतोऽयसीयते? अस्मादेवार्षात् । अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः^१ सिद्धचेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासां सवाससामप्य-
विरुद्ध इति चेत् ? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्य-
थानुपपत्तेः । कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ
तत्सत्त्वाविरोधात् । भाववेदो वादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां
सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् । गतिस्तु प्रधाना, न साराद्विनश्यति ।
वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण
तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात् । मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षा-
भावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति ।

समाधान— इसी आर्षवचनसे जाना जाता है ।

शंका— तो इसी आर्षवचनसे द्रव्य-स्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासयत गुणस्थान होता है,
अतएव उनके सयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

शंका— वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्य-स्त्रियोंके भावसयमके होनेमें कोई विरोध
नहीं है ?

समाधान— उनके भाव संयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा, अर्थात् भाव सयमके
मानने पर, उनके भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादिकका ग्रहण करना नहीं बन सकता है ।

शंका— तो फिर स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें चौदह
गुणस्थानोंके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— वादरकषाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिये
भाववेदमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर अर्थात् गतिमार्गणामे वेदकी प्रधानता नहीं है,
किंतु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती है ।

शंका— यद्यपि मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव हैं । फिर भी उसे वेद विशेषणसे
युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उस विशेषण
युक्त सज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव होनेमें कोई विरोध
नहीं आता है ।

मनुष्य अपर्याप्तिकोमें अपर्याप्तिका कोई प्रतिपक्षी नहीं होनेसे और उनका कथन
सुगम होनेसे इस विषयमें कुछ अधिक कहने योग्य नहीं है । इसलिये इस संबन्धमें स्वतन्त्ररूपसे
नहीं कहा गया है ।

देवगतौ निरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह--

देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि-द्वाने
सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥९४॥

अथ स्याद्विग्रहगतौ कर्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात् । न अपर्याप्तास्ते, आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायाम-पर्याप्तिव्यपदेशात् । न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः, अतिप्रसङ्गात् । ततस्तृतीयमप्य-वस्थान्तरं वक्तव्यमिति ? नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात् । नातिप्रसङ्गोऽपि, कर्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तिकैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्ग-त्यायुःप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात् । ततोऽशेषसंसारिणा-मवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम् ।

अब देवगतिमे निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९४ ॥

शंका-- विग्रहगतिमे कर्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है । किंतु वहां पर कर्मणशरीरवालोके पर्याप्ति नहीं पाई जाती है, क्योंकि, विग्रहगतिके कालमे छह पर्याप्तियोंकी निष्पत्ति नहीं होती है ? उसी प्रकार विग्रहगतिमे वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामे अपर्याप्ति यह सज्ञा दी गई है । परंतु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगतिसंबन्धी एक, दो और तीन समयवर्ती जीवोको अपर्याप्ति सज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर अति-प्रसंग दोष आता है । इसलिये यहाँ पर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न तीसरी भी अवस्था कहना चाहिये ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसे जीवोका अपर्याप्तोमे ही अन्तर्भाव किया गया है । और ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, कर्मण-शरीरमे स्थित जीवोकी अपर्याप्तकोके साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोग-स्थान और गति तथा आयुसबन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमे होनेवाली अवस्थाके द्वारा जितनी समीपता पाई जाती है, उतनी शेष प्राणियोंकी नहीं पाई जाती है । इसलिये कर्मणकाययोगमे स्थित जीवोका अपर्याप्तकोमे ही अन्तर्भाव किया जाता है । अतः संपूर्ण प्राणियोंकी दो अवस्थाएँ ही होती हैं । इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है ।

शेषगुणस्य सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्माभिच्छाइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९५ ॥

कथं ? तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् । अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्व-
गुणस्योत्पत्तेरभावाच्च । नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्त-
गर्भकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

भवणवासिय-वाणवेत्तर-जोइसिय-देवा^१ देवीओ सोधम्मीसाण-
कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया
पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्ति-
याओ ॥ ९६ ॥

इसी गतिमे शेष गुणस्थानोकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—
देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९५ ॥

शंका— यह कैसे ?

समाधान— क्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ उनका मरण नहीं होता है । तथा
अपर्याप्त कालमे भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नही होती है ।

शंका— 'तृतीय गुणस्थानमे पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार कर
लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव होनेमे कोई विरोध
नहीं आता है ।

अब देवगतिमें विशेष परूवणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियां तथा सौधर्म और
ऐशान कल्पवासिनी देवियां ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पर्याप्त
भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९६ ॥

१ भवनेषु वनन्तीत्येव शीला भवनवासिन । विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तरा । द्योतन-
स्वभावत्वाज्ज्योतिष्का । स सि त रा वा ४ १०-१२ भवनेषु अवलोकदेवावासविशेषेषु वस्तु शीलमस्येति ।
अभि रा को (भवनवासि) विविध भवननगरावासरूपमन्तर येषां ते व्यन्तरा । X X अथवा विगतमन्तर
मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तरा । तथाहि, मनुष्यान्पि चक्रवर्तिवानुदेवप्रभृतीन् भृत्यवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति
मनुष्येभ्यो विगतान्तरा । यदि वा विविधमन्तर शैलान्तर कन्दरान्तर वनान्तर वा आश्रयरूप येषां ते
व्यन्तरा । प्राकृतत्वाच्च सूत्रे 'वाणमन्तरा' इति पाठ । यदि वानमन्तरा इति पदसंस्कार, तत्रेय व्युत्पत्ति,
वनानामन्तराणि वनान्तराणि, तेषु भवा वानमन्तरा । पृषोदरादित्वादुभयपदपदान्तरालवर्तिमकारागम ।

उभयगुणोपलक्षितजीवानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्तित्वं सिद्धम् ।
अन्यत्सुगमम् ।

तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्मामिच्छाइट्ठिणाणे णियमा पज्जत्ता
णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९७ ॥

भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः, तस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, किंत्वेतन्न
घटते यदसंयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति? न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात् ।
नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषूपद्यमानस्तत्र तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यत इति चेन्न,
मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बद्धायुष्काणां परादात्तसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति
सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात् । तद्वद्देवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात् । तथा च

इन दोनों गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी पूर्वोक्त देव और देवियोंसे उत्पत्ति होती है,
अतएव उन दोनों गुणस्थानोंसे पर्याप्त और अपर्याप्तिरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है ।
शेष कथन सुगम है ।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अवस्थामे नहीं होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होते
हैं और पूर्वोक्त देवियों नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ ९७ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंसे उत्पत्ति मत होओ, यह
ठीक है, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण नहीं होता है । परंतु यह
बात नहीं बनती है कि मरनेवाला असंयतसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियोंसे उत्पन्न
नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंसे उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंसे और तिर्यचोंसे उत्पन्न होनेवाला
सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंसे तथा कल्प-
वासिनी देवियोंसे क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो आयुर्कर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और
जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिसे उत्पत्तिके
रोकनेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमे नहीं है ।

पञ्चा १ (पद अभि रा को वाणमतर) द्योतन्ते इति ज्योतीषि विमानानि, तन्निवासिनो ज्योतिष्का ।
उत्त २ अ । ज्योतीषि विमानविशेषा, तेषु भवा ज्योतिष्का । स्था ५ ठा १ उ (अभि रा को —
ज्योतिष्क, ज्योतिष्क) १ मु पूत्यद्यमानास्तत्र । २ मु नोत्पद्यन्त ।

भवनवास्यादिष्वप्यसंयतसम्यग्दृष्टेरुत्पत्तिरास्कन्देदिति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां तत्तद्गत्यायुःसामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिविशेषोत्पत्तिविरोधित्वोपलम्भात् तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकपृथ्वीषट्कस्त्रीनपुंसक-विकलैकेन्द्रिय^१लब्ध्यपर्याप्तककर्मभूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽसंयतसम्यग्दृष्टेः सिद्धयेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते । सुगममन्यत् ।

शेषदेवेषु गुणावस्थाप्रतिपादनार्थं वक्ष्यति—

सोधम्मीसाण—प्पहुडि जाव उवरिम—उवरिम—गेवज्ज^२ ति विमाणवासिय^३—देवेषु मिच्छाइट्ठि—सासणसम्माइट्ठि—असंजदसम्मा-इट्ठिठ्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ९८ ॥

शंका— सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिस प्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उसी प्रकार देवोंमें क्यों नहीं होती है ?

समाधान— यह कहना ठीक है, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है ।

शंका— यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयुकर्मका बन्ध कर लिया है ऐसे जीवोंके सम्यग्दर्शनका उस उस गतिसंबन्धी आयुसामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस उस गतिसंबन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया जाता है । ऐसी अवस्थामें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक देवोंमें, नीचेके छह नरकोंमें, सब प्रकारकी स्त्रियोंमें, प्रथम नरकके विना सब प्रकारके नपुंसकोंमें, विकलत्रयोंमें, एकेन्द्रियोंमें लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें और कर्मभूमिज तिर्यचोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है । इसलिये इतने स्थानोंमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

शेष देवोंमें गुणस्थानोंकी अवस्थितिके बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग पर्यन्त विमानवासी देवोंसंबन्धी मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९८ ॥

१ मु विकलेन्द्रिय—

२ लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवा । ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि । तत्पाहचर्यन्त् इन्द्रा अपि ग्रैवेयका । त रा वा ४ १९ ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जुपरिवर्त्तिप्रदेशं तन्निविष्ट-तयातिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूतादौ ग्रैवेयका देशवासा, तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयका । उत्त ३६ अ (अभि रा को गेविज्जक)

३ विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमानेषु भवा वैमानिका । स सि, त रा वा ४ १६ विविध मन्यन्ते उपभुज्यन्ते पुण्यवद्भिर्जीवैरिति विमानानि । तेषु भवा वैमानिका । से किं त वेमाणिया ? वेमाणिया दुविहा पणत्ता, त जहा कप्पोपगा य कप्पाईया य । X X कल्प आचार, स चेह

भवत्वत्रोभयावस्थासु गुणत्रयस्यास्तित्वम्^१, तस्य तेषूत्पत्तिं प्रति विरोधासिद्धेः। सनत्कुमारादुपरि न स्त्रियः समुत्पद्यन्ते, सौधर्मादाविव तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात्। तत्र स्त्रीणामभावे कथं तेषां देवानामनुपशान्तान्तस्तापानां^२ सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः। तर्हि तत्रापि स्त्रीणामस्तित्वभिधातव्यमिति चेन्न, अन्यत्रोत्पन्ना-
नामन्यलेश्यायुर्बलानां स्त्रीणां तत्र सत्त्वविरोधात्। तत्र भवनवासिनो व्यन्तरज्योतिष्काः सौधर्मेशानदेवाश्च मनुष्या इव कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो मैथुनसेवनम्, काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतनदेवा देवाङ्गनास्पर्शनमात्रादेव परां प्रीतिमुपलभन्ते इति यावत्। तथा देव्योऽपि। यतो ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टेषु देवाः दिव्याङ्गनाश्रृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेष-

शंका— सौधर्म स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तकके देवोकी पर्याप्ति और अपर्याप्ति इन दोनों अवस्थाओमे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानोका अस्तित्व पाया जाता है, यह कहना तो ठीक है, क्योंकि, उन तीन गुणस्थानोकी उक्त देवोमे उत्पत्तिके प्रति विरोध नहीं है। किंतु सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर स्त्रियां उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि, सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे देवांगनाओके उत्पन्न होनेका जिस प्रकार कथन किया गया है, उस प्रकार आगेके स्वर्गोमे उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है। इसलिये वहा स्त्रियोके अभाव रहने पर, जिनका स्त्रीसंबन्धी अन्तस्ताप शान्त नहीं हुआ है ऐसे देवोके उनके बिना सुख कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सनत्कुमार आदि कल्प-संबन्धी स्त्रियोकी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे उत्पत्ति होती है।

शंका— तो सनत्कुमार आदि कल्पोमे भी स्त्रियोके अस्तित्वका कथन करना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई हैं, तथा जिनकी लेश्या, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोमे उत्पन्न हुए देवोसे भिन्न प्रकारके हैं ऐसी स्त्रियोका सनत्कुमारादि कल्पोमे उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व होनेमे विरोध आता है।

उन देवोमे भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासी देव मनुष्योके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं। मैथुनसेवनको प्रवीचार कहते हैं। जिनका कायमे प्रवीचार होता है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमे देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् इन दोनों कल्पोमे रहनेवाले देव देवांगनाओके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार वहांकी देवियां भी देवोके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं। जिस कारण ब्रम्ह, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट कल्पोमे रहनेवाले देव अपनी देवांगनाओके श्रृंगार, आकार, विलास, प्रशस्त तथा मनोज्ञ वेष तथा रूपके अवलोकन इन्द्रमामानिकवार्पस्त्रिगादिव्यवहाररूपस्तमुपगा प्राप्ता कन्पोपगा सौधर्मेशानादिदेवलोकनिवासिन। यथोक्त-
रूप कल्पमतीता अतिक्रान्ता कल्पातीता। प्रजा १ पद (अभि रा को वेमाणिय)

१ मु गुणत्रयास्तित्व।

२ मु शान्ततत्पन्तापाना।

रूपालोकमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः । यतः शुक्रमहाशुक्रशतार-
सहस्रारेषु देवाः देवाङ्गनानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव
परां प्रीतिमास्कन्दन्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवाः यतः
स्वाङ्गनामनःसङ्कल्पमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति^१ ततस्ते मनःप्रवीचाराः । प्रवीचारो
वेदनाप्रतीकारः । वेदनाभावाच्छेषाः देवाः अप्रवीचाराः अनवरतसुखा इति यावत् ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९९ ॥

सुगमत्वाज्ञात्र वक्तव्यमस्ति ।

शेषदेवेषु गुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वज्जयन्त-जयन्तावराजितसव्वट्ट-
सिद्धिविमाणवासिय-देवा असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता
सिया अपज्जत्ता ॥ १०० ॥

मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं इसलिये वे रूपसे प्रवीचार करनेवाले हैं । जिस कारण
शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पोमे रहनेवाले देव देवांगनाओके मधुर संगीत, कोमल
हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणोंके शब्द सुनने मात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं,
इसलिये वे शब्दसे प्रवीचार करनेवाले हैं । जिस कारण आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पोंमें
रहनेवाले देव अपनी स्त्रीका मनमे सकल्प करने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं, इसलिये
वे मनसे प्रवीचार करनेवाले हैं । वेदनाके प्रतीकारको प्रवीचार कहते हैं । उस वेदनाका अभाव
होनेसे नव ग्रंथेयकसे लेकर ऊपरके सभी देव प्रवीचाररहित हैं अर्थात् निरन्तर सुखी हैं ।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि देवोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

अब शेष देवोंमे गुणस्थानोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

नव अनुदिशोमे और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच
अनुत्तर विमानोंमे रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त
भी होते हैं ॥ १०० ॥

१ स सि ४ ८, त रा वा ४ ८, वा ५

२ नैपामन्यानुत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि । अनु अनुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु

पञ्चानामेव नामान्यभ्यधादन्तदीपकार्थम् । ततः शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि । तानि च यथावसरं वक्ष्यामः । एवं योगनिरूपणावसर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तापर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्ति त्वम् । शेषमार्गणासु अयमर्थः किमिति नाभिधीयत इति चेत् ? नोच्यते, अनेनैव गतार्थत्वाद् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्तमार्गणाभावात् ।

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा
अवगदवेदा चेदि ॥ १०१ ॥

दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः, स एषामस्तीति स्त्रीवेदाः । अथवा^१ पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः । स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः । अथवा वेदनं वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः । उक्तं च—

ये पांच विमान सबसे अन्तमें हैं इस बातके प्रगट करनेके लिये पांचो ही विमानोके नाम कहे गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोके नाम भी कहने चाहिये । परंतु उनका वर्णन यथावसर करेगे ।

इस प्रकार योगमार्गणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त काल युक्त चारो गतियोमे सपूर्ण गुणस्थानोकी सत्ता बतला दी गई ।

शंका— शेष मार्गणाओमे यह विषय क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं कहते हैं, क्योंकि, इसी कथनसे शेष मार्गणाओमे इस विषयका ज्ञान हो जाता है, क्योंकि, चारो गतियोको छोड़कर अन्य मार्गणाएँ नहीं पाई जातीं ।

अब वेदसहित गुणस्थानोके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं ॥ १०१ ॥

जो दोषोसे स्वयं अपनेको और दूसरेको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । वह स्त्रीवेद जिनके पाया जाता है वे स्त्रीवेदी कहलाते हैं । अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है । जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्रीके वेदको स्त्रीवेद कहते हैं । कहा भी है—

उपपानो जन्मानुत्तरोपपात । म ६ न ६ उ अत्थि ण भते अणुत्तरोववाइया देवा । हता । अत्थि । से केणट्ठेण भते ? एव वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? गोयमा । अणुत्तरोववाइयाण अणुत्तरा सद्दा, अणुत्तरा रुद्धा, जाव अणुत्तरा फासा, मे तेणट्ठेण गोयमा । एव वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा । म १४ श ७-उ (अमि रा को दणुत्तरोववाइय)

१ मृ वेदञ्च स्त्रीवेद । अथवा ।

छादेदि सय दोसेण यदो छादइ पर हि दोसेण ।

छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी^१ ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः । सुषुप्तपुरुषवदनवगत^२-
गुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् ।
पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुषः । कथं स्र्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति
चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्धजीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तस्य तत्कर्तृत्वा^३-
भिधानात् । तस्य वेदः पुंवेदः । उक्तं च--

पुरु-गुण-भोगे सेदे करेदि लोगम्हि पुरुगुण कम्मं ।

पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो^४ ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्नपुंसकः,^५ उभयाभिलाष इति यावत् । उक्तं च--

जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि दोषोसे अपनेको आच्छादित करती है
और मधुर संभाषण, कटाक्ष-विक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुरुषोको भी अब्रह्म आदि दोषोसे
आच्छादित करती है, उसको आच्छादनशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोमे और उत्कृष्ट भोगोमे शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा,
जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान गुणोको नहीं जानता है और भोगोको
प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं । अर्थात् स्त्रीसंबन्धी अभिलाषा जिसके पाई जाती है
उसे पुरुष कहते हैं । अथवा, जो श्रेष्ठ गुणयुक्त कर्म करता है वह पुरुष है ।

शंका-- जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम गुणयुक्त कर्म कैसे
कर सकता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, उत्तम गुणयुक्त कर्मको करनेरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके
सहचरितपनेकी अपेक्षा वह उत्तम कर्मको करता है ऐसा कथन उपचारसे किया है । कहा
भी है--

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोमे सोता है अथवा जो लोकमे उत्तम गुणयुक्त कार्य
करता है और जो उत्तम है उसे पुरुष कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं, अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष-
विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं । कहा भी है--

१ प्रा प १, १०५ । गो जी २७४ नयत मृदुभापितस्निग्धविलोकनानुसुलवर्तनादिकुशल-
व्यापारं । जी प्र टी २ मु वदनुगत । ३ मु जीवस्य तत्कर्तृत्वा

४ प्रा प १, १०६ । गो जी २७३ पुरुगुणे नम्यग्गानाधिकगुणममूहे । पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्र-
देवेन्द्राद्यधिकभोगचये । पुरुगुण कर्म वर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठान । पुरुत्तमे परमेष्ठिपदे ।
जी प्र टी. ५ मु पुंसकमुभ ।

णेवित्थी णेव पुम णवुसओ उभय-लिंग-वदिरित्तो ।

इट्ठावाग^१-समाणग-वेयण-गरुओ कलुस चित्तो^२ ॥ १७२ ॥

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येषां तेऽपगतवेदाः । प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत् ।

सर्वत्र सन्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । उक्तं च—

कारिस-तण्णिट्ठावागगि^३-सरिस-परिणाम-वेयणुम्मक्का ।

अवगय-वेदा जीवा सग-सभवणत-वर-सोक्खा^४ ॥ १७३ ॥

वेदवतां जीवानां गुणस्थानादिषु सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव

अणियट्ठि चि ॥ १०२ ॥

उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्वं प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणै-

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किन्तु स्त्री और पुरुषसंबन्धी दोनों प्रकारके लिंगोसे रहित है, अवाकी अग्निके समान तीव्र वेदनासे युक्त है और सर्वदा स्त्री और पुरुष विषयक मैथुनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुई वेदनासे जिसका चित्त क्लुषित है उसे नपुंसक कहते हैं ॥ १७२ ॥

जिनके तीनों प्रकारके वेदोसे उत्पन्न होनेवाला संताप (अन्तरंग दाह) दूर हो गया है वे अपगतवेद जीव हैं ।

सूत्रमे कहे गये सभी पदोके साथ 'सन्ति' पदका सबन्ध कर लेना चाहिये । कहा भी है—

जो कारीष (कण्डेकी) अग्नि, तृणाग्नि और इष्टापाकाग्नि (अवेकी अग्नि) के समान परिणामोसे उत्पन्न हुई वेदनासे रहित हैं और अपनी आत्मासे उत्पन्न हुए अनन्त और उत्कृष्ट सुखके भोक्ता हैं उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं ॥ १७३ ॥

अब वेदोसे युक्त जीवोके गुणस्थान आदिकमे अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

स्त्रीवेद और पुरुषवेदवाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं ॥ १०२ ॥

शंका— इस प्रकार तो दोनों वेदोका एकसाथ एक जीवमे अस्तित्व प्राप्त हो जायगा?

१ मु इट्ठावाग ।

२ प्रा प १, १०७ । गो जी. २७५ तथापि स्त्रीपुरुषाभिलाषरूपतीव्रकामवेदनालक्षणो भावन-पुसकवेदोऽस्तीति आचार्यस्य तात्पर्यं ज्ञातव्य । जी प्र टी ३ मु तण्णिट्ठावागगि ।

४ प्रा प १, १०८ । गो जी २७६ यद्यपि अपगतवेदानिवृत्तिकरणादीना वेदोदयजनितकाम-वेदनारूपमक्लेशाभाव तथापि गुणस्थानातीतमुक्तात्मना स्वात्मोत्थसुखसद्भाव ज्ञानादिगुणसद्भाववद्भित । परमार्थवृत्त्या तु अपगतवेदानामेषामपि ज्ञानोपयोगम्बास्थ्यलक्षणपरमानदो जीवस्वभावोऽस्तीति निश्चेतव्य । जी प्र टी

कस्मिन् सत्त्वविरोधात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेद्भिन्नजीवद्रव्याधारतया पर्यायेणैकद्रव्याधारतया च । तत्र न^१ नपुंसकवेदस्याभावः, तत्र द्वावेव वेदौ भवत इत्यवधारणाभावात् । तत्कुतोऽवसीयत इति चेत् ? 'तिरिक्खा ति-वेदा असण्णिर्पाच-दियप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति । मणुस्सा ति-वेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति' एतस्मादार्थात् । सुगममन्यत् ।

नपुंसकवेदसत्त्वप्रतिपादनार्थमाह—

णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति^२ ॥ १०३ ॥

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सत्त्वमिति

समाधान— नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ एक जीवमे सद्भाव होनेमे विरोध आता है ।

शंका— तो फिर नववे गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी एकसाथ सत्ता कैसे बनेगी ?

समाधान— भिन्न भिन्न जीवोंके आधारपनेकी अपेक्षा और पर्यायरूपसे एक जीवद्रव्यके आधारपनेकी अपेक्षा नववे गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी सत्ता बन जाती है । अर्थात् एक कालमे भी नाना जीवोंमे अनेक वेद पाये जा सकते हैं और एक जीवमे भी पर्यायकी अपेक्षा कालभेदसे अनेक वेद पाये जा सकते हैं ।

नववे गुणस्थानतक नपुंसक वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, नववे गुणस्थानतक दो ही वेद होते हैं ऐसे अवधारणका (सूत्रमे) अभाव है ।

शंका— यह बात किस प्रमाणसे जानी जाय कि नववे गुणस्थानतक तीनों वेद होते हैं ?

समाधान— 'असज्जी पंचेन्द्रियसे लेकर सयतासंयत गुणस्थानतक तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं' और 'मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक मनुष्य तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं' इस आगम-वचनसे यह बात जानी जाती है कि नववे गुणस्थानतक तीनों वेद हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब नपुंसकवेदके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक नपुंसकवेदवाले जीव पाये जाते हैं ॥ १०३ ॥

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होने पर एकेन्द्रिय जीवोंमे नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया ?

१ व न तत्र

२ वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिवादरान्तानि सन्ति । स सि १ ८ थावर-कायप्पहुदी सढो सेसा असण्णिआदी य । अणियट्ठिस्स य पढमो भागो त्ति जिणेहि णिट्ठि ॥ गो जी ३८५

चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेदः, तस्यात्र प्राधान्याभावात् । अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्धचेत्, सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भवलेन तत्सिद्धिः । न स छद्मस्थेष्वस्ति । एकेन्द्रियाणामप्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणां कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषा^१ घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्न-स्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्वृद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात् । सुगममन्यत् ।

अपगतवेदजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि^२ ॥ १०४ ॥

समाधान— एकेन्द्रियोमे द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहा पर प्रधानता नहीं है । अथवा, द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोमे उपलब्धि नहीं होती है, इसलिये उसका अभाव नहीं सिद्ध होता है । किंतु सपूर्ण प्रमेयोमे व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाणसे (केवलज्ञानसे) उसकी सिद्धि हो जाती है । परंतु वह उपलम्भ (केवलज्ञान) छद्मस्थोमे नहीं पाया जाता है ।

विशेषार्थ— इन्द्रियप्रत्यक्षसे एकेन्द्रियोमे वेदकी अनुपलब्धि सच्ची अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियोमे यद्यपि इन्द्रियोसे द्रव्यवेदका ग्रहण नहीं होता है तो भी सकल प्रमेयोमे व्याप्त होकर रहनेवाले केवलज्ञानसे उसका ग्रहण होता है । अतः एकेन्द्रियोमे इन्द्रिय प्रमाणके द्वारा द्रव्यवेदका अभाव नहीं किया जा सकता है ।

शंका— जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सर्वथा अनभिज्ञ हूँ ऐसे एकेन्द्रियोके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भूगृहके भीतर वृद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है ।

विशेषार्थ— यदि यह मान लिया जाय कि एकेन्द्रिय जीव स्त्री और पुरुषसंबन्धी भेदसे सर्वथा अपरिचित होते हैं, इसलिये उनके स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो सकती है, तो जो पुरुष जन्मसे ही एकान्तमे वृद्धिको प्राप्त हुआ है और जिसने स्त्रीको कभी भी नहीं देखा है उसके भी युवा होने पर स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होना चाहिये । परंतु उसके स्त्रीविषयक अभिलाषा देखी जाती है । इससे सिद्ध है कि स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषाका कारण स्त्री और पुरुषविषयक ज्ञान नहीं है । किंतु वेदकर्मके उदयसे वह अभिलाषा उत्पन्न होती है । वह एकेन्द्रियोके भी पाया जाता है, अतएव उनके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषाके होनेमे कोई दोष नहीं आता है ।

शेष व्याख्यान सुगम है ।

अब वेदरहित जीवोके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववे गुणस्थानके सवेद भागके आगे जीव अपगतवेद होते हैं ॥ १०४ ॥

१ मू विषयाभिलाषे व विषयोऽभिलाषो

२ अपगतवेदेषु अनिवृत्तिवादराद्ययोगकेवल्यन्तानि । स सि १ ८

शेषगुणमधिष्ठिताः सर्वेऽपि प्राणिनोऽपगतवेदाः । न द्रव्यवेदस्याभावः, तेनाधिकाराभावात्^१ । अधिकृतोऽत्र भाववेदः, ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति ।

वेदादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ॥ १०५ ॥

नारकेषु शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत^२ इति चेत् 'सुद्धा णवुंसयवेदा' इत्यार्षात् । शेषवेदौ तत्र किमिति न स्यातामिति चेन्न, अनवरतदुःखेषु तत्सत्त्वविरोधात् । स्त्रीपुरुषवेदावपि^३ दुःखमेवेति चेन्न, इष्टकापाकाग्निसमानसन्तापात् न्यूनतया^४ तार्णकारीषाग्निसमानपुरुषस्त्रीवेदयोः सुखरूपत्वात् ।

तिर्यग्गतौ वेदनिरूपणार्थमाह—

तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया चि ॥ १०६ ॥

नववे गुणस्थानके सवेद भागसे आगे शेष गुणस्थानोको प्राप्त हुए जीव अपगतवेद होते हैं । परंतु आगेके गुणस्थानोमे द्रव्यवेदका अभाव नहीं होता है, क्योंकि, द्रव्यवेदका यहाँ अधिकार नहीं है । यहा पर तो भाववेदका अधिकार है । इसलिये भाववेदके अभावसे ही उन जीवोको अपगतवेद जानना चाहिये, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं ।

अब वेदका मार्गणाओमे प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव चारो ही गुणस्थानोमे शुद्ध (केवल) नपुसकवेदी होते हैं ॥ १०५ ॥

शंका— नारकियोमें नपुसकवेदको छोड़कर दूसरे वेदोका अभाव है, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान— 'नारकी शुद्ध नपुसकवेदी होते हैं, इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि वहाँ अन्य दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका— वहाँ पर शेष दो वेद क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— इसलिये नहीं होते कि निरन्तर दुखी उनमे शेष दो वेदोके सद्भाव होनेसे विरोध आता है ।

शंका— स्त्री और पुरुषवेद भी दुख ही हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवाकी अग्निके समान संतापसे न्यून होनेके कारण तृण और कण्डेकी अग्निके समान पुरुषवेद और स्त्रीवेद सुखरूप हैं ।

अब तिर्यग्गतिये वेदोके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच एकेन्द्रिय जीवोसे लेकर चतुरिन्द्रियतक शुद्ध नपुसकवेदी होते हैं ॥ १०६ ॥

अत्र शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत इति चेत् 'सुद्धा णवुंसगवेदा' इत्यार्षात् ।
पिपीलिकानामण्डदर्शनान्न ते नपुंसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति
नियमाभावात् । विग्रहगतौ न वेदाभावः, तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात् ।

शेषतिरश्चां कियन्तो वेदा इति शङ्कितशिष्याशङ्कानिराकरणार्थमाह—

तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा
त्ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण, पर्यायत्वात् । 'पर्यायत्वात् कषाय-
वज्ञान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ॥ १०८ ॥

शंका— चतुरिन्द्रियतकके जीवोमे शेष दो वेदोका अभाव है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— 'एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं' इस
आर्षवचनसे जाना जाता है कि इनमे शेष दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका— चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये ये नपुंसकवेदी नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— अण्डोकी उत्पत्ति गर्भसे ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

विशेषार्थ— माता— पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है । इस प्रकार
गर्भधारणा चींटियोंके नहीं पाई जाती है । अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समझना चाहिये ।

विग्रहगतिमे भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, यहां पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है ।

शेष तिर्यचोके कितने वेद होते हैं, इस प्रकारकी आशंकासे युक्त शिष्योंकी शंकाके दूर
करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर सयतासयत गुणस्थानतक तीनो वेदोसे युक्त
होते हैं ॥ १०७ ॥

तीनो वेदोकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है । पर्याय-
स्वरूप होनेसे जैसे, विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक
अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक किसी एक वेदका उदय पाया
जाता है । शेष कथन सुगम है ।

मनुष्यगतिमे विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनो वेदवाले
होते हैं ॥ १०८ ॥

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तेः^१।
सुगममन्यत् ।

वेदत्रयातीतजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगद्वेदा चेदि ॥१०९॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः, एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः
सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चदुसु द्वाणेषु दुवेदा-इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥११०॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यत्नमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति
चेत् ? 'तेण परमवगद्वेदा चेदि' अत्रतनः 'च' शब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च
तस्मात्सानत्कुमारादीनां पुंवेदत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः, सम्मूर्च्छिम-
पञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव । असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न

शंका— संयतोके तीनों वेदोका सत्त्व कैसे संभव हैं ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों
वेदोकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोसे रहित जीवोके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नव्वे गुणस्थानके सवेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव अपगतवेद हैं ॥१०९॥

सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमे जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले
कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमे ग्रहण करना चाहिये ।
शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमे विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव चार गुणस्थानोमे स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥११०॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शंका— यत्नके बिना अर्थात् बिना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान— 'तेण परमवगद्वेदा चेदि' इस सूत्रमे आया हुआ च शब्द अनुक्त
अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र
कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उसी प्रकार, लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा सम्मूर्छन पञ्चेन्द्रिय जीव नपुंसक
ही होते हैं । असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

नपुंसकवेदाः इत्यादयोऽनुक्तास्तत एवावसेयाः ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसत्तासंस्थाननिरूपणार्थमाह—

कसायाणुवादेण अत्थि क्रोधकसाई माणकसाई मायाकसाई

लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कषायिसामान्येनैकत्वाद्बहुनामप्येकवचनं घटते । क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि' इत्येवसादिवहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलम्भादनेकान्तात् । अथ स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः अकषाय इति वक्तव्यम्, कषायेभ्यस्तद्वृत्तां भेदात् इति ? न, जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्भेदाभावे कथं भिन्नस्तन्निर्देशो' घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदविरोधात् । शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं । इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उसी च शब्दसे जान लेना ।

वेदमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणाके द्वारा गुणस्थानोके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायी— सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन बन जाता है । जैसे, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी । अथवा, 'क्रोधकसाई' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि'— अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा पा रहे हैं । इत्यादि प्रयोगोमे बहुत्वकी विवक्षा रहने पर भी 'क्रोधकसाई' की तरह 'सिही' इस प्रकार रूपोकी उपलब्धि होती है । इसलिये इस प्रकारके प्रयोगोमे अनेकान्त समझना चाहिये ।

शंका— सूत्रमे क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय, लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये क्योंकि, कषायोसे कषायवालोमे भेद पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जीवोसे पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती हैं ।

शंका— यदि कषाय और कषायवान्मे भेद नहीं है तो भिन्न रूपसे उनका निर्देश कैसे बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनेकान्तमे भिन्न निर्देशके बन जानेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि कषायादि धर्म जीवको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस-

इति भवति, तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवणत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्यात्, शब्दतोऽर्थस्य भेदाभावात् । कषायिचातुर्विध्यात्कषायस्य चातुर्विध्यमवगम्यत इति वा । तथोपदिष्टमेवानुवदनमनुवादः, कषायस्य अनुवादः कषायानुवादः, तेन कषायानुवादेन । प्रसिद्धस्यानुकथनमनुवादः । सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽनर्थकः, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावाद्धेति ? न, प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तार इति ज्ञापनार्थत्वात् । कः क्रोधकषायः ? रोष आमर्षः संरम्भः । को मानकषायः ? रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः । निवृत्तिर्वञ्चना मायाकषायः । गर्हा काङ्क्षा लोभः । उक्तं च—

लिये जीवसे वे अभिन्न हैं । फिर भी धर्म-धर्मोभेदसे उनमें भेद बन जाता है, अतएव भिन्न निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

अथवा, शब्दनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकषाय' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि, शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है । और अर्थनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकषायी' इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है । अथवा, चार प्रकारके कषायवान् जीव होते हैं, इससे कषाय भी चार प्रकारकी है, ऐसा ज्ञान हो जाता है । इसलिये सूत्रमें 'क्रोधकषायी' इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है ।

जिस प्रकार उपदेश दिया है उसीप्रकारके कथन करनेको अनुवाद करते हैं । कषायके अनुवादको कषायानुवाद कहते हैं । उससे अर्थात् कषायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं । अथवा, प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं ।

शंका— 'कथामार्ग' अर्थात् कथनपरंपराएँ प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं ' इस न्यायके अनुसार यहाँ पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करना निष्फल है, इससे अनधिगत अर्थका ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह कथन प्रवाहरूपसे अपौरुषेय होनेके कारण तीर्थकर आदि इसके केवल व्याख्यान करनेवाले ही हैं, कर्ता नहीं हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिये अनुवाद पदका कहना अनर्थक नहीं है ।

शंका— क्रोधकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान— रोष, आमर्ष और संरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं ।

शंका— मानकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान— रोषसे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदसे अन्यके प्रति नञ् न होनेको मान कहते हैं ।

निवृत्ति या वञ्चनाको मायाकषाय कहते हैं । गर्हा या आकांक्षाको लोभ कहते हैं, कहा भी है—

सिल-पुढवि-भेद-धूली-जल-राई-समाणओ हवे कोहो ।
 णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो^१ ॥ १७४ ॥
 सेलट्टि-कट्ट-वेत्त णियभेएणणुहरतओ माणो ।
 णारय-तिरिय-णरामर-गइ-विसयुप्पायओ कमसो^२ ॥ १७५ ॥
 वेलुवमूलोरब्भय-सिंगे गोमुत्तएण खोरप्पे ।
 सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामरेसु जणइ जिअ^३ ॥ १७६ ॥
 किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्-राएण सरिसओ लोहो ।
 णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो^४ ॥ १७७ ॥

क्रोधकषाय चार प्रकारका है— पत्थरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके समान, धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समान । ये चारो ही क्रोध क्रमने नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमे उत्पन्न करानेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका है— पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान तथा वेतके समान । ये चार प्रकारके मान क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके उत्पादक हैं ॥ १७५ ॥

माया चार प्रकारकी है— वांसकी जड़के समान, मेढके सींगके समान, गोमूत्रके समान तथा खुरपाके समान । यह चार प्रकारकी माया क्रमसे जीवको नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमे ले जाती है ॥ १७६ ॥

लोभकषाय चार प्रकारका है— क्रिमिरागके समान, चक्रमलके समान, शरीरके मलके समान और हल्दीके रंगके समान । यह क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

१ प्रा प १, १११ । गो जी २८४ तत्तच्छक्तियुक्तक्रोधकषायपरिणतो जीव तत्तद्गत्युत्पत्ति-कारणतत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिप्रकृतीर्वन्नातीत्यर्थ । अत्र राजिगब्धो रेखार्थवाची न तु पक्तिवाची । यथा शिलादिभेदानां चिरतरचिरशीघ्रगीघ्रतरकालैर्विना अनुसन्धानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणमधानार्हो न स्यात् इत्युपमानोपमेययो सादृश्यं सभवतीति तात्पर्यार्थ । जी प्र टी णगपुढविवालगोदयरईसरिसो चउव्विहो कोहो । कसायपाहुड, जलरेणुपुढविपव्वयरईसरिसो चउव्विहो कोहो । क ग्र १ १९

२ प्रा प १, ११२ । गो जी २८५ मेलवणअट्टिदारुअलदात्तमाणो हवदि माणो ॥ कसायपहुड-तिणिमलयाकट्टट्टियअसेलत्थभोवमो माणो । क ग्र १ १९

३ प्रा प १, ११३ । गो जी २८६ वसीजण्हुगसरिसी मेढविसाणमरिसी य गोमुत्ती । अवलेहणी-समाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥ कसायपहुड मायावलेहिगोमुत्तिमिडसिगघनवसिमूलसमा । क ग्र १ २०

४ प्रा प १, ११४ । गो. जी २८७ विमिरागरत्तसमगो अक्खमलसमो य पमुलेवसमो ॥ हालिद्वत्थममगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो ॥ कसायपहुड लोहो हलिद्वखजणकट्टमकिमिरागसमाणो ॥

सकलकषायाभावोऽकषायः । उक्तं च—

अप्प-परोभय-वाघण-वधासजम-णिमित्त-कोधादी ।

जेसि णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा^१ ॥ १७८ ॥

कषायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव

अणियट्टि त्ति ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरूपणार्थमाह—

संपूर्ण कषायोंके अभावको अकषाय कहते हैं । कहा भी है—

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आन्तरिक मलसे रहित है ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥ १७८ ॥

अब कषायमार्गणाके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक क्रोधकषायी, मानकषायी और माया-कषायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

शंका—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहां पर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है । शेष कथन सुगम है ।

अब लोभकषायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

क प्र १ २०

१ प्रा प १, ११६ । गो जी २८९ यद्यपि उपशातकषायादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽपि अकषाया अमलाश्च यथासंभव द्रव्यभावमलरहिता सति तथापि तेषां गुणस्थानप्ररूपणयैव अकषायत्वसिद्धिरस्तीति ज्ञातव्यम् । तद्यथा, कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषाय स्वस्यैव बन्धनहेतुः स्वशिरोभिवातादिबाधाहेतुः हिंसाद्य-सयमहेतुश्च भवति । कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषाय परस्य स्वशत्र्वादिवर्धनबन्धनासयमहेतुर्भवति । कस्यचि-त्कामुकादिजीवस्य क्रोधादिकषाय स्वपरयोरपि यथासंभव बाधनबन्धनासयमहेतुर्भवति इति विभाग-लोकानुसारेण आगमानुसारेण च द्रष्टव्यम् । जी प्र टी

२ कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिवादरस्यानान्तानि सन्ति । स सि १८

लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-
संजदा त्ति ॥ ११३ ॥

शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्म-
साम्परायोऽवधिः ।

अकषायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह—

अकसाई चदुसु द्वाणेषु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदु-
मत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवल्लि
त्ति^२ ॥ ११४ ॥

उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत् ? कथं च न भवति ? द्रव्य-
कषायस्यानन्तस्य सत्त्वात् । न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः ।
सुगममन्यत् । कषायस्यादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनेनैव
गतार्थत्वात् ।

लोभकषायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोसे लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसयत गुणस्थानतक
होते है ॥ ११३ ॥

शेष कषायोके उदयके नाश हो जाने पर उसी समय लोभकषायका विनाश बन नहीं
सकता है, इसलिये लोभकषायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है ।

कषायरहित जीवोसे उपलक्षित गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कषायरहित जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ,
सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोमे होते हैं ॥ ११४ ॥

शंका— उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा ?

प्रतिशंका— यह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है ?

शंका— वहां अनन्त द्रव्यकषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह
सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमे कषायोसे
रहितपना बन जाता है । शेष कथन सुगम है ।

शंका— कषायोका विशेष (मार्गणाओमे) कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायोके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओमे कथन
करनेमे कोई विशेषता नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान हो जाता है, इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की ।

१ लोभकषाये तान्नेव सूक्ष्मनाम्परायस्थानाधिकानि । स सि १ ८

२ अकषाय उपशान्तकषाय क्षीणकषाय सयोगिकेवली अयोगिकेवली चेदि । स सि १ ८

ज्ञानद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थमाह—

णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-
णाणी आभिणिवोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी
केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदात्पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य
ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति । ज्ञानिनां भेदाद् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणो-
पदेशः । ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भव इति चेन्न, मिथ्यात्व-
समवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्र-
व्यपदेशवत् । किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्र्यस्पर्शनं च ।
अथवा प्रधानपदमाश्रित्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आस्रवनमिति यथा । जानातीति
ज्ञानं साकारोपयोगः । अथवा जानात्यज्ञासीज्ज्ञास्यत्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानावरणीय-
कर्मणः एकदेशप्रक्षयात् समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको वा । तदपि ज्ञानं द्विविधम्—

अब ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मति-अज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी,
श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११५ ॥

यहां पर भी पहलेकी तरह पर्याय और पर्यायीमे कथंचित् अभेद होनेसे पर्यायीके
ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही ग्रहण होता है । अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके होते हैं
इस बातके समझ लेनेसे ज्ञानके भेदोका ज्ञान हो जाता है । इसलिये पर्यायीके कथनद्वारा यहां
पर उपदेश दिया है ।

शंका— ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामे कैसे
संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे
अज्ञान कहा है । जैसे, पुत्रोचित कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रको ही अपुत्र कहा जाता है ।

शंका— वह ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधान— तत्त्वार्थमे रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र्यका धारण करना ज्ञानका
कार्य है । अथवा, प्रधानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है । जैसे, जिस वनमे
आमके वृक्षोकी बहुलता होती है उसे आस्रवन कहा जाता है ।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते । अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं । अथवा,
जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश
क्षयसे अथवा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्माके परिणामको ज्ञान कहते हैं ।

प्रत्यक्षं परोक्षमिति । परोक्षं द्विविधम्— मतिः श्रुतमिति । तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम् । तदपि चतुर्विधम्— अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति । विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः^१ । अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षणमीहा । ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः । कालान्तरेऽप्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा^२ । अथवा चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानम् । तद्यथा, चाक्षुषं^३ चतुर्विधम्— मतिज्ञानमवग्रहः ईहावायो धारणा चेति । एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसश्च वाच्यम् । अथवा अष्टाविंशतिविधम् । तद्यथा, अवग्रहो द्विविधः— अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति । कोऽर्थावग्रहश्चेत् ? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः ।

वह ज्ञान दो प्रकारका है— प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्षके दो भेद हैं— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । उनमें पाँच इन्द्रियो और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । वह मतिज्ञान चार प्रकारका है— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । विषय और विषयीके संबन्ध होनेके अनन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं । अवग्रहसे ग्रहण किये गये पदार्थके विशेषको जाननेके लिये अभिलाषरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं । ईहाके द्वारा जाने गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं । कालान्तरमें भी विस्मरण न होनेरूप संस्कारके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं ।

अथवा, मतिज्ञान चौबीस प्रकारका है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार चार प्रकारका है इस प्रकार कथन करना चाहिये । इस प्रकार ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं । अथवा, मतिज्ञान अठ्ठाईस प्रकारका है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— अवग्रह दो प्रकारका है— अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह ।

शंका— अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान— अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं ।

१ विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रह । म सि १ १५ विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रह । त रा वा १ १५ विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्य ग्रहणमवग्रह । विषयस्तावद् द्रव्यपर्यायात्मार्थं विषयिणो द्रव्यभावेन्द्रिय अर्थग्रहण योग्यतालक्षणं तदनन्तरभूत सन्मात्र दर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तर परिणाम प्रतिपद्यतेऽवग्रह । लघीयस्त्र स्त्रो वृ लि पृ २ प्र प १-३ । तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रह । तत्त्वार्थं भा १ १५ विषयविषयिसन्निपातानन्तरममुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रह । प्रमाणनयत २ ७ अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रह । प्रमाणमी १ १ २७

२ एषा विशेषार्थपरिज्ञानाय विशेषावश्यकभाष्य १७९, त ३५० गायान्त यावद् द्रष्टव्यम् । उग्नहो एवक समय ईहावाया मुहुत्तमत तु । कालमसख मख च धारणा होई णायव्वा ॥ आ नि ४

३ मु चाक्षुष च ।

को व्यञ्जनावग्रहः ? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः^१ । तत्र चक्षुर्मनसोरथाविग्रह एव, तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात् । शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः । शेषेन्द्रियेष्वप्यवग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश

शंका— व्यञ्जनावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान— प्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं ।

उनमे, चक्षु और मनसे अर्थाविग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमे प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है । शेष चारों ही इन्द्रियोके अर्थाविग्रह और व्यञ्जनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं ।

शंका— शेष इन्द्रियोमे अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोमे उनका योग्य देशमे स्थित निधियोके होने पर जिस प्रदेशमें निधिस्थित है उस प्रदेशमे ही अंकुरोका फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है,

१ व्यञ्जनमव्यक्त शब्दादिजात तस्यावग्रहो भवति । X X ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्य तत्र किञ्चित्तोऽयं विरोधः ? अर्थाविग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विरोधः । कथम् ? अभिनवशरावात्रीकरणवत् । यथा जलकणद्वित्रिमिक्तं शरावोऽभिनवो नाद्रीभवति, न एव पुन पुन मिच्छमानं शनैस्तिम्यते, एव श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणता पुद्गला द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुन पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति । अतो व्यक्तग्रहणात्प्राप्तव्यञ्जनावग्रहः । व्यक्तग्रहणमर्थाविग्रहः । स मि १ १८ । त रा वा १ ५८ वा २ अव्यक्तमत्र शब्दादिजात व्यजनमिष्यते । तस्यावग्रह एवेति नियमोऽव्यक्षवद्गतः ॥ त ग्लो वा १ १८ २ X X इन्द्रियं प्राप्तार्थविशेषग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः । तैरप्राप्तार्थविशेषग्रहणं अर्थाविग्रह इत्यर्थः । व्यजनं अव्यक्तं शब्दादिजात इति तत्त्वार्थविवरणेषु प्रोक्तं कथमनेन व्याख्यानं सह सगतमिति चेदुच्यते, विगत-अजन-अभिप्यक्तित्यस्य तद् व्यजनः । व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यजनः । अजु गतिव्यक्ति-म्रक्षणेऽपि व्यक्तिस्रक्षणार्थयोग्यग्रहणात् । शब्दाद्यर्थं श्रोत्रादीन्द्रियेण प्राप्तोऽपि यावन्नाभिव्यक्तस्तावद् व्यजनमित्युच्यते एकवारजलकणसिक्कानूतनशराववत् । पुनरभिव्यक्तौ सत्या न एवार्थो भवति । गो जी, जी प्र, टी ३०७ X X अर्थ्यते इत्यर्थं अर्थस्यावग्रहणं अर्थाविग्रहः सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्दृश्यसामान्यमात्ररूपार्थ-ग्रहणमेकमामयिकमित्यर्थः । तथा व्यज्यते अनेनार्थं प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि मतिं सोऽर्थः शब्दादिरूपं श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यजयितुं शक्यते नान्यथा, ततः सम्बन्धो व्यजनः । X X व्यजनेन-सम्बन्धेनावग्रहणं सम्बन्धमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थ-स्याव्यक्तरूपं परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः । अथवा व्यज्यन्ते इति व्यजनानि, कृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनद्, व्यजनानां शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियमप्राप्तानामवग्रहः अव्यक्तरूपं परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः । X X इयमत्र भावना उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथममयादारम्यार्थाविग्रहात् प्राक् या सप्तमत्तमूर्छितादिपुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यमसम्बन्धमात्रविषया काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्रा मा व्यञ्जनावग्रहः, स चान्तर्मुहर्तप्रमाणः । न सू पृ १६८ २ कोऽर्थाविग्रहः व्यञ्जनावग्रहो वा ? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थाविग्रहः । प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः । न स्पष्टास्पष्टग्रहणेऽर्थव्यञ्जनावग्रहौ । तयोश्चक्षुर्मनोरपि सत्त्वनन्तत्र व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसगादस्तुचेत्, न चक्षुरनिन्द्रियाम्यामिति तत्र व्यञ्जनावग्रहस्य प्रतिषेधात् । न शनैर्ग्रहणं व्यञ्जनाव-

एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तिः स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिद्धेः । शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थ-
ग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव । यद्युपलम्भस्त्रिकालगोचरम-
शेषं पर्यच्छेत्स्यदनुपलब्धस्याभावोऽभविष्यत् । न चैवमनुपलम्भात् । न कात्स्न्येना-
प्राप्तमर्थस्यानिःसृतत्वमनुवृत्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्य-

इसलिये स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है ।

शका— इसप्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ । फिर भी शेष इन्द्रियोके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है ?

समाधान— यदि शेष इन्द्रियोसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे । तो भी वह है ही, क्योंकि, यदि हमारा ज्ञान त्रिकालगोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिद्ध हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये अनुपलब्ध नहीं रहता । किंतु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं, क्योंकि सर्व पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है । इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रियाँ अप्राप्त पदार्थको ग्रहण करती हैं इस बातको यदि हम न भी जान सके, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है ।

दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अनिसृतपनेको और अनुवृत्तपनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं । जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोका अप्राप्यकारीपना होवे ।

ग्रहं चक्षुर्मनसोरपि तदस्तित्वत तयोर्व्यजनावग्रहस्य सत्त्वप्रसगात् । न च तत्र शनैर्ग्रहणमभिद्वमक्षिप्रभगाभावे
अष्टचत्वारिंशच्चक्षुर्मतिज्ञानभेदस्यासत्त्वप्रसगात् । न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टयेऽर्थावग्रहं तत्र प्राप्तस्पर्शार्थस्य ग्रहणो-
पलभात् इति चेन्न, वनस्पतिष्वप्राप्तग्रहणस्योपलभात् । तदपि कुतोऽवगम्यते ? दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोह-
मुक्त्यन्यथानुपपत्ते । चत्वारि घणुसयाइ चउमट्टसय च तह य घणुहाण । पासे रसे य गधे दुगुणा दुगुणा
अमणिं ति ॥ × × इति आगमाद्वा तेषामप्राप्तार्थग्रहणमवगम्यते । नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कंधैकदेश-
मागम्येन्द्रियसवन्ध जानतीति केचिदाचक्षते तन्न घटते, अध्वानप्ररूपणाया वैफल्यप्रसगात् । न चाध्वान
द्रव्यालपीयस्त्वम्य कारण स्वमहत्त्वापरित्यागेन भूयो योजनानि सचरज्जीमूतव्रातोपलम्भतोऽनेकातात् । किंच
यदि प्राप्तार्थग्राहिण्येवेन्द्रियाण्यध्वाननिरूपणमतरेण द्रव्यप्रमाणप्ररूपणमेवाकरिष्यन्न चैव तथानुपलभात् ॥
किं च नवयोजनांतरस्थिताग्निविषाम्या तीव्रस्पर्शरसक्षयोपशमाना दाहमरणे स्याता प्राप्तार्थग्रहणात् ताव-
न्मात्राध्वानस्थिताशुचिभक्षणतद्गघजनितदु खे च तत एव स्याता । पुट्ठ सुणेइ सद् अपुट्ठ चेय पस्सदे रुव ।
गघ रस च फाम वद्ध पुट्ठ च जाणादि ॥ इत्यस्मात् सूत्रात्प्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यत इति चेन्न,
अर्थाविग्रहस्य लक्षणाभावत खरविषाणस्येवाभावप्रसगात् । कथं पुनरस्या गाथाया अर्थो व्याख्यायते ? उच्यते,
रूपमस्पष्टमेव चक्षुर्गृह्णाति च-शब्दान्मनश्च । गघ रस स्पर्शश्च वद्ध स्वक स्वकेन्द्रियेषु नियमित पुट्ठ स्पष्ट
च-शब्दादस्पष्ट च शेषेन्द्रियाणि गृह्णाति । पुट्ठ सुणेइ सद् इत्यत्रापि वद्ध च शब्दौ योज्यौ अन्यथा
दुर्व्याख्यानतापत्ते । घवला ६९८-६९९

कारित्वमिति । किं तर्हि ? कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादिः, तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात् । तथा च रसगन्ध-स्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पष्टं स्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादि-सिद्धेः । किं च तेनाभिहितेनानुक्तावग्रहः, यथा दध्नी गन्धग्रहणकाल एव तद्रसोपलम्भः । नियमितधर्मविशिष्टवस्तुनो वस्तुवेकदेशस्य वा ग्रहणमुक्तावग्रहः । सोऽयमित्यादि ध्रुवावग्रहः । न सोऽयमित्याद्यध्रुवावग्रहः । एवमीहादीनामपि योज्यम् । सर्वाण्येतानि मतिज्ञानम् ।

शब्दधूमादिभ्योऽर्थान्तरावगमः श्रुतज्ञानम् । तत्र शब्दलिङ्गजं

शंका— तो फिर क्या है ? और यदि पूरी तरहसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकेगे ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जावेगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं । ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोके साथ अपने अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट ही है । शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । उसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं बनता है । इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं ।

उपर कहे हुए कथनानुसार अनुक्तावग्रह यह हैं । जैसे, दहीके गन्धके ग्रहण करनेके कालमें ही दहीके रसकी भी उपलब्धि हो जाती है । निश्चित धर्मोंसे युक्त वस्तुका अथवा वस्तुके एकदेशका ग्रहण करना उक्तावग्रह है । ' वह यही है ' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह कहते हैं । ' वह यह नहीं है ' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको अध्रुवावग्रह कहते हैं । इसी प्रकार ईहादिसंबन्धी उक्त अनुक्त आदिको भी जानना चाहिये । इन सभी भेदोंको मतिज्ञान कहते हैं ।

शब्द और धूमादिक लिंगके द्वारा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । उनमें शब्दके निमित्तमें उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अग

१ अवगगहादिधारणापेरतमदिणाणेण अवगयत्यादी अण्णत्यावगमो सुदण्ण । त च दुविह, सदल्लिगज असदल्लिगज चेदि । धूमलिगादो जलणावगमो अनदल्लिगजो । अवरो नदल्लिगजो । किं लक्खणं लिंगं ? अण्णहाणुववत्तिलक्खणं । ववला अ पृ ११७१

द्विविधमङ्गमङ्गवाह्यमिति । अङ्गश्रुतं द्वादशविधम् । अङ्गवाह्यं चतुर्दशविधम् । प्रत्यक्षं त्रिविधम्^१, अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति । साक्षान्मूर्तशेषपदार्थ-परिच्छेदकसर्वधिज्ञानम् । साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्यय-ज्ञानम्^२ । साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्^३ । मिथ्यात्वसमवेत-मिन्द्रियज्ञानं मत्यज्ञानम् । तेनैव समवेतः शब्दः प्रत्ययः श्रुतज्ञानम् । तत्समवेत-सर्वधिज्ञानं विभङ्गज्ञानम् । उक्तं च—

विस-जत-कूड-पजर-वधादिसु विणुवदेस-करणेण ।

जा खलु पवत्तइ मदी मदि-अण्णाणे त्ति त वेत्ति^४ ॥ १७९ ॥

आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएमा ।

तुच्छा असाहणीया सुद-अण्णाणे त्ति त वेत्ति^५ ॥ १८० ॥

और अंगवाह्य । अगश्रुत बारह प्रकारका है और अगवाह्य चौदह प्रकारका है ।

प्रत्यक्षज्ञानके तीन भेद हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । संपूर्ण मूर्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं । मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । त्रिकालके विषयभूत समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वसमवेत ज्ञानको मत्यज्ञान कहते हैं । शब्दके निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका मिथ्यात्वसमवेत ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । मिथ्यादर्शनसमवेत अवधिज्ञानको विभंगज्ञान कहते हैं । कहा भी है—

दूसरेके उपदेश विना विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमे जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ॥ १७९ ॥

चौरशास्त्र, हिसाशास्त्र, भारत और रामायण आदिके तुच्छ और साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ १८० ॥

१ अपरायत्त नाण पच्चक्ख तिविहमोहिमाईय । ज परतो आयत्त त पारोक्ख हवइ मव्व ॥ वृ क सू २९

२ त मणपज्जवनाण जेण वियाणाइ सन्निजीवाण । दट्ठ मणिज्जमाणे मणदव्वे माणस भाव । वृ क सू ३५.

३ दव्वादिकसिणविमय केवलमेग तु केवलज्ञान । अणिवारियवावार अणतमविकप्पिय नियत । वृ क सू ३८

४ प्रा प १, ११८ । गो जी ३०३ उपदेशपूर्वकत्वे श्रुतज्ञानत्वप्रसंगात् । उपदेशक्रिया विना यदीदृग्मूहापोहविकल्पात्मक हिंसानृतस्तेयाग्रहपरिग्रहकारण आर्तरीद्रव्यानकारण शल्यदडगारवसज्ञाद्यप्रशस्त-परिणामकारण च इन्द्रियमनोजनिताविज्ञेयग्रहरूप मिथ्याज्ञान तन्मत्यज्ञानमिति निश्चेतव्यम् । जी प्र टी

५ प्रा प १, ११९ । गो जी ३०४ आ सभताद्धीता आभीता चोरा तच्छास्त्रमप्याभीत । असव प्राणा तेषा रक्षा येम्य ते अमुरक्षा तलवरा तेषा शास्त्रमासुरक्ष । आदिशब्दाद्यद्यन्मिथ्यादर्शनदूषित-सर्वथैकान्तवादिम्वेच्छाकल्पितकथाप्रवधभुवनकोशहिसायागादिगृहस्थकर्म त्रिदंड जटाधारणादितप कर्मपोड-शपदार्थपटुपदार्थभावनाविधिनियोगभूतचतुष्टयचर्चिततत्त्वग्रहद्वैतचतुरार्यमत्यविज्ञानाद्वैतसर्वशून्यत्वादि-प्रतिपादकागमाभासजनित श्रुतज्ञानाभास तत्सर्वं श्रुतज्ञानमिति निश्चेतव्य, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थविषयत्वात् । जी प्र टी

विवरीयमोहिणाण खइयुवसमिय च कम्म-वीज च ।
 वेभंगो त्ति पउच्चड समत्त-णाणीहि समयम्हि^१ ॥ १८१ ॥
 अभिमुह-णियमिय-वोहणमाभिणिवोहियमणिदि-इदियज ।
 बहु-ओग्गहाइणा खलु कय-छत्तीस-त्ति-सय-भेय^२ ॥ १८२ ॥
 अत्थादो अत्थंतर-उवलभो त भणति सुदणाण ।
 आभिणिवोहिय-पुव्व णियमेणिह सट्ठज पमुह^३ ॥ १८३ ॥
 अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणे त्ति वणिणद समए ।
 भव-गुण-पच्चय-विहिय तमोहिणाणे त्ति ण वेत्ति^४ ॥ १८४ ॥

सर्वज्ञोके द्वारा आगममे क्षयोपशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्मके कारणरूप विपरीत अवधिज्ञानको विभग ज्ञान कहा है ॥ १८१ ॥

मन और इन्द्रियोकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिमुख और नियमित पदार्थके ज्ञानको आभिनिवोधिक ज्ञान कहते हैं । उसके बहु आदिक वारह प्रकारके पदार्थ और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्संवन्धी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है । इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस प्रकार दो भेद हैं । उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥ १८३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी सीमा हो उसे अवधि-ज्ञान कहते हैं । इसलिये परमागममे इसको सीमाज्ञान कहा है । इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं ॥ १८४ ॥

१ प्रा प १, १२० । गो जी ३०५ विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भग विपर्यय विभग इति निरुक्ति-
 सिद्धार्यस्यैव अनेन प्ररूपितत्वात् । जी प्र टी विरुद्धो व्रित्तयो वा अन्यथा वस्तुभगो वस्तुविकल्पो
 यस्मिस्तद्विभङ्ग, तच्च तज्ज्ञान च साकारत्वादिति विभङ्गज्ञान मिथ्यात्वसहितोऽवधिरित्यर्थ । सू ५४२
 (अभि रा को विभगणाण)

२ प्रा प १, १२१ । गो जी ३०६ स्थूलवर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थ अभिमुख, अस्मिन्द्रियस्य
 अयमेवार्थ इत्यवधारितो नियमित । अभिमुखश्चासौ नियमितश्चासौ अभिमुखनियमित । तस्यार्थस्य बोधन
 आभिनिवोधिक मतिज्ञानमित्यर्थ । जि प्र टी

३ प्रा प १, १२२ । गो जी ३१५ जीवोऽस्तीत्युक्ते जीवोऽस्तीति शब्दज्ञान श्रोत्रेन्द्रियप्रभव
 मतिज्ञान भवति । ज्ञानेन जीवोऽस्तीति शब्दवाच्यरूपे आत्मास्तित्वे वाच्यवाचकसवधसकेतसकलनपूर्वक यद्
 ज्ञानमुत्पद्यते तदक्षरात्मक श्रुतज्ञान भवति, अक्षरात्मकशब्दसमुत्पन्नत्वेन कार्ये कारणोपचारात् । वातशीत-
 स्पर्शज्ञानेन वातप्रकृतिकस्य तत्स्पर्शे अमनोज्ञज्ञानमनक्षरात्मक लिंगज श्रुतज्ञान भवति, शब्दपूर्वकत्वाभावात्

जी प्र टी

४ प्रा प १, १२३ । गो जी ३७० अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधि । स सि १ ९
 अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सत्यवधीयतेऽत्रागदधात्यवाग्धानमात्र बावधि । अवधिशब्दोऽव

चित्तिमचित्ति वा अद्ध चित्तिमणेयभेयगय^१ ।

मणपज्जव ति उच्चड ज जाणइ त खु णर-लोए^२ ॥ १८५ ॥

सपुण्ण तु समगं केवलमसवत्त-सव्व-भाव-विद ।

लोगालोग-वित्तिमिर केवलणाण मुणेयव्व^३ ॥ १८६ ॥

इदानीं गतीन्द्रियकायगुणस्थानेषु मतिश्रुतज्ञानयोरध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

जिसका भूतकालमे चिन्तवन किया है, अथवा जिसका भविष्यकालमे चिन्तवन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको जो जानता है उसे मन-पर्ययज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमे ही होता है ॥ १८५ ॥

जो जीवद्रव्यके शक्तिगत सर्व ज्ञानके अविभाग-प्रतिच्छेदोके व्यवृत हो जानेके कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अप्रतिहत-शक्ति है इसलिये समग्र है, जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित होनेके कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मोंके नाश हो जानेसे अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थोंमे प्रवृत्ति करता है इसलिये असपत्न है और जो लोक और अलोकमे अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

अब गति, इन्द्रिय और कायमार्गणान्तर्गत गुणस्थानोमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

पर्यायवचन, यथाऽव क्षेपणमवक्षेपण, इन्द्रियोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधि । अथवावधिमर्यादा, अवधिना प्रतिबद्ध ज्ञानमवधिज्ञानम् । त रा वा १ ९, वा ३ अवशब्दोऽव शब्दार्थ, अव-अधोऽधो विस्तृत वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधि । अथवा अवधिमर्यादा रुपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधि । यद्वा अवधानम्—आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवाधि । न सू प ६५

१ मु भेय च ।

२ प्रा प १, १२५ । गो जी ४३८ परकीयमनोगतोर्यो मन इत्युच्यते साहचर्यात्तस्य पर्ययण परिगमन मन पर्यय । स सि १ ९ मन प्रनीत्य प्रतिस्थाप्य वा ज्ञान मन पर्यय । त रा वा १ ९ वा ४ स मन पर्ययो ज्ञेयो मनोन्नार्था (मन्यन्तेऽर्था ?) मनोगता । परेषा स्वमनो वापि तदालम्बनमात्रकम् ॥ त श्लो वा १ ९ ७ परि सर्वतो भावे अवन अव । × × अवन गमन वेदनमिति पर्याया, परि अव पर्यव, मनसि मनसो वा पर्यव मन पर्यव सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थ । अथवा मन पर्यय इति पाठ, तत्र पर्ययण पर्यव, भावेऽल् प्रत्यय, मनसि मनसो वा पर्ययो मन पर्यय सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ । × × अथवा मन-पर्याय-ज्ञानमिति पाठ तत्र मनसि मनोद्रव्याणि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिन्नन्ति मन पर्याय, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवन्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थ, तेषु तेषा वा सम्बन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम् । न सू पृ ६६

३ प्रा प १, १२६ । गो जी ४६० जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदाना व्यक्तिगत-त्वात्संपूर्णम् । मोहनीयवीर्यान्तरायनिरवशेषलयादप्रतिहनशक्तियुक्तत्वात् निश्चलत्वाच्च समग्र । इन्द्रियसहाय-निरपेक्षत्वात् केवल । घातिचतुष्टयप्रक्षयात् असपत्नम् । जी प्र टी

मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदिय-प्पहुडि जाव सासण-
सम्माइट्टि ति ॥ ११६ ॥

मिथ्यादृष्टेः द्वेऽप्यज्ञाने भवतां नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात् । मिथ्या-
त्वोदयस्यासत्त्वान्न सासादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः
स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धनश्चोत्पद्यते । समस्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय
इति । कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति ? श्रोत्राभावात् शब्दावगति-
स्तदभावान्न शब्दार्थावगम इति नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव
श्रुतमिति । अपि तु अशब्दरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति । अमनसां तदपि
कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

एकेन्द्रियसे लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव
होते हैं ॥ ११६ ॥

शंका— मिथ्यादृष्टि जीवोंके भले ही दोनों अज्ञान होवे, क्योंकि, वहां पर मिथ्यात्व
कर्मका उदय पाया जाता है । परंतु सासादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये
वहां पर वे दोनों ज्ञान अज्ञानरूप नहीं होना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं । और वह
मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है । सासादन गुणस्थानवालेके
अनन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है, इसलिये वहां पर भी दोनों अज्ञान सभव है ।

शंका— एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ?

प्रतिशंका— कैसे नहीं हो सकता है ?

शंका— एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है,
और शब्दका ज्ञान नहीं होनेसे शब्दके विषयभूत वाच्यका भी ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिये
उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्दके
निमित्तसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुतज्ञान कहते हैं । किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिङ्गसे
भी जो लिङ्गीका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं ।

शंका— मनरहित जीवोंके ऐसा श्रुतज्ञान भी कैसे सभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनके बिना वनस्पतिकायिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और
अहितसे निवृत्ति देखी जाती है, इसलिये मनसहित जीवोंके ही श्रुतज्ञान माननेमें उनसे अनेकान्त
दोष आता है ।

विभङ्गज्ञानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

विभंगणाणं सण्ण-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं

वा^१ ॥ ११७ ॥

विकलेन्द्रियाणां किमिति तन्न भवतीति चेन्न, तत्र तन्निबन्धनक्षयोपशमा-
भावात् । सोऽपि तत्र किमिति न सम्भवतीति चेन्न, तद्वेतुभवगुणानामभावात् ।

विभङ्गज्ञाने भवप्रत्यये सति पर्याप्तापर्याप्तावस्थयोरपि तस्य सत्त्वं स्यादित्या-
शङ्कितशिष्याशङ्कापोहनार्थमाह—

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ११८ ॥

अथ स्याद्यदि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भवनिबन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि
तेन भवितव्यं तद्वेतोर्भवस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति

विभंगज्ञानके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विभंगज्ञान संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवोके तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोके होता है ॥ ११७

शंका— विकलेन्द्रिय जीवोके वह क्यो नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योकि, वहाँ पर विभंगज्ञानका कारणभूत क्षयोपशम नहीं पाया
जाता है ।

शंका— वह क्षयोपशम भी विकलेन्द्रियोमे क्यो संभव नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योकि, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय
होता है । परंतु विकलेन्द्रियोमे ये दोनो प्रकारके कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उनके
विभंगज्ञान संभव नहीं है ।

विभंगज्ञानको भवप्रत्यय मान लेने पर पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनो अवस्थाओमे
उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये इस प्रकार आशकाको प्राप्त शिष्यके मदेहके दूर करनेके
लिये-आगेका सूत्र कहते हैं—

विभंगज्ञान पर्याप्तकोके ही होता है, अपर्याप्तकोके नहीं होता है ॥ ११८ ॥

शंका— यदि देव और नारकियोके विभंगज्ञान भवप्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमे
भी वह हो सकता है, क्योकि, अपर्याप्तकालमे भी विभंगज्ञानके कारणरूप भवकी सत्ता पाई
जाती है ?

समाधान— नहीं, क्योकि, 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाक्य विशेषोमे रहा

न्यायात् नापर्याप्तिविशिष्टं देवनारकत्वं विभङ्गनिबन्धनमपि तु पर्याप्तिविशिष्टमिति ।
ततो नापर्याप्तकाले तदस्तीति सिद्धम् ।

इदानीं सम्यग्मिथ्यादृष्टिज्ञानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे तिणिण वि णाणाणि अण्णाणेण
मिस्साणि । आभिणिवोहियणाणं मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं
सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं । तिणिण
वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि ॥ ११९ ॥

अत्रैकवचननिर्देशः किमिति क्रियत इति चेत् कथं च न क्रियते, यतस्त्रीण्य-
ज्ञानानि ततो नैकवचनं घटत इति न, अज्ञाननिबन्धनमिथ्यात्वस्यैकत्वतोऽज्ञानस्याप्ये-
कत्वाविरोधात् । यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम् ।
एवं च सति ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नजीवाधिकरणयोर्न मिश्रणं घटत इति चेत् ? सत्यमेतत्,
इष्टत्वात् । किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टावेवं मा ग्रहीः यतः सम्यग्मिथ्यात्वं नाम कर्म न

करते हैं' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थासे युक्त देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका
कारण नहीं है । किंतु पर्याप्त अवस्थासे युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण
है, इसलिये अपर्याप्त कालमें विभंगज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ज्ञानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे आदिके तीनो ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं ।
आभिनिवोधिकज्ञान मत्यज्ञानसे मिश्रित होता है । श्रुतज्ञान श्रुताज्ञानसे मिश्रित होता है । अवधि-
ज्ञान विभंगज्ञानसे मिश्रित होता है । अथवा तीनो ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं ॥ ११९ ॥

शंका— सूत्रमें अज्ञान पदका एकवचन निर्देश क्यों किया है ?

प्रतिशंका— एकवचन निर्देश क्यों नहीं करना चाहिये ?

शंका— क्योंकि, अज्ञान तीन हैं, इसलिये उनका बहुवचनरूपसे प्रयोग बन जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अज्ञानका कारण मिथ्यात्व एक होनेसे अज्ञानको भी एक
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे
अनुविद्ध अवगमको अज्ञान कहते हैं । ऐसी हालतमें भिन्न भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले
ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है ?

समाधान— यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमे यही इष्ट है । किंतु यहां सम्यग्मिथ्या-
दृष्टि गुणस्थानमे यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व

तन्मिथ्यात्वं तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात् । नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया साहचर्याविरोधात् । ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिथ्यात्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम् । ततस्तदुदयजनित-परिणामसमवेतबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धयाननुविद्धत्वात् । नाप्यज्ञानमयथार्थ-श्रद्धयाऽसङ्गतत्वात् । ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते । यथायथं प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम् । यथायथमप्रति-भासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम् । जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तरं ज्ञानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राद्धान्तविदो व्याचक्षते ।

साम्प्रतं ज्ञानानां गुणस्थानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

आभिणिवोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठि-
प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था रि' ॥ १२० ॥

तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वमे विपरीता-भिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पाई जाती है । और न वह सम्यक्त्वरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले यथार्थ श्रद्धाके साथ उसका (सम्यग्मिथ्यात्वका) साहचर्यसंबन्धका विरोध है । इसलिये जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व जात्यन्तररूप परिणामोका ही उत्पादक है । अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस सज्ञाको तो प्राप्त हो नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञानमे यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है । और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ सपर्क नहीं रखता है । इसलिये वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तररूप अवस्थाको प्राप्त है । अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है ।

यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं । न्यूनता आदि दोषोसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं । और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी ज्ञानको जात्यन्तर-ज्ञान कहते हैं । इसीका नाम मिश्रज्ञान है ऐसा सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते हैं ।

अब ज्ञानोका गुणस्थानोमे विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनो असयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२० ॥

भवतु नाम देवनारकासंयतसम्यग्दृष्टिष्ववधिज्ञानस्य सत्त्वं तस्य तद्भव-
निबन्धनत्वात्। देशविरताद्युपरितनानामपि भवतु तत्सत्त्वं तन्निमित्तगुणस्य तत्र सत्त्वात्,
न तिर्यङ्मनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिषु तस्य सत्त्वं तन्निबन्धनभवगुणानां तत्रासत्त्वादिति
चेन्न, अवधिज्ञाननिबन्धनसम्यक्त्वगुणस्य तत्र सत्त्वात्। सर्वसम्यग्दृष्टिषु तदनुत्पत्त्यन्य-
थानुपपत्तेर्नावधिज्ञानं सम्यग्दर्शननिबन्धनमिति चेत्सर्वसंयतेषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुपपत्ते-
रवधिज्ञानं संयमहेतुकमपि न भवतीति किन्न भवेत्। विशिष्टः संयमस्तद्वेतुरिति न
सर्वसंयतानामवधिर्भवतीति चेदत्रापि विशिष्टसम्यक्त्वं तद्वेतुरिति न सर्वेषां तद्भवति
को विरोधः स्यात्? औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदभिन्नेषु त्रिष्वपि सम्यक्त्व-
विशेषेष्ववधिज्ञानोत्पत्तेर्व्यभिचारदर्शनात् तत्तद्विशेषनिबन्धनमपीति चेत्तर्ह्यत्रापि

शंका— देव और नारकीसंबन्धी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोमे अवधिज्ञानका सद्भाव
भले ही रहा आवे, क्योकि, उनके अवधिज्ञान भवनिमित्तक होता है। उसी प्रकार देशविरति
आदि ऊपरके गुणस्यानोमे भी अवधिज्ञान रहा आवे, क्योकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण-
भूत गुणोका वहां पर सद्भाव पाया जाता है। परंतु असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योमे
उसका सद्भाव नहीं पाया जा सकता है, क्योकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण भव और गुण
असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योमे नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणरूप सम्यग्दर्शनका असंयत-
सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योमे सद्भाव पाया जाता है।

शंका— चूंकि संपूर्ण सम्यग्दृष्टियोमे अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती
है, इससे मालूम पड़ता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण नहीं है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो संपूर्ण संयतोमे अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन
नहीं सकती है, इसलिये संयम भी अवधिज्ञानका कारण नहीं है, ऐसा क्यो न मान लिया जाय?

शंका— विशिष्ट संयम ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये समस्त
संयतोके अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो यहां पर भी ऐसा ही मान लेना चाहिये कि असंयत-
सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योमे भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।
इसलिये सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योमे अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता
है, ऐसा मान लेनेमे क्या विरोध आता है ?

शंका— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों ही प्रकारके विशेष
सम्यग्दर्शनोंमे अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमे व्यभिचार देखा जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शनविशेष
अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है यह नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— यदि ऐसा है तो संयममे भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि,

सामायिक-च्छेदोपस्थापन-परिहार-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यात-भेदभिन्नः पञ्चभिरपि संयमैः देशविरत्या च तस्य व्यभिचारदर्शनान्नावधिज्ञानं संयमविशेषनिवन्धनमपीति समानमेतत् । असंख्यातलोकमात्रसंयमपरिणामेषु केचिद्विशिष्टाः परिणामास्तद्वेतव इति नायं दोषश्चेत्तर्हि सम्यग्दर्शनपरिणामेष्वप्यसंख्येयलोकपरिमाणेषु केचिद्विशिष्टाः सम्यक्त्वपरिणामाः सहकारिकारणव्यपेक्षास्तद्वेतव इति स्थितम् ।

मनःपर्ययज्ञानस्वामिप्रतिपादनार्थमाह—

मणपज्जवणाणी पमत्तसंजदप्पहुडि जाव खीणकसाय-
वीदराग-छदुमत्था त्ति ॥ १२१ ॥

पर्यायपर्यायिणोरभेदापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्यैव मनःपर्ययज्ञानिव्यपदेशः । देश-
विरताद्यधस्तनगुणभूमिस्थितानां किमिति मनःपर्ययज्ञानं न भवेदिति चेन्न, संयमा-
संयमासंयमत उत्पत्तिविरोधात् । संयममात्रकारणत्वे सर्वसंयतानां किन्न तद्भवेदिति

सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन पांच प्रकारके विशेष सयमोके साथ और देशविरतिके साथ भी अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका व्यभिचार देखा जाता है, इसलिये अवधिज्ञानकी उत्पत्ति सयम-
विशेषके निमित्तसे होती है यह भी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और सयम इन दोनोंको अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमे निमित्त मानने पर आक्षेप और परिहार समान हैं ।

शंका— असंख्यात लोकप्रमाण संयमरूप परिणामोमे कितने ही विशेष जातिके परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण होते हैं, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो असंख्यात लोकप्रमाण सम्यग्दर्शनरूप परिणामोमे दूसरे सहकारी कारणोकी अपेक्षासे युक्त होते हुए कितने ही विशेष जातिके सम्यक्त्वरूप परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण हो जाते हैं यह बात निश्चित हो जाती है ।

अब मनःपर्ययज्ञानके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२१ ॥

पर्याय और पर्यायीमे अभेदकी अपेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका ही मनःपर्ययज्ञानीरूपसे उल्लेख किया है ।

शंका— देशविरति आदि नीचेके गुणस्थानवर्ती जीवोके मन पर्ययज्ञान क्यो नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संयमासंयम और असयमके साथ मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति माननेमे विरोध आता है ।

चेदभविण्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्तेः कारणतामगमिष्यत् । अपि त्वन्येऽपि^१ तद्वेतवः सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । केऽन्ये तद्वेतव इति चेद्विशिष्ट-द्रव्यक्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

केवलणाणी तिसु टुण्णेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि^२ ॥ १२२ ॥

अथ स्यान्नाहृतः केवलज्ञानमस्ति तत्र नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमजनितमनसः सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य मनसोऽसत्त्वात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्त्यस्तित्वद्वारेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

शंका— यदि संयममात्र मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त संयमियोंके मन.पर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान— यदि केवल संयम ही मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा भी होता । किंतु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त संयमियोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका— वे दूसरे कौनसे कारण हैं ?

समाधान— विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं । जिनके बिना सभी संयमियोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका— अरिहंत परमेष्ठीके केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि, यहां पर नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिनके संपूर्ण आवरणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठीमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी वहां पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वविरोधात् । कथं पुनः स सयोग' इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य सयोगत्वा-विरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञान-कार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रम-ज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्धटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोक्तमजनितशक्त्यस्तित्ववापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः ।

संयममार्गणाप्रतिपादनार्थमाह—

संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाज्य-छेदोवट्ठावण-सुद्धि-
संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराज्य-सुद्धि-संजदा
जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥१२३॥

शंका— फिर अरिहंत परमेष्ठीको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रथम (सत्य) और चतुर्थ (अनुभय) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द वहां पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे अरिहंत परमेष्ठीके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— अरिहंत परमेष्ठीमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं ।

शंका— अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकारद्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर 'सच्चमणजोगो असच्चमोस-मणजोगो सण्णिमिच्छाडिठ्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दके कारणरूप मनोवर्णणारूप नोक्तमसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि-केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब संयममार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयममार्गणाके अनुवादसे सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहार-

अत्राप्यभेदापेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः । सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानु-
सारेण यताः बहिरङ्गान्तरङ्गास्त्रवेभ्यो विरताः संयताः । सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति
सकलसावद्ययोगविरतिः, सामायिकशुद्धिसंयमो^१ द्रव्यार्थिकत्वात् । एवंविधैकव्रतो
मिथ्यादृष्टिः किन्न स्यादिति चेन्न, आक्षिप्ताशेषविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य
सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात् । आक्षिप्ताशेषविशेषरूपमिदं^२ सामान्यमिति कुतोऽवसीयत
इति चेत्सर्वसावद्ययोगोपादानात् । नह्येकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते विरोधात् ।
स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैक्यमः सामायिकशुद्धिसंयत^३ इति यावत् । तस्यैकस्य

शुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत, यथाख्यात-विहार-शुद्धि-संयत ये पांच प्रकारके संयत तथा
संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं ॥ १२३ ॥

यहां पर भी अभेदकी अपेक्षासे पर्यायिका पर्यायिरूपसे कथन किया है । 'सम्' उपसर्ग
सम्यक् अर्थका वाची है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग
और अन्तरंग आश्रवोंसे विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं ।

'मै सभी प्रकारके सावद्ययोगसे विरत हूं' इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल
सावद्ययोगके त्यागको सामायिक-शुद्धि-संयम कहते हैं ।

शंका— इस प्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसमें संपूर्ण चारित्रिके भेदोका संग्रह होता है, ऐसे
सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नयको समीचीन दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— यह सामान्य संयम अपने संपूर्ण भेदोका संग्रह करनेवाला है, यह कैसे जाना
जाता है ?

समाधान— 'सर्वसावद्ययोग' पदके ग्रहण करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोका
संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती है । यदि यहां पर संयमके किसी एक भेदकी ही
मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थल पर
'सर्व' शब्दके प्रयोग करनेमें विरोध आता है ।

१ रागद्वौसविरहिणो समो त्ति अयण अयो त्ति गमण ति । समगमण ति समाओ स एव सामाइय
नाम ॥ अहवा भव समाए निव्वत्त तेण तम्मय वावि । ज तप्पअयण वा तेण व सामाइयं नेय ॥ अहवा समाइ
सम्मत्तनाणचरणाइ तेमु तेहि वा । अयण अओ समाओ स एव सामाइय नाम ॥ अहवा समस्स आओ गुणाण
लाओ त्ति जो समाओ मो । अहवा समाणमाओ नेओ सामाइय नाम ॥ अहवा साम मित्ती तत्थ अओ
(गमण) तेण होइ सामाओ । अहवा सामस्साओ लाभो सामाइय नेय ॥ सम्ममओ वा समओ सामाइय-
मुभयविद्धिभावाओ । अहवा सम्मस्स आओ लाभो सामाइय होइ । अहवा निरुत्तविहिणा साम सम्म सम च ज
तस्स । इकमप्पए पवेमणमेय सामाइय नेय । किं पुण त सामइय सव्वनावज्जजोगविरइ त्ति ॥

वि भा ४२२०-४२२७

व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः । तदैवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापन-शुद्धिसंयमः^१ । निशितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयदेशना^२, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयदेशना^३ । ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति । द्वितयदेशनानुगृहीत^४ एक एव संयम इति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् । अनेनैवाभिप्रायेण सूत्रे पृथक् न शुद्धिसंयतग्रहणं कृतम् ।

परिहारप्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारशुद्धिसंयतः । त्रिशद्वर्षाणि यथेच्छया भोगमनुभूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा संयममादाय द्रव्यक्षेत्रकालभावगतपरिमिता-परिमितप्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णवं सम्यगधिगम्य व्यपगतसकल-

इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जिसने संपूर्ण संयमके भेदोंको अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेदरूपसे एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिक-शुद्धि-संयत कहलाता है ।

उस एक व्रतका छेद अर्थात् दो, तीन आदिके भेदसे उपस्थापन करनेको अर्थात् व्रतोंके आरोपण करनेको छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम कहते हैं । संपूर्ण व्रतोंको सामान्यको अपेक्षा एक मानकर एक यमको ग्रहण करनेवाला होनेसे सामायिक-शुद्धि-संयम द्रव्यार्थिकनयरूप है । और उसी एक व्रतको पांच अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण करनेवाला होनेसे छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम पर्यायार्थिकनयरूप है । यहां पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्योंके अनुग्रहके लिये द्रव्यार्थिक नयका उपदेश दिया गया है । और मन्दबुद्धि प्राणियोंका अनुग्रह करनेके लिये पर्यायार्थिक नयका उपदेश दिया गया है । इसलिये इन दोनों समयमोमे अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है ।

शंका— तब तो उपदेशको अपेक्षा संयमको भले ही दो प्रकारका कह लिया जावे, पर वास्तवमे तो वह एक ही है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमे इष्ट ही है । और इसी अभिप्रायसे सूत्रमे स्वतन्त्ररूपसे (सामायिक पदके साथ) ' शुद्धिसंयत ' पदका ग्रहण नहीं किया है ।

जिसके (हिंसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धिप्राप्त संयतोंको परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं । तीस वर्षतक अपनी इच्छानुसार भोगोंको भोगकर सामान्यरूपसे अर्थात् सामायिक संयमको और विशेषरूपसे अर्थात् छेदोपस्थापना संयमको धारण कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार परिमित या अपरिमित प्रत्याख्यानके प्रतिपादन करनेवाले प्रत्याख्यान पूर्वरूपी महार्णवमे अच्छी तरह प्रवेश करके जिसका संपूर्ण संशय दूर हो गया है और जिसने

१ छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपण महाव्रतानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । × × छेत्तूण तु परियाग पोरण जो ठवित्ति अप्पाण । धम्मम्मि पचजामे छेओवट्ठावणे स खलु । प भा (छेओवट्ठावण. अभि रा को) २ मु नयादेशना । ३ मु नयादेशना । ४ मु देशना ।

संशयस्तपोविशेषात्समुत्पन्नपरिहारद्विस्तीर्थकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते^१ ।
 एवमादाय स्थानगमनचक्रमणाशनपानासनादिषु व्यापारेष्वशेषप्राणिपरिहरणदक्षः^२
 परिहारशुद्धिसंयतो नाम ।

साम्परायः कषायः, सूक्ष्मः साम्परायो येषां ते सूक्ष्मसांपरायाः । शुद्धाश्च ते
 संयताश्च शुद्धसंयताः । सूक्ष्मसाम्परायाश्च ते शुद्धिसंयताश्च सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः ।
 त एव द्विधोपात्तसंयमा यदा सूक्ष्मीकृतकषायाः भवन्ति तदा ते सूक्ष्मसाम्परायशुद्धि-
 संयता इत्युच्यन्ते इति यावत् ।

यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम् । यथाख्यातो
 विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः । यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यात-
 विहारशुद्धिसंयताः^३ । सुगममन्यत् ।

संयमानुवादेनासंयतानां संयतासंयतानां च न ग्रहणं प्राप्नुयादिति चेन्न,

तपोविशेषसे परिहार ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसा जीव तीर्थकरके पादमूलमे परिहार-
 शुद्धि-संयमको ग्रहण करता है । इस प्रकार संयमको धारण करके जो खड़े होना, गमन करना
 यहां वहां विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि संपूर्ण व्यापारोमे प्राणि-
 योकी हिसाके परिहारमें दक्ष हो जाता है उसे परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं ।

सांपराय कषायको कहते हैं । जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्मसांपराय
 कहते हैं । जो संयत विशुद्धिको प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धिसंयत कहते हैं । जो सूक्ष्मकषाय
 वाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं उन्हें सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत कहते हैं । इसका तात्पर्य यह
 है कि सामायिक या छेदोपस्थापना सयमको धारण करनेवाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्मकषायवाले
 हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं ।

परमागममे विहार अर्थात् कषायोंके अभावरूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया
 गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यातविहार कहते हैं । जो यथा-
 ख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं वे यथाख्यातविहार-शुद्धि-संयत कहलाते हैं ।
 शेष कथन सुगम है ।

शंका— संयम मार्गणाके अनुवादसे संयतोमें सयतासंयत और असंयतोका ग्रहण नहीं
 हो सकता है ?

१ तीम वानो जम्मे वामपुवत्तं बु तित्थयरमूले । पच्चक्खाण पढिदो मझूणदुगाउयविहारो ॥
 गो जी ४७३

२ परिहारविसमेत पड्जीवनिकायमकुले विहरन् । पयसेव पद्मपत्र न लिप्यते पापनिवहेन ।
 गो जी ४७३ जी प्र टी उद्धृतम् ।

३ अहमदो जाह्वे आडोमिहीए कहियमक्खाय । चरणमकसायमुदित तमहक्खाय जहक्खाय ॥
 त दुविगप्प छउमत्थकेवलिविहाणओ पुणेक्कक् । खयसमजमयोगाजोगिकेवलिविहाणओ दुविह । वि भा १२७९.

आम्रतरुप्रधानवनान्तस्थनिम्बानामपि आम्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात् । उक्तं च—

सगहिय-सयल-सजममेय-जममणुत्तरं दुरवगम्मं ।

जीवो समुव्वहंतो सामाइय-सजदो होई' ॥ १८७ ॥

छेत्तूण य परियाय पोराणं जो ठवेइ अप्पाण ।

पचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावओ जीवो' ॥ १८८ ॥

पच-समिदो ति-नुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।

पच-जमेय-जमो वा परिहारो सजदो सो हु' ॥ १८९ ॥

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस वनमे आम्रवृक्षोकी प्रधानता है उसमे रहनेवाले नीमके वृक्षोकी भी 'आम्रवन' ऐसी संज्ञा देखनेमे आती है। अतएव अनेकान्तका आश्रय करनेसे संयतासयत और असंयतोका भी संयम मार्गणामे ग्रहण किया है। कहा भी है—

जिसमे समस्त सयमोका संग्रह कर लिया गया है ऐसे लोकोत्तर और दुरधिगम्य अभेदरूप एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिकसंयत होता है ॥ १८७ ॥

जो पुरानी सावद्यव्यापाररूप पर्यायको छेदकर पांच यमरूप धर्ममे अपनेको स्थापित करता है वह जीव छेदोपस्थापक सयमी कहलाता है ॥ १८८ ॥

जो पांच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होता हुआ सदा ही सावद्ययोगका परिहार करता है तथा पांच यमरूप छेदोपस्थापना संयमको और एक यमरूप सामायिकसंयमको धारण करता है वह परिहार-शुद्धि-संयत कहलाता है ॥ १८९ ॥

१ प्रा प. १, १२९। गो जी ४७०.

२ प्रा प १, १३०। गो जी ४७१ छेदेन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापन यस्य स छेदोपस्थापन इति निरुक्ते । अथवा प्रायश्चित्तेन स्वकृतदोषपरिहाराय पूर्वकृततपस्तद्दोषानुसारेण छित्वा आत्मान तन्निर्वच्य-सयमे स्थापयति स छेदोपस्थापक—मयत, स्वतपश्छेदे सति उपस्थापन यस्य स छेदोपस्थापन इत्यधिकरण-व्युत्पत्तेः । जी प्र टी.

३ प्रा प १, १३१। गो जी ४७२ परिहारकप्प पवक्खाम्मि परिहरति जहा विऊ । आदिमज्झव-साणेसु आणुपुव्वि जहक्कम ॥ ३६९ ॥ सत्तावीस जहण्णेण उक्कोमेण सहस्ससो ॥ निग्गथसूरा भगवतो सव्वग्गेण वियाहिया ॥ ३७२ ॥ सयग्गलो य उक्कोमा जहण्णेण तथो गणा । गणो य णवओ वुत्तो एमेता पडिवत्तिओ ॥ ३७३ ॥ एग कप्पट्ठिय कुज्जा चत्तारि परिहारिए । अणुपरिहारिगा चैव चउरो तेसि तु ठावए ॥ ३७४ ॥ ण य तेसि जायती विग्घ जा मासा दस अट्ठ य । ण वेयणा ण वातका णेव अण्णे उवद्वा ॥ ३७५ ॥ अट्ठारसमु पुण्णेसु होज्ज एते उवद्वा । ऊणिए ऊणिए यावि गणमेरा इमा भवे ॥ ३७६ ॥ पडिवन्नज्जिणदस्स पादमूलम्मि जे विऊ । ठावयत्तिआ ते अण्णे ण उ ठावित्ठावगा ॥ ३८३ ॥ सव्वे चरित्तमत्ता य दसणे परिनिट्ठिया । णवपुव्विया जहण्णेण उक्कोस दमपुव्विया ॥ ३८४ ॥ पचविहे ववहारे कप्पे ते दुविहम्मि य । दसविहे य पच्छित्ते सव्वे वि परिनिट्ठिया ॥ ३८५ ॥ पडिपुच्छ वाय ण मोत्तूण णत्थि सकहा । आलावो अत्तणिद्देसो परिहारस्स कारणे ॥ ३९६ ॥ वारस दसट्ठ दस अट्ठ छच्चट्ठ छ चउरो य उक्कोस । मज्झिम जहन्नगा ऊ वासासिसिरगिम्हे उ ॥ ३९४ ॥ आयविलवारसग पत्तेय परिहारगा परिहरति ।

अणुलोभं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवओ वा ।
 सो सुहुम-सापराओ जहक्खादेणूणओ किं पि^१ ॥ १९० ॥
 उवसते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि ।
 छटुमत्थो व जिणो वा जहक्खादो संजदो सो हु^२ ॥ १९१ ॥
 पंच-ति-चउन्विहेहि अणु-गुण-सिक्खा-वएहि संजुत्ता ।
 वुच्चंति देस-विरया सम्माइट्ठी ज्ञारिय-कम्मा^३ ॥ १९२ ॥
 दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइभत्ते य ।
 वम्हारंभ-परिगह-अणुमण-उद्दिट्ठ देसविरदेदे^४ ॥ १९३ ॥
 जीवा चोद्दस-भेया इदिय-विसया तहट्टवीस तु ।
 जे तेसु णेव विरदा असंजदा ते मुण्येव्वा^५ ॥ १९४ ॥

चाहे उपशमश्रेणीका आरोगण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणीका आरोगण करनेवाला हो, परंतु जो जीव सूक्ष्म लोभका अनुभव करता है उसे सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत कहते हैं । यह संयत यथाख्यात संयमसे कुछ कम संयमको धारण करनेवाला होता है ॥ १९० ॥

अशुभ मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षय हो जाने पर ग्यारहवे, बारहवे गुणस्थान-वर्ती छद्मस्य और तेरहवें चौदहवे गुणस्थानवर्ती जिन यथाख्यात-शुद्धि-संयत होते हैं ॥ १९१ ॥

जो पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोसे संयुक्त होते हुए असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत कहे जाते हैं ॥ १९२ ॥

दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तविरत, ब्रम्हचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरतके ग्यारह भेद हैं ॥ १९३ ॥

जीवसमास चौदह प्रकारके होते हैं और इन्द्रिय तथा मनके विषय अट्ठाईस प्रकारके होते हैं । जो जीव इनसे विरत नहीं हैं उन्हें असंयत जानना चाहिये ॥ १९४ ॥

अभिगहितएमणाए पचण्ह वि एगो सभोगो ॥ ३९५ ॥ परिहारिओ छम्मासे अणुपरिहारिओ वि छम्मासा । कप्पट्ठितो वि छम्मासे तेए अट्टारस उ मासे ॥ ३९६ ॥ गएहि छहि मासेहि निव्विट्ठा य भवति ते । ततो पच्छा य ववहार पट्टवति अणुपरिहारिया ॥ ३९७ ॥ गएहि छहि मासेहि निव्विट्ठा य भवति ते । वहड कप्पट्ठिओ पच्छा परिहार तहाविव ॥ ३९९ ॥ अट्टारसहि मासेहि कप्पो होति समाणितो । मूलट्टवणाए मम छम्मासा उ अणूणगा ॥ ४०० ॥ वृ ६ उ (अभि रा को परिहारविसुद्धिय)

१ प्रा प १, १३२ । गो जी ४७४

२ प्रा प १, १३३ । गो जी ४७५

३ प्रा प. १, १३५ । गो जी ४७६

४ प्रा प १, १३६ । गाथेय पूर्वमपि ७४ गाथाङ्केन आगता ।

५ प्रा प १, १३७ । गो. जी. ४७८

संयतानां गुणस्थान^१संख्यानिरूपणार्थमाह—

संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवालि ति^२ ॥ १२४ ॥

अथ स्याद् बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, अन्यथा काष्ठादिष्वपि संयम-
प्रसङ्गात् । न च केवलिषु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र संयमो दुर्घट इति नैष
दोषः, अघातिचतुष्टयविनाशापेक्षया समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च
सकलपापक्रियानिरोधलक्षणपारिणामिकगुणाविर्भावापेक्षया च तत्र^३ संयमोपचारात् ।
अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्य संयमोऽस्ति^४ । न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभाव-
तस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः । सुगममन्यत् ।

द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयनिबन्धनसंयमगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सामाइय-च्छेदोवट्टावण-सुद्धि-संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि
जाव अणियट्ठि ति ॥ १२५ ॥

अब संयतोमे गुणस्थानोकी संख्याके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२४ ॥

शंका— बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगके त्यागको संयम कहना तो ठीक है । यदि ऐसा न
माना जाय तो काष्ठ आदिमें भी संयमका प्रसंग आजायगा । किंतु केवलीमें बुद्धिपूर्वक सावद्य-
योगकी निवृत्ति तो पाई नहीं जाती है इसलिये उनमें संयमका होना दुर्घट ही है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अघातिया कर्मोंके विनाश करनेकी
अपेक्षा और समय समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मनिर्जरा करनेकी अपेक्षा संपूर्ण पाप-
क्रियाके निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे वहां संयमका
उपचार किया जाता है । अतः वहां पर संयमका होना दुर्घट नहीं है । अथवा प्रवृत्तिके अभावकी
अपेक्षा वहां पर मुख्य संयम है । इसप्रकार जिनेन्द्रमें प्रवृत्त्यभावसे मुख्य संयमकी सिद्धि करने
पर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है, तब
उसकी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है । शेष कथन सुगम है ।

अब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके निमित्तसे माने गये संयमके
गुणस्थान प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सामायिक और छेदोपस्थापनारूप शुद्धिको प्राप्त संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर
अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२५ ॥

१ मु स्थानाना सख्या ।

२ सयमानुवादेन संयता प्रमत्तादयोऽयोगिकेवल्यन्ता । स सि १ ८-

३ मु. पेक्षया न, तत्र ।

४ सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयता प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ता । स सि १ ८

सुगमत्वादत्र न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

द्वितीयसंयमस्याध्वाननिरूपणार्थमाह—

परिहार-शुद्धि-संजदा दोसु द्वाणेषु प्रमत्तसंजद-द्वाणे अप्रमत्त-
संजद-द्वाणे^१ ॥ १२६ ॥

उपरिष्ठात्मिकमित्ययं संयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तर्निम-
ग्नात्मनां वाच्यमानामुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः ।
प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्ठात्स संयमोऽस्ति^२ । परिहारशुद्धिसंयतः
किमु एकयम उत पंचयम इति ? किंचातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति । अथ यदि
पंचयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति, न च संयममादधानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायार्थिकाभ्यां
व्यतिरिक्तस्यास्ति सम्भवस्ततो न परिहारसंयमोऽस्तीति ? न, परिहारद्वयतिशयोत्पत्त्य-
पेक्षया ताम्यामस्य कथञ्चिद्भेदात् । तद्रूपापरित्यागेनैव परिहारद्विपर्यायेण परिणत-

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेमे यहां कुछ विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अब दूसरे संयमके गुणस्थानोके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

परिहार-शुद्धि-सयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोमे होते हैं ॥ १२६ ॥

शंका— ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोमे यह संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माए ध्यानरूपी अमृतके सागरमे निमग्न है,
जो वचन-यम (मीन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने जानेरूप संपूर्ण शरीरसंबन्धी
व्यापार संकुचित कर लिया है ऐसे जीवोके शुभाशुभ क्रियाओका परिहार बन ही नहीं सकता
है । क्योंकि, गमनागमन आदि क्रियाओमे प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति
नहीं करनेवाला नहीं । इसलिये ऊपरके आठवे आदि ध्यान अवस्थाको प्राप्त गुणस्थानोमें
वह (परिहार-शुद्धि-संयम) नहीं है ।

शंका— परिहार-शुद्धि-संयम क्या एक यमरूप है या पांच यमरूप ? इनमेसे यदि
एक यमरूप है तो उसका सामायिकमे अन्तर्भाव होना चाहिये और यदि पांच यमरूप है तो
छेदोपस्थापनामे अन्तर्भाव हो जाना चाहिये । संयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और
पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों संयमोसे भिन्न तीसरे संयमकी संभावना तो है नहीं,
इसलिये परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, परिहार ऋद्धिरूप अतिशयकी उत्पत्तिकी अपेक्षा
सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार-शुद्धि-संयमका कथंचित् भेद है ।

शंका— सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करते हुए ही परिहार
ऋद्धिरूप पर्यायमे यह जीव परिणत होता है, इसलिये सामायिक और छेदोपस्थापनासे भिन्न

१ परिहारशुद्धिसयता प्रमत्ताप्रमत्ताच्च । न सि १ ८

२ मु प्ठात्मयमोऽस्ति ।

त्वान्न ताभ्यामन्योऽयं संयम इति चेन्न, प्रागविद्यमानपरिहारद्वैचपेक्षया ताभ्यामस्य भेदात् । ततः स्थितमेतत्ताभ्यामन्यः परिहारसंयम इति । परिहारद्वैरुपरिष्ठादपि सत्त्वात्तत्रास्यास्तु सत्त्वमिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात् ।

तृतीयसंयमस्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा एकम्मि चेव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजद-ट्ठाणे^१ ॥ १२७ ॥

सूक्ष्मसाम्परायाः किमु एकयमा उत पञ्चयमा इति ? किं चातो, यद्येकयमाः पञ्चयमान्न मुक्तिरुपशमश्रेण्यारोहणं वा, सूक्ष्मसाम्परायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुभयाभावात् । अथ पञ्चयमाः, एकयमानां पूर्वोक्तदोषौ समाढौकेते । अथोभययमाः,

यह समय नहीं हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पहले अविद्यमान परतु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धिकी अपेक्षा उन दोनों संयमोसे इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार-शुद्धि-संयम भिन्न ही है ।

शंका— परिहार ऋद्धिकी आगेके आठवे आदि गुणस्थानोमे भी सत्ता पाई जाती है, अतएव वहा पर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवे आदि गुणस्थानोमे परिहार ऋद्धि पाई जाती है परतु वहां पर परिहार करनेरूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये आठवे आदि गुणस्थानोमें परिहार-शुद्धि-संयमका अभाव कहा गया है ।

अब तीसरे समयके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत जीव एक सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत गुणस्थानमे ही होते हैं ॥ १२७ ॥

शंका— सूक्ष्मसांपरायसंयत जीव क्या एक यमरूप है अथवा पांच यमरूप ? इनमेसे यदि एक यमरूप हैं तो पंचयमरूप छेदोपस्थापनासंयमसे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानकी प्राप्तिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति और उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकेगा ? यदि सूक्ष्मसांपराय संयत पांच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक संयमको धारण करनेवाले जीवोके पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं ? यदि छेदोपस्थापनासंयतोको उभय यमरूप मानते हैं तो एक यम और पंचयमके भेदसे सूक्ष्मसांपरायसंयतोके दो भेद हो जाते हैं ?

एकयमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसाम्परायाणां द्वैविध्यमापतेदिति । नाद्यौ विकल्पौ ? अनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषः सम्भवति, पञ्चैकयमभेदेन संयमभेदाभावात् । यद्येकयमपञ्चयमौ संयमस्य न्यूनाधिकभावस्य निबन्धनाव'भविष्यतां संयमभेदोऽप्यभविष्यत् । न चैवम्, संयमं प्रति द्वयोरविशेषात् । ततो न सूक्ष्मसाम्पराय-संयमस्य तद्द्वारेण द्वैविध्यमिति । तद्द्वारेण संयमस्य द्वैविध्याभावे पञ्चविधसंयमो-पदेशः कथं घटत इति चेन्मा घटिष्यत् । तर्हि कतिविधः संयमः ? चतुर्विधः, पञ्चमस्य संयमस्यानुपलम्भात् । सुगममन्यत् ।

चतुर्थसंयमस्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु ट्ठाणेषु उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवली रिं ॥ १२८ ॥

समाधान— आदिके दो विकल्प तो ठीक नहीं हैं, क्योंकि, वैसा हमने माना नहीं है । इसी प्रकार तीसरे विकल्पमे दिया गया दोष भी संभव नहीं है, क्योंकि, पंचयम और एकयमके भेदसे सयममे कोई भेद ही संभव नहीं है । यदि एकयम और पंचयम सयमके न्यूनाधिकभावके कारण होते तो सयममे भेद भी हो जाता । परंतु ऐसा है नहीं, क्योंकि, संयमके प्रति दोनोंमे कोई विशेषता नहीं है । अतः सूक्ष्मसाम्पराय सयमके उन दोनोंकी अपेक्षा दो भेद नहीं हो सकते हैं ।

शंका— जब कि उन दोनोंकी अपेक्षा सयमके दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पांच प्रकारके सयमका उपदेश कैसे बन सकता है ?

समाधान— यदि पांच प्रकारका संयम घटित नहीं होता है तो मत होओ ।

शंका— तो सयम कितने प्रकारका है ?

समाधान— सयम चार प्रकारका है, क्योंकि, पांचवा सयम पाया ही नहीं जाता है । शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ— सामायिक और छेदोपस्थापना सयममे विवक्षा भेदसे ही भेद है वास्तवमे नहीं, अतः ये दोनों मिलकर एक और शेषके तीन इसप्रकार सयम चार प्रकारके होते हैं ।

अब चौथे संयमके गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

यथाख्यात-विहार-शुद्धि-सयत जीव उपशान्त-कपाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोमे होते हैं ॥ १२८ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

देशविरतगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

संजदासंजदा एकस्मिन् चेत्य संजदासंजद-ट्ठाणे^१ ॥१२९॥

सुगममेतत् ।

असंयतगुणस्य गुणस्थानप्रमाणनिरूपणार्थमाह—

असंजदा एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजदसम्मइट्ठि ति^२ ॥१३०॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयता दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुपपत्तेः । सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात् ।

संयमद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय साम्प्रतं दर्शनमुखेन जीवसत्तानिरूपणार्थमाह—

दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसाणी अचक्खुदंसाणी ओधि-
दंसाणी केवलदंसणी चेदि^३ ॥१३१॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहा विशेष कुछ कहने योग्य नहीं है ।

अब देशविरत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयतासयत जीव एक सयतासयत गुणस्थानमे ही होते हैं ॥ १२९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब असयतगुणके गुणस्थानोके प्रमाणके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

असयत जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३० ॥

शंका— कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव सयत देखे जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना सयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

शंका— सिद्ध जीवोके कौनसा सयम होता है ?

समाधान— एक भी सयम नहीं होता है । उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव होनेसे जिसलिये वे सयत नहीं हैं, इसलिये सयतासयत नहीं है और असंयत भी नहीं है, क्योंकि, उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाए नष्ट हो चुकी है ।

सयममार्गणाके द्वारा जीव-पदार्थका कथन करके अब दर्शनमार्गणाके द्वारा जीवोके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनके धारण करनेवाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

१ सयतासयता एकस्मिन्नेव सयतासयतस्थाने । स सि १ ८

२ असयता आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु । स सि १ ८

३ भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च चक्षुर्दर्शननिवृत्तचक्षुर्दर्शनलब्धिमतो

चक्षुषा सामान्यस्यार्थस्य ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् । अथ स्याद्विषयविषयिसम्पात-
समनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । न तेन बाह्यार्थगतविधिसामान्यं परिच्छिद्यते, तस्या-
वस्तुनः कर्मत्वाभावात् । अविषयीकृतप्रतिषेधस्य ज्ञानस्य विधौ प्रवृत्तिविरोधात् ।
विधिः^१ प्रतिषेधाद् व्यावृत्तो गृह्यतेऽव्यावृत्तो वा ? आद्ये न विधिसामान्यग्रहणम्
प्रतिषेधेन सह विध्युपादानात् । द्वितीये न च तद्विधिग्रहणम्,^२ विधिप्रतिषेधोभयग्रहणे
तस्यान्तर्भावात् । न बाह्यार्थगतप्रतिषेधसामान्यमपि परिच्छिद्यते विधिपक्षोक्तदोष-
दूषितत्वात् । तस्माद्विधिनिषेधात्मकबाह्यार्थग्रहणमवग्रहः । न स दर्शनम्, सामान्य-

चक्षुके द्वारा सामान्य पदार्थके ग्रहण करनेको चक्षुदर्शन कहते हैं ।

शंका— विषय और विषयीके योग्य सबन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणका नाम अवग्रह
है । उस अवग्रहके द्वारा बाह्य अर्थमे रहनेवाले विधि-सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं सकता है,
क्योंकि, बाह्य अर्थमे रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है इसलिये वह कर्म अर्थात् ज्ञानका
विषय नहीं हो सकता है । दूसरे जिस ज्ञानने प्रतिषेधको विषय नहीं किया है उसकी विधिमे
प्रवृत्ति माननेमे विरोध आता है । इसलिये विधिका प्रतिषेधसे व्यावृत्त होकर ग्रहण होता है या
अव्यावृत्त होकर ग्रहण होता है ? प्रथम विकल्पके मानने पर केवल विधिसामान्यका ग्रहण तो बन
नहीं सकता है, क्योंकि, प्रतिषेधके साथ ही विधिका ग्रहण होता है । तथा दूसरे विकल्पके
मानने पर उसे केवल विधिग्रहण नहीं कह सकते, क्योंकि, विधि और प्रतिषेध इन दोनोंके
ग्रहणमेही प्रतिषेधसे अव्यावृत्त विधिका अन्तर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार बाह्य अर्थमे रहनेवाले
प्रतिषेधसामान्यका भी ग्रहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, विधि पक्षमे जो दोष दे आये है वे
सब यहां पर भी लागू पडते हैं । इसलिये विधि निषेधात्मक बाह्य पदार्थके ग्रहणको अवग्रह

जीवस्य घटादिषु द्रव्येषु चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनम् । सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटादिविशेषाभिधान
तत्सामान्यविशेषयो कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याग्रहणस्यापनार्थम् । उक्तं च
' निविशेष विशेषाणा ग्रहो दर्शनमुच्यते ' इत्यादि । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टय मनश्चाचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शने न
चक्षुर्दर्शनं, तदपि भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च अचक्षुर्दर्शनिनोऽचक्षुर्दर्शनल-
व्धिमतो जीवस्यात्मभावे भवति । × × इदमुक्तं भवति, चक्षुरप्राप्यकारि, ततो दूरस्थमपि स्वविषय
परिच्छिनत्तीति । × × योत्रादीनि तु प्राप्यकारीणि, ततो द्रव्येन्द्रियसंश्लेषद्वारेण जीवेन सह सम्बद्धमेव विषय
परिच्छिन्दन्तीत्येतद्दर्शनार्थमात्मभावि भवति । × × अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम् । अवधिदर्शनिनोऽवधिदर्शनावरण-
क्षयोपशमममुद्भूतावधिदर्शनलव्धिमतो जीवस्य सर्वस्पर्शद्रव्येषु भवति, न पुन सर्वपर्यायेषु । यतोऽवधेरु-
त्कृष्टतोऽप्येकवस्तुगता सस्त्रेया असस्त्रेया वा पर्याया विषयत्वेनोक्ता । × × ननु पर्याया विशेषा उच्यन्ते,
न च दर्शनं विशेषविषय भवितुमर्हति ज्ञानम्यैव तद्विषयत्वात् कथमिहावधिदर्शनविषयत्वेन पर्याया निर्दिष्टा ?
साधूक्तं, केवल पर्यायैरपि घटशरावोदञ्चनादिभिर्मृदादि सामान्यमेव तथा तथा विशिष्यते न पुनस्तेन एकान्तेन
व्यतिरिच्यन्ते, अतो मुख्यत सामान्य, गुणीभूतास्तु विशेषा अप्यस्य विषयीभवन्ति । केवल सकलद्रव्यविषयत्वेन
परिपूर्ण दर्शनं, केवलदर्शनिनस्तदावरणक्षयाविर्भूततल्लव्धिमतो जीवस्य सर्वद्रव्येषु मूर्तामूर्तेषु सर्वपर्यायेषु च
भवतीति । मन पर्यायज्ञानं तु तथाविधक्षरोपशमपाटवान् सर्वदा विशेषानेव गुल्लुटुपद्यते, न सामान्यम्
अतस्तद्दर्शनं नोक्तमिति । अनु (अभि रा को दमणगुणप्पमाण)

१ मु विवे ।

२ मु द्वितीये न तद्वि ग्रहण ।

ग्रहणस्य दर्शनव्यपदेशात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते, तस्यान्तरङ्गार्थविषयत्वात् । अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मक इति । तद्विधिप्रतिषेधसामान्ययोरुपयोगस्य क्रमेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरक्रमेण तत्रोपयोगस्य प्रवृत्तिरङ्गीकर्तव्या । तथा च न सोऽन्तरङ्गोपयोगोऽपि दर्शनम्, तस्य सामान्यविशेषविषयत्वादिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात् । तस्य कथं सामान्यतेति चेदुच्यते—चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात् । तत्रापि रूपसामान्य एव नियमितः, ततो नीलादिष्वेकरूपेणैव विशिष्टवस्तुनूपलम्भात् । तस्माच्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो रूपविशिष्टार्थ प्रति समानः, आत्मव्यतिरिक्तक्षयोपशमाभावादात्मापि तद्द्वारेण समानः, तस्य भावः सामान्यम्, तद्दर्शनस्य विषय इति स्थितम् ।

अथ स्याच्चक्षुषा यत्प्रकाशते तद्दर्शनम् । न चात्मा चक्षुषा प्रकाशते, मानना चाहिये । परन्तु वह अवग्रह दर्शनरूप तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, जो सामान्यको ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा है । अतः चक्षुदर्शन नहीं बनता है ?

समाधान— ऊपर दिये गये सब दोष दर्शनको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि, वह अन्तरंग पदार्थको विषय करता है । और अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य-विशेषात्मक होता है । इसलिये विधिसामान्य और प्रतिषेधसामान्यमे उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं बनती है, अतः उनमे उपयोगकी अक्रमसे प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिये । अर्थात् दोनोंका युगपत् ही ग्रहण होता है ।

शंका— इस कथनको मान लेने पर भी वह अन्तरंग उपयोग दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, उस अन्तरंग उपयोगका सामान्यविशेषात्मक पदार्थ विषय मान लिया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहांपर सामान्यविशेषात्मक आत्माका सामान्य शब्दके वाच्यरूपसे ग्रहण किया है ।

शंका— उसको सामान्यपना कैसे है ?

समाधान— चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपमे ही नियमित है । इसलिये उससे रूपविशिष्ट ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है । वहांपर भी चक्षुदर्शनमे रूपसामान्य ही नियमित है, इसलिये उससे नीलादिकमे किसी एक रूपके द्वारा ही विशिष्ट वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती है । अतः चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपविशिष्ट अर्थके प्रति समान है । और आत्माको छोड़कर क्षयोपशम पाया नहीं जाता है इसलिये आत्मा भी क्षयोपशमकी अपेक्षा समान है । और उस समानके भावको सामान्य कहते हैं । वह दर्शनका विषय है ।

शंका— चक्षु इन्द्रियसे जो प्रकाशित होता है उमे दर्शन कहते हैं । परन्तु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियसे प्रकाशित होता नहीं, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे आत्माकी उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है । चक्षु इन्द्रियसे रूपसामान्य और रूपविशेषसे युक्त पदार्थ प्रकाशित

तथानुपलम्भात् । प्रकाशते च रूपसामान्यविशेषविशिष्टोऽर्थः^१ । न स दर्शनम्, अर्थस्योपयोगरूपत्वविरोधात् । न तस्योपयोगोऽपि दर्शनम्, तस्य ज्ञानरूपत्वात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति ? न, चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेः, आवार्याभावे आवारकस्याप्यभावात् । तस्माच्चक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम् । किं च निद्रानिद्रादीनि कर्माणि न ज्ञानप्रतिबन्धकानि, ज्ञानावरणाभ्यन्तरे तेषामपाठात् । नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगद्वयप्रतिबन्धकानि, एवमपि ज्ञानावरणस्यैवान्तर्भावात् । नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगसामान्यप्रतिबन्धकानि, जाग्रदवस्थायां छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगयोरक्रमेण वृत्तिप्रसङ्गात् । ततो दर्शनावरणीयकर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं दर्शनावरणीयम्, बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम् । आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यादिति चेन्नैष दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शनव्यपदेशज्ञ दर्शनस्य चातुर्विध्य-
होता है । परंतु पदार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, पदार्थको उपयोगरूप माननेमें विरोध आता है । पदार्थका उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, वह उपयोग ज्ञान-रूप पड़ता है । इसलिये चक्षुर्दर्शनका अस्तित्व नहीं बनता है ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि चक्षुर्दर्शन नहीं हो तो चक्षुर्दर्शनावरण कर्म नहीं बन सकता है, क्योंकि, आवार्यके अभावमें आवारकका भी अभाव हो जाता है । इसलिये अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाला चक्षुर्दर्शन है यह बात स्वीकार कर लेना चाहिये । दूसरे निद्रानिद्रा आदि कर्म ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ज्ञानावरण कर्मके भेदमें इन निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका पाठ नहीं है । तथा निद्रानिद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले दोनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर भी निद्रानिद्रादिकका ज्ञानावरणके भीतर ही अन्तर्भाव होना चाहिये था । परंतु ऐसा नहीं है, अतः निद्रानिद्रादिक दोनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं । निद्रानिद्रादिक अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले उपयोग सामान्यके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर जाग्रत् अवस्थामें छद्मस्थके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी युगपत् प्रवृत्तिका प्रसंग आ जायगा । इसलिये दर्शन यदि न हो तो दर्शनावरण कर्मका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है । अतः अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है और बहिरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा जानना चाहिये ।

शंका— आत्माको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर आत्मामें कोई विशेषता नहीं होनेसे चारों दर्शनोमें भी कोई भेद नहीं रह जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो जिस ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला

नियमः । यावन्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमजनितज्ञानस्य विषयभावमापन्नाः पदार्था-
स्तावन्त एवात्मस्थक्षयोपशमास्तत्तन्नामानस्तद्द्वारेणात्मापि तावानेव, तच्छक्ति-
खचितात्मपरिच्छित्तिर्दर्शनम् । न चैतत्काल्पनिकं परमार्थत एव परोपदेशमन्तरेण
शक्त्या सहात्मनः उपलम्भात् । न दर्शनानामक्रमेण प्रवृत्तिर्ज्ञानानामक्रमेणोत्पत्त्य-
भावतस्तदभावात् । एवं शेषदर्शनानामपि वक्तव्यम् । ततो न दर्शनानामेकत्वमिति
उक्तं च—

चक्खूण ज पयासदि दिस्सदि त चक्खु-दसण वेति ।

सेसिदिय-प्पयासो णादव्वो सो अचक्खु त्ति^१ ॥ १९५ ॥

परमाणु-आदियाड अतिम-खघ ति मुत्ति-दव्वाइ ।

त ओधि-दसण पुण ज पस्सड ताइ पच्चवख^२ ॥ १९६ ॥

वहुविह वहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्हि खेत्तम्हि ।

लोगालोग अतिमिरो जो केवलदसणुज्जोवो^३ ॥ १९७ ॥

स्वरूपसवेदन है उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है । इसलिये दर्शनके चार प्रकारके
होनेका कोई नियम नहीं है । चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए ज्ञानके विषय-
भावको प्राप्त जितने पदार्थ हैं उतने ही आत्मामे स्थित क्षयोपशम उन उन सज्ञाओको प्राप्त
होते हैं । और उनके निमित्तसे आत्मा भी उतने ही प्रकारका हो जाता है । अतः इस प्रकारकी
शक्तियोंसे युक्त आत्माके सवेदन करनेको दर्शन कहते हैं । यह सब कथन काल्पनिक भी नहीं
है, क्योंकि, परोपदेशके बिना अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्माकी परमार्थसे उपलब्धि होती है ।
सभी दर्शनोकी अक्रमसे प्रवृत्ति होती है सो बात भी नहीं है, क्योंकि, ज्ञानोकी एकसाथ
उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सपूर्ण दर्शनोकी भी एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है । इसी प्रकार
शेष दर्शनोका भी कथन करना चाहिये । इसलिये दर्शनोमे एकता अर्थात् अभेद सिद्ध नहीं हो
सकता है । कहा भी है—

जो चक्षुइन्द्रियके द्वारा प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है उसे चक्षुदर्शन
कहते हैं । तथा शेष इन्द्रिय और मनसे जो प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं ॥ १९५ ॥

परमाणुसे आदि लेकर अन्तिम स्कन्धपर्यन्त मूर्त पदार्थोको जो प्रत्यक्ष देखता है उसे
अवधिदर्शन कहते हैं ॥ १९६ ॥

अपने अपने अनेक प्रकारके भेदोसे युक्त बहुत प्रकारके प्रकाश इस परिमित क्षेत्रमे ही
पाये जाते हैं । परंतु जो केवल दर्शनरूपी उद्योत है वह लोक और अलोकको भी तिमिर रहित
कर देता है ॥ १९७ ॥

चक्षुर्दर्शनाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

चक्खु-दंसणी चउरिंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-

छदुमत्था ति ॥१३२॥

मुगममेतत् ।

अचक्षुर्दर्शनस्याधिपतिप्रतिपादनार्थमाह—

अचक्खु-दंसणी एइंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-

छदुमत्था ति ॥१३३॥

दृष्टार्थं स्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तत्र घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुर-
भावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावासञ्जनात्^१ । दृष्टशब्द उपलम्भवाचक इति चेन्न,
उपलब्धार्थविषयस्मृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः । ततः स्वरूप-
संवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विस्वभावं किन्न स्यादिति चेन्न, स्वस्माद्भिन्न-

अव चक्षुदर्शनसंबन्धी गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय-छद्मस्थ-वीतराग गुणस्थान
तक होते हैं ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अव अचक्षुदर्शनके स्वामी वतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

अचक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुण-
स्थान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टार्थं अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुदर्शन है, इस प्रकार कितने ही
पुरुष कहते हैं । परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर एकेन्द्रिय
जीवोंमें चक्षुइन्द्रियका अभाव होनेसे उनके अचक्षुदर्शनके अभावका प्रसंग आजायगा ।

शंका— दृष्टान्तमे 'दृष्ट' शब्द उपलम्भवाचक ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन
स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आजाती है । इसलिये स्वरूपसंवेदन
दर्शन है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

शंका— ज्ञान ही दो स्वभाववाला क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपनेसे भिन्न वस्तुका परिच्छेदक ज्ञान है और अपनेसे
अभिन्न वस्तुका परिच्छेदक दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमे एकपत्ता नहीं बन सकता है ।

१ दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मित्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि मन्ति । स सि १ ८

२ मु दृष्टान्त ।

३ मु सञ्जननात् ।

वस्तुपरिच्छेदकं ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्, ततो नानयोरेकत्वमिति । ज्ञानदर्शनयोरक्रमेण प्रवृत्तिः किन्न स्यादिति चेत् किमिति न भवति ? भवत्येव, क्षीणावरणे द्वयोरक्रमेण प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु छद्मस्थावस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयोः प्रवृत्तिरिति चेन्न, आवरणनिरुद्धा^१क्रमयोरक्रमवृत्तिविरोधात् । अस्वसंविद्रूपो न कदाचिदप्यात्मोपलभ्यत इति चेन्न, बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भात् । श्रुतदर्शनं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात् । यदि बहिरङ्गार्थसामान्यविषयं दर्शनमभविष्यत्तदा श्रुतदर्शनमपि^२ समभविष्यत् ।

अवधिदर्शनप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

ओधि-दंसणी—असंजदसम्माइट्ठि—प्पहुडि जाव खीण—
कसाय—वीयराय—छदुमत्था त्ति^३ ॥ १३४ ॥

शंका— ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान— कैसे नहीं होती, होती ही है, क्योंकि, जिनके आवरण कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे तेरहवे आदि गुणस्थानवर्ती जीवोमे ज्ञान और दर्शन इन दोनोंकी युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है ।

शंका— आवरणकर्मसे रहित जीवोमे जिस प्रकार ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्थामे भी उन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होओ ?

समाधान— नहीं, यो कि, आवरणकर्मके उदयसे जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करनेकी शक्ति एक गई है ऐसे छद्मस्थ जीवोके ज्ञान और दर्शनमे युगपत् प्रवृत्ति माननेमे विरोध आता है ।

शंका— अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंकी उपयोगरूप अवस्थामे अन्तरंग पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है ।

शंका— श्रुतदर्शन क्यों नहीं कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको दर्शनपूर्वक माननेमे विरोध आता है । दूसरे यदि बहिरंग पदार्थको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला दर्शन होता तो श्रुतदर्शनभी होता । परंतु ऐसा नहीं है, इसलिये श्रुतज्ञानके पहले दर्शन नहीं होता है ।

अब अवधिदर्शनसम्बन्धी गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

अवधिदर्शनवाले जीव असयत सम्पददृष्टिसे लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुण-

सुगममेतत् । विभङ्गदर्शनं किमिति पृथग् नोपदिष्टमिति चेन्न, तस्यावधि-
दर्शनेऽन्तर्भावात् । मनःपर्ययदर्शनं तर्हि वक्तव्यमिति चेन्न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य
दर्शनाभावात् ।

केवलदर्शनस्वामिप्रतिपादनार्थमाह—

केवलदंसणी तिसु टाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली
सिद्धा चेदि^१ ॥ १३५ ॥

अनन्तत्रिकालगोचरवाह्योऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानं, स्वात्मनि त्रिकालगोचरे प्रवृत्तं
केवलदर्शनम्^२ । कथमनयोः समानतेति चेत्कथ्यते । ज्ञानप्रमाणमात्मा, ज्ञानं च त्रिकाल-
गोचरानन्तद्रव्यपर्यायपरिमाणं ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वमिति । स्वजीवस्थपर्यायै-
र्ज्ञानाद्दर्शनमधिकमिति चेन्न, इष्टत्वात् । कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वम् ? न, अन्योन्या-
त्मकयोस्तदविरोधात् । उक्तं च—

स्थान तक् होते हैं ॥ १३४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

शंका— विभंगदर्शनका पृथक् रूपसे उपदेश क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उसका अवधिदर्शनमे अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका— तो मन.पर्ययदर्शनको भिन्न रूपसे कहना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मन.पर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिये मन.पर्यय-
दर्शन नहीं होता है ।

अब केवलदर्शनके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलदर्शनके धारक जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोमे
होते हैं ॥ १३५ ॥

शंका— त्रिकालगोचर अनन्त बाह्य पदार्थोमे प्रवृत्ति करनेवाला केवलज्ञान है और
त्रिकालगोचर स्वात्मामे प्रवृत्ति करनेवाला केवलदर्शन है, इसलिये इन दोनोंमे समानता कैसे
हो सकती है ?

समाधान— आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालके विषयभूत द्रव्योकी अनन्त
पर्यायोंको जाननेवाला होनेसे तत्परिमाण है, इसलिये ज्ञान और दर्शनमे समानता है ।

शंका— जीवमे रहनेवाली स्वकीय पर्यायोकी अपेक्षा ज्ञानसे दर्शन अधिक है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है ।

शंका— फिर ज्ञानके साथ दर्शनकी समानता कैसे हो सकती है ?

१ केवलदर्शने सयोगिकेवली अयोगिकेवली च । स सि १ ८

२ मु (स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदक च दर्शनमिति) ।

आदा णाण-पमाण णाण णेय-प्पमाणमुद्दिट्ठ ।

णेय लोआलोअ तम्हा णाणं तु सव्व-गय^१ ॥ १९८ ॥

एय-दवियम्मि जे अत्थ-पज्जया वयण-पज्जया वावि ।

तीदाणागय-भूदा तावदिय त हवइ दव्व^२ ॥ १९९ ॥ इदि

लेश्याद्वारेणजीवपदार्थसत्त्वान्वेषणायाह—

लेस्साणुवादेण अत्थि किणहलेस्सिया णीललेस्सिया काउ-
लेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया
चेदि ॥ १३६ ॥

लेश्या इति किमुक्तं भवति ? कर्मस्कन्धैरात्मानं लिम्पतीति लेश्या^३ ।
कषायानुरज्जितैव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते, सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्वापत्तेः ।
अस्तु चेन्न, 'शुक्ललेश्यः सयोगकेवली' इति वचनव्याघातात् । लेश्या नाम योगः

समाधान— समानता नहीं हो सकती यह बात नहीं है, क्योंकि, एक दूसरेकी
अपेक्षा करनेवाले उन दोनोंमे समानता मान लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इसलिये ज्ञान
सर्वगत कहा है ॥ १९८ ॥

एक द्रव्यमे अतीत, अनागत और गायामे आये हुए 'अपि' शब्दसे वर्तमानपर्यायरूप
जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ॥ १९९ ॥

अब लेश्यामार्गणाद्वारा जीवपदार्थके अस्तित्वके अन्वेषण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—
लेश्यामार्गणाके अनुवादसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या,
शुक्ललेश्या और अलेश्यावाले जीव हैं ॥ १३६ ॥

शंका— 'लेश्या' इस शब्दसे क्या कहा जाता है ?

समाधान— जो कर्मस्कंधसे आत्माको लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं ।

यहांपर 'कषायसे अनुरजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं' यह अर्थ नहीं ग्रहण
करना चाहिये, क्योंकि, इस अर्थके ग्रहण करनेपर सयोगिकेवलीको लेश्यारहितपनेकी आपत्ति
प्राप्त होती है ।

शंका— यदि सयोगिकेवलीको लेश्यारहित मान लिया जावे तो क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर 'सयोगिकेवलीके शुक्ललेश्या पाई

१ प्रवच १, २३

२ गो जी ५८२ स त १ ३३

३ लिख्यते प्राणी कर्मणा यथा सा लेश्या । यदाह, क्लेष इव वर्णवन्धस्य कर्मवन्धस्थितिर्विधात्र्य ।
म्या १ ठा ज्ञा । लिख्यते क्लिप्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या । कर्म ४ कर्म । कृष्णादिद्रव्य-
साचिव्यात्परिणामो य आत्मन । स्फटिकम्येव तत्राय लेश्याशब्द प्रवर्तते ॥ १ ॥ प्रज्ञा १७ पद ।

(अमि रा को लेस्सा)

कषायस्तावुभौ वा ? किं चातः, नाद्यौ विकल्पौ, योगकषायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात् । न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात् । न प्रथमद्वितीयविकल्पोक्त-
दोषौ, अनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषो द्वयोरेकस्मिन्नन्तर्भावविरोधात् । न
द्वित्वमपि, कर्मलेपैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेख्यात्वाभ्युपगमात् ।
नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति, द्वायात्मकैकस्य जात्यन्तरमापन्नस्य केवलेनैकेन सहैकत्वसमान-
त्वयोर्विरोधात् । योगकषायकार्याद्विचरितरिक्तलेख्याकार्यानुपलम्भान्न ताभ्यां पृथग्ले-
ख्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्यादिबाह्यार्थसन्निधाने-

जाती है ' इस वचनका व्याघात हो जाता है ।

शंका— लेख्या योगको कहते हैं, अथवा, कषायको कहते हैं, या योग और कषाय
दोनोंको कहते हैं ? इनमेसे आदिके दो विकल्प अर्थात् योग या कषायरूप लेख्या तो मान नहीं
सकते, क्योंकि, वैसा माननेपर योगमार्गणा और कषायमार्गणामे ही उसका अन्तर्भाव हो
जायगा । तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, तीसरा विकल्प भी आदिके दो
विकल्पोंके समान है । अर्थात् तीसरे विकल्पके माननेपर भी लेख्याका उक्त दोनों मार्गणाओमे
अथवा किसी एक मार्गणामे अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये लेख्याकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध
नहीं होती है ?

समाधान— शंकाकारने जो ऊपर तीन विकल्प उठाये हैं उनमेसे पहले और दूसरे
विकल्पमे दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, लेख्याको केवल योग और केवल
कषायरूप माना ही नहीं है । उसी प्रकार तीसरे विकल्पमे दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता
है, क्योंकि, योग और कषाय इन दोनोंका किसी एकमे अन्तर्भाव माननेमे विरोध आता है ।
यदि कहा जाय कि लेख्याको दोरूप मान लिया जाय जिससे उसका योग और कषाय इन
दोनों मार्गणाओमे अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मलेपरूप एक
कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हुए योग और कषायको लेख्या माना है ।
यदि कहा जाय कि एकताको प्राप्त हुए योग और कषायरूप लेख्या होनेसे उन दोनोंमे लेख्याका
अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए
द्वायात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल एकके साथ
एकत्व अथवा समानता मान लेनेमे विरोध आता है ।

शंका— योग और कषायके कार्यसे भिन्न लेख्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये
उन दोनोंसे भिन्न लेख्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विपरीतताको प्राप्त हुए मिथ्यात्व अविरति आदिके
आलम्बनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके संपर्कसे लेख्याभावको प्राप्त हुए योग और कषायोसे,
केवल योग और केवल कषायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धिरूप कार्यकी उपलब्धि होती

नापन्नलेश्याभावाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य तत्केवलकार्याद्विच्यतिरिक्तस्योपलम्भात् । संसारवृद्धिहेतुर्लेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन विरोधश्चेन्न लेपाविनाभावित्वेन तद्वृद्धेरपि तद्वचपदेशाविरोधात् । ततस्ताभ्यां पृथग्भूता लेश्येति स्थितम् । षड्विधः कषायोदयः । तद्यथा, तीव्रतमः तीव्रतरः तीव्रः मन्दः मन्दतरः मन्दतम इति । एतेभ्यः षड्भ्यः कषायोदयेभ्यः परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति । कृष्णलेश्या नीललेश्या कपोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति । उक्तं च—

चडो ण मुयदि वेर भडण-सीलो य धम्म-दय-रहिओ ।

दुट्ठो ण य एदि वस लक्खणमेद तु किण्हस्स^१ ॥ २०० ॥

मदो वुद्धि-विहीणो णिव्विण्णाणी य विसय-लोलो य ।

माणी मायी य तहा आलस्सो चेय भेज्जो य^२ ॥ २०१ ॥

है जो केवल योग और केवल कषायका कार्य नहीं कहा जा सकता है— इसलिये लेश्या उन दोनोसे भिन्न है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— संसारकी वृद्धिका हेतु लेश्या है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं' इस वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कर्मलेपकी अविनाभावी होनेरूपसे संसारकी वृद्धिको भी लेश्या ऐसी संज्ञा देनेसे कोई विरोध नहीं आता है । अतः उन दोनोसे पृथग्भूत लेश्या है यह बात निश्चित हो जाती है ।

कषायका उदय छह प्रकारका होता है । वह इसप्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम । इन छह प्रकारके कषायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटीक्रमसे लेश्या भी छह हो जाती हैं— कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कपोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या कहा भी है—

तीव्र, क्रोध करनेवाला हो, वैरको न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो और जो किसीके वशको प्राप्त न हो, ये सब कृष्णलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०० ॥

मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो अथवा काम करनेमे मन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमे विवेक रहित हो, कला-चातुर्यसे रहित हो, पांच इन्द्रियोके स्पर्शादि बाह्य विषयोमे लम्पट हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, और भीरु हो, ये सब भी कृष्णलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०१ ॥

१ मु कपोतलेश्या पीतलेश्या ।

२ प्रा प १, १४४ । गो जी. ५०९ पचासवप्पवत्तो तीहि अगुत्ती छमु अविरखी य । तिव्वा-रम्मपरिणओ खुड्ढो साहसिओ नरो ॥ निद्वघसपरिणामो निस्समो अजिइदिओ । एयजोगसमाउत्तो किण्हस्स तु परिणमे ॥ उक्त ३४ २१-२२ ३ प्रा प १, १४५ । गो जी ५१०

णिद्दा-वचण-वहुलो घण-घण्णे होइ तिक्व-सण्णो य ।
 लक्खणमेदं भणिय समासदो णील-लेस्सस्स^१ ॥ २०२ ॥
 रूसदि णिददि अण्णे दूसदि वहुसो य सोय-भय-वहुलो ।
 असुयदि परिभवदि पर पससदि य अप्पय वहुसो^२ ॥ २०३ ॥
 ण य पत्तियइ पर सो अप्पाण पि व पर पि मण्णतो ।
 तूसदि अभित्थुवतो ण य जाणइ हाणि वड्ढीओ^३ ॥ २०४ ॥
 मरण पत्थेइ रणे देदि सुवहुअ हि थुक्वमाणो दु ।
 ण गणइ अकज्ज-कज्ज लक्खणमेद तु काउस्स^४ ॥ २०५ ॥
 जाणइ कज्जमकज्ज सेयमसेय च सक्व-सम-पासी ।
 दय-दाण-रदो य मिट्ठ लक्खणमेद तु तेउस्स^५ ॥ २०६ ॥

जो अतिनिद्रालु हो, दूसरोको ठगनेमे अतिदक्ष हो, और घन-धान्यके विषयमे जिसकी अति तीव्र लालसा हो, ये सब नीललेश्यावालेके संक्षेपसे लक्षण कहे गये हैं ॥ २०२ ॥

जो दूसरोके ऊपर क्रोध करता है, दूसरेकी निन्दा करता है, अनेक प्रकारसे दूसरोको दुःख देता है, अथवा, दूसरोको दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भयसे व्याप्त रहता है, दूसरोको सहन नहीं करता है, दूसरोका पराभव करता है, अपनी नाना प्रकारसे प्रशंसा करता है, दूसरेके ऊपर विश्वास नहीं करता है, अपने समान दूसरेको भी मानता है, स्तुति करने-वालेके ऊपर सतुष्ट हो जाता है, अपनी और दूसरेकी हानि और वृद्धिको नहीं जानता है, युद्धमें मरनेकी प्रार्थना करता है, स्तुति करनेवालेको बहुत घन दे डालता है, और कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना नहीं करता है, ये सब कापोतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०३-२०५ ॥

जो कार्य-अकार्य और सेव्य-असेव्यको जानता है, सबके विषयमे समदर्शी रहता है, दया और दानमे तत्पर रहता है, और मन, वचन तथा कायसे कोमल परिणामी होता है ये सब पीतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०६ ॥

१ प्रा प १, १४६ । गो जी ५११ इस्सा अमरिस अतत्रो अविज्जमाया अहीरिया । गेही पओसे य सढे पमत्ते रसलोलुए ॥ सायगवेसए य आरभाओ अविरओ खुड्डो साहस्सिओ नरो । एयजोगसमाउत्तो नीललेम तु परिणमे ॥ उक्त ३४ २३-२४

२ प्रा प १, १४७ । गो जी ५१२ ३ प्रा प १, १४८ । गो जी ५१३

४ प्रा प १, १४९ । गो जी ५१४ वके वक्समायारे नियडिल्ले अणुज्जुए । पलिउच्चगओवाहिए मिच्छादिट्ठी अणारिए ॥ उप्पासगदुट्ठुवाई य तेणे यावि य मच्छरी । एयजोगसमाउत्तो काऊलेस तु परिणमे ॥ उक्त ३४ २५-२६

५ प्रा प १, १५० । गो जी ५१५ नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले । विणीयविणए दते जोगव उवहाणव ॥ पियवम्मे दडवम्मे वज्जभीरु हिएमए । एयजोगसमाउत्तो तेऊलेस तु परिणमे ॥ उक्त ३४ २७-२८

चागी भद्दो चोक्खो उज्जुव-कम्मो य खमइ बहुअ पि ।
 साहु-गुरु-पूजण-रदो^१ लक्खणमेद तु पम्मस्स^२ ॥ २०७ ॥
 ण उ कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाण समो य सव्वेसु ।
 णत्थि य राय-द्दोसा^३ णेहो वि य सुक्क-लेस्सस्स^४ ॥ २०८ ॥

षड्लेश्यातीताः अलेश्याः । उक्तं च—

किण्हादि-लेस्स-रहिदा संसार-विणिग्गया अणत-सुहा ।
 सिद्धि-पुरं सपत्ता अलेस्सिया ते मुणेयव्वा^५ ॥ २०९ ॥

लेश्यानां गुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

किणहलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदिय-प्पहुडि

जाव असंजद-सम्माइट्टि ति^६ ॥ १३७ ॥

जो त्यागी है, भद्रपरिणामी है, निर्मल है, निरन्तर कार्य करनेमें उद्यत रहता है, जो अनेक प्रकारके कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गोंको क्षमा कर देता है, और साधु तथा गुरुजनोकी पूजामें रत रहता है, ये सब षड्लेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०७ ॥

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं बांधता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके विषयमें राग और द्वेषसे रहित है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिमें स्नेहरहित है ये सब शुक्ललेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०८ ॥

जो छह लेश्याओंसे रहित हैं उन्हें लेश्यारहित जीव कहते हैं । कहा भी है—

जो कृष्णादि लेश्याओंसे रहित हैं, पंच परिवर्तनरूप ससारसे पार हो गये हैं, जो अतीन्द्रिय और अनन्त सुखको प्राप्त हैं और जो आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको प्राप्त हो गये हैं उन्हें लेश्यारहित जानना चाहिये ॥ २०९ ॥

अब लेश्याओंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३७ ॥

१ मु पूजणिरदो ।

२ प्रा प १, १५१ । गो जी ५१६ पयणुकोहमाणे य मायालोभे य पयणुए । पमतचित्ते दत्तप्पा जोगव उवहाणव ॥ तहा पयणुवाई य उवनते जिड्दिए । एयजोगसमाऊत्तो पम्ह्लेस तु परिणमे ॥
 उक्त ३४ २९-३० ३ मु राय-द्दोसा ।

४ प्रा प १, १५२ । गो जी ५१७ अट्टरुहाणि वजित्ता वम्मनुक्काणि शायए । पमतचित्ते दत्तप्पा नमिए गुत्ते य गुत्तिमु ॥ मरागे वीयराने वा उवमते जिड्दिए । एयजोगसमाऊत्तो सुक्कलेम तु परिणमे ॥
 उक्त ३४. ३१-३२ ५ प्रा प १, १५३ गो जी ५५६

६ लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि अमयनसम्यग्दृष्ट्यन्तानि सन्ति ।
 स सि १ ८

कथम् ? त्रिविधतीव्रादिकषायोदयवृत्तेः सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

तेजःपद्मलेश्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव
अप्पमत्तसंजदा त्ति ॥ १३८ ॥

कथम् ? एतेषां तीव्रादिकषायोदयाभावात् । सुगममन्यत् ।

शुक्ललेश्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

सुक्कलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि-
त्ति^१ ॥ १३९ ॥

कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्ललेश्येति चेन्न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र
सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्यास्तित्वाविरोधात् ।

शंका— चौथे गुणस्थानतक ही आदिकी तीन लेश्याएं क्यों होती हैं ?

समाधान— तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कषायके उदयका सद्भाव चौथे गुणस्थान-
तक ही पाया जाता है, इसलिये वहीतक तीन लेश्याएं कहें । शेष कथन सुगम है ।

अब पीत और पद्मलेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

पीतलेश्या और पद्मलेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान-
तक होते हैं ॥ १३८ ॥

शंका— ये दोनों लेश्याएं सातवे गुणस्थानतक कैसे पाई जाती हैं ?

समाधान— क्योंकि, इन लेश्यावाले जीवोंके तीव्रतम आदि कषायोका उदय नहीं
पाया जाता है । शेष कथन सुगम है ।

अब शुक्ललेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

शुक्ललेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते
हैं ॥ १३९ ॥

शंका— जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनके शुक्ललेश्याका
होना कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है
उनमें कर्मलेपका कारण योग पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे उनके शुक्ललेश्याके सद्भाव
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब लेश्यारहित जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१ तेज पद्मलेश्ययोमिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्तस्थानान्तानि । स सि १ ८

२ मु पाठोऽय नास्ति ।

३ शुक्ललेश्याया मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि । स सि १ ८

तेण परमलेस्सिया^१ ॥ १४० ॥

कथम् ? बन्धहेतुयोगकषायाभावात् । सुगममन्यत् ।

लेश्यामुखेन जीवपदार्थमभिधाय भव्याभव्यद्वारेण जीवास्तित्वप्रतिपादनार्थ-

माह--

भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया ॥ १४१ ॥

भव्या भविष्यन्ती^२ सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः । तथा च भव्यसन्ततिच्छेदः स्यादिति चेन्न, तेषामानन्त्यात् । न हि सान्तस्यानन्त्यम्, विरोधात् । सव्ययस्य निरायस्य राशेः कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याप्यानन्त्यप्रसङ्गात्^३ । न सव्ययस्यानन्तस्य न क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति, स्वसंख्येयासंख्येयभागव्ययस्य राशेर-
नन्तस्यपि क्षयः^४, द्वित्र्यादिसंख्येयराशिव्ययतो न क्षयोऽस्तीत्यभ्युपगमात्^५ । अर्धपुद्गल-

तेरहवे गुणस्थानके आगे सभी जीव लेश्यारहित हैं ॥ १४० ॥

शंका-- यह कैसे ?

समाधान-- क्योंकि, वहांपर बन्धके कारणभूत योग और कषायका अभाव है ।

शेष कथन सुगम है ।

लेश्यामार्गणाके द्वारा जीवपदार्थका कथन करके अब भव्याभव्य मार्गणाके द्वारा जीवोके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

भव्यमार्गणाके अनुवादसे भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं ॥ १४१ ॥

जिन्हे आगे सिद्धि प्राप्त होगी उन्हें भव्यसिद्ध जीव कहते हैं ।

शंका-- इस प्रकार तो भव्यजीवोकी संततिका उच्छेद हो जायगा ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, भव्यजीव अनन्त होते हैं । हां, जो राशि सान्त होती है उसमे अनन्तपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, सान्तको अनन्त माननेमे विरोध आता है ।

शंका-- जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परंतु उसमे आय नहीं होती है तो उसके अनन्तपना कैसे बन सकता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, यदि सव्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना जावे तो एकाको भी अनन्तके माननेका प्रसंग आ जायगा । व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता है, यह एकान्त नियम नहीं है, इसलिये जिसके सख्यातवे और असंख्यातवे भागका व्यय हुआ है ऐसी अनन्त राशिका क्षय भी है, किन्तु दो-तीन आदि संख्येय राशिके व्ययमात्रसे क्षय नहीं भी है ऐसा स्वीकार किया है ।

शंका-- अर्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है,

१ अलेय्या अयोगकेवलिन । स सि १ ८

२ मु भविष्यन्तीति । ३ मु प्रसङ्ग । ४ मु रनन्तस्यापेक्षया तद्वित्र्यादि ।

५ एव भव्वुच्छेजो कोट्टागारम्स वा अवचयति ति । त नाणतत्तणओऽणागयकालवराण व ॥ ज

परिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि क्षयदर्शनादनैकान्तिक आनन्त्यहेतुरिति चेन्न, उभयो-
भिन्ननिबन्धनतः प्राप्तानन्तयोः साम्याभावतोऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनस्य वास्तवानन्त्या-
भावात् । तद्यथा—अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालः सक्षयोऽप्यनन्तः, छद्मस्थैरनुपलब्ध-
पर्यन्तत्वात् । केवलमनन्तस्तद्विषयत्वाद्वा । जीवराशिस्तु पुनः संख्येयराशिक्षयेऽपि
निर्मूलप्रलयाभावादनन्त इति । अथवा छद्मस्थानुपलब्ध्यपेक्षामन्तरेणानन्त्यादिति
विशेषणाद्वा नानैकान्तिक इति । किं च सव्ययस्य निरवशेषक्षयेऽभ्युपगम्यमाने
कालस्यापि निरवशेषक्षयो जायेत, सव्ययत्वं प्रत्यविशेषात् । अस्तु चेन्न, सकलपर्याय-
प्रक्षयतोऽशेषस्य वस्तुनः प्रक्षीणस्वलक्षणस्याभावापत्तेः । मुक्तिमनुपगच्छतां कथं
पुनर्भवत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमनयोग्यतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात् । न च योग्याः

इसलिये भव्य राशिके क्षय न होनेमे जो अनन्तरूप हेतु दिया है वह व्यभिचरित हो जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भिन्न भिन्न कारणोंसे अनन्तपनेको प्राप्त भव्यराशि और
अर्धपुद्गल-परिवर्तनरूप काल इन दोनों राशियोंमे समानताका अभाव है, और इसलिये
अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल वास्तवमे अनन्तरूप नहीं है । आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्धपुद्गल-परिवर्तनकाल क्षयसहित होते हुए भी अनन्त है, क्योंकि, छद्मस्थ जीवोंके
द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है । अथवा केवलज्ञान अनन्त है और उसका विषय
होनेसे वह अनन्त है । जीवराशि तो सख्यातवे भागरूप राशिके क्षय हो जाने पर भी निर्मूल
नाश नहीं होनेसे, अनन्त है । अथवा, पहले जो भव्य राशिके क्षय नहीं होनेमें अनन्तरूप हेतु
दे आये हैं उसमें 'छद्मस्थ जीवोंके द्वारा अनन्तकी उपलब्धि नहीं होती है, इस अपेक्षाके
बिना ही' यह विशेषण लगा देनेसे अनैकान्तिक दोष नहीं आता है । दूसरे व्ययसहित अनन्तके
सर्वथा क्षय मान लेनेपर कालका भी सर्वथा क्षय हो जायगा, क्योंकि, व्ययसहित होनेके प्रति
दोनों समान हैं ।

शंका— यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर कालकी समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे
संपूर्ण द्रव्योकी स्वलक्षणरूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायगा और इसलिये समस्त वस्तुओंके
अभावकी आपत्ति आ जायगी ।

शंका— मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा
बन जाती है । जितने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं वे सब नियमसे कलंकरहित होते हैं

चातीताणागयकाला तुल्ला जओ य ससिद्धो । एक्को अणतभागो भव्वाणमईयकालेण ॥ एस्सेण तत्तिओ च्चिय
जुत्तो ज तो वि सव्वभव्वाण । जुत्तो न समुच्छेओ होज्ज मई कट्ठमिण सिद्ध । भव्वाणमणतत्तणमणतभागो व
किह व मुक्को सि । कालादओ व मडिय मह वयणाओ व पडिवज्ज ॥ वि मा २३०६-२३०९

१ मु क्षयोऽपि ।

सर्वेऽपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति, सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात् । उक्तं च--

एय-णिगोद-सरीरे जीवा दव्व-प्पमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धेहि अणत-गुणा सव्वेण वितीद-कालेण^१ ॥ २१० ॥

तट्टिपरीताः अभव्याः । उक्तं च--

भविया सिद्धी जेसि जीवाण ते भवति भव-सिद्धा ।

तव्विवरीदाभव्वा ससारादो ण सिज्झति^२ ॥ २११ ॥

भव्यगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह--

भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवालि त्ति^३ ॥ १४२ ॥

सुगममेतत् ।

अभव्यानां गुणस्थाननिरूपणायाह--

अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्टि
त्ति^४ ॥ १४३ ॥

ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्णपाषाणसे व्यभिचार आ जायगा । कहा भी है--

द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और सपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणों जीव एक निगोदशरीरमे देखे गये हैं ॥ २१० ॥

भव्योसे विपरीत अर्थात् मुक्तिगमनकी योग्यता न रखनेवाले अभव्य जीव होते हैं । कहा भी है--

जिन जीवोंकी अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हो उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं । और इनसे विपरीत अभव्य होते हैं । ये संसारसे निकल-कर कभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २११ ॥

अब भव्यजीवोंके गुणस्थानोका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

भव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है--

अब अभव्यजीवोंके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४३ ॥

१ प्रा प १,८४ । गो जी १९६

२ प्रा प १,१५६ । गो जी ५५७ (भवसिद्धा) अनेन मिद्धेर्लव्वियोग्यताम्या भव्याना
द्विविध्यमुक्त । जी प्र टी ३ भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति । स सि १ ८

४ अभव्य आद्य एव स्थाने । न मि १ ८

एतदपि सुगमम् ।

सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदग-
सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी
मिच्छाइट्ठी चेदि ॥ १४४ ॥

आम्रवनान्तःस्थनिम्बानामाम्रवनव्यपदेशवन्मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वव्यपदेशो
न्याय्यः । सुगममन्यत् । उक्तं च—

छप्पंच-णव-विहाण अत्याण जिणवरोवइट्ठाण ।
आणाए अहिगमेण व सद्दहण होइ सम्मत्त^१ ॥ २१२ ॥
खीणे दंसण-मोहे ज सद्दहण सुणिम्मल होई ।
त खाइय-सम्मत्त णिच्च कम्म-क्खवण-हेऊ^२ ॥ २१३ ॥
वयणेहि वि हेऊहि वि इदिय-भय-आणएहि रूवेहि ।
वीहच्छ-दुगुछाहि ण सो ते-लोककेण चालेज्ज^३ ॥ २१४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अब सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे जीवोके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र
कहते हैं—

सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि,
उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं ॥ १४४ ॥

जिस प्रकार आम्रवनके भीतर रहनेवाले नीमके वृक्षोको आम्रवन यह संज्ञा प्राप्त हो
जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदिको सम्यक्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है । शेष कथन
सुगम है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थोका आज्ञा
अथवा अविगमसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ २१२ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह क्षायिक
सम्यक्त्व है । जो नित्य है और कर्मोंके क्षयणका कारण है ॥ २१३ ॥

श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोको भय उत्पन्न करनेवाले

१ प्रा प १, १५९ । गाथेय पूर्वमपि ९६ गाथाद्धेन आगता । तहियाण तु भावाण सव्भावे
उवएसण । भावेण सद्दहतम्म नम्मत्तं त विद्याहिय ॥ उक्तं २८ १५

२ प्रा प १, १६० । गो जी ६४६

३ प्रा प १, १६१ । गो जी ६४७.

दसणमोहुदयादो उप्पज्जइ ज पयत्थसद्दहण ।
 चल-मलिनमगाढ त वेदग-सम्मत्तमिह मुणसु^१ ॥ २१५ ॥
 दसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ ज पयत्थ-सद्दहण ।
 उवसम-सम्मत्तमिण पसण्ण-मल-पक तोय-सम^२ ॥ २१६ ॥

सम्यग्दर्शनस्य सामान्यस्य क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य च गुणनिरूपणार्थमाह—
 सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि—प्पहुडि जाव
 अजोगिकेवालि त्ति^३ ॥ १४५ ॥

किं तत्सम्यक्त्वगतसामान्यमिति चेत्, त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु यः साधारणोऽ-
 शस्तत्सामान्यम् । क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं सादृश्यमिति

आकारोसे या बीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थोंके देखनेसे उत्पन्न हुई ग्लानिसे, किंवहुना तीन
 लोकसे भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है ॥ २१४ ॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल, मलिन और अगाढ़रूप श्रद्धान
 होता है उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा हे शिष्य तू समझ ॥ २१५ ॥

दर्शनमोहनीयके उपशमसे कीचड़के नीचे बैठ जानेसे निर्मल जलके समान पदार्थोंका,
 जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्यग्दर्शन है ॥ २१६ ॥

अब सामान्य सम्यग्दर्शन और क्षायिकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके
 लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्दृष्टि और विशेषकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असयतसम्य-
 ग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४५ ॥

शंका— सम्यक्त्वमे रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान— तीनों ही सम्यग्दर्शनोमे जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्दसे यहां
 पर विवक्षित है ।

शंका— क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनोके परस्पर भिन्न भिन्न

१ प्रा. प १, १६६ पाठभेद । गो जी ६४९ नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चल स्मृत । लसत्कल्लो-
 लमालामु जलमेकमवस्थित ॥ स्वकारितेऽहंच्चैत्यादी देवोऽय मेऽन्यकारिते । अन्यस्यायमिति भ्राम्यन्
 मोहाच्छादोऽपि चेष्टते ॥ तदप्यलव्वमाहात्म्यं यकात् सम्यक्त्वकर्मण । मलिन मलसगेन शुद्ध स्वर्णमिवो-
 द्भवेत् ॥ स्थान एव स्थित कप्रमगाढमिति कीर्त्यते । वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ॥ समेऽप्यनन्त-
 शक्तित्वे सर्वेषामहंतामय । देवोऽस्मै प्रभुरेपोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥ गो जी २५ जी प्र टी उद्धृता-

२ गो जी ६५०.

३ सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे अनयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगिकेवल्यन्तानि सन्ति ।
 स सि १. ८

चेन्न, तत्र यथार्थश्रद्धानं प्रति साम्योपलम्भात् । क्षयक्षयोपशमोपशमविशिष्टानां यथार्थ-
श्रद्धानानां कथं समानतेति चेद्भवतु विशेषणानां भेदो न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य ।
सुगममन्यत् ।

वेदकसम्यग्दर्शनगुणसंख्याप्रतिपादनार्थमाह—

वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि—प्पहुडि जाव अप्पमत्त—
संजदा त्ति ॥ १४६ ॥

उपरितनगुणेषु किमिति वेदकसम्यक्त्वं नास्तीति चेन्न, अगाढसमलश्रद्धानेन
सह क्षपकोपशमकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः । वेदकसम्यक्त्वादौपशमिकसम्यक्त्वस्य कथ-
माधिक्यतेति चेन्न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्यादेस्तत्रासत्त्वतस्तदाधिक्योपलम्भात् ।

होने पर सदृशता क्या वस्तु हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उन तीनों सम्यग्दर्शनोमे यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता
पाई जाती है ।

शंका— क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानोमे समानता
कैसे हो सकती है ?

समाधान— विशेषणोमे भेद भले ही रहा आवे, परन्तु इससे यथार्थ श्रद्धारूप
विशेष्यमे भेद नहीं पड़ता है ।

शेष सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब वेदकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—
वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक
होते हैं ॥ १४६ ॥

शंका— ऊपरके आठवे आदि गुणस्थानोमे वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं होता, क्योंकि, अगाढ़ आदि मलसहित श्रद्धानके साथ क्षपक
और उपशम श्रेणीका चढ़ना नहीं बनता है ।

शंका— वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी अधिकता अर्थात् विशेषता
कैसे संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उदयसे उत्पन्न हुई शिथिलता आदि
औपशमिक सम्यग्दर्शनमे नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिकसम्यग्दर्शनमे
विशेषता सिद्ध हो जाती है ।

कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते । दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम् । कथं दर्शनमोहोदयवतां सम्यग्दर्शनस्य सम्भव इति चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये सत्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशोत्पत्त्य-^१ विरोधात् । देशघातिनो दर्शनमोहनीयस्य कथं सम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनसाहचर्यात्तस्य तद्व्यपदेशाविरोधात् ।

औपशमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

उवसमसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि—प्पहुडि जाव उवसंत—
कसाय—वीयराय—छदुमत्था त्ति^१ ॥ १४७ ॥

सुगममेतत् ।

सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेय सासणसम्माइट्ठि—ट्ठाणे ॥ १४८ ॥

शंका— क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन यह सज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

समाधान— दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदक कहते हैं ।

उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं ।

शंका— जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिके उदय रहने पर भी जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके एकदेश की उत्पत्ति होनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिको सम्यग्दर्शन यह सज्ञा कैसे दी गई ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके साथ सहचर संबन्ध होनेके कारण उसको सम्यग्दर्शन इस संज्ञाके देनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

अब औपशमिक सम्यग्दर्शनके गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्य गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४७ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब सासादनसम्यक्त्व आदि सवन्धो गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेके लिये तीन सूत्र कहते हैं—

सासादनसम्यग्दृष्टि जीव एक सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे ही होते हैं ॥ १४८ ॥

१ मु देशे सत्य ।

२ औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि उपशान्तकषायान्तानि । स सि १. ८.

सम्मामिच्छाइट्टी एकम्मि चेय सम्मामिच्छाइट्टिट्टाणे ॥ १४९ ॥
मिच्छाइट्टी एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्टि'
त्ति ॥ १५० ॥

सुगमत्वात्त्रिष्वप्येतेषु सूत्रेषु न वक्तव्यमस्ति । वृत्तं च—

ण य मिच्छत्त पत्तो सम्मत्तादो य जो दु परिवदिदो ।
सो सासणो त्ति णेयो सादिय मध पारिणामिओ भावो ॥ २१७ ॥
सद्दहणासद्दहण जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु ।
विरदाविरदेण समो सम्माम्मिच्छो त्ति णादब्बो ॥ २१८ ॥
ण वि जायइ ण वि मरइ ण वि सुद्धो ण वि य कम्म-उम्मुक्को ।
चउगइमज्झत्थे वुण रागाइ-समण्णियो जीवो ॥ २१९ ॥
तिण्णि जणा एक्केक्क दोदो णेच्छति ते तिवग्गा य ।
एक्को तिण्णि ण इच्छइ सत्त वि पावति मिच्छत्त ॥ २२० ॥

सम्यग्दर्शन-देशप्रतिपादनार्थमाह—

णेइया अत्थि मिच्छाइट्टी सासण-सम्माइट्टी सम्मामिच्छा-
इट्टी असंजदसम्माइट्टि त्ति ॥ १५१ ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ही होते हैं ॥ १४९ ॥

मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टितक होते हैं ॥ १५० ॥

इन तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम है, अतएव इनके विषयमे अधिक कुछ भी नहीं कहना है । कहा भी है—

जो सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त हुआ है, उसे सासादन सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए । यह गुणस्थान सादि और पारिणामिक भाववाला है ॥ २१७ ॥

जिस जीवके जीवादिक तत्त्वोमे श्रद्धान और अश्रद्धान रूप भाव है, उसे विरता-विरतके समान सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए ॥ २१८ ॥

वह न जन्म लेता है, न मरता है, न शुद्ध होता है और न कर्मसे उन्मुक्त होता है । किन्तु वह रागादिसे युक्त होकर चारो गतियोमे पाया जाता है ॥ २१९ ॥

ऐसे तीन जन जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंमेसे किसी एक एक को (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करते, दूसरे ऐसे तीन जन जो इन तीनोंमेसे दो दो को (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करते तथा कोई ऐसा भी जीव हो जो तीनोंको (मोक्षमार्ग) स्वीकार नहीं करता ये सातों जीव मिथ्यात्वी हैं ॥ २२० ॥

अब सम्यग्दर्शनका मार्गणाओमे निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत

१ सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने । स सि १ ८

२ अ प्रती 'वृत्तच' इत्यत आरम्य गाथाचतुष्कमिद नास्ति । मु प्रतावपि नास्ति ।

अथ स्याद्गतिनिरूपणायामस्यां गतौ इयन्ति गुणस्थानानि सन्ति, इयन्ति न सन्तीति निरूपितत्वात् वक्तव्यमिदं सूत्रम्, सम्यक्त्वनिरूपणायां गुणस्थाननिरूपणावसराभावाच्चेति न, विस्मृतपूर्वोक्तार्थस्य प्रतिपाद्यस्य तमर्थं संस्मार्थं तत्र तत्र गतौ सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनप्रवणत्वात् । सुगममन्यत् ।

एवं जाव सत्तसु पुढवीसु ॥ १५२ ॥

कथं सामान्यवद्विशेषः स्यादिति चेन्न, विशेषव्यतिरिक्तसामान्यस्यासत्त्वात् । नाव्यतिरेकोऽपि द्वयोरभावासञ्जनात्^१ । नोभयपक्षोऽपि पक्षद्वयोक्तदोषासञ्जनात्^२ । नानुभयपक्षोऽपि । निःस्वभावप्रसङ्गात् । न च सामान्यविशेषयोरभाव एव प्राप्त-जात्यन्तरत्वेनोपलम्भात् । ततः सूक्तमेतदिति स्थितम् ।

सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५१ ॥

शंका— गतिमार्गणाका निरूपण करते समय ' इस गतिमे इतने गुणस्थान होते हैं और इतने नहीं होते हैं ' इस वातका निरूपण कर ही आये हैं, इसलिये इस सूत्रके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं है । तथा सम्यग्दर्शनमार्गणाका निरूपण करते समय गुणस्थानोंके निरूपणका अवसर नहीं है, इसलिये भी इस सूत्रके कथनकी आवश्यकता नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो शिष्य पूर्वोक्त अर्थको भूल गया है उसके लिये, उस अर्थका पुनः स्मरण कराके उन उन गतियोंमे सम्यग्दर्शनके भेदोंके प्रतिपादन करनेमे यह सूत्र समर्थ है, इसलिये इस सूत्रका अवतार हुआ है । शेष कथन सुगम है ॥

अब सातो पृथिवियोंमे सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसी प्रकार सातो पृथिवियोंमे प्रारम्भके चार गुणस्थान होते हैं ॥ १५२ ॥

शंका— सामान्यके समान विशेष कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं पाया जाता है, इसलिये सामान्य कथनसे विशेषका भी बोध हो जाता है । इससे सामान्य और विशेषमे सर्वथा अभेद भी नहीं है, क्योंकि, दोनोंमे सर्वथा अभेद मान लेने पर दोनोंका अभाव हो जायगा । इसी प्रकार इन दोनोंमे सर्वथा उभयपक्ष अर्थात् सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर दोनों पक्षमे दिये गये दोष प्राप्त हो जायेंगे । सामान्य और विशेष सर्वथा अनुभयरूप भी नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर वस्तुको निःस्वभावताका प्रसंग आ जायगा । तथा सामान्य और विशेषका अभाव भी नहीं है, क्योंकि, जात्यन्तर अवस्थाको प्राप्त होने रूपसे उन दोनोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये पूर्वमे जो कथन किया है वह ठीक है, यह बात निश्चित हो जाती है ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्टी वेदग-
सम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी चेदि ॥ १५३ ॥

सुगममेतत् ।

एवं पढमाए पुढवीए णेरइआ ॥ १५४ ॥

एतदपि सुबोध्यम् ।

विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसम्माइट्टि-
ट्टाणे खइयसम्माइट्टी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १५५ ॥

सप्तप्रकृतीषु क्षीणासु किमिति तत्र नोत्पद्यन्त इति चेत्स्वाभाव्यात् । तत्रस्थाः
सन्तः किमिति सप्तप्रकृतीर्न क्षपयन्तीति चेन्न, तत्र जिनानामभावात् ।

अब सम्यग्दर्शनका मार्गणाओमे प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और
उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५३ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब प्रथम पृथिवीमे सम्यग्दर्शन बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमे नारकी जीव होते हैं ॥ १५४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध है ।

अब शेष पृथिवियोंमे सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवी पृथिवीतक नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें
क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोसे युक्त होते हैं ॥ १५५ ॥

शंका— सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंके क्षय हो जानेपर क्षायिकसम्यग्दृष्टि
जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमे क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान— ऐसा स्वभाव ही है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें
नहीं उत्पन्न होते हैं ।

शंका— द्वितीयादि पृथिवियोंमे रहनेवाले नारकी सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात
प्रकृतियोंका क्षय क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहापर जिनेन्द्रदेवका अभाव है ।

तिर्यगादेशप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छा-
इट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति ॥ १५६ ॥

संन्यस्तशरीरत्वात्त्यक्ताहाराणां तिरश्चां किमिति संयमो न भवेदिति चेन्न,
अन्तरङ्गायाः सकलनिवृत्तेरभावात् । किमिति तदभावश्चेज्जातिविशेषात् ।

एवं जाव सव्व-दीव-समुद्देसु ॥ १५७ ॥

स्वयम्प्रभादारान्मानुषोत्तरात्परतो भोगभूमिसमानत्वान्न तत्र देशव्रतिनः
सन्ति तत एतत्सूत्रं न घटत इति न, वैरसम्बन्धेन देवैर्दानवैर्वोत्क्षिप्य क्षिप्तानां
देशव्रतीनां सर्वत्र सत्त्वाविरोधात् ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठि
वेदग्-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १५८ ॥

अब तिर्यंच गतिमे विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और
संयतासंयत होते हैं ॥ १५६ ॥

शंका— शरीरसे सन्यास ग्रहण कर लेनेके कारण जिन्होंने आहारका त्याग कर
दिया है ऐसे तिर्यंचोके संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उनके अन्तरंग सकल-निवृत्तिका अभाव है ।

शंका— उनके अन्तरंग सकल-निवृत्तिका अभाव क्यों है ?

समाधान— जिस जातिमे वे उत्पन्न हुए हैं उसमे संयम नहीं होता यह नियम है,
इसलिये उनके संयम नहीं पाया जाता है ।

इसी प्रकार संपूर्ण द्वीप-समुद्रवर्ती तिर्यंचोमे समझना चाहिये ॥ १५७ ॥

शंका— स्वयंभूरमण द्वीपवर्ती स्वयंप्रभ पर्वतके इस ओर और मानुषोत्तर पर्वतके
उस ओर (असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमे) भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहांपर देशव्रती नहीं
पाये जाते हैं, इसलिये यह सूत्र घटित नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वैरके सबन्धसे देवो अथवा दानवोंके द्वारा उठाकर डाले
गये देशव्रती तिर्यंचोका सब जगह सद्भाव होनेसे कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये वहांपर
तिर्यंचोके पाचो गुणस्थान बन जाते हैं ।

अब तिर्यंचोमे सम्यग्दर्शनके भेदोका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम-
सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५८ ॥

१ क्षिप्ताना सर्वत्र ।

सुगमम् ।

तिरिक्खा संजदासंजद-ट्टाणे खइयसम्माइट्टी णत्थि अवसेसा
अत्थि ॥ १५९ ॥

तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः किमिति न सन्तीति चेन्न, क्षायिक-
सम्यग्दृष्टीनां भोगभूमिमन्तरेणोत्पत्तेरभावात् । न च भोगभूमावुत्पन्नानामणुव्रतोपादानं
सम्भवति तत्र तद्विरोधात् । सुगममन्यत् ।

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ १६० ॥

एतदपि सुबोध्यम् ।

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्टि-संजदासंजद-
ट्टाणे खइयसम्माइट्टी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १६१ ॥

तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च ।
मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

यह सूत्र सुगम है ।

तिर्यंच संयतासंयत गुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेष दो सम्य-
ग्दर्शनोसे युक्त होते हैं ॥ १५९ ॥

शंका— तिर्यंचोमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यो नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योकि, तिर्यंचोमे यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो
वे भोगभूमिमे ही उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं । परतु भोगभूमिमे उत्पन्न हुए जीवोके
अणुव्रतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योकि, वहांपर अणुव्रतके होनेमे आगमसे विरोध आता
है । शेष कथन सुगम है ।

इसी प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पचेन्द्रिय-तिर्यंच-पर्याप्ति होते हैं ॥ १६० ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध है ।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनियोमे असंयतसम्यग्दृष्टि और सयतासंयत गुणस्थानमे
क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेष दो सम्यग्दर्शनोसे युक्त होते हैं ॥ १६१ ॥

क्योकि, उनमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं और जो वहा
उत्पन्न होते हैं उनके दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं होता है, अतः उनमे क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं
पाया जाता है ।

मणुसा^१ अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी
असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा त्ति ॥ १६२ ॥

सुगममेतत् ।

एवमड्ढाइज्ज—दीव—समुद्देसु ॥ १६३ ॥

वैरसम्बन्धेन क्षिप्तानां संयतानां संयतासंयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु संभवो
भवत्विति चेन्न मानुषोत्तरात्परतो देव^२प्रयोगतोऽपि मानुषाणां^३ गमनाभावात् ।
न हि स्वतोऽसमर्थमन्यतः समर्थ^४ भवति, अतिप्रसङ्गात् । अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन
किमु द्वीपो विशेष्यते^५ उत समुद्र उत द्वावपीति ? नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषो-
त्तरात्परतोऽपि मनुष्याणामस्तित्वप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, द्वीपत्रये मनुष्याणां सत्त्व-
प्रसङ्गात् । नैतदपि^६, सूत्रविरोधात् । नादिविकल्पोऽपि, समुद्राणां संख्यानियमाभावतः
सर्वसमुद्रेषु तत्सत्त्वप्रसङ्गादिति ।

अब मनुष्योमे विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयता-
सयत और सयत होते हैं ॥ १६२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

इसीप्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्रोमे जानना चाहिये ॥ १६३ ॥

शंका— वैरके संबन्धसे डाले गये सयत और मयतासयत आदि मनुष्योका संपूर्ण द्वीप
और समुद्रोमे सद्भाव रहा आवे, ऐसा मान लेनेमे क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवोकी प्रेरणासे भी
मनुष्योका गमन नहीं हो सकता है । ऐसा न्याय भी है कि जो स्वतः असमर्थ होता है वह
दूसरोके संबन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता है । यदि ऐसा न होवे तो अतिप्रसंग दोष आ
जायगा । अतः मानुषोत्तरके उस ओर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं ।

शंका— अर्धतृतीय शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका ? इनमेसे
अन्तके दो विकल्प तो बराबर नहीं हैं, क्योंकि, वैसा मान लेने पर मानुषोत्तर पर्वतके उस
तरफ भी मनुष्योके अस्तित्वका प्रसंग आ जायगा । यदि यह कहा जावे कि अच्छी बात है,
मानुषोत्तरके परे भी मनुष्य पाये जावे, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस प्रकार तो
तीन द्वीपोमे मनुष्योके सद्भावका प्रसंग आता है । और वैसा है नहीं, क्योंकि, सूत्रसे विरोध

अत्र प्रतिविधीयते । नान्त्योपान्त्यविकल्पोक्तदोषाः समाढौकन्ते, तयोरनभ्यु-
पगमात् । न प्रथमविकल्पोक्तदोषोऽपि, द्वीपेष्वर्धतृतीयसंख्येषु मनुष्याणामस्तित्व-
नियमे सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावसिद्धिबन्मानुषोत्तरत्वं प्रत्यविशेषतः शेषसमुद्रेषु
तदभावसिद्धेः । नाशेषसमुद्राणां मानुषोत्तरत्वमसिद्धमारात्तनद्वीपभागस्याप्यन्यथा
मानुषोत्तरत्वानुपपत्तेः । ततः सामर्थ्याद् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे अत्थि
खइयसम्माइट्ठी^१ वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १६४ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु ॥ १६५ ॥

एतदपि सुगमम् ।

आता है । इसी प्रकार पहला विकल्प भी नहीं बन सकता है, क्योंकि, इस प्रकार द्वीपोकी संख्याका नियम होने पर भी समुद्रोकी संख्याका कोई नियम नहीं बनता है, इसलिये समस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सङ्ख्यावका प्रसंग प्राप्त होता है ?

सनाधान— दूसरे और तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, परमागममें वैसा माना ही नहीं गया है । इसी प्रकार प्रथम विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, ढाई द्वीपमें मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जानेपर शेषके द्वीपोंमें जिस प्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है उसी प्रकार शेष समुद्रोंमें भी मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि, ढाई द्वीपोंको छोड़कर शेष द्वीपोंकी तरह दो समुद्रोंके अतिरिक्त शेष समुद्र भी मानुषोत्तरसे परे हैं, अतः शेष द्वीपोंकी तरह शेष समुद्रोंके भी मानुषोत्तरसे परे होनेमें कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार शेष द्वीपोंके लिये जो नियम लागू है वही शेष समुद्रोंके लिये भी हो जाता है । इसलिये शेष समुद्रोंमें मनुष्योंका अभाव है यह बात निश्चित हो जाती है । शेषके संपूर्ण समुद्रोंका मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना असिद्ध भी नहीं है, अन्यथा समोपवर्ती द्वीपभागके भी मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना सिद्ध नहीं होगा । इसलिये सामर्थ्यसे दो समुद्रोंमें मनुष्य पाये जाते हैं, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है ।

अब मनुष्योंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और सयत गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि
वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर विशेष कहने योग्य नहीं है ।

इसी प्रकार मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यनियोमें भी जानना चाहिये ॥ १६५ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी
असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥ १६६ ॥

एवं जाव उवरिम—गेवेज—विमाण—वासिय—देवा त्ति ॥ १६७ ॥

देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदय-
सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठि त्ति ॥ १६८ ॥

सुगमत्वात्सूत्रत्रितये न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-
कप्पवासिय-देवीओ च असंजदसम्माइट्ठि-ट्टाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि
अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि ॥ १६९ ॥

किमिति क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणा-
भावात्क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिनां भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु सर्वदेवीषु
चोत्पत्तेरभावाच्च । शेषसम्यक्त्वद्वयस्य तत्र कथं सम्भव इति चेन्न, तत्रोत्पन्नजीवानां
पश्चात्तत्पर्यायपरिणतेः सत्त्वात् ।

अब देवोमे विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि
होते हैं ॥ १६६ ॥

इसी प्रकार उपरिम उपरिम ग्रैवेयक तकके देव जानना चाहिये ॥ १६७ ॥

देव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम-
सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६८ ॥

पूर्वोक्त तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम होनेसे इनके विषयमे अधिक कुछ भी नहीं कहना है ।

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उनकी देवियां और सौधर्म तथा
ईशानकल्पवासी देविया असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं हैं । शेषके दो
सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं और होती है ॥ १६९ ॥

शंका— क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देवो और देवियोमे बयो नहीं होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एक तो वहापर दर्शनमोहनीयका क्षपण नहीं होता है ।
दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमे दर्शनमोहनीयका क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि
अधम देवोमे और सभी देवियोमे उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— शेषके दो सम्यग्दर्शनोका उनमे सद्भाव कैसे सभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहापर उत्पन्न हुए जीवोके अनन्तर सम्यग्दर्शनरूप
पर्याय हो जाती है, इसलिये शेषके दो सम्यग्दर्शनोका वहापर सद्भाव पाया जाता है ।

सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्ज-विमाण-
वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदग-
सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १७० ॥

त्रिविधेन सम्यक्त्वेन सह तत्रोत्पत्तेर्दर्शनात् । तत्रोत्पद्य द्विविधसम्यग्दर्शनो-
पादानात्तत्र तेषां सत्त्वं सुघटमिति ।

शेषदेवानां सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनार्थमाह—

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजिद-सवट्ठ-
सिद्धि-विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइय-
सम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १७१ ॥

कथं तत्रोपशमसम्यक्त्वस्य सत्त्वमिति चेत्कथं च तत्र तस्यासत्त्वम् ?
तत्रोत्पन्नेभ्यः क्षायिकक्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनेभ्यस्तदनुत्पत्तेः । नापि मिथ्यादृष्टय
उपात्तौपशमिकसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तत्रोत्पद्यन्ते, तेषां तेन सह मरणाभावात् । न,

सौधर्म और ऐशान कल्पसे लेकर उपरिम उपरिम ग्रंथेयक तकके देव असंयत-
सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १७०

उक्त देवोमे तीनो ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोके साथ जीवोकी उत्पत्ति देखी जाती है
अथवा, वहापर उत्पन्न होनेके पश्चात् वेदक और औपशमिक इन दो सम्यग्दर्शनोका ग्रहण होता
है, इसलिये उक्त देवोमे तीनो सम्यग्दर्शनोका सद्भाव बन जाता है ।

अब शेष देवोमे सम्यग्दर्शनके भेद बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

नव अनुदिशोमे और विजय, वंजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांच
अनुत्तरोमे रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि
और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १७१ ॥

शंका— यहांपर उपशम सम्यग्दर्शनका सद्भाव कैसे पाया जाता है ?

प्रतिशंका— यहांपर उसका सद्भाव कैसे नहीं पाया जा सकता है ?

शंका— वहांपर जो उत्पन्न होते हैं उनके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन
पाया जाता है, इसलिये उनके उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । और
मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके वहापर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, ऐसे
उपशमसम्यग्दृष्टियोका उपशमसम्यक्त्वके साथ मरण नहीं होता है ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, उपशम श्रेणीपर चढ़नेवाले और चढ़कर उतरनेवाले
जीवोकी अनुदिश और अनुत्तरोमे उत्पत्ति होती है, इसलिये वहांपर उपशम सम्यक्त्वके सद्भाव
रहनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

१ उपशमश्रेण्यामारूढानामारूढ्यावतीर्णानां च तत्रोत्पत्तितस्तत्र तत्सत्त्वाविरोधात् । उपशमश्रेण्यारूढा उपशमसम्यग्दर्शनोपलक्षित-
त्वाच्छेषौपशमिकसम्यग्दर्शय इवेति चेन्न, पश्चात्कृतमिथ्यात्वसम्यक्त्वाभ्यामनुप-
शमितोपशमितचारित्रमोहाभ्यां च तयोर्वैधर्म्यात् ।

सम्यग्दर्शनमुखेन जीवपदार्थमभिधाय समनस्कामनस्कभेदेन जीवपदार्थप्रति-
प्रतिपादनार्थमाह--

सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ॥ १७२ ॥

सुगममेतत्सूत्रम्^१ । उक्तं च--

मीमंसदि जो पुव्व कज्जमकज्जं च तच्चमिदर च ।

सिक्खदि णामेणेदि य सो समणो असमणो य विवरीदो ॥ २२१ ॥

संज्ञिनां गुणस्थानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह--

सण्णी मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-

छदुमत्था त्ति^३ ॥ १७३ ॥

शंका-- उपशम श्रेणीपर आरूढ हुए उपशम सम्यग्दर्शित जीव नहीं मरते हैं, क्योंकि,
वे उपशम सम्यग्दर्शनसे युक्त होते हैं । जिस प्रकार अन्य औपशमिक सम्यग्दर्शितोका मरण
नहीं होता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, पश्चात्कृत मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी अपेक्षा तथा
अनुपशमित और उपशमित चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा साधारण उपशम सम्यग्दर्शितो और
उपशम श्रेणीपर चढ़े हुए सम्यग्दर्शितोमे वैधर्म्य है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके द्वारा जीव पदार्थका कथन करके अब समनस्क और अमनस्क
इन दो भेदरूप संज्ञीमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

संज्ञीमार्गणाके अनुवादसे संज्ञी और असंज्ञी जीव होते हैं ॥ १७२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

जो कार्य करनेसे पूर्व कार्य और अकार्यका, तथा तत्त्व और अतत्त्वका विचार करता
है, दूसरोके द्वारा दी गई शिक्षाओको सीखता है और नाम लेनेपर आ जाता है वह समनस्क है
और जो इससे विपरीत है वह अमनस्क है ॥ २२१ ॥

अब संज्ञी जीवोके गुणस्थानोमे प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

संज्ञी जीव मिथ्यादर्शित गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक
होते हैं ॥ १७३ ॥

१ मु श्रेण्यारूढा । २ अ प्रती 'उक्तं' इत्यत आरम्भ ग्रायेय नास्ति । मु प्रतावपि ।

३ मज्झिमासुत्तसिद्धिं पृ ३३३ गुणस्थानानि क्षीणकषायान्तानि । स सि. १ ८

समनस्कत्वात्सयोगकेवलिनोऽपि^१ संज्ञिन इति चेन्न, तेषां क्षीणावरणानां मनोऽवष्टम्भबलेन बाह्यार्थग्रहणाभावतस्तदसत्त्वात् । तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसंज्ञिन इति चेन्न, साक्षात्कृताशेषपदार्थानामसंज्ञित्वविरोधात् । असंज्ञिनः केवलिनो मनोऽनपेक्ष्य बाह्यार्थग्रहणाद्विकलेन्द्रियवदिति चेद्भूवत्येवं यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्या-संज्ञित्वमुच्येत । किं पुनरसंज्ञित्वस्य निवन्धनमिति^२ चेत् ? मनसोऽभावाद् बुद्धच-तिशयाभावः ततो नानन्तरोक्तदोष इति । सुगममन्यत्^३ ।

असण्णी एइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया त्ति^४ ॥ १७४ ॥

एतदपि सूत्रं सुगमम्^५ ।

आहारमुखेन जीवप्रतिपादनार्थमाह—

आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा ॥ १७५ ॥

शंका— मनसहित होनेके कारण सयोगकेवली भी संज्ञी होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आवरण कर्मसे रहित उनके मनके अवलम्बनसे बाह्य अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते ।

शंका— तो केवली असंज्ञी रहे आवे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने समस्त पदार्थोंको साक्षात् कर लिया है उनके असंज्ञी होनेसे विरोध आता है ।

शंका— केवली असंज्ञी होते हैं, क्योंकि, वे मनकी अपेक्षाके बिना ही विकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करते हैं ?

समाधान— यदि मनकी अपेक्षा न करके ज्ञानकी उत्पत्तिमात्रका आश्रय करके असंज्ञीपना कहा जाता तो ऐसा होता । परंतु ऐसा नहीं है ।

शंका— तो असंज्ञित्वका क्या कारण है ?

समाधान— मनका अभाव होनेसे बुद्धिके अतिशयका अभाव असंज्ञित्वका कारण है । इसलिये केवली को पूर्वमे दिया गया दोष सम्भव नहीं है । अन्य कथन सुगम है ।

असंज्ञी जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त होते हैं ॥ १७४ ॥

यह सूत्र भी सुगम है ।

अब आहारमार्गणाके द्वारा जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारमार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीव होते हैं ॥ १७५ ॥

१ मु सयोगिकेवलिनोऽपि ।

२ मु माश्रित्यासंज्ञित्वस्य निवन्धनमिति ।

३ मु सुगममेतत् ।

४ असंज्ञिणु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । स सि १ ८

५ मु. सुगम सूत्रम् ।

एतदपि सुगमम् ।

१आहारिगुणप्रतिपादनार्थमाह--

आहारा एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति^२ ॥ १७६ ॥

अत्र कवललेपोष्ममनःकर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथा-
हारकालविरहाभ्यां सह विरोधात् ।

अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा
समुग्घाद-गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१७७॥

एते शरीरप्रायोग्यपुद्गलोपादानरहितत्वादानाहारिण उच्यन्ते ।

इति सत्त-सुत्त-विवरण समत्त ।



यह सूत्र भी सुगम है ।

अब आहारसार्गणामें गुणस्थानोके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

आहारक जीव एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १७६ ॥

यहांपर आहार शब्दसे कवलाहार, लेपाहार, अण्माहार, मानसिकाहार और कर्माहारको छोड़कर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ विरोध आता है ।

विग्रहगतिको प्राप्त जीवोके मिथ्याव, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि तथा समुद्धा-
तगत केवलियोंके सयोगिकेवली, इन चार गुणस्थानोमे रहनेवाले जीव और अयोगिकेवली
तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥ १७७ ॥

ये जीव शरीरके योग्य पुद्गलोका ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये अनाहारक होते हैं ।

इस प्रकार सत्प्ररूपणा-सूत्र-विवरण समाप्त हुआ ।



१ मु आहार ।

२ आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि मयोगकेवल्यन्तानि । स सि १ ८

३ अनाहारकेषु विग्रहगत्यापन्नेषु त्रीणि गुणस्थानानि, मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टिरसयत-
सम्यग्दृष्टिश्च । समुद्धातगत सयोगकेवली अयोगकेवली च । स सि १ ८

१ संत-परूवणा-सुत्ताणि

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
१	णमो अरिहताण णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूणं इदि ।	८	१३	सजदासजदा ।	१७४
२	एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव द्ढाणाणि णायव्वाणि भवति ।	९२	१४	पमत्तसंजदा ।	१७६
३	तं जहा ।	१३३	१५	अप्पमत्तसजदा ।	१७९
४	गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ।	१३३	१६	अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा ।	१८०
५	एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवति ।	१५४	१७	अणियट्ठिवादरसांपराइयपविट्ठसु- द्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा ।	१८४
६	तं जहा ।	१५६	१८	सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा ।	१८८
७	संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणु- गमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि ।	१५६	१९	उवसतकसायवीयरायछडुमत्था ।	१८९
८	सतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ।	१६०	२०	खीणकसायवीयरायछडुमत्था ।	१९०
९	ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ।	१६२	२१	सजोगकेवली ।	१९१
१०	सासणसम्माइट्ठी ।	१६४	२२	अजोगकेवली ।	१९३
११	सम्मामिच्छाइट्ठी ।	१६७	२३	सिद्धा चेदि ।	२०१
१२	असंजदसम्माइट्ठी ।	१७१	२४	आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्स- गदी देवगदी सिद्धिगदी चेदि ।	२०२
			२५	णेरइया चडुसुट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा- इट्ठि सासणसम्माइट्ठी सम्मा- मिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठित्ति ।	२०५
			२६	तिरिक्खा पंचसु द्ढाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्मा- इट्ठी सजदासंजदा त्ति ।	२०८
			२७	मणुस्सा चोद्दससु द्ढाणेसु अत्थि	

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
	मिच्छाइट्ठी, सासणसम्माइट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी, असंजद - सम्मा-इट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्वकरणपविट्ठ-सुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियद्विवादरसापराइयपविट्ठसुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुम-सांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंतकसायवीय-रायछडुमत्था, खीणकसायवीय-रायछडुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवलि त्ति ।	२११		दुविहा, सण्णी असण्णी । सण्णी दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । असण्णी दुविहा, पज्जत्ता अप-ज्जत्ता चेदि ।	२६०
२८ देवा चडुसु द्ढाणेसु अत्थि मिच्छा-इट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मा-मिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।	२२६		३६ एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपर्चिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिद्विवादेण ।	२६३	
२९ तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपर्चिंदिया त्ति ।	२२८		३७ पर्चिंदिया असण्णिपर्चिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।	२६५	
३० तिरिक्खा मिस्ता सण्णिमिच्छा-इट्ठिप्पहुडि जाव संजदासजदा त्ति ।	२२९		३८ तेण परमर्णिंदिया इदि ।	२६६	
३१ मणुस्ता मिस्ता मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजदासंजदा त्ति ।	२३२		३९ कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि ।	२६७	
३२ तेण परं सुद्धा मणुस्ता ।	२३२		४० पुढविकाइया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । आउकाइया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । तेउकाइया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । वाउकाइया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । चेदि ।	२६९	
३३ इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया पर्चिंदिया अण्णिंदिया चेदि ।	२३३		४१ वणप्फइकाइया दुविहा, पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा । पत्तेयसरीरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । साधारणसरीरा दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता		
३४ एइंदिया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।	२५१				
३५ बीइंदिया दुविहा, पज्जत्ता अप-ज्जत्ता । तीइंदिया दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । चउरिंदिया दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । पर्चिंदिया					

सूत्र सत्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सत्या	सूत्र	पृष्ठ
अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ।		२७०	५४ सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि- प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति		२९०
४२ तसकाइया दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।		२७४	५५ मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडिजाव खीण- कसायवीयरायछुमुत्था त्ति ।		२९१
४३ पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेष मिच्छाइट्ठिट्ठाणे ।		२७६	५६ कायजोगो सत्तविहो, ओरालिय- कायजोगो ओरालियमिस्सकाय- जोगो वेउव्वियकायजोगो वेउ- व्वियमिस्सकायजोगो आहारकाय- जोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्म- इयकायजोगो चेदि ।		२९१
४४ तसकाइया वीइदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।		२७७	५७ ओरालियकायजोगो ओरालिय- मिस्सकायजोगो तिरिक्खमणुत्ताणं		२९७
४५ वादरकाइया वादरेइदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति		२७८	५८ वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्स- कायजोगो देवणेरइयाण ।		२९८
४६ तेण परमकाइया चेदि ।		२७९	५९ आहारकायजोगो आहारमिस्सकाय- जोगो सजदानमिड्ढिपत्ताणं ।		२९९
४७ जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि ।		२८०	६० कम्मइयकायजोगो विग्गहगइसमा- वण्णाण केवलीणं वा समुघादगदाणं ।		३००
४८ अजोगी चेदि ।		२८२	६१ कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदिय- प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।		३०७
४९ मणजोगी चउव्विहो, सच्चमण- जोगो मोसमणजोगो सच्चमोस- मणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि ।		२८२	६२ वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्स- कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।		३०७
५० मणजोगो सच्चमणजोगो असच्च- मोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।		२८४	६३ आहारकायजोगो आहारमिस्सकाय- जोगो एक्कम्मि चेष पमत्तसंजद- ट्ठाणे		३०८
५१ मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुमुत्था त्ति ।		२८७	६४ कम्मइयकायजोगो एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।		३०९
५२ वाचिजोगो चउव्विहो, सच्चवचि- जोगो मोसवचिजोगो सच्चमोस- वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ।		२८८	६५ मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव		
५३ वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो वीइंदियप्पहुडि जाव सजोगि- केवलि त्ति ।		२८९			

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
	सजोगिकेवलि त्ति ।	३१०	८१	एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ।	३२४
६६	वचिजोगो कायजोगो वीइंदिय- प्पहुडि जाव असण्णिपंचदिया त्ति ।	३११	८२	विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।	३२५
६७	कायजोगो एइदियाणं ।	३११	८३	सासणसम्माइट्ठि - सम्मामिच्छा इट्ठि - असंजदसम्माइट्ठिट्ठाने णियमा पज्जत्ता ।	३२५
६८	मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ।	३१२	८४	तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासण- सम्माइट्ठि - असंजदसम्माइट्ठि- ट्ठाने सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।	३२७
६९	कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि ।	३१२	८५	सम्मामिच्छाइट्ठि - संजदासंजद- ट्ठाने णियमा पज्जत्ता ।	३२८
७०	छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ ।	३१३	८६	एव पंचदियतिरिक्खा पंचदियति- रिक्खपज्जत्ता ।	३२९
७१	सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।	३१४	८७	पंचदियतिरिक्खजोणिणीसु मिच्छाइट्ठि - सासणसम्माइट्ठि ट्ठाने सिया पज्जत्तियाओ, सिया अपज्जत्तियाओ ।	३३०
७२	पच पज्जत्तीओ, पंच अपज्जत्तीओ ।	३१५	८८	सम्मामिच्छाइट्ठि - असंजदसम्मा- इट्ठि-संजदासंजदट्ठाने णियमा पज्जत्तियाओ ।	३३०
७३	वीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचि- दिया त्ति ।	३१५	८९	मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासण- सम्माइट्ठि - असंजदसम्माइट्ठि- ट्ठाने सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।	३३१
७४	चत्तारि पज्जत्तीओ, चत्तारि अपज्जत्तीओ ।	३१६	९०	सम्मामिच्छाइट्ठि - संजदासंजद- संजदट्ठाने णियमा पज्जत्ता ।	३३१
७५	एइदियाणं ।	३१६	९१	एव मणुस्सपज्जत्ता ।	३३३
७६	ओरालियकायजोगो पज्जत्ताण, ओरालियमिस्सकायजोगो अप- ज्जत्ताण ।	३१७	९२	मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासण- सम्माइट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ति-	
७७	वेउच्चियकायजोगो पज्जत्ताण, वेउच्चियमिस्सकायजोगो अप- ज्जत्ताणं ।	३१९			
७८	आहारकायजोगो पज्जत्ताण आहार- मिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण ।	३१९			
७९	णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्मा- इट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।	३२१			
८०	सासणसम्माइट्ठि - सम्मामिच्छा- इट्ठिट्ठाने णियमा पज्जत्ता ।	३२२			

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
	याओ सिया अपज्जत्तियाओ ।	३३४	१०१	वेदानुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि ।	३४२
९३	सम्मामिच्छाइट्ठि-असजदसम्मा-इट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाने णियमा पज्जत्तियाओ ।	३३४	१०२	इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ।	३४४
९४	देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्मा-इट्ठिअसंजदसम्माइट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।	३३६	१०३	णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ।	३४५
९५	सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाने णियमा पज्जत्ता ।	३३७	१०४	तेण परमवगदवेदा चेदि ।	३४६
९६	भवणवासिय-वाणयेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्प-वासिय-देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।	३३७	१०५	णेरइया चट्ठसु ट्ठानेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ।	३४७
९७	सम्मामिच्छाइट्ठि - असजद-सम्माइट्ठिट्ठाने णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ।	३३८	१०६	तिरिक्खा सुद्धा णवुसगवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ।	३४७
९८	सोधम्मीसाणप्पहुडि जाव उवरिम-उवरिमगेवज्जं ति विमाणवासिय-देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्मा-इट्ठि - असंजदसम्माइट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।	३३९	१०७	तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपचिंदियप्पहुडि जाव संजदासजदा त्ति ।	३४८
९९	सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाने णियमा पज्जत्ता ।	३४१	१०८	मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ।	३४८
१००	अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयत-जयतावराजित - सव्वट्ठसिद्धि-विमाणवासिय-देवा असंजदसम्मा-इट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।	३४१	१०९	तेण परमवगदवेदा चेदि ।	३४९
			११०	देवा चट्ठसु ट्ठानेसु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ।	३४९
			१११	कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि ।	३५०
			११२	कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ।	३५३
			११३	लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुमसापराइयसुद्धिसंजदा त्ति ।	३५४
			११४	अकसाई चट्ठसु ट्ठानेसु अत्थि	

सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
	उवसतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसायवीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति । ३५४			सजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुम- सांपराइयसुद्धिसंजदा जहाक्खाद- विहारसुद्धिसंजदा सजदासंजदा असजदा चेदि । ३७०	
११५	णाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी विभगणाणी आभिणि- बोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि । ३५५		१२४	संजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति । ३७६	
११६	मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एइंदिय- प्पहुडि जाव सासणसम्माइट्ठि त्ति । ३६३		१२५	सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धिसजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति । ३७६	
११७	विभंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठोण वा सासणसम्माइट्ठोण । ३६४		१२६	परिहारसुद्धिसजदा दोसु ट्ठाणेषु पमत्तसंजदट्ठाणे अप्पमत्तसंजद- ट्ठाणे । ३७७	
११८	पज्जत्ताण अत्थि, अपज्जत्ताण णत्थि । ३६४		१२७	सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा एक्कम्हि चेव सुहुमसांपराइय- सुद्धि सजदट्ठाणे । ३७८	
११९	सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि । आभिणिबोहियणाणं मदिअण्णा- णेण मिस्सियं, सुदणाण सुदअण्णा- णेण मिस्सियं, ओहिणाण विभंग- णाणेण मिस्सियं, तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा । ३६५		१२८	जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा चदुसु ट्ठाणेषु उवसंतकसायवीयराय- छदुमत्था खीणकसायवीयराय- छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगि- केवलि त्ति । ३७९	
१२०	आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं असंजदसम्माइट्ठि- प्पहुडि जाव खीणकसायवीदराग- छदुमत्था त्ति । ३६६		१२९	संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदासंजदट्ठाणे । ३८०	
१२१	मणपज्जवणाणी पमत्तसजद- प्पहुडि जाव खीणकसायवीदराग- छदुमत्था त्ति । ३६८		१३०	असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति । ३८०	
१२२	केवलणाणी तिसु ट्ठाणेषु सजोग- केवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि । ३६९		१३१	दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवल- दंसणी चेदि । ३८०	
१२३	संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धि-		१३२	चक्खुदंसणी चर्जरियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति । ३८५	
			१३३	अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति । ३८५	

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र संख्या	सूत्र	पृष्ठ
१३४	ओघिदंसणी असंजदसम्माइट्ठि- प्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय- छदुमत्था त्ति ।	३८६	१४५	सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठीप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति	३९८
१३५	केवलदंसणी तिसु द्ढाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।	३८७	१४६	वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्मा- इट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्त- संजदा त्ति ।	३९९
१३६	लेस्साणुवादेण अत्थि किण्ह- लेस्सिया नीललेस्सिया काउ- लेस्सिया तेउलेस्सिया पम्म- लेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि ।	३८८	१४७	उवसमसम्माइट्ठी असंजद- सम्माइट्ठिप्पहुडि जाव उवसंत- कसायवीयरायछदुमत्था त्ति ।	४००
१३७	किण्हलेस्सिया नीललेस्सिया काउ- लेस्सिया एइदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।	३९२	१४८	सासणसम्माइट्ठि एक्कम्मि चेव सासणसम्माइट्ठि-द्ढाणे ।	४००
१३८	तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णि- मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्त- संजदा त्ति ।	३९३	१४९	सम्मामिच्छाइट्ठि एक्कम्मि चेव सम्मामिच्छाइट्ठि-द्ढाणे ।	४०१
१३९	सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छा- इट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।	३९३	१५०	मिच्छाइट्ठी एइंदियप्पहुडि जाव सण्णिमिच्छाइट्ठी त्ति ।	४०१
१४०	तेण परमलेस्सिया ।	३९४	१५१	णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासण- सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।	४०१
१४१	भविआणुवादेण अत्थि भव- सिद्धिया अभवसिद्धिया	३९४	१५२	एवं जाव सत्तसु पुढवीसु	४०२
१४२	भवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।	३९६	१५३	णेरइया असंजदसम्माइट्ठिद्ढाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्मा- इट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि ।	४०३
१४३	अभवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव सण्णि मिच्छाइट्ठी त्ति ।	३९६	१५४	एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ।	४०३
१४४	सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्मा- इट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदग- सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छा- इट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि ।	३९७	१५५	विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसम्माइट्ठिद्ढाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि ।	४०३
			१५६	तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छा- इट्ठी असंजदसम्माइट्ठि संजदा- संजदा त्ति ।	४०४

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
१५७ एवं जाव सव्वदीवसमुद्देसु ।		४०४	ति ।		४०८
१५८ तिरिक्खा असंजदसम्माइट्ठी- ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसम- सम्माइट्ठी ।		४०४	१६९ भवणवासियवाणवेतरजोइसिय- देवा देवीओ च, सोघम्मीसाण- कप्पवासियदेवीओ च असजद- सम्माइट्ठिट्ठाणे खइयसम्मा- इट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि, अव- सेसियाओ अत्थि ।		४०८
१५९ तिरिक्खा सजदासजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ।		४०५	१७० सोघम्मीसाणप्पहुडि जाव उव- रिमउवरिम - गेवज्जविमाणवा- सियदेवा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्मा- इट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ।		४०९
१६० एवं पंचदियतिरिक्खा पंचदिय- तिरिक्खपज्जत्ता ।		४०५	१७१ अणुदिसअणुत्तरविजयवइजयं- तजयंतावराजिदसव्वट्ठसिद्धि- विमाणवासियदेवा असंजदसम्मा- इट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्मा- इट्ठी ।		४०९
१६१ पंचदियतिरिक्खजोणिणीसु अस- जदसम्माइट्ठि-संजदासजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ।		४०५	१७२ सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ।		४१०
१६२ मणुस्सा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छा- इट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदा- संजदा संजदा त्ति ।		४०६	१७३ सण्णी मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुदुमत्था त्ति ।		४१०
१६३ एवमइडाइज्जदीवसमुद्देसु ।		४०६	१७४ असण्णी एइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचदिया त्ति ।		४११
१६४ मणुसा असजदसम्माइट्ठि सजदा- संजद-सजदट्ठाणे अत्थि खइय- सम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उव- समसम्माइट्ठी ।		४०७	१७५ आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा ।		४११
१६५ एवं मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु ।		४०७	१७६ आहारा एइंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।		४१२
१६६ देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासण- सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।		४०८	१७७ अणाहारा चइसु ट्ठाणेसु विग्गह- गइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदानं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।		४१२
१६७ एवं जाव उवरिमउवरिमगेवेज्ज- विमाणवासियदेवा त्ति ।		४०८			
१६८ देवा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठि वेदय- सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठि					

२ अवतरण-गाथा-सूची

क्रम	सख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा	क्रम	सख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा
अ					इ				
१२७	अट्टविहकम्मविजुदा	२०१	गो. जी.	६८	१८०	आभीयमासुरक्खा	३६०	गो. जी.	३०४
७६	अट्ठासी-अहियारेसु	११३			१६४	आहरदि अणेण मुणी	२९६	गो. जी.	२३९
२७	अणवज्जा कयकज्जा	४९			९८	आहरदि सरीराणं	१५३	गो. जी.	६६५
५१	अण्णाणतिमिरहरणं	६०			१६५	आहारयमुत्तत्थं	२९६	गो. जी.	२४०
१००	अणियोगो य णियोगो	१५५	आ. नि.	१२५	उ				
१९०	अणुलोभं वेदंतो	३७५	गो. जी.	४७४	५५	इम्मिसे वसप्पिणीए	६३	ति. प. १, ६८	(समान)
१८३	अत्थादो अत्थंतर	३६१	गो. जी.	३१५	१५१	इगाल जाल अच्ची	२७५	मूलाचा.	२११
१४८	अत्थि अणंता जीवा	२७३	गो. जी.	१९७				आ. चा. नि.	११८
				मूलाचार १२०३					
१०२	अत्थित्तं पुण संतं	१५९							
४६	अदिसयमादसमुत्थ	५९	प्रवच.	१. १३					
१७८	अप्पपरोभयवाघण	३५३	गो. जी.	२८९	३	उच्चारियमत्थपदं	११	जयघ. अ.	३०
८६	अप्पप्पवृत्तिसंचिद	१४०			८	उप्पज्जति विर्यंति य	१४	स. त.	१, ११
१८२	अभिमुहणियमिय	३६१	गो. जी.	३०६	६०	उप्पण्णम्हि अणंते	६५	ति. प. १, ७४	(शब्दभेद)
१५	अवगयणिवारणट्ठ	३२			१९१	उवसते खीणे वा	३७५	गो. जी.	४७५
१८४	अवहीयदि त्ति ओही	३६१	गो. जी.	३७०	ऋ				
४२	अष्टसहस्रमहीपति	५९	ति. प.	१, ४७	५३	ऋषिगिरिरैन्द्राशयां	६३	जयघ. अ.	९
३६	अष्टादशसंख्यानां	५८	ति. प.	१, ४२	ए				
१२५	असहायणाणदसण	१९३	गो. जी.	६४	१४२	एइदियस्स फुसणं	२६१	गो. जी.	१६७
८५	अहमिदा जह देवा	१३८	गो. जी.	१६४	११९	एक्कम्हि कालसमए	१८७	गो. जी.	५६
आ					७२	एक्को चेव महप्पो	१०१	पञ्चा.	७७
७५	आक्षेपणीं तत्त्ववि	१०७			११७	एदम्हि गुणट्ठाणे	१८४	गो. जी.	५१
१९८	आदा णाणपमाणं	३८८	प्रवच.	१, २३	१४७	एयणिगोदसरीरे	२७२	गो. जी.	१९६
२०	आदिम्हि भद्वयणं	४१	ति. प.	१, २९				मूलाचार	१२०४
				समान					
१९	आदीवसाणमज्जे	४१							
२२	आदौ मध्येऽवसाने	४२	आ. प.						

क्रम सख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा	क्रम सख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा
२१०	एयणिगोदसरीरे	३९६	मूलाचार १२०४	६६	गयगवलसजलजळ	७४	
१९९	एयदवियम्मि जे	३८८	गो जी. ५८२	६१	गोत्तेण गोदमो	६६	
			स. त. १३३		च		
६५	एस करेमि य पणमं	७४	मूलाचा. १०५	१९५	चक्खूण जं पयास	३८४	गो. जी. ४८४
			(अर्धसमता)	१६९	चत्तारि वि छेत्ताइं	३२८	गो. जी. ६५३
							गो. क. ३३४
	ओ			२०७	चागी भद्दो चोक्खो	३९२	गो जी. ५१६
१६१	ओरालियमुत्तत्थ	२९३	गो. जी. २३१	७९	चारणवंसो तह पंच	११३	
१५०	ओसा य हिमो धूमर	७५	मूलाचा. २१०	३२	चोद्दसपुव्वमहोयहि	५१	
			आ. चा. नि.	२००	चंडो ण मुयदि वेरं	३९०	गो. जी. ५०९
			१०८	१८५	चित्तिर्यमचित्तिर्यं व	३६२	गो. जी. ४३८
	क				छ		
७०	कध चरे कधं चिट्ठे	१००	मूलाचा. १०१२	७३	छक्कावक्कमजुत्तो	१०१	पञ्चा. ७८
			शब्द ४, ७	३५	छद्द्वणवपयत्थे	५६	ति. प. १, ३४
१६६	कम्मेव च कम्मभवं	२९७	गो जी. २४१				(शब्दभेद)
१७३	कारिसत्तणिट्ठिवाग	३४४	गो जी. २७५	९६	छप्पंचणवविहाणं	१५३	गो जी. ५६१
१०३	कालो ट्ठिदि-अवधरणं	१६०		२१२	"	३९७	"
२०९	किण्हादिलेस्सरहिदा	३९२	गो जी. ५५६	१६७	छम्मासाउवसेसे	३०५	मूलाचार
१७७	किमिरायच्चक्कतणु	३५२	गो. जी. २८७				२१०५ (शब्द-भेद). वसु.
१८	किं कस्स केण कत्थ	३५	मूलाचा. ७०५				आ. ५३०
१३६	कुक्खिक्किमिसिप्पि	२४२		१३३	छसु हेट्ठिमासु पुढ	२१०	
१३७	कुंयुपिपीलिकम	२४५		१७०	छादेदि सयं दोसे	३४३	गो. जी. २७४
१२४	केवलणाणदिवायर	१९२	गो जी. ६३	१८८	छेत्तूण य परियायं	३७४	गो. जी. ४७१
	ख				ज		
५९	खीणे दंसणमोहे	६५	जयघ. अ. ८	१४६	जत्येक्कु मरइ	२७२	गो. जी. १९३
२१३	खीणे दंसणमोहे	३९७	जयघ. अ. ८	१४	जत्य बहुं जाणिज्जा	३१	अनु. द्वा. १, ६
	ग						आचारा. नि. ४
८४	गइक्कम्मविणिग्गत्ता	१३६		७१	जदं चरे चिट्ठे	१००	मूलाचा.
३८	गणरायमच्चतलवर	५८	ति स १, ४४				१०१३ दशवै.
							४, ८,

क्रम सख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा	क्रम सख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा
ल				४४	सकलभुवनैकनाथ	५९	ति. प. १, ४५ (प्राकृतरूप)
९४	लिप्पदि अप्पीकीर	१५१	गो. जी. ४८९	८२	सत्ता जंतू य माणी	१२०	गो. जी., जी. प्र. टी. ३६६
व				२१८	सद्दहणासद्दहणं	४०१	गो. जी. ६५५
११३	वत्तावत्तपमाए	१७९	गो. जी. ३३	१५६	सम्भावो सच्चमणो	२८३	गो. जी. २१९
२१४	वयणेहि वि हेऊहि	३९७	गो. जी. ६४७	१०८	सम्मत्तरयणपव्वय	१६७	गो. जी. २०
९२	वयसमिद्धकसायाणं	१४६	गो. जी. ४६४	११०	सम्माइट्ठी जीवो	१६७	गो. जी. २७
१५२	वाउवभामो उक्कलि	२७५	मूलाचा. २१२ आचा. नि. १६६ (अर्धसमता)	१३९	ससेदिमसम्मु	२४९	आचा. सू. ४९ (सूत्ररूप)
५६	वासस्स पढममासे	६४	ति. प. १, ६९ (शब्दभेद)	५७	सावणवहुलपडिवदे	६४	ति. प. १, ७०
११४	विकहा तथा कसाया	१७९	गो. जी. ३४	१४५	साहारणमाहारो	२७२	गो. जी. १९२
९९	विग्गहगइमावण्णा	१५४	गो. जी. ६६६	९७	सिक्खाकिरियुव	१५३	गो. जी. ६६१
२१	विघ्ना प्रणश्यन्ति	४२	ति. प. १, ३० (प्राकृतरूप)	९५	सिद्धत्तणस्स जोग्गा	१५१	गो. जी. ५५८
१८१	विवरीयमोहिणाणं	३६१	गो. जी. ३०५	१३	सिद्धत्थपुण्णकुंभो	२८	पञ्चा. टी.
१६२	विविहगुणइद्धिजुत्तं	२९३	गो. जी. २३२	१७४	सिलपुढविभेदधूली	३५२	गो. जी. २८४
१७९	विसजंतकूडपंजर	३६०	गो. जी. ३०३	३३	सीहगयवसहमिय	५२	
१२	विसवेयणरत्तक्खय	२४	गो. क. ५७.	१४३	सुत्तादो तं सम्मं	२६४	गो. जी. २९
१५४	विहतिहवउहि	२७६	गो. जी. १९८	९०	सुहडुक्खसुवहु	१४३	गो. जी. २८२
१६३	वेउव्वियमुत्तत्थं	२९४	गो. जी. २३४	१०१	सई मुद्दा पडिहो	१५५	
८९	वेदस्सुदीरणाए	१४२		६२	सेलघणभग्गघडअहि	६९	बु. क. सू. ३३४ आ. नि. १३९ (शब्दभेद)
१७६	वेलुवमूलोरव्वय	३५२	गो. जी. २८६	१७५	सेलट्टिकट्टवेत्तं	३५२	गो. जी. २८५
श				१२६	सेलेसि सपत्तो	२००	गो. जी. ६५
२	शब्दात्पदप्रसिद्धिः	१०	प्र. शाकटा. सिद्ध हैम.	३१	सगहणिगगहकुसलो	५०	मूलाचा १५८ (शब्दभेद)
ष				१८७	सगहियसयलसंजम	३७४	गो. जी. ४७०
४३	षट्खण्डभरतनाथं	५९	ति. प. १, ४५ (प्राकृतरूप)	१८६	सपुण्णं तु समगं	३६२	गो. जी. ४६०
स				ह			
१२२	सकयाजलं हलं वा	१९०	गो. जी. ६१	३७	हयहत्थिरहाणहिवा	५८	ति. प. १, ४३ (शब्दभेद)
१२०	होति अणियट्ठिणो ते	१८७	गो. जी. ५७				

३ ऐतिहासिक नाम सूची

	पृष्ठ		पृष्ठ		पृष्ठ
अ		कौत्कल	१०८	नन्दिमित्र	६७
अपराजित	६७	कौशिक	१०८	नमि	१०४
अभय (कुमार)	१०५	कंसाचार्य	६७	नागाचार्य	६७
अयस्थूण	१०९	क्षत्रिय	६७	नारायण	१०९
अश्वलायन	१०८	ग		प	
अष्टपुत्र	१०४	गार्ग्य	१०९	पाराशर	१०९
आ		गोवर्धन	६७	पालम्ब	१०४
आनन्द	१०५	गौतम, देव, स्वामी	६५, ६६, ६७, ७३	पाडुस्वामी	६७
इ		गंगदेव	६७	पुष्पदन्त	८, ९, ७२, ७३, १३१, १९३, २२८
इन्द्रभूति	६५, ६६	च		पैपलाद	१०९
उ		चिलातपुत्र	१०५	प्रौष्ठिल	६७
उलूक	१०९	ज		ब	
ऋ		जतुकर्ण	१०९	बादरायण	१०९
ऋषिदास	१०५	जम्बूस्वामी	६६, ६७	बुद्धिल	६७
ए		जयपाल	६७	भ	
एलापुत्र	१०९	जयाचार्य	६७	भद्रबाहु	६७
ऐ		जिनपालित	६१, ७२	भूतबलि	७, ७२, ७३, २२७
ऐतिकायन	१०९	जैमिनि	१०९	म	
ऐन्द्रदत्त	१०९	घ		स	
औ		घन्य (कुमार)	१०५	मतङ्ग	१०४
औपमन्यव	१०९	घरसेन (भट्टारक)	७, ६८, ६९, ७१	मरीचि	१०९
क		घर्मसेन	६७	महावीर	६२, ६५
कण्व	१०९	ध्रुवसेन	६७	माठर	१०९
कपिल	१०८	धृतिषेण	६७	माध्यंदिन	१०९
काणेविद्धि	१०८	न		मांढ्रपिक	१०८
कार्तिकेय	१०५	नक्षत्राचार्य	६७	मुण्ड	१०८
किष्किविल	१०४	नन्दन	१०५	मोद	१०९
कुथुमि	१०९			मौद्गलायन	१०९

	पृष्ठ		पृष्ठ		पृष्ठ
य		वलीक	१०४	शालिभद्र	१०५
यतिवृषभ	३०४	वल्कल	१०९	शिवमाता	७४
यमलीक	१०४	वशिष्ठ	१०९	स	
यशोबाहु	६७	वसु	१०९	सत्यदत्त	१०९
यशोभद्र	६७	वाहलि	१०९	सात्यमुग्रि	१०९
र		वाल्मीकि	१०९	सिद्धार्थदेव	६७
रामपुत्र	१०४	वारिषेण	१०५	सुदर्शन	१०४
रोमश	१०८	विजयाचार्य	६७	सुनक्षत्र	१०५
रोमहर्षणी	१०९	विशाखाचार्य	६७	सुमद्र	६७
ल		विष्णु	६७	स्वेष्टकृत्	१०९
लोहार्य	६६, ६७	व्याघ्रभूति	१०९	सोमिल	१०४
व		व्यास	१०९	ह	
वर्धमान	६५, ७३, १०४	शाकल्य	१०९	हरिश्चन्द्र	१०८
				हारित	१०८

४ भौगोलिक नाम सूची

अ		च		म	
अंकलेखर	७२	चन्द्रगुफा	६८	महिमा	७७
अंध्र, आंध्र विषय	६८, ७८	छिन्न (गिरि)	६३	मायुर	७९
ऋ				व	
ऋषिगिरि	६३	द		वनवास विषय	७२
औ		दक्षिणापथ	६८	वालभ	७९
औदीच्य	७९	दाक्षिणात्य	७९	विपुलगिरि	६२, ६३
ग		द्रमिलदेश	७२, ७८	वेण्यातट	६८
				वैभार	६३
गङ्गा	९३	प		स	
गिरिनगर	६८	पंचशैलपुर	६२	ह	
गौड	७८	पाडुगिरि	६३	हिमवान्	९३

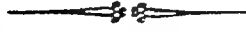
५ ग्रन्थ नामोल्लेख

	पृष्ठ		पृष्ठ		पृष्ठ
क		तत्त्वार्थसूत्र	२४१, २६१	स	
कषाय प्राभृत	२१८, २२२	व		सत्कर्मप्राभृत	२१८, २२२
कालसूत्र	१४३	वर्णणासूत्र	२९२	सन्मतिसूत्र	१६
त		वेदनाक्षेत्रविधान	२५३		
तत्त्वार्थभाष्य	१०४				

६ वंश नामोल्लेख

इ		चारण	११३	र	
अहंत्	११३	ज		राजवंश	११३
इक्ष्वाकु	११३	जिनवंश	११३	व	
क		न		वादि	११३
काश्यप	११३	नाथवंश	११३	वासुदेव	११३
कुरु	११३	प		विद्याधर	११३
च		ह			
चक्रवर्त्ति	११३	प्रज्ञाश्रमण	११३	हरि	७४, ११३

७ प्रतियोंके पाठ-भेद



- १ अ-अमरावतीकी प्रति; आ-आराकी; क-कारंजाकी; स-सहारनपुरकी ।
- २ „ चिन्होसे तात्पर्य यहां उपरके शब्दोसे नहीं, किन्तु उसी पंक्तिके बाई ओरके शब्दोसे समझना चाहिये ।
३. इन प्रतियोंके पाठभेदोकी दिशा बतलानेके लिये यहां केवल थोड़ेसे पाठभेद दिये जाते हैं । यथार्थतः ऐसे पाठभेद हैं बहुत ही अधिक ।

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१	१	ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।	„	„	ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।	
		ॐ गणधरपरमे-	अय श्री धवल			
		ष्ठिने नमः ।	प्रारम्भः ।			
		ॐ द्वादशाङ्गाय				
		नमः । निर्विघ्न				
		मस्तु				
१	२	केवलि-	„	केवल-	केवल-	केवल-
१	२	णमहं	„	„	णमह	णमह
६	१	-अंगागिज्जा	-अङ्गङ्गिज्जा	„	„	-अगगिज्जा
„	„	-मल-मूल-	-मल-गूढ-	-मल-मूल-	-मल-मूढ-	-मल-मूढ-
८	२	वक्खाणिउ	„	„	वक्खाणउ	वक्खाणउ
९	१	परुवणयं	„	„	परुवयं ण	परुवयं ? ण,
९	२	तालफलं व	„	„	तालफलं व	तालपलं व
		सुत्तुव			सुत्तं व	सुत्तं व
१०	२	सयलच्छवच्छाणं	„	„	सयलत्थवत्थूणं	„
		सच्छाणं	„	„	णं सद्धानं	
१२	३	-वायरणे	„	„	„	-वायरणी
१३	१	-णिमोणं	-णिमाणं	-णिमोणं		-णिमेण
१३	२	सद्धादीया	सद्धादिया	सद्धादीया	„	सद्धादीया
„	„	साहुपसाहु	„	„	„	साहुपसाहा
१६	४	-लक्खणं खइणो	„	„	„	-लक्खण-वखइणो
१६	८	णियतव्वाचय-	„	„	„	णियतव्याचय

पृष्ठ	पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१९	१	वज्जत्थ-	"	"	"	वच्चत्थ-
१९	२	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा जीवो च अजी- वो च अजीवो च अजीवा च जीवा च जीवा च अजी- वो च जीवा चेदि	जीवो वा जीवो वा अजीवो वा अजीवो वा जीवो च अजी- वो च, अजीवो च जीवो च अ- जीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेदि	"	"	जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजी- वा य, जीवा य अजीवा य.
२०	३	सुभाव-	"	"	सवभाव-	सवभाव-
२२	२	तस्सत्थ-	"	"	तस्सद्-	तस्सत्थ-
३०	२	अथाष्टारत्त्यादि	"	"	अर्धाष्टारत्त्यादि	"
३१	७	जाणिज्जो	"	"	"	जाणिज्जा
३२	७	विपर्ययोः	"	"	"	विपर्यस्यतोः
३३	५	असौ व्यामोहेन	"	"	सोऽव्यामोहेन	"
३५	५	गच्छति कर्त्ता सिद्धि-	गच्छति कर्त्ता कार्यसिद्धि-	"	"	"
३६	७	सारस्थ स्तम्भ	"	"	"	सारे स्तम्भ
४०	५	नमो जिनानाम्	"	"	नमो जिणाणम्	'नमो जिणाणं'
४१	३	कयकाडया	"	"	"	कयकोडय
४२	६	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमो- क्कारो त णिवद्ध- मंगलं । जो सुत्त- स्सादी सुत्तकत्ता- रेण णिवद्धो देव दाणमोक्कारो नम णिवद्ध-मंगलं ।	"	"	"	जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णि- वद्ध-देवदाण- मोक्कारो तंणि- वद्धमंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय-देवदा णमोकारो तर्माणि- वद्ध-मंगलं ।
४४	४	विनष्टैरा	"	"	"	विनष्टैरौ
४७	३	-भूता शेषात्म-	"	"	"	-भूताशेषात्म-

पृष्ठ	पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
४९	५	वज्जसिलत्थ-	वज्जसिलत्थ-	वज्जसिलत्थ-	वज्जसिलत्थ-	वज्जसिलत्थ
		स्सगय-	स्सगय-	व्भगय-	स्सगय-	व्भगय-
५०	३	सगभग-		भगसंग-	संगभग-	संग-भंग-
५३	८	-कार्यत्वाद्भेदे-	"	"	"	कार्यत्वाद्भेदेः
		सत्स्वेव				सत्स्वेव
५४	४	रत्नैकदेशस्य	रत्नैकदेशस्य	रत्नैक-		रत्नैकदेशस्य
		देशत्वा-	देवत्वा-	देशत्वा-		देवत्वा-
५५	१	संजात-	स जात-	संजात-	संजात-	संजात-
५५	२	गुणिभूताद्वैते	"	गुणिभूताद्वैते	"	गुणिभूताद्वैते
५५	३	-शब्दाधिक्य-	"	"	"	-श्रद्धाधिक्य-
५५	४	-स्थापनार्थं	-स्थापनार्थं	-स्थापनार्थं	-स्थापनार्थं	-स्थापनार्थं
६०	६	कम्मं मुप्पज्जइय	कम्मं फुड	कम्मं फुड		कम्मं फुड सिद्ध-
		कुड सिद्धसुहं पि	सिद्धसुहं पि	सिद्धसुहं		सुहं पि पचय-
		वयणादो	पवयणादो	पि वयणादो		णादो ।
६३	३	-शिछन्नोदा-	"	"	-शिछन्नो	"
६५	४	खइयाइ ण होति	"	"	खइयाइं होति	"
६५	६	दिव्वज्झाणी	"	"	दिव्वज्झुणी	"
६५	९	गौत्तम-गोत्तेण	गोत्तम-गोदेण	गोत्तम-गोदेण		गोदम-गोत्तेण
६६	६	जादोत्ति	"	"		जादेत्ति
६७	५	विदिसेणो		"	धिदिसेणो	"
६८	४	बंधवोच्छेदो	"	"		गंथवोच्छेदो
७४	१०	-वच्छेदे	"	"		-वच्छेजो
८३	३	एत्थेदं	जत्थेदं	यत्थेदं		एत्थेदं
८५	३	समनस्य	"	"	"	समस्तस्य
८५	६	नैकगमो नयः	"	"	नैकगमो नैगमः	"
८९	५	संतिष्ठति	संतिष्ठते	"	"	तिष्ठति
		तिष्ठति	तिष्ठति	"		सतिष्ठते
९०	४	-कत्वान्येते	"	"		-कत्वान्नेते
९०	४	भिन्नपदाना-		"	भिन्नपदार्थाना-	भिन्नपदाना-
९१	६	नानार्थं	"	"	नानार्थं	"
९२	४	अत्योत्य	"	"	अत्यो व्व	"
९३	४	संख्येयानन्ता-	संख्येयासंख्ये-	संख्येयानन्ता-		संख्येयासंख्येया-
		त्मक-	यानन्तात्मक-	त्मक-		नन्तात्मक-

पृष्ठ पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
९४ ५	सिद्धं	"	"	सद्ध-	सद्ध-
९४ ६	-विसवायो	"	"		-विसवाओ
९५ ६	मुहोण	मणेण	मुणेण	मणेण	"
९५ ९	-पुव्वत्तं	-पुव्वुत्त	-पुव्वत्तं	-पुव्वत्तं	"
१०० २	विहाय-	वियाह-	विवाह-	वियाह-	"
१०४ २	गंधहस्तितत्वा- र्थभाष्ये	तत्त्वार्थभाष्ये	"	"	"
१०६ २	सुद्धिमकरेति	"	"		सुद्धिं करतेती
१०६ ३	धावत्ती	"	"		थावंती
१०६ ७	उवत्तं च भाष्ये	"	"	उवत्तं च	"
१०९ ४	-मन्यानिक	"	"	-मज्ञानिक-	"
१११ ४	पव्वयददह-	"	"	पव्वददह-	"
११९ १	यल्लोकं	"	"		यल्लोके
" १४	सरीर	"	"		सरीरी
१२० ६	-देसोहि	"	"	-देहेहि	"
१२१ १	सरीरो	"	"		सरीरी
१२४ २	धारणा	"		वारणा	"
१२८ ११	भावो	भावादो भावो	भावो		भावो
१२९ २	दोण्णि एक्काणि	"	"	दोण्णि	"
१३१ ११	पुत्त-	उत्त-	पुव्वुत्त-	उत्त-	उत्त-
१३४ ७	-रीकतत्वा-	"	"		-रीकः तत्वा-
१४२ १	रूढिव्यप-	"	"	रूढिवशा-	"
१४२ ४	मेयो	"	"	मेओ	वेओ
१४८ ६	तदा भावाणं	"	"	भावाणं	भावाणं
१५२ ५	-मुक्कता	"	"		-मनुरक्कता
१५४ ७		इमान्यष्टौ		इमाणि अट्ट	"
१५९ १	परूवणा णं	"	"	परूवणा	"
१६५ २	ततोऽसत्येषु	ततो सत्येष-	सत्येष-	ततोऽसनू	"
१६९ ४	सतोऽपि	"	"	सतापि	"
१६९ ५	-दिवतः	"	"		तत
१७३ १	अट्ठि-	"	"		लट्ठि-
१७५ ५	सहभावो	"	"	सहभुवो	"
१७८ ३	कुत	"	"	क्व तद्	"

पृष्ठ	पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१८०	३	-ख्यानानुत्पत्ते	"	"	ख्यानोत्पत्तेः	"
१८०	४	-क्षयोपशमोप- शमज-	-क्षयोपशमज-	"		-क्षयोपशमोप- शमज-
१८२	३	-करणनाम-	"	"		-करणनाम-
१८२	५	-देशी	"	"	-देश-	"
१८४	१०	-राइय-	-राये	राइय	"	"
१८५	६	तासु	"	"	तान्	तेषु
१९७	७	-स्यात्पौ-	"	"	-स्यापौ-	"
१९९	९	ज्ञेयसंभवि	"	"	ज्ञेयसमवि-	ज्ञेयसम परिवर्तिनः
२००	४	-माक्षिण्ट-	"	"		-मैक्षिण्ट-
२०२	९	-स्यापत्यं	"	"		यातयति
२०३	६	तत्तु अंचति तदंश्चंति	"	"	तदञ्चन्ति	"
२०६	४	-दृष्टिषु	-दृष्ट्यादिषु	"		-दृष्टिषु
२०६	१०	तद्वत्यं	तद्वत्य-	तद्वत्यं	तद्वतां	"
२११	१०	-भवुत्तमुत्तमुव-	"	"		-भवुत्तमुव-
२२१	११	तदो	तदो ण	तत्थ तदो		तदो
२२२	१	आइरियकहि- याणं	आइयारिइ- रियकम्माण	आइरियाइय- कहियाणं		आइल्लाइरिय- -कहियाण
२२४	५	अप्पणो	तदो अप्पणो	अप्पणो		"
२२४	६	गमियमिदं	"	"	गमिय	"
२२९	३	-संयतास्ता-	"	"		संयतासंयतास्ता-
२३१	४	-त्वाद्देशा-	"	"	-त्वोद्देशा-	-त्वाद्देशा-
२३२	१	-वासंजनना-	"	"	-वासञ्जना-	"
२३४	८	-मान्द्य-	-माद्य-	-मान्द्य-	"	-मान्द्य-
२६९	१	किट्टूण	"	"	"	किट्टेण
२७०	१	-शक्त्याविर्भावित वृत्तय.	-शक्त्युपवृहि- तवृत्त	-शक्त्याविर्भा- वितवृत्तयः	"	"
२७८	७	संप्रतिघात.	"	"	"	सप्रतिघातः
२८१	७	स्यादप्रयत्नो	"	"	स्यात् प्रयत्नो	"
२८३	५	समनस्के	"	"	समनस्केषु	"
२८४	५	सत्सरूप-	"	"	तत्स्वरूप-	तत्सत्त्व
२८४	५	-मुत्तरसूत्रद्वयमाह	"	"	-मुत्तरसूत्रमाह	मुत्तरसूत्रद्वयमाह

पृष्ठ	पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
२८४	८	सजोगिकेवलि	अजोगिकेवलि	"	सजोगिकेवलि	"
२९१	७	तत्रान्तर्जल्पस्य	तत्रान्तर्जल्पस्य	तत्रान्तर्ज-	"	तत्राप्यन्त-
			तत्राप्यनन्तर्ज-	ल्पस्य	"	र्जल्पस्य
			ल्पस्य			
२९४	२	मिस्सकायजोगो	"	"		मिस्सको जोगो
२९५	५	पूतं शरीर-	"	"	पूर्वं शरीर-	"
३००	४	ततश्च द्विहेतु-	"	"		ततश्चद्विहेतु-
३०४	३	सर्वधाति-	"	"		सर्वाधाति
३०४	१०	चैतुषु	"	"	चैते	"
३०७	३	-धारणाभावान्न	धारणान्न	धारणाभावान्न	"	"
३०८	१	अन्यथा न	"	"		अन्यथा
३१८	२	वलेनोच्छन्न	"	"	वलेनोत्पन्न	"
३२१	२	प्रवृत्त्यसूत्र	"	"	प्रवृत्तसूत्र	"
३२१	४	कुतो भवत्	"	"	कुतो भवेत्	"
३२२	५	तत्र तु न	"	"	तत्रतन	"
३२२	७	सन्त्येताभ्यां	"	"	सन्ताः ताभ्या	सन्तः एताभ्यां
३२३	८	प्राप्तो यौ-	"	"	प्राप्तयौ-	"
३२६	३	नियमान्न	नियमान	नियमान्न	विद्यमान-	"
३२८	४	संजदासंजद-	संजदासंजद-	"		संजदासंजद
		दृठाणे	संजददृठाणे	"		दृठाणे
३२८	१०	महव्वदो सु य ण	"	"		महव्वदाइ ण
		अहइ दो वा				लहइ देवा
३३६	६	नन्वनारंभकस्य	"	"		न चारम्भकस्य
३३९	७	उवरिम-	उवरिम	"		उवरिम-उवरिम-
			उवरिम-			
३४०	३	-नुपशान्तास्त-	"	"		-नुपशान्तान्त-
						स्तापानां
३४०	७	तत्रुतु न	तत्र तुन	"		तत्रतन-
३४४	१	पुम्हं	"	"	पुमं	"
३४४	२	समाणा	"	"		समाणग
३५९	३	शब्दस्य	"	"		शब्दस्य च
३५९	४	नि सूतानु	"	"		अनि सूतानु
३६०	९	आभेयमासु-	"	"		आभियमासु-
३६५	११	नामिश्रणं	"	"		न मिश्रणं-

पृष्ठ	पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
३६७	१	तदवनि-	"	"		तद्भवनि
३६८	२	संयमोद्देश-	"	"		सयमैः देश-
३६६	१०	संयमसंयत-	संयमसंयतस्य	संय संयत-		संयमासंयमा-
			जघन्यस्य			संयमत-
३६९	१	-तामभविष्यत्	"	"		-तामगमिष्यत्
३७१	५	शेष. सामेदं	शेषः समिदं	"	शेष रूपमिदं	शेषविशेष रूपमिदं
३७२	१	शुद्धिसंयत	"	"		शुद्धिसंयम
३७२	७	सूत्रे	विशिष्टसूत्रे	सूत्रे		"
३७३	११	वादे	वादे	वादेन		"
३७५	४	संजमो	संजमो	"	संजदो	"
३७७	५	निमग्नान्तानां	निमग्नान्तानां	निमग्नान्तानां		"
३७७	३	निबन्धनावेव-	निबन्धनाव-	निबन्धनावेव		निबन्धनाव-
		भवि	भवि			भवि-
३८०	५	गुणस्य गुणस्थान	गुणस्य गुण-	गुणस्थान		गुणस्य गुणस्थान-
		प्रमाणनिरु-	स्थान निरु	प्रमाणनिरु-		प्रमाणनिरु-
३८२	७	नियम	"	"		नियमित
३८२	९	न दर्शनस्य	"	न दर्शनविषय-	तद्दर्शनस्य	तद्दर्शनस- विषय-
		विषय-			-विषय-	
३८३	६	-रूपद्वय-	-द्वय-	-द्वय		-द्वय-
३८७	१०	ज्ञानदर्शन	"	"		ज्ञानाद्दर्शन-
३९०	९	णाणत्थि	"	"		-णाणी य
३९१	१	द्व्व-	इव्व-	द्व्व-		तिव्व-
३९४	१०	-पेक्षया ते	"	"		-पि क्षयः
३९५	८	गच्छन्तो	"	"		गच्छतां
३९६	१	निष्कलंको	"	"		निष्कलंका
		भवति				भवन्ति
३९७	६	त्याज्यः	"	"		न्याज्यः
४०५	२	तिरिक्ख-	"	"		तिरिक्खा
४०६	२	संजदासंजदा	संजदासंजदा	"		"
			संजदा			
४०६	३		-मन्यत्	-मेतत्		-मेतत्
४०६	७	-र्थमन्यत.समर्थं	"	"	"	"
४०७	२	-संजद-	-सजद-संजद-	"	"	"
४०७	५	-पज्जत्ता	"	"	"	-पज्जत्त-

विशेष टिप्पण

सूचना—प्रथम सख्यासे पृष्ठ और दूसरीसे पक्तिका तात्पर्य है ।

- पृ. पं. 'वारह-अंगगिज्जा' में 'गिज्जा' पाठ भी प्रतियोमें मिलता है । इस गाथासे कुछ
१ १. मिलती जुलती एक गाथा वसुनन्दिश्रावकाचारमें निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

वारह-अंगंगी जा दंसण-तिलया चरित्त-वत्थ-हरा

चोद्दस-पुन्वाहरणा ठावेयन्वा य सुयदेवी ॥ ३९१ ॥

३९ १०. 'देहिं तो कय' इतना पाठ आराकी प्रतिमे नहीं है, और इस पाठके न होनेसे अर्थका सामञ्जस्य भी ठीक बैठता है, किन्तु पाठ-निश्चय करते समय आराकी प्रति हमारे सामने न होनेसे हम उसे छोड़ नहीं सके और किसी प्रकार अर्थ-संगति बिठलाई गई । पर जान पड़ता है कि अ. और क. प्रतियोमे वह आगेकी गाथा नं. १९ के ' (जिण-) देहिं तो कय ' पाठसे लिपिकारोके दृष्टि-दोषसे आगया है । ऐसे लिपि-दोष इन सभी प्रतियोमे अनेक हैं । (देखिये प्रतियोके पाठ भेद) (टिप्पणदेखिये)

६८ ५. 'महिमाए मिलियाणं' से यह स्पष्ट नहीं होता कि महिमा एक नगरीका नाम था जहां वह मुनि-संमेलन हुआ । इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमे भी महिमाका उल्लेख भ्रामक है । यथा, देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमासमुदितमुनीन् प्रति ब्रम्हचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥ इस पद्यमे 'देशेन्द्रदेश' 'देशान्ध्रदेश' का अशुद्ध रूप ज्ञात होता है । 'महामहिमा-समुदितमुनीन्' का 'महोत्सवनिमित्त सम्मिलित मुनि' भी हो सकता है । प्रस्तुत ग्रंथके पृ. २९ पर 'जिनमहिम-सम्बद्धकालोऽपि मङ्गलं यथा नन्दी-श्वरदिवसादिः' मे 'महिम' का अर्थ उत्सव होता है । वसुनन्दिश्रावकाचारमे भी 'महिम' शब्द नन्दीश्वर उत्सवके अर्थमे आया है यथा—

विविहं करेइ महिमं नंदीसर-चेइय-गिहेसु ॥ ४०७ ॥

इसके अनुसार 'महिमाए मिलियाणं' का अर्थ 'नन्दीश्वर उत्सवके लिये सम्मिलित' भी हो सकता है । किन्तु पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपनी श्रुतावतार कथा (जै. सि. भा. ३, ४) मे महिमाको नगरीका नाम अनुमान किया है और उसे सतारा जिलेके महिमानगढ़से अभिन्न होनेका सकेत किया है । इसी अनुसार अनुवादमे उसे नगरीका द्योतक स्वीकार कर लिया गया है । किन्तु है यह प्रश्न अभी भी विचारणीय ।

७२ ५. जिणवालिं दट्ठण पुप्फयंताइरियो वणवासिविसय गदो । यहां 'दट्ठण' का अर्थ अनुवादमे 'देखकर' (दृष्ट्वा) किया गया है । किन्तु इसका अर्थ 'देखनेके लिये' (दृष्टुम्) भी हो सकता है । (देखो भूमिका पृ. १९, पुष्पदन्त और जिनपालित)

७२ ९ 'अप्पाउओ त्ति अवगय-जिणवालिदेण' इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें यह प्रसंग इस प्रकार दिया है 'विज्ञायात्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः' जिसका अर्थ यह होता है कि भूतबलिने मनुष्योको अल्पायु समझकर सिद्धान्तोंको

पुस्तकालङ्करणेका निश्चय किया। पं. जुगलकिशोरजीने इसका अर्थ इस प्रकार किया है 'भूतबलिने यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु हैं' (जै. सि. भा. ३, ४)। किन्तु जिनपालितके अल्पायु होनेसे सिद्धान्तके लोप होनेकी आशंकाका कोई कारण नहीं था, किन्तु पुष्पदन्त और भूतबलिमेसे किसी एकके अल्पायु होनेसे सिद्धान्त-लोपकी आशंका हो सकती थी। इसी उपपत्तिको ध्यानमें रखकर अनुवादमें अल्पायुका सम्बन्ध पुष्पदन्तसे जोड़ दिया गया है। 'अवगतः जिनपालितात् येन सः तेन भूतबलिना' ऐसा समास ध्यानमे रक्खा गया है।

११३ ५. जगदिदृष्टं। यह पाठ प्रतियोंका है। टिप्पणीमे इसके स्थानपर 'जं दिदृष्टं' पाठकी कल्पना सूचित की गयी है। वसुनन्दिश्रावकाचारकी गाथा ३ मे 'इन्द्रभूङ्गा सेणियस्स जह दिदृष्टं' ऐसा चरण दृष्टिगोचर हुआ। अतः अनुमान होता है कि यहां भी संभवतः शुद्ध पाठ 'जह दिदृष्टं' रहा होगा जिसका संस्कृत रूप 'यथा दिष्टम्' होता है।

११७ १. 'अन्तर्वहिर्मुखयो' आदि। इसका अनुवाद निम्न प्रकार करना ठीक होगा—
समाधान—नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चैतन्य अर्थात् स्वरूपसंवेदनको दर्शन और वहिर्मुख प्रकाशको ज्ञान माना है'। इत्यादि।

२२५ ८. उत्पायाणुच्छेद का अर्थ अनुवादमे इस प्रकार समझना चाहिये—

व्युच्छेद दो प्रकारका होता है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उनसे उत्पादानुच्छेदसे द्रव्यार्थिक नयका ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमे जिस प्रकृतिकी सत्त्वादि-व्युच्छित्ति होती है उसी समय उसका अभाव कहा जाता है। अनुत्पादानुच्छेद पर्यायार्थिकरूप है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमें जिस प्रकृतिकी सत्त्वादि-व्युच्छित्ति होती है उसके अगले समयमे उसका अभाव कहा जाता है।

३८५ ६. यहां प्रतियोमे दर्शनकी परिभाषा न होनेसे वाक्य अव्यूरासा रह जाता है, अतएव उतने अंशकी पूर्ति पृ. ३८६ पंक्ति १ के अनुसार कर दी है, और उतने वाक्यांश को कोष्ठकके भीतर रख दिया है। प्रस्तुत ग्रंथमे यही एक ऐसा स्थल सामने आया जहां हम अन्यत्रसे पाठकी पूर्ति किये बिना निर्वाह न कर सके।

३९० १०. गाथा नं. २१० मे 'भेज्जो' का अर्थ गोम्मटसारकी जीवप्रबोधिनी टीकामे 'परेणावबोध्याभिप्रायः। तथा टोडरमलजीके हिन्दी अनुवादमे 'जिसके अभिप्रायको और कोई न जाने' किया गया है। किन्तु 'भेज्ज' का अर्थ देशी नाममालाके अनुसार भीरु होता है। यथा 'भयालुए भेड-भज्ज-भेज्जलया'। (टीका) 'भेडो भेज्जो तथा भेज्जलओ त्रयोऽपि अमी भीरुवाचकाः' (दे. ना. मा. ६, १०७)। यह अर्थ प्रस्तुत प्रसंगमें दूसरोकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतएव इसीके अनुसार अनुवादमे 'भीरु' अर्थ ही किया गया है।

भूमिका पृ. ६० पं. १ मे गाथासे पूर्व 'तह आयारंगे वि उत्तं' इतना पाठ छूट गया है।

शुद्धि-पत्र

पृ.	पं.	अशुद्धि	शुद्धि	पृ.	पं.	अशुद्धि	शुद्धि
७	१	गयाह-	गयोह-	१५७	२	दि	त्ति
१३	१	णिमेण	णिमेण	१६७	५	-सम्मनो	-सम्मत्तो
१५	३	णय	णयस्स	१७४	२	असजमा	असजम
२०	२५	गुणसमहोकी	गुणसमूहोकी	१८७	८	जस्स	जेसि
२८	६	? चेत् इति	? इति	१९०	१४	सर्मके	कर्मके
३१	७	जाणिज्ज	जाणिज्जा	१९२	२३	परमेष्ठीके	परमेष्ठीके
४९	५	-त्थव्वभगय-	-त्थभग्गय-	२१३	१	दिट्ठि-	ट्ठिदि-
५५	३-४	-ख्यापनार्थ	-ख्यापनार्थ	२१६	१	मुत्तुत्ता-	मूत्तुत्ता-
५७	५	नैश्रेयस	नै श्रेयस	"	४	अप्पमत्तजदो	अप्पमत्तसजदो
५८	१	अष्ठा-	अष्टा-	"	२४	उत्तरप्रतिके	उत्तरप्रकृतिके
"	४	सेट्ठि	सेट्ठि	२१७	२७	सख्यात	सख्यातवा
७१	३	-करेत्ति	-करेत्ति	२१८	१	सखेज्जेमागे	सखेज्जदिभागे
७२	१०	होहिदि	होहिदि	"	२० टि	१ मु त	×
७५	१४	वेदनाकषाय-	वेदनाकृत्स्न-			सखेज्जदिभागे	
८३	८	तस्य	तस्स	२२१	२-८	-ट्ठिदि-	-ट्ठिदि-
८४	४	जाणुग-	जाणय-	२२६	६	प्रागुक्वतार्थत-	प्रागुक्वतार्थत्वा-
८५	१-२	-मणुक्कसोहि	-मणुक्कस्सोही	२२८	१९	मार्गणाओका	मार्गणाओको
८७	१	विदियादो	विदियादो	२२९	७	-श्चा मनुष्य	-श्चामन्य
१०२	११	करता	कराता	"	२८	मनुष्यगतिके	अन्यगतिके
१२५	१५	चयनल्लि	चयनल्लि	"	३० टि	१ क प्रतै	×
१३१	१०	उत्तापयडि-	उत्ता । पयडि-			तिरश्चामन्यगति	
"	"	-समूक्कित्तणा	-समुक्कित्तणा	२३०	२	हस	सह
१३७	५	३निनियमिते	३'नि' नियमिते	२३२	११	-गत्यो	गत्यो
१३८	४	-पद्गला-	-पुद्गला-	"	१६	(गुणभेद)	(पर्यायभेद)
१३८	५	-पद्गल-	-पुद्गल-	२३६	१८	सामान	समान
"	११-१२	व्याप्ती	व्याप्ति	२४५	८	गर्दमाकार	गर्दभाकार
१४४	६	भेदाभेदे	भेदेऽभेदे	२४८	२८	उद्धिज्ज	उद्धिज्ज
१४६	१८	चित्प्रकाशको	चैतन्यको	२५२	१	। बादर-	। न बादर-
"	"	चित्प्रकाशको	प्रकाशको	२५४	२२	अवगाहनसे	अवगाहनासे
१५०	८	कषायानुविद्ध	कषायानुविद्धा	२६२	७	योगस्य	योग्यस्य

पृ.	पं.	अशुद्धि	शुद्धि	पृ.	पं.	अशुद्धि	शुद्धि
२६२	१६	स्वीकार	स्वीकार कर	३१६	१६	जाती .	जाति .. जाति
२६४	१	-निरसनार्थ	निरसनार्थ			जाती	
"	१७	सूत्रप	सूत्रपना	३१८	६	तद्धेतुत्वम्,	तद्धेतुत्वम्
२५६	५	चेन्नैष	चेन्नैष	"	७	तस्यो-	तस्यौ
२७३	२१	सूती	सुती	३२४	३	नारकाणा ^१	नारकाणां
२७७	२०	जाते	जाता	"	३०	^१ मु. तेषानारकाणा	×
"	१	मूल	मूढ	३३४	११	पुरुषवेदी	पुरुषवेदी और नपुसकवेदी
२८९	८	न शेषेन्द्रियेभ्यो	नाशेषेन्द्रियेभ्यो	"	१२	"	"
२९५	३	परित्यक्त-	- ^२ परित्यक्ता	३५२	६	जिअ	जिअं
३०६	२	जेसि	जेसि	३६०	२२	श्रुतज्ञान	श्रुताज्ञान
३०८	३	-मिच्छाइटि-	मिच्छाइटि-	३६५	६	ज्झारिय	ज्झारिय
३०९	२	यदाहारा-	यदाहार-	३९४	१०	नन्तस्यपि	नन्तस्यापि
३१५	२२	द्विन्द्रिय	द्वीन्द्रिय				
"	२४	जाता	जाता है				

